इतिहास

एक अध्ययन

रायल इंस्टिट्यूट आव इण्टरनेशनल अफेयर्स गैर-सरकारी तथा अ-राजनीतिक सस्था है। यह सन् १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नो के वैज्ञानिक अध्ययन को सुविधाजनक बनाने तथा प्रोत्साहित करने के लिए स्थापित की गयी थी।

ऐसा होने के कारण इस्टिट्यूट किसी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर नियमत. अपना मत नही दे सकती। इस पुस्तक मे जो मत व्यक्त किये गये है वे व्यक्तिगत है।

वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, शिक्षा-मन्त्रालय, भारत सरकार की मानक ग्रन्थ-योजना के अन्तर्गत प्रकाशित।

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला—१३८

इतिहास : एक अध्ययन

(मूल : ए स्टडी आफ हिस्ट्री)

[द्वितीय खण्ड : भाग ६-१३]

लेखक
आर्नल्ड जे० ट्वायनबी
संक्षेपकर्ता
डी० सी० सोमरवेल
अनुवादक
श्री रामनाथ सुमन

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश
लखनऊ

प्रस्तावना

हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओ को शिक्षा के माध्यम के रूप मे अपनाने के लिए यह आवश्यक है कि इनमें उच्चकोटि के प्रामाणिक ग्रन्थ अधिक-से-अधिक सख्या मे तैयार किये जायें। भारत सरकार ने यह कार्य वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग के हाथ मे सौपा है और उसने इसे बडे पैमाने पर करने की योजना बनायी है। इस योजना के अन्तर्गत अंग्रेजी और अन्य भाषाओ के प्रामाणिक ग्रन्थो का अनुवाद किया जा रहा है तथा मौलिक ग्रन्थ भी लिखाये जा रहे है। यह काम अधिकतर राज्य सरकारो, विश्वविद्यालयो तथा प्रकाशको की सहायता से प्रारम्भ किया गया है। कुछ अनुवाद और प्रकाशन-कार्य आयोग स्वय अपने अधीन भी करवा रहा है। प्रसिद्ध विद्वान् और अध्यापक हमे इस योजना मे सहयोग दे रहे है। अनूदित और नये साहित्य मे भारत सरकार द्वारा स्वीकृत शब्दावली का ही प्रयोग किया जा रहा है, ताकि भारत की सभी शिक्षा सस्थाओ मे एक ही पारिभाषिक शब्दावली के आधार पर शिक्षा का आयोजन किया जा सके।

'इतिहास : एक अध्ययन' नामक पुस्तक हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ द्वारा प्रस्तुत की जा रही है। इसके मूल लेखक आर्नल्ड जे० ट्वायनबी, डी० लिट्० और प्रस्तुत द्वितीय खण्ड के अनुवादक श्री रामनाथ सुमन, प्रसिद्ध गान्धीवादी चिन्तक एव लेखक, प्रयाग है। आशा है कि भारत सरकार द्वारा मानक ग्रन्थो के प्रकाशन सम्बन्धी इस प्रयास का सभी क्षेत्रों मे स्वागत किया जायगा।

निहालकरण सेठी

अध्यक्ष, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग

प्रकाशकीय

उत्थान-पतन, विकास और ह्रास का चक्र प्रकृति मे सदैव चलता रहता है। मानव जगत् भी उससे अलग नही है। सभ्यताएँ बनती और बिगडती है। पुरानी सभ्यता का कोई गुण जब किसी नयी सभ्यता मे प्रकट होता है, तो उसे इतिहास की पुनरावृत्ति कहा जाता है। ज्ञात सभ्यताओ की इसी पृष्ठभूमि को लेकर सुप्रसिद्ध विद्वान् प्रो० ट्वायनबी ने ऐतिहासिक तथ्यो का अनुसन्धान किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ उनके गम्भीर एवं विवेकपूर्ण अध्ययन का परिणाम है।

अग्रेजी मे इस महान् ग्रन्थ का संक्षिप्तीकरण श्री सोमरवेल द्वारा दो खण्डो मे किया गया है, जिनको भारत सरकार ने अपनी मानक ग्रन्थ योजना मे लेकर हिन्दी समिति से राष्ट्रभाषा मे प्रकाशित करने का अनुरोध किया था। अतएव इसके प्रथम खण्ड का हिन्दी रूपान्तर वाराणसी के सुप्रसिद्ध कवि एव लेखक श्री कृष्णदेव प्रसाद गौड से और दूसरे खण्ड का हिन्दी अनुवाद प्रयाग के प्रतिष्ठित विद्वान् श्री रामनाथ 'सुमन' द्वारा सम्पन्न कराया गया है। हिन्दी समिति इन दोनो विद्वानो के प्रति आभारी है, जिनके सत्प्रयास से अन्तर्राष्ट्रीय विषयो के मर्मज्ञ ट्वायनबी-जैसे इतिहासकार की कृति की अवतारणा हिन्दी मे सुलभ हुई। हमे विश्वास है, विश्वविद्यालयो की उच्च कक्षाओ के विद्यार्थियो और जिज्ञासुओ का इस प्रकाशन से यथेष्ट लाभ होगा।

रमेशचन्द्र पत
सचिव, हिन्दी समिति

१९६६

भूमिका

मै भाग्यवान् हूँ कि श्री सोमरवेल दो-दो बार मुझे अपने सहभागी के रूप मे प्राप्त हुए। पहिले उन्होने भाग १ से ६ तक 'इतिहास एक अध्ययन' (ए स्टडी आफ हिस्ट्री) का सक्षेप किया, अब उन्होने ७ से १० (१२ ?) तक के भागो के सम्बन्ध मे वैसा ही कुशल कार्य किया है। इस प्रकार अब पाठक के सामने सम्पूर्ण ग्रन्थ का सक्षिप्त सस्करण उपस्थित है—सस्करण जो एक ऐसे स्वच्छ बुद्धि वाले व्यक्ति द्वारा किया गया है, जिसने न केवल ग्रन्थ के विषयो को अधिकृत कर लिया है वर जिसने लेखक के दृष्टिकोण एवं तात्पर्य के अन्दर भी प्रवेश किया है।

सक्षिप्त संस्करण की इस दूसरी किस्त की तैयारी मे मैंने एव श्री सोमरवेल ने पहिले की ही तरह साथ-साथ काम किया है। ऐसे स्थान बहुत ही कम है जहा प्रकाशन के पूर्व ग्रन्थ का अवलोकन करते समय मैंने अपने लिखे उन अशो को पुन सम्मिलित कर देने की आवश्यकता का अनुभव किया हो, जिन्हे उन्होने छोड दिया था। अपनी ही कृति मे से किस अंश का काटना सर्वोत्तम होगा, इसका खुद अच्छा निर्णायक लेखक नही होता, श्री सोमरवेल को इस विषय मे आश्चर्यजनक सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त है, जैसा कि उनके सक्षेप के प्रथम भाग की मेरी मूल पुस्तक से तुलना करने वाले किसी भी व्यक्ति के सामने स्पष्ट हो गया होगा। पहिले की भाति, इस बार भी मैंने उनके साथ केवल उन्ही अशो पर काम किया है जिन्हे उन्होने सक्षिप्त सस्करण मे रखा है। इस प्रकार वे अश समान रूप से उनके भी है और मेरे भी। इसमे कोई विशेष कठिनाई नही हुई, क्योकि उन्होने मेरे आशय का साराश देने मे भी प्राय. मेरे ही शब्दो का प्रयोग किया है। जहा उन्होने अपनी ओर से कोई दृष्टिबिन्दु उपस्थित किया है या उदाहरण दिये है—कही-कही उन्होंने ऐसा किया है—वहा मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई कि वे मेरे भावो से एकीभूत हो गये है।

इस व्यस्त युग मे मेरे-जैसे महाग्रन्थ का प्रथमकोटि का सक्षेपीकरण, जैसा कि श्री सोमरवेल ने किया है, एक वरदान है। इसके कारण ग्रन्थ उन लोगो के लिए भी सुलभ हो गया है जिनके पास मूल ग्रन्थ पढने का धैर्य या समय नही है। मेरे विचार मे तो मूल एव सक्षिप्त दोनो परस्पर-पूरक है। इस सक्षिप्त सस्करण के द्वितीय भाग के कुछ पाठक भी यदि मूल ग्रन्थ का पूरा पारायण न करेंगे तो कम से कम उसमे एकाध डुबकी जरूर लगायेंगे, जैसा कि मैं जानता हू, सक्षिप्त संस्करण के प्रथम भाग के भी कुछ पाठको ने किया है। इसी प्रकार मूल के कुछ साहसी पाठको के लिए भी पुस्तक की संरचना के सामान्य तर्कों की फिर से याद दिलाने मे यह संक्षिप्त सस्करण सहायक होगा। अन्त मे श्री सोमरवेल ने सम्पूर्ण भागो का जो साराश 'ग्रन्थ-सक्षेप के रूप मे दिया है, उसे कई दृष्टियो से मैं उनके कार्य का प्रवीणतम अश मानता हू।

सक्षिप्त संस्करण के दोनो भागो मे हमारा जो सहयोग रहा है, वह मेरे लिए अत्यन्त सुखद अनुभव है।

१ दिसम्बर, १९५५ **—आर्नल्ड टूवायनबी**

टिप्पणी

(संक्षिप्त सस्करण के रचयिता द्वारा)

यह तथ्य कि इस खण्ड का आरम्भ भाग ६, अध्याय २३ से हुआ है, स्मरण दिलाता है कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ नही है बल्कि ग्रन्थ का उत्तर भाग है, और जो पाठक इसके पूर्व क्या लिखा जा चुका है उसका कुछ भी ज्ञान प्राप्त किये बिना इसमे प्रवेश करेंगे उन्हें प्राय: वैसी ही कठिनाई का सामना करना पड़ेगा जैसी कि विक्टोरियायुगीन किसी तीन भागो वाले उपन्यास का तीसरा भाग पहिले ही आरम्भ कर देने पर होती है। इस भाग के अन्त मे सम्पूर्ण ग्रन्थ का सक्षेप दिया गया है। यह उन लोगो के लिए उपयोगी होगा जो श्री ट्वायनबी के अध्ययन का आरम्भिक भाग मूल अथवा सक्षिप्त रूप मे, पढ तो चुके है किन्तु अंशत. भूल गये है।

इस पुस्तक की अनुक्रमणिका तैयार कर देने के लिए मैं कुमारी ओ० पी० सेल्फ का अत्यन्त आभार मानता हू।

१६५५ डी० सी० ऐस०

विषय-सूची

(श्री आर्नल्ड ट्वायनबी के
सक्षिप्त सस्करण के रचियता के अनुसार)

[६]
सार्वभौम राज्य

[७]
सार्वभौम चर्च (धर्मसघ)

[८]

वीर-युग

[६]

दिगन्तर सभ्यताओ के बीच समागम

[१०]

कालान्तर्गत सभ्यताओं के बीच सम्पर्क

[११]

इतिहास में विधि (कानून) और स्वतन्त्रता

[१२]

पाश्चात्य सभ्यता की सम्भावनाएँ

[१३]

निष्कर्ष

इतिहास : एक अध्ययन

द्वितीय खण्ड

६. सार्वभौम राज्य

२३

साध्य या साधन ?

इस किताब का आरम्भ ऐतिहासिक अध्ययन के ऐसे क्षेत्रों की खोज से हुआ था जो काल एव अवकाश की अपनी सीमाओ के अन्दर ही समझ मे आने योग्य हो और जिनको समझने के लिए बाह्य ऐतिहासिक घटनाओ के साक्ष्य की आवश्यकता न पड़े। जब हम इन स्वयपूर्ण इकाइयो की खोज करने लगे, तो वे हमें जातियों (स्पेसीज) के ऐसे समाजो मे प्राप्त हुईं जिन्हे हम सभ्यताओ के नाम से पुकारते हैं। तब से हम यह मानकर अपना काम करते रहे हैं कि अभी तक हमने इक्कीस सभ्यताओ की उत्पत्ति, विकास, ह्रास एव विच्छेद का जो तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है, उसमे वे सब महत्त्वपूर्ण बाते आ जाती है जो प्राथमिक मानव-समाजो से निर्मित प्रारम्भिक सभ्यताओं के बाद से मानव जाति के इतिहास में घटित हुई है। इतना सब होते हुए भी बीच-बीच मे ऐसे सकेत पाकर हम लडखडा गये है कि अपनी मानम-यात्रा की मजिल में हमे जिन बद दरवाजो को खोलते हुए गुजरना है उन सबको खोल सकने मे शायद हमारी यह सामान्य कुजी समर्थ न होगी।

जिन सभ्यताओ के होने का हमे पता है उनमे से अधिकाधिक से जब हम परिचित हो रहे थे तभी, उस कार्य के प्राय प्रारम्भ मे ही, हमे पता लग गया कि उनमे से कुछ एक-दूसरे से सम्बन्धित है। जिस ढग पर वे परस्पर-सम्बन्धित थी उसे हमने 'उत्तराधिकार और सबद्धता' (Apparentation and Affiliation) के नाम से पुकारा। फिर हमने यह भी देखा कि उनमे इस सम्बन्ध के प्रमाणस्वरूप, एक प्रभावशाली अल्पमत, एक आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग (Internal Proletariat) और एक बाह्य श्रमजीवी वर्ग (External Proletariat) के स्वभाव को प्रकाशित करने वाले कुछ ऐसे सामाजिक तत्त्व भी मिलते है जिनमे यह आभासिक समाज, अपने विघटन की क्रिया मे, विभाजित होता गया। फिर यह मालूम हुआ कि इन प्रभावशाली अल्पमतों ने ऐसे तत्त्वज्ञान का भी सृजन किया है जिससे कभी-कभी सार्वभौम राज्यो को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। अत. श्रमिको ने ऐसे उच्च धर्मों को जन्म दिया जिन्होंने सार्वभौम धर्म-सघटनो के रूप मे अपने को गठित करने की चेष्टा की। इसी प्रकार बाह्य श्रमिकों ने ऐसे वीरतापूर्ण युगों का निर्माण किया जिनसे बर्बर युद्धपिपासु दलो की स्थिति दु:खद हो गयी। सब मिलाकर ये अनुभव एव सस्थाए स्पष्टत: आभासिक एव सबद्ध सभ्यताओं के बीच एक श्रृंखला उपस्थित करती हैं।

फिर सार्वभौम राज्यों, सार्वभौम धर्ममठो एव वीर युगों के तुलनात्मक अध्ययन से सभ्यताओ के जिन पारस्परिक सम्बन्धो पर प्रकाश पडता है उनमें काल-आयाम की यह शृंखला ही दो असमसामयिक वा भिन्न युगो की इन सभ्यताओं के बीच का एक-मात्र सम्बन्ध नही है। विघटन के बाद सभ्यताए जिन लघु खण्डो में विभाजित हो जाती है वे दूसरी समकालिक सभ्यताओं से नि:सृत विरोधी तत्त्वो के साथ सामाजिक एव सास्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करने मे स्वतत्र हो उठते हैं। कुछ सार्वभौम राज्य विजातीय साम्राज्य-निर्माताओ-द्वारा निर्मित हुए, कुछ उच्च धर्म विजातीय प्रेरणा से अनुप्राणित हुए और कतिपय बर्बर युद्धपिपासु दल विदेशी सस्कृति के रग मे रँग गये।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्वभौम राज्य, सार्वभौम धर्ममठ एव वीर युग न केवल समकालिक बल्कि असमकालिक सभ्यताओं को भी परस्पर संबद्ध करते है। इसलिए इससे यह सवाल उठ खडा होता है कि हमने उन्हें जो किसी एक ही सभ्यता के विघटन से उपनिर्मित मान लिया है क्या वह ठीक है? क्या अब हमे उनका अध्ययन उन्ही के गुणो के आधार पर नही करना चाहिए? जबतक हम इन तीन प्रकार की संस्थाओ मे हर एक के दावे का खुद उन्ही के क्षेत्रो मे अध्ययन न कर ले और इस बात की सभावना पर भी विचार न कर ले कि वे अपनी एव दूसरी सभ्यताओ को अपनी गोद मे समेटने वाली एक बृहत्तर पूर्णता के अश भी हो सकती हैं तबतक हम निश्चित रूप से नही कह सकते कि हमने प्रारम्भिक स्तर के ऊपर के समस्त मानव इतिहास का समुचित निरीक्षण कर लिया है। इसलिए इस अध्ययन के पचम खण्ड के अन्त मे हमने अपने शोधकार्य मे और आगे जाने का निश्चय किया है और छठे, सातवें और आठवे खण्ड मे हम अपने इसी उद्देश्य के सपादन का प्रयत्न करेंगे।

फिलहाल हमारा सम्बन्ध सार्वभौम राज्यो से है। हम इस जिज्ञासा के साथ इन पर विचार का आरम्भ कर सकते है कि ये खुद अपने अन्दर साध्य हैं, अथवा अपने से परे किसी वस्तु के साधन मात्र हैं? सबसे अच्छा मार्ग तो यह होगा कि हम इन सार्वभौम राज्यों की उन कतिपय विशेषताओ को पुन याद कर ले, जिनका पता हम पहिले ही लगा चुके हैं। पहिली बात तो यह है कि ये राज्य सभ्यताओ के विघटन के बाद, न कि उससे पहिले पैदा होते हैं; वे इन सभ्यताओ के सामाजिक विग्रह मे राज-नीतिक ऐक्य का प्रादुर्भाव करते है। वे 'भारतीय ग्रीष्म ऋतु' की भाति हैं जो खिजां पर पर्दा डालती और शिशिर के आगमन की पूर्व-सूचना देती है। दूसरी बात यह है कि वे प्रभावशाली अल्पमत की उपज होते हैं—मतलब ऐसे अल्पमत की उपज, जो किसी समय सृजनशील था किंतु अब अपनी रचनात्मक शक्ति खो चुका है।

यह निषेधात्मकता, यह ऋणात्मकता ही उनके प्रणयन का प्रधान चिह्न है और यही उनके प्रस्थापन एव रक्षण की अनिवार्य शर्त है। परन्तु यह भी सम्पूर्ण चित्र नही है क्योंकि सामाजिक विशृंखला तथा प्रभावशाली अल्पमत की उपज होने के साथ ही सार्वभौम राज्य एक तीसरी विशेषता भी प्रकट करते हैं—वे समाज की विच्छिन्नता के क्रम में एक जमघट या समाहरण (रैली) की अभिव्यक्ति होते हैं जो बार-बार

बिखरता और बिखरकर बार-बार अपने को संघटित करता चलता है तथा स्खलन, व्यूहन एव पुनरावर्त्तन की अनुवर्तिनी धड़कनों मे अपने उस विघटन-क्रम को व्यक्त करता है। यह अन्तिम विशेषता ही उस पीढ़ी की कल्पना को प्रभावित करती एव उसमे कृतज्ञता की भावना जगाती है जो सार्वभौम राज्य की सफल स्थापना देख सकने के लिए बच रहती है और जो सकट युग की अवधि की समाप्ति देख लेती है—उस युग की जो एक के बाद दूसरी असफलता तथा उस असफलता की बाढ़ रोकने के बार-बार के प्रयत्नों से किसी समय प्रबल हो उठा था।

इन्हे एक साथ मिलाकर देखने से ये विशेषताए सार्वभौम राज्यो का ऐसा चित्र सामने रखती हैं जो पहिली दृष्टि मे अस्पष्ट प्रतीत होता है। ये राज्य सामाजिक विघटन के लक्षण हैं पर साथ ही इस विघटन को रोकने और उस पर विजय पाने के प्रयत्न भी हैं। एक बार स्थापित हो जाने के बाद, सार्वभौम राज्य जीवन को जिस दृढता से ग्रहण करते हैं, वह उनकी एक बडी उल्लेखनीय विशेषता है। किन्तु इसे सच्ची जीवनशक्ति समझकर भ्रमित भी न होना चाहिए, यह उन बूढ़ो की दीर्घायु के समान है जो मरने से इनकार करते है। यह तथ्य है कि सार्वभौम राज्यो मे ऐसा आचरण करने की प्रबल प्रवृत्ति पायी जाती है मानो वे स्वय ही कोई साध्य हों, जबकि सच्चाई यह है कि वे सामाजिक विघटन के क्रम मे एक अवस्था-विशेष के द्योतक मात्र है। यदि उनमे इसके अतिरिक्त भी कोई विशेषता है, तो वह यही कि अपने बाहर और अपने परे किसी साध्य के वे साधन मात्र है।

२४

अमरता की मृग-मरीचिका

यदि हम इन सार्वभौम राज्यो पर विजातीय दर्शको की भाति नही बल्कि उन्ही के एक नागरिक की भाति दृष्टि डाले, तो मालूम होगा कि हम अपने इन पार्थिव राष्ट्रमण्डलो को सदा जीवित रखने की इच्छा ही नही करते बल्कि यह विश्वास भी रखते है कि इन मानवी सस्थाओ की अमरता निश्चित है। मजा तो यह है कि यह विश्वास उस समय भी बना रहता है जब काल अथवा अवकाश (Time or Space) की एक दूसरी स्थिति मे रहने वाले दर्शक के सामने समकालिक घटनाए स्पष्ट घोषणा कर रही होती है कि एक सार्वभौम राज्य-विशेष ठीक उसी समय मृत्यु-वेदना से तड़प रहा है। ऐसा दर्शक सहज ही यह प्रश्न कर सकता है कि एक सार्वभौम राज्य के नागरिक, इन बाह्यत: सरल तथ्यो की उपेक्षा कर उसे जीवन के बियाबान मे रैनबसेरा न समझ, समस्त मानवीय यत्नो का लक्ष्य—अमरावती—क्यो समझ बैठते है ? यहा यह बात भी कह देनी चाहिए कि इस प्रकार की भावना स्वदेशी साम्राज्य-निर्माताओ-द्वारा स्थापित सार्वभौम राज्यो तक ही सीमित है। उदाहरण के लिए, भारतीय ने ब्रिटिश राज की अमरता की कभी इच्छा न की, न इसके लिए भविष्यवाणी ही की।

यूनानी सभ्यता के सार्वभौम राज्य, रोमीय साम्राज्य, के इतिहास मे हम देखते है कि जिस पीढी मे महत् धर्मप्रतीक (पैक्स आगस्टा)[1] की स्थापना हुई, उसने सच्ची निष्ठा के साथ यह दावा किया कि 'साम्राज्य' एव उसे बनाने वाले 'नगर' दोनो को ही अमरता का वरदान प्राप्त है। टिब्यूलस[2] (५४-१८ ईसा-पूर्व) ने 'अमरपुरी की दीवारों' के गान गाये हैं और वर्जिल[3] (७०—१९ ईसा-पूर्व) ने अपने एक पात्र से एनियास जाति के वंशधरों के प्रति कहलाया है—"मैं उन्हे एक साम्राज्य दे रहा हूं जिसका कभी अन्त न होगा।" लिवी[4] भी उसी निश्चितता के साथ 'शाश्वत नगर' की

[1] महत् धर्मप्रतीक, जिसकी पूजा सनातन ईसाई धर्म में प्रचलित थी।

[2] (५४-१८ ईसा-पूर्व) लैटिन कवि। डेलिया (वास्तविक नाम प्लैनिया) के प्रेम में विह्वल। शोक-गीत लिखे हैं।

[3] पब्लियस वर्जिलियस मैरो (७०—१९ ईसा पूर्व)। जन्म १५ अक्तूबर, ७० ईसा पूर्व। विख्यात रोमन कवि। ईलियड का रचयिता।

[4] टीटस लिटवियस लिवी (५९ ईसा पूर्व से १७ सन् ई.)। रोमन इतिहासकार।

बात करता है। होरेस[१] यद्यपि अपने गीतों की अमरता के प्रति संशयालु था किन्तु उसने भी रोमन नगर-राज्य में होने वाले वार्षिक समारोहो एव उत्सवों को अमर मान लिया। उसके गीत तो आज भी मानव-कण्ठ मे जी रहे हैं। कब तक उनकी अमरता चलेगी, कोई नही जानता, क्योंकि आधुनिक समय मे शिक्षा की अभिरुचि और सज्जा मे, फैशन में जो परिवर्तन हो गये हैं उनके कारण उन लोगो की सख्या बराबर घटती गयी है जो इन गीतो को सुना सकते थे; फिर भी इतना तो सत्य है ही कि वह वार्षिक रोमीय उत्सव जितने दिन चला उससे चौगुने-पँचगुने समय तक ये गीत जीवित रहे है। होरेस एव वर्जिल के युग के चार सौ वर्षों बाद एलारिक-द्वारा रोम की लूट ने जब उसके अन्त की घोषणा कर दी थी, तब भी हम गैलिक[२] कवि रूतीलियस नमातियनस को बडी शान के साथ रोम की अमरता की घोषणा करते पाते है। यहा तक कि सत जेरोम[३] ने भी, जेरुसलेम के अपने अध्ययन-कक्ष से अपने धार्मिक चिन्तन मे बाधा उपस्थित करके रूतीलियस जैसी भाषा मे ही अपनी वेदना प्रकट की थी। अन्धविश्वासी राज्याधिकारी एव ईसाई धर्मपिता दोनों पर एक ही घटना की भावनात्मक प्रतिक्रिया भी समान दिखायी पडती है और यह स्थिति पीढियो तक बनी रही है।

जब ४१० ई. मे रोम का पतन हुआ, तो एक अनित्य सार्वभौम राज्य के नागरिको को, जिन्होंने उसे अपना अमर आश्रय-स्थान समझ रखा था, वही आघात लगा जो अरबी खिलाफत की प्रजाओं को १२५८ ई. मे लगा था, जबकि बगदाद पर मगोलो ने कब्जा कर लिया। रोमीय जगत् मे जैसे वह आघात फिलिस्तीन से गाल तक के विस्तृत भूभाग मे अनुभव हुआ वैसे ही अरब जगत् मे फरगाना से ऐंदलूशिया तक उसकी अनुभूति हुई, बल्कि इस क्षेत्र मे रोम वाले मामले से भी अधिक गहरा मानसिक प्रभाव दिखायी पडा, क्योकि हलाकू[४] के कारण अब्बासी खिलाफत मे जो क्रांति हुई उसके तीन या चार सदी पहले से ही विशाल साम्राज्य के अधिकाश भागो मे उसकी सार्वभौम सत्ता का लोप हो चुका था और लोग नाममात्र के लिए ही उसके अधीन थे। मरणोन्मुख सार्वभौम राज्यो ने ऐसी आभासिक अमरता का जो प्रकाश-वलय धारण कर रखा था उसके कारण ही ज्यादा बुद्धिमान् और बर्बर नेताओ ने आपस मे राज्य-क्षेत्रो का बँटवारा करते समय एक वैसी ही आभासिक या कल्पित दासता स्वीकार कर ली। एरियन आस्त्रोगोथ के अमलुग एवं शियाए देलामी के बुएहीद सरदारो ने जिन प्रदेशो पर कब्जा कर लिया था उन पर सरकारी विधान की दृष्टि

१ (६५–८ ईसा पूर्व)। रोमन कवियों में वर्जिल के बाद सबसे प्रसिद्ध। ८ दिसम्बर ६५ ईसा पूर्व जन्म। बहुत अच्छे गीत लिखे हैं। उसने लिखा है—"दैन्य एवं अभाव हो मेरी प्रेरणा के स्रोत हैं।"

२ एक पुरानी भाषा।

३ (३४०–४२०)। स्त्रियोन (आधुनिक स्त्रीदोवा) में जन्म। बड़ा जबर्दस्त विद्वान हुआ है।

४ मध्य एशिया का प्रसिद्ध विजेता एवं साम्राज्य-निर्माता।

से अपने को क्रमश: कुस्तुनतुनिया के सम्राट और बगदाद के खलीफा का राज-प्रतिनिधि घोषित करके शासन किया। यद्यपि एक जीर्ण सार्वभौम राज्य के प्रति इस प्रकार के कौशलपूर्ण व्यवहारो से वे दोनो युद्धपिपासु फिरके अपने को विनाश से न बचा सके, क्योंकि विशिष्ट धर्म-परपराओ से जकडकर उन्होने अपने को पहिले ही विनाश के मार्ग पर डाल रखा था, किन्तु वही राजनीतिक चाल दूसरी जगह खूब सफल रही जब साथी बर्बरो ने अपने धर्म-विश्वास में उसका निर्दोष रूप में आचरण किया। उदाहरण लें तो रोम साम्राज्य के विघटन के बाद जो बर्बर राज्य उसके वारिसों मे कायम हुए उनके संस्थापको में क्लोविस दि फ्रक सबसे सफल हुआ है। उसने कैथोलिक धर्म अंगीकार कर सुदूर कुस्तुनतुनिया मे बैठे हुए सम्राट अनस्तेशियस से अपने को उसका प्रतिनिधि एव राजदूत घोषित करा लिया और उसके राजचिह्न भी प्राप्त कर लिये। उसकी सफलता इसी एक बात से प्रमाणित हो जाती है कि उसके द्वारा पराजित भूखण्ड मे शासन करने वाले १८ राजाओ ने घटा-बढ़ाकर उसका ही नाम धारण किया।

इस ऐतिहासिक अध्ययन के पिछले एक भाग में हम देख चुके हैं कि बैजनीय वा पूर्वरोमीय (बैजताइन) सभ्यता मे जो तुर्की साम्राज्य सार्वभौम राज्य बन गया था वह उस समय भी अपनी काल्पनिक अमरता में विश्वास रखता था जब वह 'यूरोप का बीमार आदमी' (सिकमैन आव यूरोप) बन चुका था और जब महत्त्वाकाक्षी युद्ध-नायक अपने लिए उत्तराधिकारी राज्यो के निर्माण मे लगे हुए थे—मिस्र और सीरिया मे मुहम्मद अली, अल्बानिया एव यूनान मे यानिना का अली और रूमेलिया के उत्तर-पश्चिम कोण पर स्थित विद्दीन का पासवानोगलू अपने निजी हितों के लिए बादशाह के नाम पर सब कुछ कर रहे थे। जब पाश्चात्य शक्तियो ने उनका पदानुसरण किया, तो उन्होंने भी इसी कल्पना को ग्रहण कर लिया। उदाहरण के लिए ग्रेट ब्रिटेन ने, कुस्तुनतुनिया के सुलतान के नाम पर, १८७८ ई. से साइप्रस का और १८८२ ई. से मिस्र का शासन-भार ग्रहण कर लिया। यह क्रम तबतक चलता रहा जबतक कि १९१४ ई. मे तुर्की से उसकी लडाई नही हो गयी।

हिन्दू सभ्यता-प्रधान मुगल सार्वभौम राज्य मे भी यही बात पायी जाती है। १७०७ ई. मे औरंगजेब की मृत्यु हुई। उसके बाद, आधी सदी के अन्दर ही, वह साम्राज्य, जिसने कभी भारतीय भूखण्ड के अधिकाश भागों पर प्रभावशाली सार्व-भौमिकता का विस्तार कर रखा था, केवल २५० मील लम्बे और १०० मील चौड़े टुकडे में ही सिमटकर रह गया। अगली आधी सदी के अन्दर वह घटते-घटते दिल्ली के लाल किले की दीवारों तक बच रहा। फिर भी १७०७ ई के डेढ़ सौ वर्ष बाद अकबर एवं औरंगजेब का एक वंशधर उनके तख्त पर आसन जमाये ही रहा और बहुत पहिले से विलुप्त होते जिस मुगल साम्राज्य का वह अब भी प्रतीक था, उस पर शासनहीनता के एक युग के बाद, यदि एक विदेशी राज्य ने अधिकार न कर लिया होता और उस विदेशी राज्य के विरुद्ध १८५७ ई के विद्रोहियों ने बादशाह का अनिच्छापूर्ण आशीर्वाद न प्राप्त कर लिया होता तो वह आगे भी बना ही रहता।

सार्वभौम राज्यो की अमरता के विश्वास से विजड़ित रहने का इससे भी बड़ा प्रमाण तो वह परंपरा है जिसके द्वारा मिटकर नाशवान् सिद्ध हो जाने के बाद भी ये साम्राज्य अपनी प्रेतात्माओं को जीवित रखते है। इसी तरह बगदाद की अब्बासी खिलाफत काहिरा की अब्बासी खिलाफत के रूप मे, रोम साम्राज्य पश्चिमी पवित्र रोमीय साम्राज्य और सनातन ईसाई धर्म के पूर्व-रोमीय साम्राज्य के रूप मे, त्सइग एव हान राजवश सुदूरपूर्वीय सभ्यता के मुई एव ताग साम्राज्य के रूप मे पुनर्जीवित हो उठे। रोमीय साम्राज्य के संस्थापक का वशनाम कैसर एव जार की उपाधियो के रूप मे फिर से चल पड़ा और खलीफा की उपाधि, जिसका मूल अर्थ मुहम्मद का उत्तराधिकारी था, काहिरा को अभिशप्त करने के बाद इस्तबोल पहुच गयी और तबतक वहा बनी रही जबतक कि बीसवी सदी के पश्चिमीकरण के भक्त क्रातिवादियों-द्वारा खत्म नही कर दी गयी।

ऐतिहासिक उदाहरणो के कोश मे से ये कुछ चुनी हुई चीजे ही आपके सामने रखी गयी है जो इस तथ्य को प्रदर्शित करती है कि सार्वभौम राज्यो की अमरता का विश्वास सहज तथ्यो-द्वारा गलत सिद्ध हो जाने के बाद भी शताब्दियों तक जीवित रहता है। तब इस प्रत्यक्ष विषय के कारण क्या हो सकते है?

इसका एक प्रकट कारण तो सार्वभौम राज्यो के संस्थापको एव महान् शासकों द्वारा डाले गये प्रभाव की क्षमता है—प्रभाव जो ग्रहणशील पीढियो को ऐसी प्रबलता के साथ हस्तान्तरित किया जाता है कि एक आकर्षक सत्य बढकर दुर्दम्य उपाख्यान मे बदल जाता है। दूसरा कारण इसके महत्तम शासको-द्वारा प्रदर्शित प्रतिभा के अलावा खुद इस सस्था की अपनी प्रभविष्णुता है। एक सार्वभौम राज्य लोगो के मस्तिष्क एव हृदय को वशीभूत कर लेता है, क्योकि वह सकटकाल के लम्बे यात्रा-मार्ग पर एक रैली (जमघट या समाहरण) का प्रतीक है और रोम-साम्राज्य अपने इसी पहलू के कारण ही अन्त मे मूलत विरोधी यूनानी मनीषियो एव साहित्यकारो का श्रद्धाभाजन बन गया, जैसा कि उस अन्तोनिनी युग की रचनाओ से प्रकट है जिसका गिबन ने, बहुत दिनो बाद, ऐसी कालावधि के रूप मे अभिनदन किया जब मानव जाति उल्लास की पराकाष्ठा पर पहुच गयी थी।

"शक्तिरहित प्रभुता के आचरण मे कोई भी मुक्ति नही है। अपने से उच्च लोगो के प्रभुत्व मे अपने को पाना केवल 'द्वितीय सर्वोत्तम' विकल्प है। किन्तु रोम-साम्राज्य के हमारे वर्तमान अनुभवों मे यह 'द्वितीय सर्वोपरि' ही 'सर्वोत्तम' सिद्ध हुआ है। इस सुखद अनुभव ने समस्त जगत् को रास्ता तय कर अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के साथ रोम के पास जाने के लिए बाध्य किया है। रोम को छोडने की कल्पना ससार उसी प्रकार नही कर सकता जैसे जहाज के माझी अपने कर्णधार से अलग होने की कल्पना नही कर सकते। तुमने देखा होगा कि गुफा मे चट्टान से चमगादड़ लटकी रहती है और उसे पकडकर, एक-दूसरे के सहारे और बहुतेरी चमगादड़ें लटकी रहती हैं। रोम पर समस्त संसार की निर्भरता की यह एक मुनासिब तस्वीर है। हर एक हृदय में आज चिन्ता का विषय यही भय है कि कही वह छत्ते

से अलग न हो जाय । रोम द्वारा त्याग दिये जाने का विचार ही इतना भयावना है कि चंचलतापूर्वक उससे अलग होने की भावना हृदय में आ ही नही पाती ।

"सार्वभौमिकता एवं सम्मान के लिए होने वाले उन झगडों का अन्त हो गया है जो अतीत काल मे युद्ध छिडने का कारण होते थे, और यद्यपि कुछ राष्ट्र नीरव बहने वाले पानी की भाति, सुखद रूप से मौन है, श्रम एव संकट से मुक्ति पाकर प्रसन्न हो रहे है और अन्त मे इस निष्कर्ष पर पहुच गये है कि उनके पुराने सघर्ष निरर्थक थे, वहां ऐसे भी राष्ट्र हैं जिन्हे इतना भी ज्ञान या स्मृति नही रह गयी है कि वे कभी शक्तिपीठ पर आसीन थे । सचमुच हम पैमफीलियन कथा का एक नया सस्करण देख रहे है । एक ऐसे क्षण मे, जब ससार के राज्य, अपनी ही भ्रातृघाती लडाइयो एव सघर्षों के शिकार होकर चिताग्नि पर सो रहे थे, तब रोम की सप्रभुता की छाया तले आते ही उनमे तुरन्त फिर से जीवन की धारा दौड गयी । वे यह कहने मे असमर्थ है कि ऐसी स्थिति मे वे कैसे आये । वे इसके विषय मे कुछ नही जानते, बस अपनी वर्तमान खुशहाली पर आश्चर्यचकित है । वे उन सोने वालो के समान है जो जगकर होश मे आ गये है और क्षणभर पहिले जिन सपनो मे पीडित एव बोझिल थे उन्हे अपने दिमाग से दूर कर दिया है । वे इस बात पर भी विश्वास नही करना चाहते कि पहिले कभी युद्ध-जैसी चीज भी उनके बीच थी···। सम्पूर्ण बसी हुई दुनिया एक स्थायी छुट्टी और मौज की स्थिति मे है । ··· इसलिए केवल वे ही लोग जीवन की अच्छी वस्तुओ से रहित होने के कारण दया के पात्र है जो तुम्हारे साम्राज्य के बाहर है—बशर्ते कि आज ऐसे कुछ लोग उसके बाहर रह गये हो । "[1]

यह विलक्षण सशय कि रोम-साम्राज्य के बाहर भी कुछ उल्लेखनीय राष्ट्र थे, स्वभाव-दर्शक है और ऐसी सस्थाओ को सार्वभौम राज्य कहने का औचित्य सिद्ध करता है । वे राज्य भौगोलिक दृष्टि से नही वरन् मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सार्वभौम थे । उदाहरणस्वरूप, होरेस अपने एक गीत मे हमसे कहता है कि उसे 'तिरीदेतस' की घुडकियो की परवाह नही । इसमे सन्देह नही कि पार्थिया का बादशाह मौजूद था, परन्तु उसकी कोई वकअत नही थी । इसी तरह सुदूर पूर्व के सार्वभौम राज्य के माचू सम्राटो ने भी अपने कूटनीतिक व्यवहारो मे यह मान लिया कि पश्चिमी जगत् की सरकारो-सहित सभी सरकारे अतीत की किसी अनिश्चित अवधि मे चीनी अधिकारियो द्वारा कायम रहने की अनुज्ञा प्राप्त कर चुकी है ।

इतने पर भी इन सार्वभौम राज्यो की वास्तविक स्थिति उस प्रकाशमान सतह से बिलकुल ही भिन्न थी जो एक्लियस अरिस्तेदस तथा विविध युगो और विविध देशो मे हुए उसके साथी चारणो को दीख पडती थी ।

मिस्री सार्वभौम राज्य मे जो नबाई यात्राए हुई उनकी धूमिल दैविकता यूनानी पौराणिकता की प्रतिमा के सहारे हब्शियो के एक नाशवान् राजा के रूप मे बदल गयी—जिसे अभाग्यवश इयोस या अमर उषा देवी प्यार करती थी । इस देवी ने अपने

[1] अरस्तीदस, प. एलियस (११७-८९ ई. पू.) . 'इन रोमम' ।

साथ ओलिम्पियनो से अनुरोध किया कि वे उसके मानव प्रेमी को भी वह अमरता प्रदान करें जो उसे तथा उसके समकक्ष औरों को प्राप्त है। यद्यपि वे सब अपने दैवी विशेषाधिकारों के विषय में बड़े सजग थे किन्तु देवी ने स्त्रियोचित आग्रह से उन्हे अपनी बात मानने को विवश कर दिया। फिर भी इस बेमन से दिये गये वरदान मे एक साघातिक त्रुटि रह ही गयी, क्योकि उत्सुक देवी यह भूल ही गयी थी कि ओलिम्पियनो मे अमरता के साथ अक्षय यौवन का भी समावेश है। दूसरे अमरो ने वरदान देते समय, ईर्ष्यापूर्वक इसका ध्यान रखा था कि देवी ने जितना अनुरोध किया है, बस, उतना ही उन्हे दिया जाय। परिणाम दुर्भाग्यपूर्ण एव दु:खद हुआ। सोहागरात तो ओलिम्पियनो के पलक झपकते भर मे खत्म हो गयी और इयोस तथा उसका अमर किन्तु तेजी से बूढ़ा हो रहा प्रेमी, दोनो सदा के लिए, एक साथ रोने को बच गये—ऐसा बुढापा जिसका मृत्यु के दयालु हाथो से कभी अन्त नही। यह ऐसा कष्ट था जो किसी दूसरे नाशवान् व्यक्ति को नही दिया जा सकता—शाश्वत शोक का एक ऐसा भूत जिसके विषय मे किसी और विचार या भावना की गुंजाइश ही नही थी।

कोई भी मानवीय संस्था या मानव प्राणी यदि इस दुनिया मे अमरता प्राप्त करने की चेष्टा करेंगे, तो केवल शहीद होकर रह जायगे, भले उनमे कोई शारीरिक असमर्थता अथवा मानसिक जीर्णता न हो। तत्त्वज्ञानी सम्राट मार्कस आर्लियस (८०—१६१ ई) ने लिखा था . "इस अर्थ मे यह कहना ठीक होगा कि सामान्य विवेक से युक्त ४० वर्ष की आयु का कोई भी आदमी, प्रकृति की एकरूपता के प्रकाश मे, सम्पूर्ण अतीत एव भविष्य को देख चुका होता है।" यदि पाठक को अनुभव के लिए, मानवात्माओ की क्षमता का यह अनुमान बहुत कम प्रतीत हो, तो वह इसका कारण उस युग मे खोज सकता है जिसमे मार्कस को रहना पडा था, क्योकि 'भारतीय ग्रीष्म' एक उबाने वाला युग है। रोम ने जो शान्ति दी, उसकी कीमत चुकाने मे यूनानी स्वतन्त्रता चली गयी। भले वह स्वतन्त्रता सदा एक अल्पसख्यक वर्ग तक ही सीमित रही हो और वह विशेषाधिकारप्राप्त अल्पमत भले ही अनुत्तरदायी एव उत्पीडक रहा हो किन्तु सिंहावलोकन से यह स्पष्ट हो जाता है कि यूनानी संकटकाल की सिसरोनियन पराकाष्ठा मे रोमीय सार्वजनिक वक्ताओं को अनेक उत्तेजक एव प्रेरणादायक विषयवस्तुओं का दान करने की क्षमता थी, जिसे तस्करवृत्तिप्रधान ट्राजन युग की उनकी सतति बीभत्स कहकर निन्दित कर सकती थी, परन्तु यह सब होते हुए भी आग्रही जीवन को प्रेरणा देने वाले कल्पनाप्रधान नैपुण्य के स्थान पर वह दूसरा कोई विकल्प देने के अपने श्रमपूर्ण प्रयत्नो मे सदा असफल रही। इसलिए उसका उसके प्रति गुप्त ईर्ष्या रखना अनिवार्य था।

यूनानी—हेलेनिक—समाज के विघटन के तुरन्त बाद ही अफलातून (प्लेटो) ने और अधिक पतन से बचाने और चिन्तापूर्वक उसकी रक्षा करने के विचार से उसे एक लोचहीन अगविन्यास मे विजड़ित कर दिया। उसने मिस्री संस्कृति के सापेक्ष टिकाऊपन को आदर्श बताया। एक हजार वर्ष बाद भी, जब यह मिस्री संस्कृति जीवित थी और यूनानी सभ्यता अन्तिम सासें ले रही थी, अन्तिम नव-अफलातूनवादियो

ने अपने विख्यात गुरु की भावना को धकेल-धकेलकर अन्धप्रशसा की पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया था।

मिस्री सार्वभौम राज्य की दृढता का धन्यवाद करना चाहिए क्योकि यही दृढ़ता थी जिसके कारण, जब-जब उसका शरीर नियमपूर्वक चिता पर रखा गया है तब-तब उसने पुन: जीवन मे लौट आने की क्षमता का प्रदर्शन किया है। इसीलिए मिस्री सभ्यता बराबर जीवित रही और उसके सामने ही उसकी समकालिक मिनोन, सुमेरु तथा सिन्धु सस्कृतिया सब एक-एक करके समाप्त हो गयी और अपने बाद तरुण पीढी के उत्तराधिकारियो को अपने स्थान देती गयी और इन तरुण सभ्यताओ मे से भी कई मिट गयी जबकि मिस्री समाज बराबर जीता रहा। इतिहास के मिस्री छात्रो ने देखा ही होगा कि सुमेरु सभ्यता की प्रथम सीरियाई, हिताई एव बैबिलोनी सताने जन्मी, बढी और मर गयी, इसी प्रकार मिनोन सभ्यता की यूनानी एव सीरियाई सतति का उत्थान और पतन हो गया। यह सब होते हुए भी विखण्डित मिस्री समाज की प्राकृतिक जीवनावधि के विषय मे जो अत्युक्तिपूर्ण प्रलबित उपसहार मिलता है, वह शैतानी क्षमता के उन्मत्त प्रदर्शन के साथ, उबाने वाले उन लम्बे एकान्तर विस्तारो के सिवा और कुछ नही है जिनके कारण इस निद्रालस समाज पर विजातीय सामाजिक सस्थाओ के ससर्ग से एक मुलम्मा-सा चढ गया था।

चीन की सुदूरपूर्वीय सभ्यता के उपसहार भाग मे भी वही समाधि-जैसी तद्रिलता की लय मिलती है जिसके बीच-बीच विदेशियो के प्रति घृणाजन्य धर्मोन्माद के दृश्य भी दिखायी पडते है। जिन मगोलो ने चीन पर एक विजातीय सार्वभौम राज्य को थोपा उन पर सुदूरपूर्वीय ईसाई सस्कृति का रग चढते ही एक प्रतिक्रिया हुई, मगोल निकाल बाहर किये गये और उनके प्रभुत्व का स्थान मिंगो के देशी सार्वभौम राज्य ने ले लिया। मिगो के पतन के बाद राजनीति मे जो खोखलापन आ गया था उसी मे मचू बर्बरो का प्रवेश हुआ। इन पर सुदूर पूर्वीय ईसाई सस्कृति का रग अपेक्षाकृत कम दिखायी देता था और चीनी जीवन-विधि को अपनाने की उनकी तैयारी अधिक उल्लेखनीय थी। फिर भी जनता मे उनका बडा विरोध उठ खडा हुआ और यह विरोध कम से कम दक्षिण चीन मे, गुप्त आन्दोलन के रूप मे बराबर बना रहा और १८५२–६४ ई के ते-एप-इग विद्रोह के रूप मे पुन बाहर आ गया। सोलहवी-सत्रहवी शताब्दियो मे आरम्भ की आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता ने जब कैथोलिक ईसाई वेश मे प्रवेश किया, तो अठारहवी शती के प्रथम चतुर्थांश मे कैथोलिक सप्रदाय को गैर-कानूनी करार दिया गया और जब १८३६ ई. और १८६१ ई. के बीच चीन के समुद्री द्वार पाश्चात्य व्यापार के लिए खुल गये, तो उसके खिलाफ १९०० ई. मे पाश्चात्य-विरोधी 'बक्सर' विद्रोह उठ खडा हुआ। १९११ ई. मे इस दोहरे अपराध मे मचू वंश का खात्मा कर दिया गया कि एक तो वह स्वय ही अभेद्यरूप से विजातीय था, उस पर पाश्चात्य सभ्यता के वेश मे आने वाली और भी अधिक भयकर विदेशी शक्ति को देश मे दूर रख सकने मे असमर्थ सिद्ध हुआ।

हर्ष की बात इतनी ही है कि जीवन मिथ्या उपाख्यान की अपेक्षा अधिक

दयालु है और पौराणिकता ने अमरता का जो दण्ड टिथोनस को दिया था वह इतिहास के सार्वभौम राज्यो के लाभ के लिए ऐसी दीर्घायु मे बदल दिया गया जो सर्वथा अक्षय नही थी। मार्कस वाले ४० साल के आदमी को अन्त मे मरना तो है ही—भले वह जीवन के आस्वाद की सीमा पचास या साठ साल तक बढा ले। यदि कोई सार्वभौम राज्य मृत्यु के दशों को बार-बार लात मारकर दूर कर देता है, तो वह काल के अन्तराल मे उस लवण-स्तभ की भाति विलीन हो जायगा जिसे पौराणिक कथा मे किसी समय जीवित नारी का अश्मीकृत रूप बताया गया था।

परोपकाराय सतां विभूतयः

लातीनी (लैटिन) भाषा में एक उक्ति है—सिक वोस नान वोबिस मेलिफिकेटिस एप्स—जिसका अर्थ यह है कि मधुमक्खियो, तुम मधु का निर्माण करती हो पर अपने लिए नही। एक सादी-सी उपमा-द्वारा यह बहूक्त उद्धरण इतिहास की योजना मे सार्वभौम राज्यो की विरोधाभासपूर्ण स्थिति को प्रकट करता है। ये प्रभावशाली राज्य मृतप्राय सभ्यताओ के विघटनशील सामाजिक निकायो के प्रभुतासपन्न अल्पसख्यक वर्ग की अन्तिम कृतिया है। उनका ज्ञात अभिप्राय समाज की क्षयशील शक्तियों के परिरक्षण-द्वारा खुद अपनी रक्षा करना है क्योकि उनका भाग्य भी उन्ही के साथ बँधा हुआ है। किन्तु काल की लम्बी दौड मे उनका अभिप्राय कभी सिद्ध नही होता। फिर भी इतना तो सत्य है कि सामाजिक विघटन के ये गौण फल सर्जना की नवीन क्रियाओं मे कुछ न कुछ भाग लेते ही हैं। जब वे अपनी रक्षा करने मे असमर्थ हो जाते है तब भी वे दूसरो की कुछ न कुछ सेवा तो करते ही है।

यदि हम मान ले कि एक सार्वभौम राज्य सेवा कार्य के साधन रूप में अपना महत्त्व रखता है तो प्रश्न उठता है कि उसका लाभ उठाने वाले कौन होते है? वे इन तीन सभावित उम्मीदवारो मे से कोई न कोई हो सकते हैं—स्वय मृतप्राय समाज का आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग, बाल श्रमजीवी वर्ग या फिर समकालिक कोई विजातीय सभ्यता। अपने आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग की सेवा करने के सिलसिले मे सार्वभौम राज्य उनको उच्चतर धर्मों की दीक्षा देते है और ये धर्म आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग के हृदय मे अपना अवतार-चिह्न स्थापित कर जाते है। बोसुए के शब्दो मे हमने धरती पर जितने भी महत् साम्राज्यो को देखा है उन सबने विविध साधनो-द्वारा धर्म एव ईश्वर के ऐश्वर्य की स्थापना में सहायता की है, जैसा कि ईश्वर ने स्वय अपने प्रवक्ताओं-द्वारा घोषित किया है।

(१) सार्वभौम राज्यों की सवाहकता

हमारा दूसरा कार्य उन सब सेवाओ का आनुभविक सर्वेक्षण करना है जो सार्वभौम राज्यो-द्वारा न चाहते हुए भी हो जाती हैं। साथ ही हमे यह भी देखना है कि आन्तरिक एवं बाल श्रमजीवी वर्गों तथा विजातीय सभ्यताओं-द्वारा इन सुविधाओं

का क्या-क्या उपयोग होता है। किन्तु इसके पहिले हमे इस आरंभिक प्रश्न का उत्तर खोज निकालना है कि एक सस्था, जो निष्क्रिय, रूढिवादी, पुरातनपथी और प्रत्येक अर्थ में ऋणात्मक है, कैसे किसी की कोई सेवा कर सकती है ? कैसे एक अनुदीयमान यीन-राज्य 'याग' कर्मशीलता के नवीन विस्फोट को जन्म दे सकता है ? यह देख-समझ लेना तो बहुत सरल है कि यदि किसी सार्वभौम राज्य के आश्रय मे सर्जनात्मक ऊर्जा की एक चिनगारी एक बार जल चुकी है तो बढ़कर निष्कप ज्योतिशिखा के रूप में उसके परिवर्तित हो जाने का सयोग है, किन्तु वही यदि सकटकाल (Time of Troubles) के मारक प्रहार मे झुलस जाय तो वैसा अवसर उसके जीवन मे कभी न आयेगा। किन्तु ऐसी सेवा बहुमूल्य होने पर भी निषेधात्मक है। तब किसी सार्वभौम राज्य के आश्रय मे पैदा होने वाली सामाजिक स्थिति का वह कौनसा लक्षण है जो सर्जना की नवीन सामर्थ्य का निश्चित स्रोत है—उस सर्जन शक्ति का जो अपने उपयोगकर्ताओ के प्रति सार्वभौम राज्य की सर्वोत्कृष्ट देन या लाभ है, यद्यपि वह खुद अपने तईं उससे लाभ नही उठा सकता। इसका एक सकेत या चिह्न तो इसमे मिल सकता है कि पुरातनवाद (Archaism) चीजो को चलाने की चेष्टा मे निर्माणलुब्ध होकर अपनी ही पराजयवृत्ति का शिकार होता है।

उदाहरण लीजिए विनष्ट समाज के बचे हुए ताने-बाने को सार्वभौम राज्य के राजनीतिक ढाचे के अन्दर सम्मिलित कर लेने से न तो उसी की रक्षा की जा सकती है जो नष्ट हो चुका है, न तो बचे हुए को ही क्रमशः ध्वस होने से बचाया जा सकता है। इस विशाल एव निरन्तर बढ़ती हुई सामाजिक शून्यता का अभिशाप सरकार को स्वय अपनी ही इच्छाओ के विरुद्ध कार्य करने और शून्यता की पूर्ति के लिए कामचलाऊ सस्थाए बनाने को विवश करता है। इस निरन्तर वृद्धिमती खाई मे पैठते जाने का एक महत् उदाहरण रोम-साम्राज्य के शासकीय इतिहास मे उसकी स्थापना के बाद की दो शताब्दियो की अवधि मे देखा जा सकता है। रोम-राज्य का रहस्य उसके अप्रत्यक्ष शासन के सिद्धान्त मे निहित था। यूनानी सार्वभौम राज्य की जो परिकल्पना उसके रोमन सस्थापको ने की थी उसमे उसका रूप 'स्वशासित' नगरो का एक ऐसा सघ था जिसमे यत्र-तत्र उन प्रदेशो मे स्वायत्त शासनयुक्त मण्डलो की रेखा दिखायी पडती थी जहा यूनानी सभ्यता की राजनीतिक जडे मजबूत नही हो सकी थी। इन स्थानीय शासको पर ही शासन का भार था। जान-बूझकर कभी इस नीति मे सशोधन नही किया गया, फिर भी यदि हम रोमीय शान्ति की दो शतियो के अन्त मे उस साम्राज्य का पुनर्निरीक्षण करे तो हम देखेगे कि शासन का ढाचा बहुत कुछ बदल चुका है। जो अगभूत सामन्ती राज्य थे वे अब राज्य के प्रान्तों या सूबों मे बदल चुके थे और ये सूबे खुद भी प्रत्यक्ष एव केंद्रित शासन के अग बन गये थे। स्थानीय शासन को चलाने वाले मानवीय स्रोत धीरे-धीरे सूख गये और स्थानीय शासनपटु लोगों की दिन-दिन कमी होती गयी, जिसके कारण केंद्रीय शासन को सामन्तो एवं राजाओं के स्थान पर शाही गवर्नरो की ही नियुक्ति करके चुप नही रह जाना पड़ा वर नगर-राज्यो के शासन-प्रबन्ध के लिए भी व्यवस्थापकों की नियुक्ति करनी

पड़ी। अन्तिम काल मे तो साम्राज्य का सम्पूर्ण शासन-प्रबन्ध एक संघटित सोपानिक नौकरशाही के हाथ मे चला गया था।

इन परिवर्तनो को थोपने के लिए न तो केंद्रीय अधिकारीगण ही बहुत उत्सुक थे, न उन्हे अपनाने के लिए स्थानीय अधिकारियो मे ही कोई उत्कण्ठा थी, दोनो ही समान रूप से एक अनिवार्य शक्ति (Force Uajeure) के शिकार थे। यह सब होते हुए भी परिणाम क्रान्तिकारी हुए क्योकि ये नयी सस्थाए अत्यधिक संवाहिका (Conductive) थी। किसी पिछले सदर्भ में हम देख चुके हैं कि सामाजिक विघटन के युग की दो मुख्य विशेषताए होती हैं . १. सकरता की भावना (Sense of Promiscuity) और २ ऐक्य की भावना। यद्यपि आत्मनिष्ठ दृष्टिकोण से ये दोनो मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तिया परस्पर-विरोधी प्रतीत होती हैं किन्तु वे समान वस्तुनिष्ठ परिणाम पैदा करने के षड्यन्त्र मे शामिल हो जाती हैं। युग की यह प्रबल भावना सार्वभौम राज्य-द्वारा उत्थापित कामचलाऊ सस्थाओ को ऐसी सवाहकता से समन्वित कर देती है जिसकी तुलना सागर एव स्टेपीज (परती मैदान) द्वारा अपने मानवीय मनोवैज्ञानिक वातावरण से नही वर अपनी ही भौतिक प्रकृति से ग्रहण की जाने वाली सवाहकता के साथ की जा सकती है।

एलियस अरस्तीदस का जिक्र हम पहिले कर चुके है। उसने लिखा है: "जैसे धरित्री अपनी सतह पर समस्त मानव जाति को धारण करती है और सागर अपने हृदय मे समस्त नदियो को अपना लेता है वैसे रोम अपनी गोद मे पृथिवी के समस्त मनुष्यो को स्थान देता है।" अरस्तीदस की कृतियो से परिचित होने के पूर्व इस अध्ययन के लेखक ने स्वय भी इस उपमा का प्रयोग किया था।

"साम्राज्य के विषय में अपनी निजी भावना को लेखक एक दृष्टान्त-कथा या अन्योक्ति के रूप में ही सबसे अच्छी तरह प्रकट कर सकता है। वह उस सागर के समान है जिसके तटों के चतुर्दिक नगर-राज्यों का जाल-सा फैला हुआ हो। प्रथम दर्शन में भूमध्यसागर (मेडीटेरेनियन) उन नदियों का एक तुच्छ प्रतिरूप या अनुकल्प प्रतीत होता है जो अपने जलदान-द्वारा उसका निर्माण करती हैं क्योंकि ये नदियां चाहे स्वच्छ रूप में बहती हों या कर्दममयी हों पर वे जीवनमय जलप्रवाह का रूप थीं, जब समुद्र केवल लवण रूप है, शान्त है, मृत है। किन्तु जब हम सागर का अध्ययन करते हैं तो उसमें भी गति एवं जीवन दिखायी पड़ने लगता है। समुद्र के एक भाग से दूसरे भाग में मौन धाराएं बराबर आती-जाती रहती हैं और स्तर का जल जो भाप बनकर नष्ट हो गया प्रतीत होता है वस्तुत: नष्ट नहीं होता बल्कि अपना खारीपन दूर करके, छनकर दूर-दूर के स्थानों एवं ऋतुओं में जीवनप्रद वर्षा के रूप में फिर नीचे आता है। और चूंकि वह स्तरीय जल बादलों के रूप में ऊपर उठता रहता है उसका स्थान लेने के लिए उसके नीचे के स्तर का जल निरन्तर गहराई से ऊपर उठता रहता है। इस प्रकार सागर स्वयं निरन्तर सर्जनात्मक रूप से गतिमान् है और इस महती जलराशि का प्रभाव उसके तटों से बहुत दूर-दूर पहुँचता है। हम देखते हैं कि

कहीं वह जलवायु की उग्रता को अपने स्पर्श से मृदुल बना देता है, कहीं हरीतिमा की वृद्धि में शीघ्रता ला देता है, मनुष्यों एवं पशुओ के जीवन को समृद्ध करता है और यह सब वह सुदूर महाद्वीपों के हृदय में तथा उन लोगों के बीच करता है जिन्होंने कभी उसका नाम भी नहीं सुना।"[1]

सार्वभौम राज्य के सवाहक माध्यम-द्वारा जो सामाजिक गतिशीलता अपना मार्ग प्रशस्त करती है वह वस्तुत क्षैतिज (Horizontal) एव अनुलम्ब (Vertical), पड़ी और खड़ी, दोनो प्रकार की होती है। 'हिस्तोरिया नेचुरालिस' नामक अपने ग्रन्थ मे एल्डर प्लिनी ने जो प्रमाण दिये है उनके अनुसार रोमन साम्राज्य मे औषध-वनस्पतियो के प्रचार को तथा इसी भाति अरब खिलाफत के पूर्व छोर से पश्चिमी छोर तक फैले कागद के उपयोग को, क्षैतिज गतिशीलता के उदाहरण-रूप मे उपस्थित किया जा सकता है। कागद चीन से ७५१ ई. मे समरकन्द पहुंचा और ७९३ ई. तक बगदाद मे, ९०० ई तक काहिरा मे, ११०० ई. तक अतलान्त महासागर के निकट फेज मे, और ११५० ई तक आइबेरीय प्रायद्वीप के जतीव मे उसका प्रयोग होने लगा था।

अनुलम्बिनी गतिशीलताए कभी-कभी अधिक छलनापूर्ण होती है किन्तु वे प्राय: अपने सामाजिक प्रभावो मे अधिक महत्त्वपूर्ण भी होती है, जैसा कि तोकूगावा शासन के इतिहास से प्रकट होता है। यह जपान मे सुदूरपूर्वीय समाज का सार्वभौम राज्य था। तोकूगावा शासन ने जपान को शेष ससार से पृथक् रखने की चेष्टा की और इस राजनीतिक कौशल को दो शतियो तक बनाये रखने मे सफलता प्राप्त की। किन्तु इतना सब होते हुए भी तथा अपने पूर्व सकटकाल से विरासत में प्राप्त सामन्तशाही को स्थायी प्रबन्ध के रूप मे प्रस्तरित करने की चेष्टा के बावजूद भी पृथक्कृत जपानी साम्राज्य म सामाजिक परिवर्तन की गति को रोकने मे उसने अपने को असमर्थ पाया।

"जपान में मुद्राव्यवस्था के प्रवर्तन ने···एक मन्दगामी किन्तु दुर्निवार क्रान्ति को जन्म दिया जिसका अन्त सामंती शासन के पतन और दो सौ वर्षों से भी अधिक काल तक के पृथक्करण के पश्चात् विदेशों से सम्बन्ध स्थापित करने के रूप में जाकर हुआ। जिस शक्ति ने द्वार उन्मुक्त कर दिये वह बाहर से नहीं आयी थी; यह अन्दर से ही होने वाला एक विस्फोट था ··(नयी आर्थिक शक्तियो का) एक प्रभाव तो यह पड़ा कि समुराई तथा किसानो की क्षति हुई और नगर-वासियों के धन मे वृद्धि होती गयी। डेम्यो एव उनके परिचारक कलाकारो-द्वारा निर्मित एव व्यापारियों-द्वारा बेची जाने वाली विलास-सामग्रियो पर अपना धन व्यय करते रहे, यहां तक कि १७०० ई तक उनका सब चांदी-सोना नगरवासियों के हाथ में चला गया। इसके बाद उन्होंने उधार माल लेना शुरू कर दिया और बहुत जल्द वे व्यापारी वर्ग के कर्ज में डूब गये और उन्हें अपना अन्नभाण्डार गिरवीं रखना पड़ा या विवश होकर बेचना भी पड़ा। झगड़े और संकट तेजी से

[1] **टॉयनबी ए. जे.: 'लिगेसी आव ग्रीस' पुस्तक (आक्सफर्ड क्लेरेंडन प्रेस, १९२२ संस्करण) पृष्ठ ३२०**

शुरू हो गये। व्यापारियों ने चावल की दलाली शुरू कर दी; फिर सट्टा शुरू हुआ। किन्तु इस स्थिति का लाभ केवल एक वर्ग के सदस्यों को हुआ, सबको नहीं। यह वर्ग था व्यापारियों, विशेषतः दलालों एव महाजनों का, उन नगर-वासियो का जिनका अभी तक तिरस्कार किया जाता था और जिन्हें अनादरपूर्ण भाषा में बोलने पर समुराई या जमींदारो-द्वारा मार डालने तक को क्षम्य समझा जाता था। उनकी सामाजिक मर्यादा अब भी निम्नकोटि की मानी जाती रही किन्तु उनके हाथ में थैली थी और वे ऊपर उठते जा रहे थे। १७०० ई. तक वे राष्ट्र की सुदृढ़तम एवं सबसे अधिक साहसी शक्तियों में हो गये। दूसरी ओर सैनिक जाति धीरे-धीरे अपना प्रभाव खोने लगी।"[1]

हिदेयोशी के अधिनायकत्व के अन्तिम प्रतिरोध का अन्त १५९० ई. मे हो गया। यदि हम इस तिथि को जपानी सार्वभौम राज्य की स्थापना की तिथि मान ले, तो हमे दिखायी पड़ता है कि जिस समाज को हिदेयोशी के वारिसो ने बिलकुल स्थिर बना देना चाहा, उसमे रक्तहीन सामाजिक क्रान्ति करने, अतल का जल तल पर आने मे एक शती से अधिक समय लग गया। परन्तु परिणाम इस कारण और भी प्रभावशाली हुआ कि तोकूगावा का सार्वभौम राज्य असामान्य एव बहुत अधिक मात्रा मे सास्कृतिक दृष्टि से सजातीय (homogeneous) बन गया।

सार्वभौम राज्यो की सवाहकता के चित्र उन सभी क्षेत्रो मे देखे जा सकते है जिनका हमे पर्याप्त ऐतिहासिक ज्ञान है।

(२) शान्ति का मनोविज्ञान

सार्वभौम राज्य अपने सस्थापको-द्वारा लोगों पर थोपा जाता और प्रजाओ-द्वारा सकटकाल की बुराइयो के रामबाण उपाय के रूप मे स्वीकार कर लिया जाता है। मनोविज्ञान की शब्दावली मे यह ऐक्य या सामजस्य स्थापित करने एव उसे बनाये रखने वाली एक संस्था है। ठीक निदानप्राप्त बीमारी की यह सच्ची औषध है। बीमारी है—एक ही घर का अपने ही विरुद्ध विभाजित हो जाना। यह फूट दोधारी तलवार की तरह दोनो तरफ काम करती है। प्रतिस्पर्द्धी सामाजिक वर्गों के बीच की क्षैतिज फूट और युद्धरत राज्यो के बीच अनुलब फूट—ऐसे इसके दो रूप हो जाते हैं। अपने पूर्ववर्ती युग के सकुचित राज्यो के बीच होने वाली लडाइयो से उनके एकमात्र उत्तराधिकारी के रूप मे जो शक्ति रह जाती है उसके सहारे सार्वभौम राज्य का निर्माण करने मे साम्राज्यनिर्माताओ का प्रमुख उद्देश्य यही रहता है कि जिन ग्राम्य राज्यो (Parochial States) को उन्होने पराजित किया है उनके प्रभुताशाली अल्पवर्गों के साथो सदस्यो के सग मेल-जोल और सामजस्य स्थापित कर सके। परन्तु अहिसा मन की एक स्थिति है और वह आचरण का ऐसा सिद्धान्त है जो सामाजिक जीवन के किसी

[1] **सैंसम जी. बी. : जपान—ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री (लन्दन, १९३२ क्रेसेट प्रेस) पृष्ठ ४६०-६२**

एक ही कक्ष मे बन्द करके नही रखा जा सकता। इसलिए एक प्रभुताशाली अल्पमत अपने ही घरेलू सम्बन्धो में जिस ऐक्य एव सामंजस्य की स्थापना के लिए प्रयत्नशील होता है उसे इस प्रभुत्वशाली अल्पमत के आन्तरिक एव बाह्य श्रमजीवियो तथा उन विजातीय सभ्यताओं के प्रति अपने सम्बन्ध तक भी प्रसारित करना पडता है जिनसे विघटित होती हुई सभ्यता का सपर्क होता है।

यह सर्वदेशिक मैत्री अपने विभिन्न लाभानुयोगियों को विविध मात्रा मे लाभान्वित करती है। जब वह प्रभुत्वशाली अल्पमत को एक सीमा तक अपनी क्षति की पूर्ति करने मे समर्थ बनाती है तब वह श्रमजीवियो को अपेक्षाकृत कही अधिक शक्ति संपादन करने का अवसर देती है, क्योकि प्रभुत्वशाली अल्पमत के हाथ से जीवन की बागडोर निकल चुकी होती है और बायरन के शब्दो मे, जो उसने सम्राट ज्यार्ज तृतीय के शव पर अश्रद्धाव्यजक टिप्पणी करते हुए कहे थे, "मैत्री के सम्पूर्ण मसाले केवल विनाश को लम्बा कर सकते है।" किन्तु यही मसाले श्रमजीवी वर्ग के लिए खाद का काम देते है। इस प्रकार सार्वभौम राज्य-द्वारा स्थापित युद्ध-विराम के बीच श्रमजीवी वर्ग की वृद्धि और प्रभुताशाली अल्पमत का ह्रास अवश्य होता है। अपने बीच के झगडे दूर करने के ऋणात्मक अभिप्राय से सार्वभौम राज्य के संस्थापक जिस सहिष्णुता का आचरण करते है उसके कारण आन्तरिक श्रमजीवियों को सार्वभौम धर्ममत स्थापित करने का अवसर मिल जाता है। किन्तु सार्वभौम राज्य की प्रजा मे सैनिक भावना का क्षय हो जाने के कारण बर्बरो के बाह्य श्रमजीवी वर्ग अथवा किसी पडोसी विजातीय सभ्यता को घुस आने और उस आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग के ऊपर प्रभुता स्थापित कर लेने का अवसर मिल जाता है, जो धर्मक्षेत्र मे चाहे जितना क्रियाशील हो पर राजनीतिक स्तर पर निष्क्रिय हो चुका होता है।

प्रभुताशाली अल्पमत की सापेक्षिक असमर्थता अपने ही द्वारा प्रवर्तित स्थिति का लाभ कैसे उठा लेती है, इसका उदाहरण हमे इस बात मे दिखायी देता है कि वह किस प्रकार एक ओर अपना तत्त्वज्ञान या काल्पनिक धर्म ऊपर से नीचे तक प्रचारित करने मे असफल रहता है, जबकि दूसरी ओर यह उल्लेखनीय दृश्य दिखायी देता है कि किसी सार्वभौम राज्य के शान्तिमय वातावरण का कैसा प्रभावपूर्ण उपयोग आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग नीचे से ऊपर की ओर एक महत् धर्म का प्रचार करने और अन्त मे एक सार्वभौम धर्ममत की स्थापना करने मे कर लेता है।

उदाहरणस्वरूप मिस्र के मध्य साम्राज्य का, जो मूल मिस्री सार्वभौम राज्य था, ओसीरी धर्मसघ (चर्च) द्वारा इसी प्रकार उपयोग कर लिया गया। नवबैबिलोनीय साम्राज्य, जो बैबिलोनीय सार्वभौम राज्य था तथा उसके बाद आने वाले विजातीय उत्तराधिकारी राज्य अर्थात् एकेमीनियाई (एकेमीनियन-फारसी) साम्राज्य एव सेल्यूसीद बादशाहत का भी, जूडाइज्म (यहूदी धर्म) और उसके भ्रातृधर्म जरथुस्त्र मत-द्वारा इसी प्रकार उपयोग कर लिया गया। रोमीय शान्ति के कारण जो अवसर एवं सुविधाएं प्राप्त हुईं उनका अच्छा उपयोग बहुतेरे—प्रतिस्पर्द्धी श्रमजीवी धर्मों ने—साइबील एवं ईसिस की पूजा और मिथ्र मत एव ईसाइयत के रूप मे—कर लिया। इसी प्रकार

सिनाई (सैनिक-चीनी) जगत् मे 'पैक्स हानिका' (हान शासन) ने जो सुअवसर प्रदान किये उसकी प्रतिस्पर्द्धा मे एक भारतीय श्रमजीवी धर्म महायान तथा एक स्वदेशी सिनाई श्रमजीवी धर्म ताववाद उठ खडा हुआ। इसी तरह की सुविधा इस्लाम को अरब खिलाफत ने और हिन्दू धर्म को गुप्त राज्य ने प्रदान की। कुछ समय तक मगोल साम्राज्य ने, जिसने पैसिफिक (प्रशात) सागर के पश्चिमी तट से लेकर बाल्टिक के पूर्वी तट तक और साइबेरियाई टुड्रा के दक्षिणी छोर से अरब मरुस्थल के उत्तरी छोर तथा बर्मी जंगलो तक अपने खानाबदोशी प्रभाव का विस्तार कर लिया था, कितने ही प्रतिस्पर्द्धी धर्मों के धर्मप्रचारकों की कल्पना को अपनी सुविधाओ से प्रभावित किया। और जब हम इसका ख्याल करते है कि उसकी यह अवधि कितनी छोटी थी तो यह देखकर आश्चर्य होता है कि ईसाइयो के नेस्तोरियन तथा पश्चिमी कैथलिक धर्मसघो ने, इस्लाम ने तथा महायान बुद्धमत के लामावादी तत्र सप्रदायो ने किस सफलता के साथ उसका उपयोग किया।

सार्वभौम राज्य के अनुकूल सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक वातावरण का प्राय. लाभ उठाने वाले महत् धर्मों ने कभी-कभी इस वरदान का अनुभव भी किया और एक ऐसे सत्य-सर्वेश्वर की कृपा के रूप मे उसका वर्णन किया जिसके नाम पर वे उपदेश देते आ रहे थे। दयूतेरोईसाया, इजरा एवं नेहेमिया के धर्मग्रन्थो के प्रणेताओ की दृष्टि मे एकेमीनियाई साम्राज्य यहूदी धर्म के प्रचार के लिए यहवा के हाथ मे एक साधन रूप था। इसी प्रकार महान् पोप लियो (४४०–६१ ई.) ने मत प्रकट किया कि रोमन साम्राज्य ईसाई धर्म के प्रचार के लिए ईश्वर-द्वारा ही निर्मित हुआ है। अपने बयासीवे प्रवचन मे उन्होने लिखा . "अनुग्रह के इस अनिर्वचनीय कार्य (अवतार) के परिणाम का प्रचार सम्पूर्ण विश्व मे करने के लिए ही पहिले से ईश्वर ने रोमन साम्राज्य का निर्माण कर दिया।"

बाद मे तो यह धारणा ईसाई विचारधारा की एक सामान्य बात हो गयी और मिल्टन के काव्य मे भी प्रस्फुटित हुई।[१]

ऐसा महत् सयोग ईश्वर-प्रेरित लगता होगा फिर भी एक सफल धर्मप्रचारक मठ और जिस सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत वह काम करता है उसके बीच के सम्बन्धो को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि सहिष्णुता के जिस वातावरण के कारण उसे एक अनुकूल समारभ का अवसर प्राप्त होता है वह सदा कहानी के अन्त तक कायम नही

[१] No war or battle's sound
Was heard the world around:
The idle spear and shield were high uphung;
The hooked chariot stood
Unstain'd by hostile blood;
The trumpet spake not to the armed throng;
And kings sat still with awful eye.
And if they surely knew their sorran I ord was by.
—Ode on the Morning of Christ's Nativety.

रह पाता बल्कि कभी-कभी बिलकुल विपरीत रूप धारण कर लेता है। निश्चय ही ऐसे भी उदाहरण हैं जिनसे इस तरह का कोई अशुभ परिणाम नहीं निकला। ओसीरियाई धर्मसंघ (चर्च) को कभी उत्पीडन बर्दाश्त नही करना पडा और अन्त मे वह मिस्री प्रभुताशील अल्पमत के धर्म मे निमग्न हो गया। इसी तरह चीनी जगत् मे एक ओर महायान एवं ताव धर्ममतो तथा दूसरी ओर हान साम्राज्य के बीच तब तक शान्ति बनी रही जब तक दूसरी शती ईसवी के अन्तिम भाग मे सिनाई (चीनी) सार्वभौम राज्य का विघटन नही हो गया।

जब हम यहूदी धर्म एव जरथुस्त्र मत तक पहुचते है तब हमारे लिए यह कहना मुश्किल हो जाता है कि उनका अन्तिम सम्बन्ध नवबेबिलोनियाई या एकेमीनियाई साम्राज्य के साथ कैसा रहता क्योंकि इतिहास की बडी ही प्रारंभिक अवस्था मे इन सार्वभौम राज्यो का अन्त हो गया। हम केवल इतना ही जानते है कि जब एकेमीनियाई शासन का स्थान सहसा सेलुसीद ने ले लिया और फलत: फुरात (यूफ्रेतिस) के पश्चिम मे रोमी शासन स्थापित हो गया तब एक विजातीय यूनानी संस्कृति (सेलूसीद तथा रोमीय शक्तिया जिसके क्रमागत राजनीतिक अस्त्र थे) की टक्कर ने यहूदी एव जरथुस्त्र दोनो मतो को सम्पूर्ण मानव जाति के लिए मुक्ति-मार्ग का उपदेश देने के उनके अपने मूल उद्देश्य से विरत कर दिया और यूनानी समाज के आक्रमण का सीरियाई समाज ने जो तुर्की-बतुर्की जवाब दिया उसके सिलसिले मे उन्हे सास्कृतिक युद्ध का एक अस्त्र बना दिया गया। यदि एकेमीनियाई साम्राज्य अपने पर-यूनानी अवतार अरब खिलाफत की भाति पूरी आयु तक रहा होता तब हम एक सहिष्णु एकेमीनियाई शाही शासन के नीचे जरथुस्त्र मत या यहूदी मत द्वारा भी उस इस्लाम की सफलताए प्राप्त करने की कल्पना कर सकते जो एक ओर उम्मीयदो की उदासीनता और दूसरी ओर अब्बासाइयो द्वारा गैर मुस्लिमो के लिए निर्धारित सहिष्णुता के हार्दिक आचरण से लाभ उठाकर, किसी असैनिक बल की कुण्ठापूर्ण सहायता से विकृत हुए बिना ही, धीरे-धीरे तबतक अपना विस्तार करता गया जबतक कि अब्बासाई शासन का अन्त हो जाने के बाद, आती हुई राजनीतिक शून्यता के तूफान से भयभीत लोगो ने मस्जिद के प्रागण मे शरण पाने के लिए स्वेच्छा से सामूहिक धर्मपरिवर्तन कराना नही शुरू कर दिया।

इसी प्रकार गुप्त साम्राज्य के नीचे, जो मूल भारतीय मौर्य सार्वभौम राज्य का पुनर्गठित रूपमात्र था, बुद्ध-परवर्ती महत्तर हिन्दू धर्म-द्वारा बौद्धधर्म-दर्शन का जब निष्कासन हो रहा था तो राजवंश ने बौद्धजीवन के प्रति न केवल अविरोध भाव रखा वर किसी प्रकार के सरकारी उत्पीडन से उसमे बाधा भी नही डाली, क्योंकि वैसा करना भारतीय सभ्यता के सहिष्णु एव सहतिवादी (Syncretistic) धार्मिक वैशिष्ट्य के लिए विजातीय होता।

सार्वभौम राज्य की शान्ति से लाभ उठाने वाले महत्तर धर्मों के प्रति शुरू से अन्त तक शासन-द्वारा सहिष्णुता रखने के इन उदाहरणो के विपरीत ऐसे भी उदाहरण है जिनमें सरकारी उत्पीडन के कारण धर्म के शान्तिमय विकास को बाधा पहुंची है

और उसे या तो मुकुलित होते ही विनष्ट कर दिया गया है या उसे फिर राजनीति में जाने अथवा शस्त्र ग्रहण करने को विवश करके अस्वाभाविक बना दिया गया है। उदाहरणस्वरूप सत्रहवी सदी मे जपान तथा अठारहवी सदी मे चीन मे पाश्चात्य कैथोलिक ईसाई मत का पूर्णतः मूलोच्छेद कर दिया गया। मगोलो की अधीनता तले चीन मे इस्लाम केवल दो प्रान्तो मे जड जमा सका और कभी उसकी स्थिति एक विजातीय अल्पमत से अधिक दृढ नही हो सकी। अपनी साघातिक स्थिति के कारण ही उसमे बार-बार सैनिक विस्फोट होते रहे।

रोमी सम्राटो के शासन मे ईसाई धर्म के साथ जो कशमकश होती रही और जो उस शासन पर ईसाई धर्म की विजय की एक भूमिका मात्र थी, उपर्युक्त उदाहरणो की तुलना मे बहुत मामूली थी। जिन तीन शक्तियो का अन्त कास्तैंनाइन के धर्म-परिवर्तन के साथ हुआ उनमे रोमीय नीति के विपरीत जाने का खतरा चर्च के लिए बराबर बना रहा, क्योकि शाही युग मे रोम-राज्य को सब प्रकार के निजी सम्पर्कों के सन्देह का भूत तो निरन्तर लगा ही रहा किन्तु उससे भी पुरानी एव चित्र पर गहरी खचित एक रोमी परपरा और थी—विदेशी धर्मों के प्रचार एव आचरण के लिए निर्मित निजी सस्थाओ के प्रति विशेष विरोध-भावना। और यद्यपि रोम सरकार ने इस कठोरतम नीति को दो उल्लेखनीय मामलो मे शिथिल कर दिया था (हनीबाली युद्ध के सकट के समय सरकारी स्वागत मे साइबील की पूजा के मामले मे, तथा यहूदी सिद्धान्त को धर्म के रूप मे निरन्तर सहिष्णुता के साथ उस समय भी बर्दाश्त करने मे जब यहूदी धर्मोन्मादियो द्वारा रोम को यहूदी राज्य का उन्मूलन कर देने के लिए उत्तेजित किया गया) फिर भी ईसा-पूर्व दूसरी शती मे बच्छानलो का दमन, आगे आने वाली तीसरी शती खृष्टाब्द मे ईसाइयों के पीडन का पूर्वाभासमात्र था। किन्तु ईसाई धर्मसघ (चर्च) ने अपने को एक राजनीति-प्रधान सैनिक सघ मे बदलकर सरकारी दमन का जवाब देने के प्रलोभन का विरोध किया और इसके पुरस्कार-स्वरूप सार्वभौम धर्मसघ एव भविष्य का वारिस बनने मे उसने सफलता भी पायी।

फिर भी खृष्टीय धर्मसघ (क्रिश्चियन चर्च) इस परीक्षा मे अक्षत नही रह सका। रोमी पशुबल पर ईसाई उदारता एव सज्जनता की विजय के पाठ को हृदयगम करने की जगह जिस पाप ने उनको असफल कर रखा था उसी को अपनी छाती पर लेकर अपने पराभूत उत्पीडको को उसने सेत मे ही एक दोष-प्रक्षालन एव मरणोत्तर नैतिक प्रतिशोध का अवसर प्रदान कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि वह स्वय उत्पीडक बन गया और बहुत दिनो तक वैसा बना रहा। इस प्रकार सार्वभौम राज्यो का निर्माण करने एव उन्हे कायम रखने की शक्तिशाली अल्पमत की सफलता के आध्यात्मिक तल पर, जहा आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग उच्चतर धर्मो के स्रष्टा के रूप मे प्रधान लाभभागी होता है, वहा राजनीतिक स्तर का लाभ दूसरे लोग भोगते हैं। सार्वभौम राज्य के तत्वावधान मे शान्ति का मनोविज्ञान शासको को अपनी राजनीतिक विरासत की रक्षा करने के अयोग्य बना देता है। इस तरह मनोवैज्ञानिक नि.शस्त्रीकरण की इस प्रक्रिया से लाभ न तो शासक को होता है न शासित को, न शक्तिशाली

अल्पमत को होता है न आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग को। लाभ उठाने वाले तो साम्राज्य-सीमा के बाहर से घुस आने वाले होते है और वे या तो विघटनशील समाज के बाह्य श्रमजीवी वर्ग के सदस्य होते है या फिर किसी विजातीय सभ्यता के प्रतिनिधि होते है।

इस अध्ययन के किसी पिछले प्रसग मे हम प्रदर्शित कर चुके है कि जो घटना किसी सभ्यता के विलोप का पजीयन करती है—यह बात इसके पूर्वगामी अवरोध एव विघटन से भिन्न है- प्राय मृत समाज के सार्वभौम राज्य के अधिकार-क्षेत्र पर या तो बाहर से आने वाले बर्बर युद्ध-नेताओ अथवा एक भिन्न सस्कृति को लेकर किसी दूसरे समाज से आने वाले विजेताओ द्वारा कब्जा कर लिये जाने के रूप मे प्रकट होती है। कभी-कभी यह कार्य एक के बाद एक उपर्युक्त दोनो श्रेणियो द्वारा भी होता है। लूटपाट के अभिप्राय से आने वाले बर्बर अथवा विजातीय आक्रमणकारी, सार्वभौम राज्य द्वारा प्रचारित एव प्रस्तुत मनोवैज्ञानिक जलवायु का दुरुपयोग कर जो लाभ उठा लेते है वह प्रत्यक्ष ? और क्षणकालिक दृष्टि से आकर्षक भी दिखायी पडता है। इस विषय मे भी हम पहिले ही प्रकट कर चुके है कि एक टूक-टूक होकर गिरते हुए सार्वभौम राज्य के परित्यक्त क्षेत्र के बर्बर आक्रमणकर्ता ऐसे वीर नायक है जिनका कोई भविष्य नही है और आगामी पीढिया निश्चित रूप से उन्हे बेगैरत दुस्साहसियो के रूप मे ही पहचानती, किन्तु महत् काव्य की भाषा मे अपने समाधि-लेख लिखने की उनकी प्रतिभा के कारण उनके कुत्सित दुराचरण पर जो अनुदर्शी इन्द्रजाल छा जाता है उसके कारण उनका यह रूप छिप जाता है। इलियड-द्वारा एक एकिलेस भी नायक के रूप मे परिवर्तित किया जा सकता है। जहा तक किसी विजातीय सभ्यता के लडाकू धर्मोपदेशको की सफलताओ का सवाल है धमसघो (चर्चों) की ऐतिहासिक उपलब्धियो की तुलना मे वे भी प्रवचनापूर्ण और निराशाजनक मालूम पडती है।

दो ऐसे मामलो मे जिनकी पूरी कथा हमे मालूम है, हम देख चुके है कि एक सभ्यता, जिसका सार्वभौम राज्य विजातीय विजेताओ द्वारा अकाल मे ही समाप्त कर दिया गया है, पृथिवी पर जाकर वहा शताब्दियो तक निष्क्रिय व सुप्त पडी रहती और उपयुक्त अवसर की बाट देखती रहती है तथा अन्ततोगत्वा अनुकूल अवसर पाकर आक्रामक सभ्यता को निकाल बाहर करती है और अपने इतिहास की सार्वभौम राज्य वाली अवस्था का उसी बिन्दु पर पुन: आरम्भ कर देती है जहा से उसमे विच्छेद आया था। भारतीय सभ्यता ने लगभग छ: सौ वर्षो बाद इस कौशल मे सफलता प्राप्त की और सीरियाई सभ्यता ने लगभग एक हजार वर्ष तक यूनानी तूफान मे डूबे रहने के बाद इस कौशल का सफल प्रदर्शन किया। गुप्त साम्राज्य और अरब खिलाफत उनकी सफलताओ के स्मारक थे जिनके रूप मे उन्होने मौर्य साम्राज्य तथा एकेमीनियाई साम्राज्य मे मूलभूत रूप से निहित सार्वभौम राज्यो को क्रमश: फिर से स्थापित किया। दूसरी ओर देखते है कि यद्यपि बैबिलोनियाई समाज ने अपनी सास्कृतिक अभिज्ञा, नेबुचदनेजर के नवबैबिलोनियाई साम्राज्य के साइरस द्वारा नष्ट कर दिये जाने के लगभग ६०० वर्षों बाद तक भी कायम रखी और जब मिस्री समाज

के 'मध्यराज्य' के विनाश के समय उसके नष्ट हो जाने की आशा की जा रही थी तब भी दो हजार साल तक वह बना रहा। फिर भी सीरियाई समाज-पिण्ड मे अन्ततोगत्वा बैबिलोनियाई और मिस्री समाज विलीन हो गये।

इस प्रकार इतिहास की गवाही के अनुसार एक सभ्यता द्वारा दूसरी को बल-पूर्वक निगल जाने और पचा लेने के प्रयत्न के दो विभिन्न उपसहार दिखायी पडते है किन्तु इस गवाही से यह भी पता चलता है कि प्रयत्न के अन्त मे सफल हो जाने पर भी परिणाम के निश्चित होने के पूर्व सदियो लबा, कभी-कभी तो हजार वर्ष का, युग बीत जाता है। इसलिए पाश्चात्य सभ्यता ने पिछले दिनो अपनी समकालिक सभ्यताओ को निगल जाने का जो प्रयास किया है उसके परिणाम के विषय मे कोई भविष्यवाणी करने मे बीसवी शताब्दी के इतिहास-लेखको को सकोच होता है, क्योकि इन पुराने से पुराने प्रयत्नो का आरम्भ हुए अभी दिन ही कितने गुजरे है और इस कहानी के उद्घाटन का कितना थोडा अश अभी हमारे सामने आया है।

उदाहरण के लिए मध्य अमरीकी जगत पर स्पेन की विजय के मामले को ले सकते है। कल्पना की जा सकती है कि जब नूतन स्पेन की स्पेनी वायसराय-प्रथा वाला विजातीय विकल्प समाप्त कर दिया गया तथा मैक्सिको के प्रजातत्र ने उसका स्थान ले लिया और पाश्चात्य राष्ट्रमण्डल मे उसे प्रवेश भी मिल गया तब पश्चिमी समाज-व्यवस्था मे मध्य अमरीकी समाज का विलीन हो जाना एक अकाट्य तथ्य ही होगा। पर इतना होते हुए भी १८२१ ई की मेक्सिको क्रान्ति के बाद १९१० ई की क्रान्ति आ गयी जिसमे दफनाये हुए निष्क्रिय स्वदेशी समाज मे सहसा गति दिखायी पडी, उसने अपना सिर उठाया और सस्कृति की उन परतो को तोडकर बाहर निकल आया जिन्हे कवित्वमय हाथो ने समाधि पर लगा रखा था —उस समाधि पर जिसमे स्पेनी विजेताओ ने यह समझकर उसका शरीर डाल दिया था कि वह मर चुका है। मध्य अमरीका के इस अपशकुन ने सवाल खडा कर दिया है कि उस ऊची नयी दुनिया मे, तथा अन्यत्र भी पाश्चात्य ईसाइयत की प्रतीयमान सास्कृतिक विजयो ने जो सफलता प्राप्त की है वह इसी तरह आगे चलकर कही केवल आभासिक और क्षणजीवी न सिद्ध हो।

चीन, कोरिया एव जपान की सुदूरपूर्वीय सभ्यता, जो पिछली सदी मे हमारे यह लिखने के पूर्व पश्चिम के प्रभाव से विजडित हो गयी, निश्चय ही उससे कही ज्यादा शक्तिमती थी जितनी मध्य-अमरीकी सभ्यता किसी भी युग मे हो सकती थी और यदि मेक्सिको की यह स्वदेशी सस्कृति चार सौ वर्षों के खग्रास के बाद भी अपना सिक्का फिर चला सकी, तो इसके कारण यह मान लेना जल्दबाजी होगी कि सुदूरपूर्वीय सस्कृति के भाग्य मे पश्चिम अथवा रूस द्वारा आत्मीकरण कर लिया जाना, पचा लिया जाना लिखा है। जहा तक हिन्दू जगत् का सवाल है, १९४७ ई. मे ब्रिटिश राज्य के वारिस के रूप मे दो राज्यो की जो स्थापना हुई उसे १८२१ ई. मे हुई मैक्सिको की क्रान्ति का शान्तिपूर्वक घटित प्रतिरूप कहा जा सकता है। जब मैं लिख रहा हू तब यह भविष्यवाणी की जा सकती है कि इस मामले मे राजनीतिक दासता से मुक्ति के

जिस कार्य ने इन मुक्त राष्ट्रों को पाश्चात्य राष्ट्रमण्डल मे ले आकर पश्चिमीकरण के उपक्रम पर ऊपरी तौर से ही सही मुहर लगा दी, वह पाश्चात्य धारा के ज्वार मे क्षणिक रूप से डूबे समाज की सास्कृतिक मुक्ति की ओर पहला कदम था।

और देखे तो जिन अरब देशो को हाल मे ही पाश्चात्य राष्ट्रमण्डल मे प्रवेश प्राप्त हुआ है वे अपनी इस महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति इसीलिए कर सके कि वे एक ओर उस्मानी तुर्की राजनीतिक प्रभुता की शृंखला तोड़ फेकने मे तथा दूसरी ओर चार शतियो से अधिक काल के पुते हुए ईरानी सस्कृति के लेप को धो बहाने मे सफल हुए। तब इस बात मे शका करने का क्या कारण हो सकता है कि अरबी संस्कृति की प्रच्छन्न जीवनी शक्ति जल्दी या देर से उससे कहीं अधिक विजातीय पश्चिमी सस्कृति के प्रभाव से अपने को मुक्त करने मे सक्षम नही होगी।

सास्कृतिक मत-परिवर्तन के अन्तिम परिणाम के सर्वेक्षण के सामान्य प्रभाव से हमारे इस निष्कर्ष की पुष्टि हो गयी कि सार्वभौम राज्य द्वारा जो भी सेवाएं सभव है उनका निश्चित लाभ एकमात्र आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग ही उठाता है। बाह्य श्रमजीवी वर्ग को जो भी लाभ मिलते है वे सदा ही आभासिक होते हैं। इसी प्रकार विजातीय सस्कृति को प्राप्त होने वाले लाभ के भी अन्त मे अस्थायी सिद्ध होने की ही संभावना रहती है।

(३) शाही संस्थाओ की सेवाक्षमता

सार्वभौम राज्यो की दो सामान्य विशिष्टताओं—उनकी संवाहकता और उनकी शान्ति के—प्रभावो का परीक्षण कर लेने के बाद हम उन सेवाओ का सर्वेक्षण आरम्भ कर सकते है जो सार्वभौम राज्यो-द्वारा जान-बूझकर निर्मित एव संचालित की गयी विशेष ठोस सस्थाओ के जरिये उनके लाभानुयोगियों को प्राप्त होती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन सस्थाओ को अपने ऐतिहासिक लक्ष्य (मिशन) की प्राप्ति ऐसे कार्यों द्वारा करनी पडती है जिनके लिए उनके कर्त्ताओ ने कभी सोचा भी न था। जरा व्यापक अर्थ मे सस्था शब्द के उपयोग के अन्तर्गत हम निम्नलिखित विषयों को ले सकते है—सचार-साधन (communications); गढसेना और बस्तिया, प्रान्त; प्रमुख नगर, सरकारी भाषाए एवं लिपिया; विधि-व्यवस्था, पचाग; नाप-तौल के पैमाने और बाट, मुद्रा; सेनाए, असैनिक सेवाएं; नागरिकता। अब हम इनमे से प्रत्येक का सिहावलोकन करेंगे।

संचार-साधन :

संचार-साधनो का नाम इस सूची के शीर्षस्थान पर आता है, क्योकि वे एक ऐसी प्रमुख सस्था हैं जिन पर सार्वभौम राज्य का अस्तित्व ही निर्भर करता है। अपने उपनिवेशो पर सैनिक अधिकार रखने के लिए ही नही वर राजनीतिक नियत्रण रखने के लिए भी वे अस्त्र का काम देते हैं। मनुष्यकृत इन शाही जीवन-रेखाओ के अन्तर्गत मनुष्य द्वारा बनायी सड़को के अलावा और बाते भी आती है क्योकि नदियो,

समुद्रो एव रेगिस्तानों वाले प्राकृतिक राजमार्ग तबतक संचार के व्यावहारिक साधन नही उपस्थित करते जबतक कि प्रभावोत्पादक रूप से उनकी समुचित रक्षा एव देखभाल न की जाय। फिर सचार के लिए विविध प्रकार के माधनों की भी जरूरत पड़ती है। इतिहास को अभी तक जितने सार्वभौम राज्यो का पता लग सका है उनमे से अधिकाश मे इन साधनो ने शाही डाकसेवा का रूप ग्रहण कर लिया था और यदि हम उसी सेवा के अधिकारियो को परिचित शब्द से अभिहित करना चाहे तो कह सकते है कि --'डाकिया' या पोस्टमैन ही प्राय पुलिसमैन भी होते थे। ईसा-पूर्व की तीसरी सहस्राब्दी मे सुमेर एवं अक्कद के जो साम्राज्य स्थापित हुए थे उनमे सार्वभौम डाकसेवा राज्य शासन-यत्र का एक अग थी। विश्व के उसी भाग मे दो हजार वर्ष बाद जो एकेमीनियाई साम्राज्य स्थापित हुआ उसमे हम देखते है कि यही सस्था और भी उच्च स्तर पर सघटित एव कुशल हो गयी है। सूबो पर केन्द्रीय शासन का नियत्रण स्थापित करने मे शाही सचार-व्यवस्था के उपयोग को एकेमीनियाई नीति के दर्शन हमे आगे चलकर रोम साम्राज्य एव अरब खिलाफत मे भी होते है।

इसमे आश्चर्य की कोई बात नही है कि इसी प्रकार की सस्थाए चीन से पेरू तक प्राय. सभी सार्वभौम राज्यो मे पायी जाती थी। सिनाई सार्वभौम राज्यो के क्रान्तिकारी सस्थापक सिन-शी-ह्वाग-ती ने अपनी राजधानी से निकलने वाली कितनी ही सडके बनवायी थी और उनकी देखरेख के लिए व्यापक रूप मे सघटित निरीक्षको की नियुक्ति की थी। इसी प्रकार इकाओ ने अपने द्वारा विजित भूमि को मार्गो के निर्माण द्वारा ही सघटित किया था। कुजको से क्वीनो तक की दूरी या एक हजार मील से अधिक थी पर सडक-द्वारा वह पाच सौ मील के लगभग पडती थी और आवश्यकता पडने पर १० दिन की छोटी-सी अवधि मे दोनो के बीच सन्देश पहुचाया जा सकता था।

स्पष्ट है कि सार्वभौम राज्यो की सरकारो द्वारा निर्मित एव अनुरक्षित सडको का उपयोग हर तरह के ऐसे कामो के लिए भी किया जाता था जिनके लिए उनका निर्माण नही हुआ था। रोम साम्राज्य के उत्तरकाल मे आक्रामक बाह्य श्रमजीवी वर्ग के युद्धपिपासु दल शायद अपनी विनाशक कार्रवाइयो को इतनी तेजी के साथ न बढा सकते यदि साम्राज्य ने अजाने ही उनके पहुचने के लिए इतने अच्छे साधन न प्रस्तुत कर दिये होते। किन्तु एलारिक से कही अधिक रोचक व्यक्तियो का इन सडको पर दर्शन किया जा सकता है। जब आगस्टस ने पिसीडिया पर रोमी शान्ति लाद दी तो वह अनजाने ही सत पाल की प्रथम प्रवचनयात्रा के लिए उनके पैम्फीलिया मे प्रवेश करने और पिसीडिया-स्थित एन्तिओक, ऐकोनियम, लाइस्ट्रा एव डर्ब इत्यादि स्थानो मे उनके निर्विघ्न भ्रमण के लिए मार्ग तैयार कर रहा था। और फिलिस्तीन के कैसारिया से इतालीय पुतेवली तक पाल को अपनी अन्तिम यात्रा मे तूफान एव पोतभ्रश की नैसर्गिक विपत्तियो के अतिरिक्त किसी मानवकृत कठिनाई का सामना न करना पड़े इसलिए पाम्पे ने जलदस्युओ को समुद्रों से मार भगाया था।

पाल के उत्तराधिकारियो के लिए भी रोमीय शान्ति वैसी ही मगलकारी

सामाजिक परिस्थिति की सृष्टि करती रही। रोमन साम्राज्य के अस्तित्व की दूसरी शती के उत्तर भाग मे लियो के सत आयरनेइयस ने जब समस्त यूनानी जगत् मे कैथोलिक चर्च की एकता की सराहना करते हुए लिखा—"इस धर्मसिद्धान्त एव विश्वास को प्राप्त करने के बाद समस्त विश्व मे फैल जाने पर भी चर्च उतनी ही सावधानी से इन खजानो की रक्षा करता है जैसा वह एक ही छत के नीचे रह रहा हो"—तब वह साम्राज्य की सरल यातायात-व्यवस्था की ही प्रशसा कर रहे थे। दो सौ साल बाद फिर एक असन्तुष्ट नास्तिक इतिहासकार एम्मियानस मर्सेलिनस ने शिकायत करते हुए लिखा है—"धर्माध्यक्षों के झुण्ड इन 'धर्मपरिषदो' के कार्य को एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रता से ले जाने मे डाक के सरकारी घोडो का प्रयोग करते थे।"

हमारे सर्वेक्षण[1] से ऐसे कितने ही मामले प्रकाश मे आये है जिनमे सचार-व्यवस्था का अजाने लाभानुयोगियो-द्वारा उपयोग किया गया है, यहा तक कि हम इस प्रवृत्ति को एक ऐतिहासिक 'कानून' का चित्रण करने वाली मान सकते है। १९५२ ई. मे इस निष्कर्ष ने, पश्चिमी सस्कृति के रग मे डूबती हुई उस दुनिया के भविष्य के विषय मे बडा ही गुरु प्रश्न खडा कर दिया है जिसमे इस अध्ययन का लेखक और उसके साथी रह रहे है।

१९५२ ई. मे हम देख रहे है कि पश्चिमी मानव का उपक्रम और कौशल साढ़े चार सदियो से पृथिवी मण्डल की सम्पूर्ण निवास-योग्य एव पारगम्य भूमि को ऐसी सचार-व्यवस्था द्वारा एक-दूसरे से सबद्ध करने मे लगा रहा है जो गति एव वेग मे निरन्तर बढ़ती गयी है। काठ के बने कैरावेल[2]—तथा गैलियन पोत,[3] जो पाल द्वारा चलाये जाने के कारण वायुदेव की कृपाकोर के भिखारी थे और जिनके कारण आधुनिक पश्चिमी यूरोप के अग्रज जलपोत-चालक सम्पूर्ण सागरों के स्वामी बन गये थे, का स्थान उनकी अपेक्षा विशाल ऐसे लौहपोतो ने ले लिया जो यत्र-द्वारा अपने आप प्रवर्तित होते थे। पहले जिन धूलभरी राहो पर छ-छ. घोड़ो की गाडिया चला करती थी उनका स्थान गिट्टी-ककर की सडको तथा सीमेट के बने राजमार्गो ने ले लिया और उन पर मोटरगाडिया दौड़ने लगी। फिर सडको की प्रतियोगिता मे रेले आ गयी और उसके भी बाद हवाई जहाजों ने सब जमीन एव जल पर चलने वाले साधनो को पीछे छोड़ दिया। साथ ही साथ सम्पर्क-साधनों मे भी निरन्तर उन्नति होती गयी जिसके कारण मनुष्य को स्वय सवाद लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाने की आवश्यकता न रह गयी। पूर्व व्यवस्था का स्थान तार, टेलीफोन एव बेतार के तार ने ले लिया और अब तो श्रवण के साथ दर्शन कराने वाले यत्र भी बन चुके है।

[1] **जिस मूल ग्रन्थ का यह संक्षेप है उसमें श्री टॉयनबी ने कितने ही सार्वभौम राज्यो की सचार-व्यवस्था के उपयोग का सर्वेक्षण किया है।**

[2] **कैरावेल—१५ से १७वीं शताब्दी तक चलने वाले स्पेन-पुर्तगाल के द्रुतगामी लघु पोत।**

[3] **गैलियन—बड़े स्पेनी सैनिक पोत।**

इसके पूर्व कभी इतना विशाल क्षेत्र मानव-संसर्ग के प्रत्येक प्रकार के लिए इतने तीव्र रूप से 'संवाहक' नही बन पाया था।

इन प्रगतियो ने उस समाज मे राजनीतिक स्तर पर ऐक्य-स्थापन की भविष्य-वाणी की जिसमे ये प्रौद्योगिक लक्षण प्रकट हो चुके थे। किन्तु ये पक्तिया लिखने के समय तक, पाश्चात्य जगत् का राजनीतिक भाग्य अस्पष्ट ही है, यद्यपि एक प्रेक्षक निश्चित रूप से अनुभव कर सकता है कि देर-सवेर किसी न किसी रूप मे राजनीतिक ऐक्य का आविर्भाव होगा ही किन्तु अब भी उसकी निश्चित तिथि एव रूप के विषय मे कुछ नही कहा जा सकता। एक ऐसी दुनिया मे, जो अब भी राजनीतिक दृष्टि से साठ-सत्तर आत्मदृढ सर्वप्रभुतासम्पन्न सकीर्ण राज्यो मे बटी हुई है, किन्तु जो अणुबम की सृष्टि कर चुकी है, इतना तो स्पष्ट है कि राजनीतिक ऐक्य जबरदस्ती के प्रहार या आघात की परिचित प्रणाली द्वारा ही थोपा जा सकता है। यदि अन्य मामलो की तरह इस मामले में भी किसी जीवित महाशक्ति (महाराष्ट्र) द्वारा शान्ति जबरदस्ती थोपी जाय, तो संभव है कि इस बलात् एकीकरण का मूल्य नैतिक, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक एव राजनीतिक (भौतिक को छोड दे) विनाश के रूप मे उससे भी ज्यादा चुकाना पड़े जितना इस तरह के अन्य मामलो मे चुकाना पडा है। इसी के साथ इसकी भी तो सभावना की जा सकती है कि यह राजनीतिक एकीकरण स्वेच्छाकृत सह-कारिता के विकल्प से ही सिद्ध हो जाय। किन्तु इस समस्या के लिए जो भी समाधान ढूढ़ निकालना सभव हो, इतनी भविष्यवाणी तो विश्वासपूर्वक की ही जा सकती है कि संचार-साधनो का यह विश्वव्यापी जाल, अजाने लाभानुयोगियो-द्वारा परिचित व्यग्य-पूर्ण रूप मे उपयोग किया जाकर अपनी ऐतिहासिक सार्थकता को प्राप्त कर लेगा।

इस मामले मे सबसे ज्यादा लाभ कौन उठावेगा ? बाह्य श्रमजीवी वर्ग के बर्बर तो मुश्किल से ही ऐसा कर सकते हैं। यद्यपि हम आज भी अपने बीच विकृत सभ्यता के भगोडे नव-बर्बर अट्टिलाओ को, हिटलर तथा उसके साथियो के रूप मे, विकसित कर चुके है और आगे भी विकसित कर सकते है, किन्तु हमारी विश्वव्यापी व्यवस्था को सीमा के बाहर के करुणाजनक यथार्थ बर्बर अवशेषो मे कोई खतरा नही है।[1] दूसरी ओर प्रचलित महत्तर धर्म, जिनके कर्मक्षेत्र एक-दूसरे से मिल चुके थे, अन्धविश्वासी पुरातन मानव की जागीर के निरन्तर कम होते जाने के कारण, अवसर का लाभ उठाने लगे थे। एक दिन जिस सत पाल ने ओरोते से टाइबर तक के भ्रमण का साहस किया था, उन्हे हम भूमध्यसागर से कही बड़े-बड़े समुद्रों मे भ्रमण करते देखते हैं। भारत की अपनी द्वितीय यात्रा में[2] हम उन्हे एक पुर्तगाली जहाज पर उत्त-

[1] १९५४ ई में, जब हम यह पुस्तक लिख रहे हैं, केनिया के माऊ-माऊ आन्दोलन को हम इसके विरुद्ध एक प्रबल विरोध मान सकते है।

[2] त्रावनकोर (त्रिवांकुर) में नेस्तोरियन संप्रदाय के आगमन एवं आवास को भारत के ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रथम और अकबर के राजदरबार में जेसुइट मिशन के आगमन को दूसरा प्रयत्न मानकर यह बात लिखी गयी है।

माशा अन्तरीप को पार करते और फिर चीन की तीसरी यात्रा मे[1] मलक्का जलसन्धि होकर आगे जाते देखते है। एक दूसरे स्पेनी जहाज में सवार होकर अक्लान्त धर्मोपदेशक ने कादिज से बेराक्रूज जाकर अतलान्त महासागर को तथा एकापुलको से फिलीपाइन जाकर प्रशान्त महासागर को पार किया। फिर जीवित धर्मों मे इन पाश्चात्य संचार-साधनों का लाभ उठाने वाला केवल पाश्चात्य ईसाई धर्म ही नही था, पाश्चात्य आग्नेयास्त्रो से लैस कजाक अग्रगामियो के पीछे-पीछे आने वाले प्राच्य सनातन ईसाई धर्म (ईस्टर्न आर्थोडाक्स क्रिश्चियैनिटी) ने भी कामनद से ओरवोत्स्क सागर तक का लंबा रास्ता पार किया था। उन्नीसवी शती के अफ्रीका मे देखिए, जब सत पाल, स्काटलैण्ड के चिकित्सक धर्मप्रचारक डेविड लिविंगस्टोन के छद्‌मवेश मे, ईसा के सिद्धान्तो का उपदेश करते हुए बीमारो को नीरोग कर रहे थे, झीलो एव प्रपातो की खोज कर रहे थे, तब इस्लाम भी बैठा न था, वह भी गतिमान था। यह बात कल्पना के परे नही है कि एक दिन महायान को अपनी उस अद्‌भुत यात्रा की याद आ जाये जब उसने मगध से लोयाग तक विविध शाही मार्गों को पार किया था और अपनी यात्रा की इस उल्लासपूर्ण स्मृति से शक्ति ग्रहण करके वह वायुयान एव रेडियो-जैसे पाश्चात्य आविष्कार का उपयोग अपने मुक्ति के उपदेश-सम्बन्धी कार्य मे ठीक उसी प्रकार करने लगे जिस प्रकार कभी उसने मुद्रण यत्र के चीनी आविष्कार का उपयोग कर लिया था।

विश्व-विस्तृत क्षेत्र पर धर्मप्रचार कार्य के इस उद्दीपन से जो समस्याए उठ खड़ी हुईं वे धार्मिक भूराजनीति (geopolitics) की समस्याए नही थी। धर्मप्रचार के नवीन क्षेत्रो मे स्थापित महत्तर धर्मो के प्रवेश ने यह सवाल खडा कर दिया कि किसी धर्म के शाश्वत तत्त्व को क्या उसकी पार्थिव घटनाओ से अलग किया जा सकता है? एक-दूसरे के साथ धर्मों का जो सघर्ष हुआ, उसके कारण यह प्रश्न भी उठ खडा हुआ कि क्या आगे चलकर वे एक-दूसरे के साथ जीवित रहेगे और दूसरो को जीवित रहने देगे? अथवा इनमे से कोई एक अन्य सबके ऊपर छा जायगा?

सार्वभौम राज्यो के कुछ शासको—जैसे सिकन्दर, सीवेरस और अकबर—को धार्मिक उदारता का आदर्श बहुत प्रिय था। इनमे एक कुतर्की मस्तिष्क और मृदुल हृदय का समन्वय हो गया और उनके प्रयोग बिलकुल निष्फल सिद्ध हुए। प्रथम जेसुइट धर्मप्रचारको—जैसे फासिस जेवियर या मेतियोरिक्की—को एक दूसरे ही आदर्श ने अनुप्राणित किया था। समुद्रो पर आधुनिक पाश्चात्य शिल्पियो ने जो विजय प्राप्त की थी तथा इस विजय के कारण उन्हे जो सुयोग प्राप्त हुए थे, उन्हे समझकर उनका उपयोग करने वाले किसी भी धर्म के सन्देशवाहको मे वे प्रथम थे। साहसी आध्यात्मिक

[1] **सातवीं शती में सीनगान में नेस्तोरियन संप्रदाय का प्रवेश हुआ था। इसे चीन को ईसाई धर्म में दीक्षित करने का प्रथम प्रयत्न माना गया है। फिर तेरहवीं-चौदहवीं शतियों में, जो पाश्चात्य ईसाई धर्मप्रचारक जमीन के रास्ते आये उनके प्रयत्न को दूसरा और समुद्र मार्ग से आने वाले सोलहवीं शती के पाश्चात्य ईसाई धर्म-प्रचारक दल को चीन को ईसाई बनाने का तीसरा प्रयत्न माना गया है।**

पथान्वेषक, हिन्दू एव सुदूरपूर्व की दुनिया को ठीक उसी प्रकार ईसाई धर्म मे आकर्षित करने का स्वप्न देखते थे जैसे सत पाल एव उनके उत्तराधिकारियो ने अपने समय मे यूनानी दुनिया को मुग्ध कर रखा था किन्तु साहसिक धर्मनिष्ठा के साथ ही उनमे जो बौद्धिक अन्तर्दृष्टि थी उसके कारण वे यह भी देख-समझ गये कि एक कठोर शर्त को पूरा किये बिना उनका प्रयत्न सफल नही हो सकता। इसलिए उसके परिणामो को स्वीकार करने से वे पीछे नही हटे। उन्होंने समझ लिया कि धर्मप्रचारक को अपना धर्मसन्देश ऐसी बौद्धिक, सौन्दर्यानुभूतिमूलक एव भावनामय भाषा मे प्रचारित करना चाहिए जो उसके भावी धर्मानुयायियो को प्रिय तथा अनुकूल लगे। अपने सारतत्त्व रूप मे सन्देश जितना ही क्रान्तिकारी हो, उसे परिचित एव अनुकूल रूप मे उपस्थित करना उतना ही आवश्यक है। जिस असगत परिवेश मे वह धर्मसन्देश स्वय उन धर्म-प्रचारको (मिशनरियो) को अपनी सास्कृतिक परपरा द्वारा प्राप्त हुआ है उससे उन्हे रहित करना होगा और मिशनरियो को खुद ही यह निश्चित करने का उत्तरदायित्व अपने सिर उठाना होगा कि उनके धर्म को पारम्परिक रूप मे उपस्थित करने मे कितना तत्त्व है और कितना घटनावश उसमे आ गया है।

इस नीति से एक दूसरी कठिनाई भी पैदा हो गयी। गैर-ईसाई समाजो के रास्ते मे एक बाधक प्रस्तर-खण्ड यह पडा था कि वे समझते थे कि मिशनरी उनका धर्म बदलने आ रहा है। इस बाधा को तो मिशनरी ने दूर कर दिया किन्तु ऐसा करके उसने अपने सहधर्मियो के पैरो के सामने एक चट्टान खडी कर दी। और हम देखते है कि इसी चट्टान से टकराकर भारत एव चीन के प्रारम्भ वाले, आधुनिक जेसुइट मिशन के धर्मप्रचार रूपी जलयान डूब गये। वे प्रतिद्वन्द्वी धर्म-प्रचारको के पारस्परिक ईर्ष्या-द्वेष एव वैटिकन (पोप) की अनुदारवादिनी नीति के शिकार हो गये। किन्तु यही उस कहानी का अन्त नही है।

जब पैलेस्टाइन मे ईसाई धर्म का जन्म हुआ तो उसे जिन स्थानीय बाल-वस्त्रो (swaddling cloths) मे लपेटा गया था वे नार्गस के पाल तथा केताकूम्ब (रोम) के ईसाई कलाकारो द्वारा कुशलतापूर्वक हटाये नही गये। सिकन्दरिया के, दैवी (डिवाइनिटी) परपरा वाले ईसाई दार्शनिको को यूनानी दृष्टि एव विचारधारा के अनुसार ईसाई धर्मतत्त्व को लोगो के सामने पेश करने तथा यूनानी जगत् के धर्म-परिवर्तन का मार्ग पाटने का कभी मौका ही न मिला। और यदि अपनी ऐतिहासिक यात्रा मे चलते हुए ओरिजेन एव आगस्टाइन का ईसाई मत रास्ते की सीरियाई, यूनानी एव पाश्चात्य मजिलो मे क्षणभर ठहरने के समय प्राप्त वस्त्राभूषणो को इस बीसवी शताब्दी मे भी अपने से दूर नही कर सका तो वह हमारे लिखने के समय प्रत्येक जीवित महत् धर्म को जो विश्वव्यापी सुयोग प्राप्त है उसका कोई लाभ नही उठा सकेगा। जो भी महत् धर्म एक ही रग मे रग जाने और अस्थायी सास्कृतिक परिस्थिति की छाप अपने पर लगा दिये जाने का मौका देता है वह खुद अपने को स्थिर, गतिहीन एव भूविजडित बना लेता है।

किन्तु यदि इतने पर भी ईसाई धर्म दूसरा मार्ग ग्रहण करता है, तो उसने एक

दिन रोम-साम्राज्य मे जो उपलब्धि की थी उसे फिर से प्राप्त कर सकता है। रोमन सचार-साधनो से सेवित आध्यात्मिक वाणिज्य में ईसाई धर्म ने अपने संपर्क मे आने वाले दूसरे महत्तर धर्मों एवं दर्शनो से वह सब ग्रहण किया जो उनका हृदय-रूप था और उनमे सर्वोत्तम तत्त्व था। आधुनिक पाश्चात्य प्रविधि या तकनीक (technique) द्वारा दिये हुए अनेक आविष्कारो से जब आज की दुनिया भौतिक रूप में एक-दूसरे से बहुत अधिक संबद्ध हो गयी है तब हिन्दू धम और महायान की भी उसके प्रति वैसी ही सफल देन हो सकती है जैसी एक दिन ईसिस-पूजा एव नव-अफलातूनवाद की ईसाई अन्तर्दृष्टि एवं आचरण के प्रति थी। और यदि इस पाश्चात्य जगत् मे भी सीजर के साम्राज्य का उत्थान और पतन होना है— जैसा कि सदा ही उसका साम्राज्य कुछ सौ वर्षों के बाद विनष्ट या क्षीण होता रहा है—तो १९५२ ई मे भविष्य के पर्दे के अन्दर झाकने वाला इतिहासकार इब्नखातून से हेगेल तक के समस्त दर्शनो और उन सब महत्तर धर्मों के उत्तराधिकारी के रूप मे ईसाई धर्म की कल्पना करेगा जिन्होंने पुराने समय मे माता एव उसके पुत्र की सदा प्रच्छन्न पूजा से आरम्भ किया था और ईस्तर एव तम्मुज के नाम से राजमार्ग पर अपनी यात्रा शुरू कर दी थी।

गढ़-सेना (गैरिजन) और बस्तियां :

सम्राट-सरकार के निष्ठावान् समर्थको—जो सक्रिय सेवा मे लगे सैनिक, नगर-रक्षक, सेवामुक्त योद्धा या नागरिक मे से किसी वर्ग के हो सकते है—की बस्तिया किसी भी साम्राज्य सचार-व्यवस्था का अविच्छेद्य अग होती है। इन मानवी पहरुओ की उपस्थिति, पराक्रम एव सजगता के कारण एक अपरिहार्य सुरक्षा प्राप्त होती है— सुरक्षा जिसके बिना सडके, पुल और इस तरह की दूसरी चीजे सम्राट के पदाधिकारियो के लिए निरर्थक हो जाती। सीमा की चौकिया भी इसी प्रणाली का अग है, क्योकि सीमा-रेखाए भी सदा बगली सडको का काम देती है। किन्तु चौकसी और सुरक्षा के लिए गैरिजन (गढ-सेनाए) रखने के अलावा सार्वभौम राज्य सकटकाल मे शक्ति के लिए होने वाले विनाशकारी संघर्षो मे क्षतिग्रस्त चीजो की मरम्मत के ज्यादा रचनात्मक कार्यक्रम की दृष्टि से भी बस्तिया बसा सकता है।

जब सीजर ने कैपुआ, कार्थेज एव कोरिन्थ के उजड़े स्थानो पर रोमन नागरिको की स्वायत्त-शासनप्राप्त बस्तिया बसायी थी, तो उनके मन मे कुछ ऐसी ही बात थी। यूनानी जगत् के ग्रामराज्यो के बीच परस्पर जीवन-रक्षा के लिए जो पूर्वोक्त सघर्ष हुए उनमे तात्कालिक रोम सरकार ने, धोखे के साथ हनीबाल से जा मिलने वाले कैपुआ और रोम को लगभग पराजित कर देने वाले कार्थेज से स्वेच्छापूर्वक उदाहरणीय व्यवहार किया। इसी प्रकार एकेइयन सघ के सदस्यो मे से एक कोरिन्थ को छाट लिया गया और उसके साथ सद्व्यवहार किया गया। प्राक्-सीजरीय गणतंत्र शासन मे अनुदार दल इन तीन प्रसिद्ध नगरों को पुन: अधिकार देने का भयवश नही बल्कि प्रतिहिंसावश घोर विरोध करता रहा था। इनके साथ इस व्यवहार की बात को लेकर लम्बे काल तक बराबर विवाद एव खीचातानी चलती रही और वही बाद में

समय आने पर, एक बड़े सवाल के रूप मे बदल गयी :—रोमी शासन का मुख्य अभिप्राय क्या है—एक राज्य-विशेष का स्वार्थमूलक हित, जिसके लिए उसकी स्थापना हुई अथवा सम्पूर्ण यूनानी जगत् का संयुक्त हित जिसका कि साम्राज्य एक राजनीतिक मूर्तिमान् रूप है ? सीनेट के ऊपर सीजर की विजय अधिक उदार, मानवीय एवं कल्पनापूर्ण विचार की विजय थी।

सीजर ने जिस शासन का शुभारभ किया और जिस शासन का उसने अन्त किया, उन दोनो के बीच यह एक महत्त्वपूर्ण नैतिक अन्तर था। परन्तु यह कोई यूनानी इतिहास की ही विचित्रता न थी, दूसरी सभ्यताओं के इतिहास मे भी संकटकाल से सार्वभौम राज्य के निर्माण तक के सक्रान्तिकाल मे शक्ति के सदुपयोग एव दुरुपयोग सम्बन्धी आचरण-परिवर्तन की ऐसी ही घटनाए मिलती है। किन्तु इस ऐतिहासिक कानून के दृष्टिगत होते हुए भी उसमे अनेक अपवाद हैं। एक ओर तो हम देखते है कि सकटकाल केवल उन्मूलित एवं क्रुद्ध श्रमजीवी वर्ग का ही निर्माण नही कर रहा है बल्कि बहुत बड़े पैमाने पर उपनिवेश एव बस्तिया बसाने के साहसिक प्रयत्नो को भी बढावा दे रहा है (जैसा कि सिकन्दर महान द्वारा एकेमीनियाई साम्राज्य के पूर्व शासन-क्षत्र मे दूर-दूर तक बसाये गये यूनानी नगर-राज्यो के रूप मे देखा जा सकता है)। परन्तु इसके विपरीत हम यह भी देखते है कि प्रभुतासपन्न अल्पमत का हृदय-परिवर्तन, जो किसी सार्वभौम राज्य की स्थापना का मनोवैज्ञानिक अग होता है, बहुत ही कम अवस्थाओं मे इतना दृढ होता है कि बीच-बीच मे पूर्वोक्त सकटकाल के पाशविक आवरण मे प्रत्यावर्तित न हो जाय। सब मिलाकर नव-बैबिलोनियाई साम्राज्य ने अपने असीरियाई विजेताओ की पाशविकता के विरुद्ध बैबिलोनियायी जगत के भीतर एक नैतिक विद्रोह का प्रवर्तन किया था, किन्तु वही आगे चलकर ठीक वैसे ही विनाशकारी एव मूलोच्छेदक जड़ता के रूप मे बदल गया, जैसे असीरिया ने इसराइल का मूलोच्छेद किया था। बैबिलोन ने अपने यहूदी निवासियो को तबतक जीने दिया जबतक बैबिलोन के एकेमीनियाई उत्तराधिकारी ने उन्हे उनके देश वापिस नही भेज दिया। इसके विरुद्ध निनेवा के पीड़ितो—दस खोये कबीलो—को सदा के लिए नष्ट कर दिया गया और वे केवल अग्रेज इसराइलियो की कल्पना मे ही जीवित रह गये। इस बिना पर बैबिलोन निनेवा पर अपनी नैतिक श्रेष्ठता का जो दावा करता है उसे आप भले ही उसकी सनक समझ सकते है।

इन अपवादो के होते हुए भी यह बात मोटे तौर पर सही है कि उपनिवेशीकरण के मामले मे सार्वभौम राज्य अपेक्षाकृत अधिक रचनात्मक एव मानवीय नीति का पालन करते हैं।

सैनिक दृष्टि या चौकीदारी के उद्देश्य से गैरिजनो की स्थापना और सामाजिक एव सास्कृतिक दृष्टि से बस्तियो या उपनिवेशो की स्थापना के बीच हमने अन्तर रखा है। किन्तु कालान्तर मे यह अन्तर केवल उद्देश्य मे ही रह जाता है, परिणाम मे नही। किसी सार्वभौम राज्य की सीमाओ पर और अन्तर्भाग मे साम्राज्य-निर्माताओ द्वारा सैनिक छावनियो एव चौकियो के निर्माण के पीछे-पीछे नागरिक बस्तियो का निर्माण

अपने आप होने लगता है । अपनी सक्रिय सेवा की अवधि में रोमन सिपाहियों के लिए वैध विवाह वर्जित था किन्तु उन्हें रखैलो के साथ स्थायी रूप से दाम्पत्य सम्बन्ध रखने और बच्चे पैदा करने की छूट थी और सिपाही सैनिक सेवा से मुक्ति पाने पर रखैल से वैध रूप में विवाह करके अपनी सतति को वैध बना लेने का अधिकार रखता था । अरब सैनिक मुहाजिर को तो अपनी छावनियो मे अपने साथ अपने बीवी-बच्चो को भी रखने की छूट थी । इस प्रकार रोमी और अरब गैरिजन असैनिक या नागरिक बस्तियो के लिए बीज रूप हो गये । यह बात सभी युगों और सभी साम्राज्यों के राजकीय गैरिजनो के सम्बन्ध मे ठीक उतरेगी ।

किन्तु असैनिक वा नागरिक बस्तिया जहा सैनिक छावनियो की अनभिप्रेत आनुषंगिक उपज के रूप मे उठ खडी होती हैं वहा वे स्वतंत्र रूप से स्वय ही अपने लक्ष्य के रूप मे भी बसायी जा सकती है । उदाहरण के लिए अनातोलिया के जो पूर्वोत्तर जिले आकेमेनिदाई ने फारसी नवाबो को राजदेय (appanages) के लिए दे दिये थे उनमे उस्मानलियो ने इस्लाम ग्रहण करने वाले अलबेनियाई लोगो की बस्तिया बसा दी । अपने उपनिवेशो के हृदय देश मे स्थित व्यावसायिक केन्द्रो में उस्मानलियों ने स्पेन तथा पुर्तगाल से आने वाले शरणार्थी सेपहार्डी यहूदियो की नागरिक जातियो को बसाया । रोम के सम्राटो ने अपने साम्राज्य के पिछडे हुए भागो मे सभ्यता केन्द्रो के रूप मे, जो बस्तिया बसायी उनकी एक लम्बी सूची प्रस्तुत की जा सकती है । एड्रियानोपुल नाम सुनते ही आज भी एक ऐसे महान् सम्राट की याद आ जाती है जिसने दूसरी शती में पुश्तैनी बर्बर थ्रेस वालो को उनकी बर्बरता से मुक्त करने का प्रयत्न किया था । इसी नीति का अनुसरण मध्य एव दक्षिण अमरीका मे स्पेनी साम्राज्य-निर्माताओ ने किया । ये स्पेनी औपनिवेशिक नगर-राज्य एक धृष्ट विजातीय राज्य के प्रशासनिक एव न्यायिक सघटन के शक्ति-घटक का काम देते थे और अपने यूनानी प्रतिरूपो की भाति ही वे आर्थिक दृष्टि से पंगु भी थे ।

"आंग्ल-अमरीकी बस्तियों में नगरों का जन्म देशवासियों की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हुआ । स्पेनी बस्तियों में देशवासियों की वृद्धि नगरों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हुई । आंग्ल उपनिवेश-निर्माता का मुख्य उद्देश्य सामान्यतया धरती के सहारे जीना और खेती करके अपनी जीविका प्राप्त करना था; स्पेनी की मुख्य योजना नगर में रहने और बागों या खानों में काम करने वाले इण्डियन व नीग्रो लोगों द्वारा जीविका प्राप्त करने की थी ।...खेतों और खानों में काम करने के लिए आदिवासी मजदूरों की उपस्थिति के कारण गांवो की आबादी लगभग पूर्णतः इण्डियन ही बनी रही है ।"[1]

एक ऐसा आन्तरिक उपनिवेश भी होता है जो किसी सार्वभौम राज्य के

[1] हेयरिंग, सी. एच. : 'दि स्पेनिश एम्पायर इन अमेरिका' (न्यूयार्क, १९४७, आक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस) पृ. १६० एवं १५९ ।

इतिहास की अन्तिम अवस्था मे प्रमुखता प्राप्त कर लेता है। वह बर्बर खेतिहरों का उपनिवेश होता है। ये लोग ऐसी भूमि पर बस जाते है जो खुद उन्ही की लूटपाट या आक्रमण के कारण वीरान हो चुकी होती है अथवा तत्समान साम्राज्य की प्रकृति में ही व्याप्त किसी सामाजिक रोग के कारण उजड जाती है। 'नोतीतिया डिग्नीटेटम' नामक रचना मे डायोक्लेटियन[1] के बाद के रोम साम्राज्य का जो चित्रण पाया जाता है वह इसका एक महत् उदाहरण है। इस रचना मे अनेक जर्मन एव सर्मेतीय (सर्मेशियन) संघबद्ध बस्तियो का उल्लेख है जो गाल, इटली और डैन्यूबी सूबो मे रोमी धरती पर बस गयी। इन बर्बर उपनिवेशवासियों को 'लाएती' (Laeti) के नाम से पुकारा जाता था। यह एक पश्चिमी जर्मन भाषा के शब्द से निकला है जिसका अर्थ 'अर्द्धदास अधिवासी विदेशी' है। इससे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि वे उन पराजित बर्बर शत्रुओं की सन्ताने होगी जो आक्रमण के पिछले कार्यों के लिए पुरस्कृत या दण्डित किये गये थे। उन्हे जबरदस्ती या समझा-बुझाकर इस स्वर्गभूमि पर शान्तिमय कृषको के रूप मे बस जाने को बाध्य किया गया होगा, जिसे पहिले वे आक्रमणकारी के रूप मे बर्बाद कर चुके थे। बडी सावधानी के साथ उन्हे सीमावर्ती भागो मे नही बल्कि देश के अन्तरग भाग मे बसाया गया।

सार्वभौम राज्यो के शासको-द्वारा स्थापित गैरिजनों एवं बस्तियो के सर्वेक्षण और उनके कारण हुए आबादी के मनमाने स्थानान्तरण के विवेचन से पता चला है कि इन संस्थाओं का किन्ही अन्य सन्दर्भो मे जो भी महत्त्व हो किन्तु उन्होने श्रमजीवीकरण (proletarianization) और अन्तर्मिश्रण (Panmixia) के उपक्रम को तीव्र अवश्य बनाया होगा। हम पहिले ही देख चुके हैं कि यही समान रूप से सकटकाल और सार्वभौम राज्यो की भी विशेषता होती है। सीमा पर जो स्थायी सैनिक गैरिजन होते हैं वही द्रवणपात्र वा मूषा (melting pot=मेल्टिग पाट) बन जाते है जिनमे प्रभुत्वशाली अल्पमत बाह्य एव आन्तरिक दोनो प्रकार के श्रमजीवी वर्ग के साथ घुल-मिलकर एक हो जाता है। युद्धयात्रा के नायक तथा उनका विरोध करने वाले बर्बर युद्धपिपासु दल, समय के प्रवाह मे पहिले सैनिक कौशल, फिर सस्कृति मे भी, एक दूसरे के साथ घुल-मिल जाते हैं। सीमा पर प्रभुत्वशाली अल्पमत का बाह्य श्रमजीवियो से जो सपर्क स्थापित होता है उसके कारण वह (अल्पमत) भी बर्बर हो उठता है। किन्तु सच पूछिये तो इसके बहुत पहिले ही वह आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग के मेलजोल से विकृत हो चुका होता है, क्योकि साम्राज्य-निर्माता शायद ही कभी इतनी मानव शक्ति अथवा शस्त्र के पेशे के प्रति इतना काफी उत्साह सुरक्षित रखते हैं कि बिना किसी की सहायता के अपने साम्राज्यो पर नियत्रण रखने और उनकी

[1] डायोक्लेटियन (२४५-३१३ ई.) २८४ ई. से ३०५ ई. तक रोम का सम्राट था। डालमेशिया के डायोक्लिया नामक स्थान में जन्म लेने के कारण इसका यह नाम पड़ा, वास्तविक नाम डायोक्लीज था। मामूली वश में जन्म लेकर भी अपनी सैनिक सफलताओं के कारण इसने बड़ी उन्नति की। —अनुवादक

रक्षा करने की बात सोच सकें। उनका प्रथम अवलम्ब होता है उन पराधीन प्रजाओ से रगरूट भरती करके अपनी सेनाओ को सुदृढ़ करना जिनमें से उनके सामरिक गुणो का लोप नहीं हुआ है। बाद में एक ऐसी अवस्था भी आती है जब वे निर्धारित सीमा के बाहर, बर्बरो मे से भी सैनिको की भरती करने लगते है।

अन्तर्मिश्रण और श्रमजीवीकरण का यह उपक्रम मुख्यत. किसके लाभ के लिए कार्य करता है ? सबसे प्रमुख लाभानुभोगी स्पष्टत: बाह्य श्रमजीवी वर्ग होता है। क्योंकि किसी सभ्यता की सैनिक चौकियो से बर्बर जो शिक्षा प्राप्त करते हैं—पहिले शत्रु वा प्रतिस्पर्द्धी के रूप मे और फिर बाद को भाड़े के टट्टुओ के रूप मे—वह साम्राज्य के विध्वस के समय उन्हे गिरी सीमाओ के पार टूट पडने और अपने लिए उत्तराधिकारी राज्यों का निर्माण करने के योग्य बनाती है। परन्तु हम इन वीर युग की सफलताओ की क्षणभगुर प्रकृति के विषय मे पहिले ही लिख चुके है। रोम तथा अरब साम्राज्यो मे आबादी के सघटित पुनर्विभाजन एव अन्तर्मिश्रण से अन्तिम लाभ उठाने वाले थे- -क्रमश. ईसाई धर्म और इस्लाम।

उम्मायद खिलाफत की सैनिक छावनियो एव सीमावर्ती गैरिजनो ने उन प्रच्छन्न आध्यात्मिक शक्तियो के असामान्य प्रसार मे परेड के मैदानो (points d' appui) के समान इस्लाम की सेवा की, जिनके कारण इस्लाम ने स्वय अपने को रूपान्तरित कर लिया और छ सौ वर्षों में अपना मिशन (जीवन-लक्ष्य) ही बदल दिया। ईसवी सन् की सातवी सदी मे जो बर्बर युद्धप्रिय दल रोम-साम्राज्य के सूबों मे खुद अपने लिए उत्तराधिकारी राज्यो का निर्माण करने मे लगे हुए थे उन्ही मे से एक दल से इस्लाम अरब मे, एक विशिष्ट साम्प्रदायिक धर्म के रूप मे, तूफान की तरह फट पडा और तेरहवी सदी तक वह एक सार्वदेशिक धर्मसघ (चर्च) के रूप मे बदल गया तथा सीरियाई सभ्यता के विघटन से जब अब्बासाई खिलाफत का अन्त हो गया तो परिचित गडरियो से हीन भेड़ो (परिचित धर्मनेताओ से रहित अनुयायियो) के लिए इस्लाम एक आश्रय-स्थान बन गया।

इस्लाम की जो शक्ति उसके सस्थापक की मृत्यु के बाद भी बनी रही, जो प्राथमिक अरब साम्राज्य-निर्माताओ के पतन के बाद भी बनी रही, जो अरबों के ईरानी उच्छेदकों (supplanters) के ह्रास के बाद भी बनी रही, जो अब्बासाई खिलाफत के समाप्त हो जाने पर भी जारी रही और उस खिलाफत के ध्वसावशेष पर स्थापित क्षणकालिक बर्बर उत्तराधिकारी राज्यो के पतन के बाद भी कायम रही, उसका रहस्य क्या था ? उम्मायद युग मे खिलाफत की अरबेतर (Non-Arabic) प्रजाओ मे से जिन्होने इस्लाम ग्रहण कर लिया उनके आध्यात्मिक अनुभव मे इस रहस्य की व्याख्या ढूढी जा सकती है। जिस इस्लाम को उन्होने मूलतः अपने सामाजिक स्वार्थों की दृष्टि से अपनाया था, उसकी जडे उनके दिलों मे फैल गयी और उन्होने अरबों से भी अधिक गभीरता के साथ उसे अपना लिया। जिस धर्म ने अपनी आन्तरिक विशेषता के गुण के कारण उनकी निष्ठा और वफादारी पर विजय प्राप्त की उसका उत्थान-पतन उन राजनीतिक शासनों के ऊपर कैसे निर्भर करता जो

निरन्तर धर्मेतर उद्देश्यों के लिए उसका दुरुपयोग कर रहे थे। जब हम देखते हैं कि राजनीतिक साध्य की पूर्ति के लिए इस प्रकार के दुरुपयोग ने कितने ही दूसरे महत् धर्मों को मिट्टी मे मिला दिया और इस्लाम को न केवल उसके संस्थापक के उत्तराधिकारियो ने वर खुद मुहम्मद ने भी उस समय खतरे मे डाल दिया जब वह मक्का से मदीना को हिजरत कर गये थे और स्पष्टत. एक असफल पैगम्बर बने रहने की जगह एक अत्यधिक सफल राजमर्मज्ञ बनना उन्होने पसन्द किया, तब इस आध्यात्मिक विजय को और भी उल्लेखनीय मानना पडता है। इतिहास के व्यग्य रूप मे अपने ही संस्थापक-द्वारा ढाये गये सकट के बीच भी जीवित रहने की अपनी कुशलता (tour de force) से इस्लाम ने युगो-युगो तक के लिए मुहम्मद-द्वारा मानव जाति के सामने उपस्थित धार्मिक सन्देश के आध्यात्मिक मूल्यों को प्रत्यक्ष कर दिया है।

इस प्रकार खिलाफत के इतिहास मे, गैरिजन एवं बस्तिया स्थापित करने और आबादियो के स्थानान्तरण तथा अन्तर्मिश्रण को नियत्रित करने की साम्राज्य-निर्माताओं की जो सुविचारित नीति थी उसका यह अनिच्छित एव अप्रत्याशित प्रभाव पडा कि एक उच्च धम की जीवनयात्रा मे गति आ गयी और उसी कारण ने रोम-साम्राज्य के इतिहास मे तदनुकूल प्रभाव डाला।

रोम-साम्राज्य की प्रथम तीन शताब्दियो मे, सीमावर्ती गैरिजन ही धार्मिक प्रभाव के संवाहको मे सबसे अधिक सक्रिय थे और इन स्रोतो से जिन धर्मों का बड़ी तेजी के साथ प्रचार हुआ, वे थे डोलिशे के यूप्पितर की यूनानी सस्करण वाली हित्तायती (हेलेनाइज्ड हिट्टाइट)[1] पूजा तथा मूलत ईरानी मिथ्रस[2] की यूनानी सम्कार वाली सीरियाई पूजा। युफ्रेटीज (फुरात) के तटो पर स्थापित रोमी गैरिजनो से निकलकर डैन्यूब के तटो पर स्थापित गैरिजनो तक, फिर जर्मन लाइम पर, फिर राइन के किनारे, फिर ब्रिटेन मे वाल के आसपास हम इन दोनो धर्मों को फैलते देखते है। यह दृश्य हमे महायान की उस समकालिक यात्रा का स्मरण दिला देता है जो उसने हिन्दुस्तान से निकलकर तिब्बत के पश्चिमी पठार से होते हुए अपनी लबी मजिल की अन्तिम अवस्था मे तारिम अपवाह द्रोणी (Basin, बेसिन) के तटो से प्रशान्त सागर के तटो तक की थी। इस सम्पूर्ण मार्ग मे सीमा की रक्षा के लिए सिनाई सार्वभौम राज्य के गैरीजनों की एक शृखला थी जो यूरेशिया के मरुस्थलो से आने वाले यायावरो (खानाबदोशो) से रक्षा पाने के लिए स्थापित किये गये थे। कहानी के अगले अध्याय मे महायान ने पश्चिमोत्तर मार्ग से सिनाई जगत् के अन्तरग भाग मे

[1] हित्ताइत (हिट्टाइट) २००० से १२०० वर्ष ईसा-पूर्व एशिया माइनर के अधिकांश भाग एवं सीरिया पर राज्य करने वाला प्राचीन प्राच्य राष्ट्र। इन लोगों में ऊंची सभ्यता का विकास हुआ था। इनकी भाषा आधुनिक यूरोपीय कुल से ही सबद्ध थी।

[2] मिस्र-फारस के सूर्यदेव। यह शब्द वस्तुतः वैदिक देवता 'मित्र' का ही रूप है।
—अनुवादक

प्रवेश पाने मे सफलता पायी और सिनाई आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग के लिए सार्वदेशिक धर्मसघ (चर्च) बन गया। इतना ही नही, अन्त मे चलकर वह पाश्चात्य प्रभावपूरित जगत् के चार प्रधान बड़े धर्मों मे से एक बन गया। मिथ्रवाद एवं यूप्पितर डोलीचेनस की पूजा का भाग्य उतना महत् नही रह सका। रोम की साम्राज्य-सेना के भाग्य के साथ बँध जाने के कारण ये दोनो सैनिक धर्म उस आघात से फिर न उठ सके जो ईसवी सन् की तीसरी शती के मध्य सेना के अस्थायी पतन के कारण उन्हें लगा था। जहा तक उनके स्थायी ऐतिहासिक महत्त्व का सम्बन्ध है, वह उनके ईसाई धर्म के अग्रगामी होने में निहित है। एक दूसरे स्रोत से रोमन साम्राज्य पर गिरती ईसाइयत की धारा ने जो तल अपने लिए बनाया उसमे अनेक जलस्रोतो का संगम हो गया और इस सगम से धार्मिक परपरा की निरन्तर वृद्धिमती जो धारा निकली उसमें उपर्युक्त दोनो ने सहायक नदियो का काम किया; यह उनका दूसरा ऐतिहासिक महत्त्व है।

जहा यूप्पितर चेनस तथा मिथ्रस ने युफ्रेटीज (फरात) से टाइन तक के अपने पश्चिमोत्तर प्रवास मे सीमावर्ती गैरिजनो को अपनी सीढियो की भाति इस्तेमाल किया, वहा सन्त पाल ने भी सीजर एव आगस्टस द्वारा साम्राज्य के अन्तरंग भाग में स्थापित बस्तियो का लगभग वैसा ही उपयोग कर लिया। अपनी प्रथम धर्मोपदेश यात्रा मे उन्होंने पीसीडिया-अन्तर्गत एन्तिओक तथा लाइस्ट्रा नाम की तथा अपनी दूसरी यात्रा मे ट्राम, फिलिप्पी तथा कोरिंथ नाम की रोमी बस्तियों मे ईसाई धर्म के बीज बोये। यह ठीक है कि उन्होने अपने को इन बस्तियों तक ही सीमित नही रखा। उदाहरणस्वरूप वह ईफेसस नामक पुरातन हेलेनी (यूनानी) नगर मे दो वर्ष तक जमे रहे। कोरिथ ने, जहा वह अठारह महीने तक रहे, अपास्टोलिक युग के बाद वाले काल मे चर्च के जीवन मे बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया और हम इसका अनुमान कर सकते है कि वहा ईसाई समाज की जो प्रमुखता थी वह आशिक रूप से रोम के मुक्त दासो (freedmen, फ्रीडमेन) की बस्ती की सार्वभौम प्रकृति पर निर्भर करती थी।

किन्तु रोमी बस्ती के ईसाई रूप मे बदल जाने का सर्वप्रधान उदाहरण कोरिथ नही वरन् लियो (Lyons) है, क्योकि महानगरी तक पहुँचकर एक बस्ती से दूसरी बस्ती तक फैलते जाने वाले ईसाई धर्म की वृद्धि रुक नही गयी, न सन्त पाल की मृत्यु के साथ ही उस उपक्रम का अन्त हुआ। लुगदूनम नामक रोमन बस्ती रोन एव साओन नामक नदियो के संगम से बने कोण पर बड़े ही सुन्दर स्थान का चुनाव कर ४३ वर्ष ईसा-पूर्व बसायी गयी थी। वह नाम के लिए ही नही, यथार्थ मे एक रोमी बस्ती थी। सीजर ने विजय करके जो विशाल गैलिक क्षेत्र अपने राज्य मे मिला लिया था उसकी देहली पर वास्तविक इटालीय नस्ल के रोमी नागरिको की यह बस्ती इस ढग से बसायी गयी थी कि गैलिया कोमाता नामक प्रदेश मे वह रोमी संस्कृति का प्रकाश ठीक उसी तरह फैलाये जैसे वह पुरानी रोमी बस्ती नारबोन द्वारा गैलिया तोगाता मे फैला चुकी थी। लुगदूनम मे खास रोम एव टाइन के बीच एकमात्र रोमी गैरिजन स्थित था। फिर गैलिया कोमाता को जिन तीन सूबों में विभाजित किया गया था उनमें से एक सूबे का यह केवल प्रशासकीय केन्द्र ही नही था, वरन् 'गालत्रय की

विधानसभा' (काउसिल आव थ्री गाल्स) का सरकारी मिलन स्थल भी था, जहा साठ या उससे भी अधिक उपमण्डलो के प्रतिनिधिगण, निश्चित अवधि पर मिला करते थे। ये लोग आगस्टस की उस प्रजावेदिका के चतुर्दिक बैठा करते थे जिसे ड्रूसस ने सन् १२ ईसा-पूर्व इस स्थान पर निर्मित कराया था। सच पूछे तो लुगदूनम का जान-बूझकर साम्राज्य के महत्त्वपूर्ण अभिप्रायो की पूर्ति के लिए ही बनाया गया था। इतने पर भी १७७ सन् ईसवी तक इस बस्ती मे ईसाई समाज ने इतनी पर्याप्त शक्ति ग्रहण कर ली थी कि वह कत्लेआम का कारण बन गया और दूसरे स्थानो की भांति यहा भी शहीदो का खून चर्च का बीज बन गया, क्योंकि इसके बाद ही शताब्दी का जो चतुर्थांश आया उसमे लुगदूनम के बिशप की हैसियत से ही सीरियन नस्ल के यूनानी विद्वान आयरीनियस ने सनातन ईसाई धर्मदर्शन (कैथोलिक क्रिश्चियन थियोलोजी) को पहिली बार क्रमबद्ध रूप मे उपस्थित किया था।

रोम साम्राज्य मे ईसाई धर्म, खिलाफत मे इस्लाम तथा सिनाई सार्वभौम राज्य मे महायान—मतलब इनमे से हरएक ने धर्म-निरपेक्ष साम्राज्य-निर्माताओ द्वारा अपने किसी अभिप्राय के लिए स्थापित गैरिजनो एव बस्तियो का फायदा उठाया। फिर भी जनसख्या के शान्तिपूर्ण पुर्नविभाजन के अनिच्छित धार्मिक परिणाम इतने विलक्षण न थे जितना (विलक्षण) नेबुछदनेजर[1] का बर्बरता की असीरियाई प्रणाली को ग्रहण कर लेना था, क्योकि जूडा को बन्दी रूप मे ले जाकर नव-बैबिलोनियाई युद्धनेता ने एक वर्तमान उच्च धर्म की प्रगति का बढाया ही नही अपितु एक नये धर्म को जन्म दे दिया।

प्रान्त :

जैसे सार्वभौम राज्य-निर्माता अपने शासित क्षेत्र मे, दूर-दूर तक किलेबन्दिया करते और बस्तिया बसाते है वैसे वे जिन प्रान्तो मे अपने अधिशासित क्षेत्र विभाजित करते है उनके भी दो विशिष्ट कार्य होते है—स्वय सार्वभौम राज्य की रक्षा; दूसरे उस समाज की रक्षा जिसके सामाजिक गठन के लिए सार्वभौम राज्य एक राजनीतिक ढाचा प्रस्तुत करते है। रोम साम्राज्य और भारत मे ब्रिटिश राज के इतिहास, इस सम्बन्ध मे, यह प्रदर्शित करने के लिए सामने रखे जा सकते है कि एक सार्वभौम राज्य के राजनीतिक गठन के दो मुख्य विकल्प होते है—साम्राज्य का निर्माण करने वाली शक्ति की श्रेष्ठता को बनाये रखना और पहिले के ग्राम-राज्यो के पतन व विनाश के बाद विघटित होते हुए समाज-गठन मे पैदा होने वाली राजनीतिक शून्यता को भर देना।

सार्वभौम राज्य के निर्माता पराजित प्रतिद्वन्द्वियो के पुन उठ खड़े होने के विरुद्ध किस सीमा तक प्रान्तो को सीधे अपने राज्यक्षेत्र मे मिला लेने और उन पर सीधा शासन

[1] **नेबुछदनेजर—चैल्डिया की नस्ल का, बैबिलोन सम्राट। पीडिया की राज-कन्या से विवाहित। ६०५ वर्ष ईसापूर्व इसने मिस्रियों को निकाल बाहर किया और सीरिया को बैबिलोन में मिला लिया। धार्मिक प्रकृति का आदमी था। —अनु०**

स्थापित करने का प्रलोभन पालते हैं, यह इस बात पर निर्भर करता है कि विनष्ट ग्रामराज्य अपने भूतपूर्व अधिपतियो तथा प्रजाओ के मन में किस सीमा तक निष्ठा एवं खेद की भावना को जन्म देते है। यह बात भी बहुत कुछ इस पर निर्भर करती है कि विजय कितनी तेजी के साथ हुई है तथा उस समाज का पूर्वापर इतिहास क्या है जिसके क्षेत्र मे सार्वभौम राज्य ने अपने को स्थापित किया है। जब विजयी साम्राज्य-निर्माता एक सपाटे मे अपना राज्य या शासन स्थापित कर लेते हैं और उन ग्राम-राज्यो पर अपना शासन जबर्दस्ती लागू कर देते है तब उनको यह भय भी लगा रहता है कि कोई हिंसक बल तेजी के साथ कहीं उनके किये-कराये को खत्म न कर दे।

सिनाई (चीनी) जगत् का उदाहरण लें तो हम देखते है कि उसमे साम्राज्य-निर्माता राज्य त्स-इन द्वारा पहिली बार प्रभावकारी राजनीतिक एकता दस वर्ष से भी कम समय के अन्दर (२३०—२२१ ई पू) स्थापित हुई। इस लघु कालावधि मे त्स-इन के सम्राट चेग ने उस समय तक जीवित छ राज्यो को पराजित एव विनष्ट किया और इस प्रकार एक चीनी सार्वभौम राज्य का संस्थापक बन गया। उसने 'त्स-इन-शी-ह्वाग-ती' की उपाधि धारण की। किन्तु इतना सब होते हुए भी वह पूर्व-राजकीय तत्त्वो की राजनीतिक आत्मचेतना को विनष्ट नही कर सका। फलतः उसे जिस समस्या का सामना करना पड़ा उसे इम्पारियल कौंसिल (साम्राज्य परिषद्) मे भाषणों की प्रतियोगिता के रूप मे इतिहासकार स-सी-मा-त्स-इन ने उपस्थित किया है। समस्या का चाहे जिस भी ढग से सामना किया गया हो इतना निश्चित है कि तीव्र परिवर्तन की नीति कायम रही और २२१ ई. पू. मे त्स-इन-शी-ह्वाग-ती ने अपने नवस्थापित सार्वभौम राज्य के सम्पूर्ण क्षेत्र को ३६ सैनिक अधिनायको के अधिकार-क्षेत्र मे विभाजित करने का निर्णय कर लिया।

यह कठोर कदम उठाने मे सम्राट अपने द्वारा विजित छ. ग्रामराज्यो पर वही सैनिक एव असामन्तीय व्यवस्था लागू कर रहे थे जो उनके अपने त्स-इन राज्य मे पिछले सौ वर्षों से चली आ रही थी। किंतु यह आशा नही की जा सकती थी कि विजित राज्य भी उसे पसन्द करेंगे। त्स-इन-शी-ह्वाग-ती सार्वभौम राज्यो की स्थापना के इतिहास की उस परिचित मूर्ति का प्रतिनिधि है जिसे 'विजेता पथिक' की सज्ञा दी जा सकती है और विजित राज्यो के शासकीय वर्ग उसे उसी रूप मे देखते थे जैसे यूनानी नगर-राज्यो की चौथी सदी के नागरिक मैसीडोन के सम्राटो को देखते थे—एक 'बर्बर' से जरा ही अच्छे रूप मे। सिनाई (चीनी) जगत् के सस्कृति-केंद्र के राज्य स्वभावत उस संस्कृति की पूजा की ओर प्रवृत्त थे जिसके वे स्वतः ही प्रमुख व्याख्याता थे। फिर उनकी इस दुर्बलता को बाद मे कन्फ्यूशियन विचारधारा के दार्शनिको-द्वारा भी प्रेरणा एवं पुष्टि मिल गयी जिसके प्रतिष्ठापन ने सिनाई (चीनी) जगत् को पीड़ित करने वाली सामाजिक बीमारी का कारण परपरागत रीतियो एव आचारो की उपेक्षा को बताया था और उसका प्रमुख समाधान प्रारंभिक सिनाई (चीनी) सामन्ती युग की कल्पित सामाजिक एवं नैतिक व्यवस्था की ओर प्रत्यावर्तन बताया। अर्द्ध-कल्पित अतीत का यह पवित्रीकरण त्स-इन की प्रजा एवं शासको पर कुछ प्रभाव

न डाल सका और तैयार किये बिना तीव्र गति से चलने वाले राज्य की संस्थाओं के एकाएक थोप दिये जाने से बड़ा बावेला उठ खड़ा हुआ, जिसकी ओर त्स-इन-शी-ह्वाग-ती का एकमात्र उत्तर और कठोर दमन का आश्रय लेना था।

यह नीति किसी विस्फोट के लिए निमत्रण-स्वरूप थी। फलत २१० ई पू. मे सम्राट की मृत्यु होते ही एक व्यापक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। त्स-इन साम्राज्य की राजधानी पर एक विद्रोही नेता लियू-पैग ने कब्जा कर लिया। किन्तु सिनाई (चीनी) सार्वभौम राज्य के सस्थापक के क्रान्तिकारी कार्य के प्रति तीव्र प्रतिक्रिया की इस विजय से प्राचीन शासन की पुन स्थापना सभव न हो सकी। लियू-पैग अपहृत सामन्त वर्ग का कोई सदस्य न था; वह एक कृषक था और एक टिकाऊ शासन स्थापित करने मे सफल इसलिए हुआ कि उसने न तो काल-दूषित सामन्ती व्यवस्था स्थापित करने की चेष्टा की, न त्स-इन-शी-ह्वाग-ती के क्रान्तिकारी प्रतिरूप को ही आश्रय दिया। उसकी नीति ऊपर से समझौते का तौर-तरीका अपनाते हुए पूर्ववर्ती शासक के लक्ष्य तक क्रमश. रास्ता बनाने की नीति थी।

२०७ ई पू त्स-इन शक्ति का पतन हुआ और २०२ ई. पू तक लियू-पैग सिनाई (चीनी) जगत का एकमात्र स्वामी बन गया। इस छोटी-सी अवधि मे प्राचीन शासन परपरा कायम करने का प्रयोग एक दूसरे विद्रोही नेता ह्सियाग-यू ने किया परन्तु वह कुछ व्यावहारिक न सिद्ध हुआ। जब इस असफलता के बाद लियू-पैग सिनाई (चीनी) जगत का एकछत्र स्वामी बन गया तब उसने पहिला काम यह किया कि अपने योग्य सहायकों को जागीरे दी और ह्सियाग-यू के शासन के उन जागीरदारो को भी अपनी जागीरों का उपभोग करने की छूट दे दी जो उसके साथ आ मिले। परन्तु एक-एक करके वह जागीरभोगी सेनापतियो को अपदस्थ करता तथा मौत के घाट उतारता गया। दूसरे बहुत-से जागीरदारो का एक जागीर से दूसरी जागीर पर तबादला करता रहा और इस प्रकार उनकी क्षणस्थायी प्रजाओ से कोई खतरनाक घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित होने के पहिले ही उनको अपदस्थ करता गया। फिर इसी बीच लियू-पैग ने साम्राज्य की शक्ति को कायम रखने, बल्कि बढ़ाने के लिए भी प्रभावशाली उपाय किये। इसका परिणाम यह हुआ कि त्स-इन-शी-ह्वाग-ती के एक ऐसे सार्वभौम राज्य का, जो कृत्रिम रूप से अंकित स्थानीय प्रशासन-सस्थाओ की एक शृखला-द्वारा केंद्र से शासित होता हो, आदर्श ह्वागती की मृत्यु के १०० वर्ष के अन्दर ही एक बार फिर तथ्य बन गया। फिर इस बार की उपलब्धि व सफलता का एक निश्चित रूप था क्योंकि लियू-पैग तथा उसके उत्तराधिकारियों की फैबियन (दीर्घसूत्री) नीति ने साम्राज्य सरकार को उन मानवीय साधनों की स्थापना के लिए पर्याप्त अवसर दे दिया जिनके अभाव मे प्रथम त्स-इन सम्राट की विराट योजना विफलता के गर्त मे डूब गयी।

एक केन्द्रित सरकार पेशेवर लोकसेवको या लोकाधिकारियो (प्रोफेशनल सिविल सर्विस) के बिना नही चलायी जा सकती और हान वंश को, जिसका प्रतिष्ठापक या जन्मदाता लियू-पैग था, एक कुशल एव लोकप्रिय शासन-सेवा सस्था के निर्माण मे

सफलता प्राप्त हुई। इसके लिए उसे तत्त्वज्ञान की कन्फ्यूशियन विचारधारा के साथ समझौता करना और कन्फ्यूशियन तत्त्वज्ञानियों का पुराने जन्मगत संकुचित सैनिक कुलीनतत्र से जो गठबंधन था उसे तोड देना पड़ा। इसमे सफलता प्राप्त करने के लिए उन्होंने सार्वजनिक शासन सेवा के एक नये और उदार मार्ग का उद्घाटन किया। कन्फ्यूशियन विधाओं मे कुशलता ही इस सास्कृतिक योग्यता वाले नवीन कुलीनतत्र का माप बना दी गयी। यह परिवर्तन भी इतने धीरे-धीरे तथा चतुराई के साथ किया गया कि नवीन अभिजाततत्र ने पुराने अभिजाततत्र का ऐतिहासिक नाम 'छुनत्जे' तक धारण कर लिया और किसी को पता तक न चल सका कि एक गभीर सामाजिक एव राजनीतिक क्रान्ति रूप ग्रहण करती जा रही है।

यदि अपनी उपलब्धि के टिकाऊपन से नापा जाय तो हान वश के प्रतिष्ठापक की गिनती अपने जीवन-कार्यों से किसी सार्वभौम राज्य को जन्म देने वाले सब राज-मर्मज्ञो के ऊपर की जायगी। आश्चर्य तो यह है कि पाश्चात्य जगत रोमन आगस्टस के समान, पर लियू-पैंग की अपेक्षा कम महत्त्वपूर्ण, सफलताओ से तो परिचित है किन्तु चीनी इतिहास के कुछ विशेषज्ञ विद्वानो को छोड दे तो लियू-पैंग के ऐतिहासिक अस्तित्व का उसे पता तक नहीं है। शायद किसी भावी युग मे अतीत की सम्पूर्ण सभ्यताओ मे अपनी ऐतिहासिक जडे रखने वाले सार्वदेशिक समाज के इतिहासकार इससे अच्छे सन्तुलन का परिचय देगे।

सिनाई (चीनी) सार्वभौम राज्य के प्रान्तीय गठन के महत्त्व की परीक्षा कर लेने के बाद, हमारे पास दूसरे उदाहरणो पर विचार करने के लिए स्थान नही रह गया है। इसलिए हम आगे बढ़कर अब ऐसे प्रान्तीय सगठनो द्वारा अनजान मे उन लोगो के प्रति की गयी सेवाओ पर विचार कर लेना चाहते है जिनके लाभ के लिए उनका निर्माण नही किया गया था। यहा भी हम एक ही उदाहरण तक अपने को सीमित रखेंगे और देखेगे कि रोम साम्राज्य के प्रान्तीय गठन का ईसाई धर्मसंघ (चर्च) ने कैसे अपने लिए उपयोग कर लिया।

अपने धर्म-संस्थान का निर्माण करने मे सघ (चर्च) ने उन नगर राज्यो का उपयोग किया जो यूनानी समाज-गठन एव रोमीय राजनीति के घटक थे और ज्यो-ज्यो हेलेनी (यूनानी) सभ्यता की परपराए धीरे-धीरे समाप्त होती गयी, त्यों-त्यो नगर का मतलब, स्वायत्त शासन वाली स्थानीय सस्थाओ से युक्त रोमन राष्ट्रमडल की अधिकारप्राप्त म्युनिसिपैलिटी की जगह ऐसा कस्बा होता गया[१] जो किसी ईसाई धर्माचार्य (बिशप) का मुख्य स्थान हो। जिस स्थानीय धर्माचार्य (बिशप) के अधिकार मे रोमन धर्मसघ (चर्च) के किसी प्रान्त का केद्र स्थान पडता था उसे उस प्रान्त के अन्य बिशप स्वत ही अपने से बडा मान लेते थे। इसी प्रकार ये बने हुए मेट्रोपालिटन या आर्कबिशप उस बिशप को प्रधान धर्माचार्य या प्राइमेट मान लेते थे जिसके अधिकार

[१] इंगलैण्ड में भी अभी कुछ ही दिनों पहिले तक यही परपरा थी। वहां भी 'गिर्जाघरयुक्त' नगर (कैथेड्रल सिटी) ही थे और कस्बे 'बरो' कहलाते थे।

क्षेत्र में किसी प्रान्त-समूह का प्रशासकीय केंद्र पडता था। ऐसे प्रान्त-समूह को 'डायोसीज' कहा जाता था जिसे चर्च ने ग्रहण कर लिया किन्तु वह एक ही बिशप के अधिकार-क्षेत्र के लिए इस शब्द का प्रयोग करने लगा। इसी क्रम मे बिशप, मेट्रोपालिटन तथा प्राइमेट अपने प्रादेशिक धर्माचार्य को सम्मान देने लगे और वह पूर्वकाल के 'प्रिफेक्ट' (रोमन प्रशासक) के तुल्य होता गया। पूर्व के धर्मशासन क्षेत्र (प्रीफेक्चर) को सिकन्दरिया (अलेक्जेंन्द्रिया), यरूसलम, एन्तिओक एव कुस्तुनतुनिया (कान्स्टेटिनोपुल) के चार पेट्रियार्को (प्रधान धर्माधिकारियो) मे विभाजित कर दिया गया। तीन और प्रीफेक्चर जो बचे उन्हे एक ही महत् पर अल्प जनसख्या वाले रोम के पैट्रियार्क क्षेत्र मे मिला दिया गया।

ईसाई चर्च का यह प्रादेशिक सगठन किसी सम्राट की आज्ञा से अस्तित्व मे नहीं आया; यह चर्च द्वारा स्वय ही उस काल मे निर्मित हुआ जब कि वह राज्य की दृष्टि मे अस्वीकृत, बल्कि उसके हाथो पीडित एक सस्था थी। चूंकि धर्मनिरपेक्ष राज्य के प्रान्तीय गठन को आत्मसात् करके भी यह चर्च उससे मूलतः स्वतत्र था इसीलिए अपने गठन मे समान होने पर भी वह तब भी जीवित रह सका जब शासन का पतन हो गया। गाल मे, टूटते हुए राज शासन ने अपनी रक्षा के लिए एक नूतन विधि का आविष्कार किया। स्थानीय जनो का समर्थन प्राप्त करने के लिए उसने प्रतिष्ठित व्यक्तियो का समय-समय पर समारोह करना शुरू किया। इतने पर भी जब साम्राज्य धूल मे मिल गया तो चर्च ने इस विधि को अपना लिया और धर्माचार्यो का प्रादेशिक सम्मेलन बुलाना शुरू कर दिया।

उदाहरण के रूप मे फ्रास के मध्ययुगीन साम्प्रदायिक मानचित्र मे कोई इतिहासकार चाहे तो वह बिशपो के क्षेत्र से उभरती हुई गैलिया तोगाता के नगर-राज्यो और 'गैलिया कोमाता' के परगनो की सीमाए देख सकता है। इसी प्रकार आर्कबिशप के अधिकार-क्षेत्रो मे उस आगस्टस द्वारा विभाजित चार प्रान्तो (नार्वोनेसिस, एक्विटेनिया, लगडूनोशिश एव बेल्जिका) की सीमा-रेखाए मिल सकती है। यहा तक कि पाच पैट्रियार्क क्षेत्र भी ज्यो-के-त्यो दीखते है जिनमे चार पूर्वी परपरानिष्ठ चर्च (ईस्टर्न आर्थोडाक्स चर्च) के और एक पाश्चात्य कैथालिक चर्च के अधिकार मे दिखायी देते है। यद्यपि कैलसेडन मे ४५१ ई मे हुई चतुर्थ धर्मक्षेत्रीय कौंसिल की बैठक के बाद से इन पद्रह शताब्दियो मे धर्मप्रजा के वितरण एव जातीयता के सम्बन्ध मे विशाल परिवर्तन हो गये है किन्तु उनके द्वारा उठायी गयी भयकर हानियो की पूर्ति ऐसी उपलब्धियो से हो गयी है जिनकी कल्पना भी इन धर्मक्षेत्रो के निर्माण के समय सभव न थी।

राजधानियां :

सार्वभौम राज्यो की केंद्रीय सरकारो मे, समय-समय पर अपनी राजधानियो का स्थान परिवर्तन करने की निश्चित प्रवृत्ति दिखायी पडती है। साम्राज्य-निर्माता अपने राज्यो का शासन अपनी सुविधा की दृष्टि से स्थापित राजधानियों से आरभ करते है। ये स्थान या तो उनकी अपनी पितृभूमि (जैसे रोम) की स्थापित राजधानी

होते हैं अथवा विजित प्रदेशो की सीमा पर कोई नया ही स्थान इस कार्य के लिए चुना जाता है। इसमे इतना ध्यान जरूर रखा जाता है कि साम्राज्य-निर्माता के अपने देश के उस स्थान पर आने-जाने की सुविधा (जैसे कलकत्ता) हो। परन्तु ज्यों-ज्यो समय बीतता जाता है और घटनाओ क दबाव से अथवा साम्राज्य शासन के अनुभव से मूल साम्राज्य-निर्माता अथवा उनके उत्तराधिकारी सुविधा की दृष्टि से कोई नया स्थान चुनते है, तब मूल साम्राज्य निर्माण करने वाली शक्ति का ही नही, सम्पूर्ण साम्राज्य के हित का ध्यान रखकर निर्णय करना पडता है। इस नये सामूहिक दृष्टिकोण के कारण विभिन्न परिस्थितियो मे विभिन्न स्थानो का ख्याल सामने आता है, जैसे यदि प्रशासन की सुविधा का ध्यान प्रधान हो तो एक ऐसा केंद्रीय स्थान चुने जाने की सभावना ज्यादा होगी जहा से चारो ओर संचार के अच्छे साधन उपलब्ध हो। यदि मुख्य ध्यान किसी आक्रमणकारी से रक्षा करने का है तो स्थान ऐसा होगा जहा से उस आक्रमण-भयग्रस्त सीमाप्रान्त को शीघ्र ही सैनिक बल एवं सामग्री पहुचायी जा सके।

हम देख चुके हैं कि सार्वभौम राज्यो के स्थापनकर्ता सदा एक ही मूल या स्रोत से नही आते। कभी-कभी तो वे एक ऐसी सभ्यता के प्रतिनिधि होते है जो उस समाज के लिए विजातीय होती है जिसकी राजनीतिक आवश्यकताओ की पूर्ति करना उनका ध्येय होता है। कभी-कभी वे ऐसे बर्बरो मे से आते है जो उस सभ्यता के लिए नैतिक दृष्टि से पराये हो जाते है जिसकी ओर उनका आकर्षण होता है—दूसरे शब्दो मे कहे तो वे बाह्य श्रमिक वर्ग से आते है। कभी-कभी क्या, प्राय वे ऐसे सैनिक अभियानकर्ताओ (मार्चमेन) मे से होते हैं जो ऐसी सभ्यता के अनुगत होने के अपने दावे को, उसकी सीमाओ की बाहरी बर्बरो से रक्षा करके सिद्ध कर चुके होते हैं और बाद मे अपनी शक्ति का उपयोग अपने ही समाज के विरुद्ध करके उसे सार्वभौम राज्य का लाभ प्रदान करते है। इनके अलावा एक और भी श्रेणी होती है पर वह बहुत कम देखने मे आती है। ऐसा हो सकता है कि वे न तो विजातीय हों, न बर्बर हो, न सैनिक अभियानकर्ता हो बल्कि उसी समाज के अन्दर से निकले हुए 'महापौर' (मेट्रोपालिटन) हो।

विदेशियो, बर्बरो अथवा अभियानकर्ताओ-द्वारा जो सार्वभौम राज्य स्थापित होते है उनकी राजधानी सीमाप्रान्त की अपेक्षा केंद्र स्थान की ओर ही अधिक उन्मुख होगी, यद्यपि अन्तिम श्रेणी या अभियानकर्ता की राजधानी सीमा की ओर भी हो सकती है क्योकि इस श्रेणी को अपना मूल कार्य बाद मे भी सपादित करना पड़ सकता है। 'मेट्रोपालिटन' या महापौर द्वारा स्थापित सार्वभौम राज्यों मे राजधानिया स्वभावत. केंद्र स्थान में शुरू होंगी। यद्यपि किसी खास दिशा से आक्रमण का भय होने पर और वह भय सरकार के ऊपर छा जाने पर वे सीमा की ओर भी बढती जा सकती हैं। उपर्लिखित किन नियमो से राजधानियों के स्थान का निश्चय एवं उनका परिवर्तन होता है, उनके उदाहरण हम यहां उपस्थित करेंगे।

भारत में ब्रिटिश राज, विदेशियों-द्वारा साम्राज्य का निर्माण करने का एक

अच्छा उदाहरण है। समुद्र पार से भारत में पहुंचकर और वहा के निवासियो पर हुकूमत करने का स्वप्न देखने के बहुत पहिले उनके साथ वाणिज्य करने आकर अंग्रेजों ने बबई, मद्रास और कलकत्ता मे अपने व्यापार-सस्थान स्थापित किये। इनमे से अन्तिम (कलकत्ता) उनकी प्रथम राजनीतिक राजधानी बना क्योंकि अन्य स्थानो मे उल्लेखनीय एव तुलनायोग्य सफलता पाने के प्रायः एक पीढी पहिले ईस्ट इडिया कम्पनी ने कलकत्ता के निकटवर्ती दो धनवान् प्रान्तो पर कब्जा कर लिया था। सम्पूर्ण भारत को ब्रिटिश राज मे मिलाने की वेलेजली (गवर्नर जनरल १७६८ से १८०५ ई तक) की कल्पना के बाद सौ वर्ष और उस कल्पना के मूर्त हो जाने के बाद पचास वर्ष से भी अधिक समय तक कलकत्ता ब्रिटिश भारत की राजधानी बना रहा, परन्तु राजनीतिक दृष्टि से एक हो गये उस उप-महाद्वीप का केंद्रकर्षी आघात इतना प्रबल हो उठा कि ब्रिटिश भारत की केंद्रीय सरकार को अपनी राजधानी कलकत्ता से दिल्ली बदलनी पड़ी, जो सिन्धु एव गगा दोनो नदियो-द्वारा सिंचित प्रदेश वाले साम्राज्य की राजधानी होने के लिए ज्यादा अच्छा प्राकृतिक स्थान था।

दिल्ली राजधानी के उपयुक्त एक प्राकृतिक स्थान तो था ही, वह एक ऐतिहासिक स्थान भी था क्योंकि १६२८ ई. के बाद वह बराबर मुगलो की राजधानी रह चुका था। अग्रेजो की तरह मुगलों ने भी भारत को एक विजातीय सार्वभौम राज्य दिया—फर्क इतना ही है कि वह समुद्र की ओर से नही, उत्तर-पश्चिम सीमान्त के मार्ग से आये थे। अगर उन्होने ब्रिटिश उदाहरण की पूर्व कल्पना की होती तो वे अपनी पहिली राजधानी काबुल मे रखते। जिन कारणो से उन्होंने ऐसा नही किया उन पर उनके इतिहास के विस्तृत विवेचन से प्रकाश पड सकता है। दिल्ली उनकी प्रथम राजधानी नही थी, परन्तु पूर्ववर्ती राजधानी आगरा भी केंद्र स्थान मे ही थी।

यदि हम, स्पेनिश अमरीका पर उडती दृष्टि डाले तो हम देखेगे कि मध्य अमरीका के साम्राज्य-निर्माताओ ने एक ही बार सदा के लिए अपनी राजधानी दिल्ली की भांति 'तेनोश टीटलन' (मैक्सिको सिटी) निश्चित कर दी और प्रवेश की सुविधा वाले बन्दरगाह वेराक्रुज—जैसे कलकत्ता—की उपेक्षा की। पेरू मे उन्होने इसके प्रतिकूल मार्ग अगीकार किया। वहा अन्दर के पठार इकास की राजधानी कुजको की उपेक्षा कर समुद्रतट-स्थित लीमा को राजधानी बनाया। इसका कारण यह तथ्य था कि पेरू का प्रशान्त महासागर निकटवर्ती तट-प्रान्त बहुत सम्पन्न एवं महत्त्वपूर्ण था, जबकि मैक्सिको का अतलान्त महासागरीय तट भाग उतना सम्पन्न एव महत्त्वपूर्ण नही था।

जिन विजातीय उस्मानलियो ने प्राच्य कट्टरपन्थी या परपरानिष्ठ ईसाई समाज (ईस्टर्न आर्थोडाक्स क्रिश्चियन सोसायटी) को एक सार्वभौम राज्य दिया, वे पहिले एशिया, फिर यूरोप मे तबतक बराबर अपनी राजधानी बदलते रहे जबतक कि उन्हे अपने बैजेंतियाई (बैजटाइन) पूर्वजो का अनुपम स्थान नही मिल गया।

जब मगोल खाकान कुबलाई (राज्यकाल १२५६–६४ ई.) ने सुदूरपूर्वीय समाज के समस्त महाद्वीपीय भाग पर अधिकार कर लिया तो वह अपनी राजधानी मंगोलिया के कराकोरम से चीन के पेंकिंग (पेकिन) मे उठा ले गया। किन्तु कुबलाई के मस्तिष्क-

द्वारा इस बात का निर्देशन होने के बाद भी उसका हृदय अपने पूर्वजों की शाद्वल भूमि के लिए बराबर तड़पता रहा और उस अर्द्धचीनी मंगोल राजमर्मज्ञ ने अपनी यायावरीय वृत्ति की तृप्ति के लिए चुंग-तू में एक निवास-भवन बनवाया। यह स्थान मंगोलियन पठार के दक्षिण-पूर्वी छोर पर स्थित था और वहां से यह मैदान नये राजकीय नगर के निकटतम पड़ता था। किन्तु पेकिंग (पेकिन) बराबर शासन-केन्द्र बना रहा; इसी प्रकार चुंग-तू एक विश्रामस्थल—यद्यपि कभी-कभी वहां से भी राजकाज निपटाना ही पड़ता था।

शायद हम चुग-तू को शिमला के समकक्ष रख सकते हैं क्योंकि कुबलाई यदि अपने देश के मैदान के सपने देखता था तो ब्रिटिश वायसरायगण निश्चित रूप से एक सहनीय जलवायु के लिए तरसते थे। हम बालमोरल से भी चुग-तू की तुलना कर सकते हैं क्योंकि महारानी विक्टोरिया का हृदय भी इगलैंड की उच्च भूमि (हाईलैंड्स) मे उसी प्रकार बसता था जैसे कुबलाई का अपने पठार मे। हम इसके भी आगे जाकर उन्नीसवी सदी के एक चीनी यात्री द्वारा बालमोरल के सौन्दर्य का ऐसे उत्साह के साथ वर्णन करने की कल्पना कर सकते हैं जो पच्चीसवीं सदी के चीनी कवि को महारानी विक्टोरिया एवं उनके 'राजकीय सौन्दर्य वाले विलास गुम्बद' की चीनी कविता के जादुई पदो मे गूंथ दे।

सिकन्दर महान् के महत् पर क्षणस्थायी साम्राज्य के चिताभस्म पर जन्म लेने वाले उत्तराधिकारी राज्यों में से एक के निर्माता सेल्यूकस निकेटार ने एक ऐसे साम्राज्य-निर्माता का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो अपनी राजधानी के नगर के सम्बन्ध मे दुचित्ता था। कारण यह था कि वह अपनी साम्राज्य-लिप्सा की दिशा के सम्बन्ध मे ही दुचित्ता था। सबसे पहिले उसने पुराने एकेमीनियाई साम्राज्य के सम्पन्न बैबिलोनी प्रान्त पर अधिकार करने मे अपना मन लगाया और सचमुच उसे जीत लिया। तब उसने टाइग्रिस के दक्षिणी तट पर स्थित सिल्यूशिया मे अपनी राजधानी स्थापित की। यह ऐसी जगह थी जहा वह यूफिटीज के भी निकटतम पडती थी। स्थान का चुनाव बहुत अच्छा रहा और सिल्यूशिया बाद की पाच से भी अधिक शताब्दियों तक एक महान नगरी और यूनानी सभ्यता का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र बनी रही। किन्तु उसका निर्माता खुद ही सुदूर पश्चिम के प्रतिद्वन्द्वी मैसीडोनियन सेनानायको के फेर मे पडकर अनेक सफल अभियानो मे भटक गया और उसने अपनी दिलचस्पी का केन्द्र मेडिटेरेनियन (भूमध्यसागर निकटवर्ती) जगत मे स्थानान्तरित कर दिया तथा सीरिया के एन्तिओक में अपनी मुख्य राजधानी बनायी जो ओरेन्तीज के दहाने से सिर्फ २० मील की दूरी पर था।[1] इसका परिणाम यह हुआ कि उसके उत्तराधिकारी मिस्र के तालमियो (Ptolemies) तथा पूर्वी मेडिटेरेनियन के अन्य देशों के साथ लड़ने मे ही अपनी शक्ति नष्ट करते

[1] इसी के निकट एन्तिओक के बन्दर के रूप में काम देने के लिए एक और सिल्यूशिया की स्थापना की गयी। इसी सिल्यूशिया से सन्त पाल ने साइप्रस जाने के लिए अपनी प्रथम समुद्री उपदेश-यात्रा आरंभ की थी।

रहे—यहा तक कि अन्त में पार्थिया वालों ने उनके बैबिलोन प्रदेश पर भी कब्जा कर लिया।

ये सब उदाहरण विजातीय सभ्यताओ के प्रतिनिधियो-द्वारा स्थापित साम्राज्यों से लिये गये हैं। अब हम बर्बरो-द्वारा स्थापित साम्राज्यो की राजधानियों की स्थिति पर विचार करेगे।

जिन फारसी बर्बरो की विजयो ने सीरियाई समाजों को एकेमीनियाई साम्राज्य के रूप मे एक सार्वभौम राज्य प्रदान किया उनका देश पहाडी, उजाड और मानवीय संसर्ग के मार्गों से दूर स्थित था। हेरोडोटस ने जिस कहानी के साथ अपने ग्रन्थ की समाप्ति की है उसके अनुसार एकेमीनियाई साम्राज्य का निर्माण करने वाले साइरस महान् ने इस सुझाव का मखौल उडाया था कि जब फारसी लोग संसार के स्वामी बन गये हैं तब उन्हे अपने वीरान पहाडी देश का त्याग कर अधिक उपजाऊ और अच्छे प्रदेश मे बस जाना चाहिए। यह एक अच्छी कहानी है और हम इस अध्ययन के प्रारंभिक भाग मे पहिले भी इसका उपयोग यह दिखाने के लिए कर चुके है कि मानवीय साहस को बढ़ाने मे कठोर परिस्थितियां कितना ज्यादा काम करती हैं। फिर भी यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि साइरस महान् द्वारा अपने मीडियाई स्वामी के पराजित किये जाने के सौ वर्ष से भी पहिले उसके एक एकेमीनियाई पूर्वज अपनी राजधानी अपने पूर्वजो की पहाडी ऊंचाइयों से हटाकर सबसे पहिले अधिकार मे आने वाले तराई के निचले प्रदेशो मे ले गये थे। इस स्थान का नाम अनशन था और यह सूषा के पास कही स्थित था—यद्यपि उसकी बिलकुल ठीक स्थिति आज भी अज्ञात है। जब एकेमीनियाई साम्राज्य स्थापित हो गया तो उसकी राजधानी प्रतिवर्ष ऋतु के अनुसार बदलती रही—विभिन्न जलवायु वाली कई राजधानिया आयी-गयी। किन्तु इनमे से पर्सिपोलिस, एकबताना, यहा तक कि सूषा (पुरानी बाइबिल का शूषन) भी, समारोह एव भावोद्वेग के केन्द्र बने रहे। भौगोलिक सुविधा की दृष्टि से, वाणिज्य के लिए, साम्राज्य का केन्द्र बैबिलोन बना रहा। यही उसके पूर्ववर्ती, तराई वाले शासक की भी राजधानी था।

मूलत सीरियाई जगत् के लिए, ईरानी पठारो वाले फारसी साम्राज्य-निर्माताओ ने जिस सार्वभौम राज्य का निर्माण किया था वह जब यूनानियो के प्रवेश के लगभग हजार साल बाद, अरबी पठार के किनारे से आने वाले हेजाजी बर्बरो-द्वारा पुनर्गठित हुआ तो इतिहास ने बड़े जोर के साथ अपने को दोहराया। हेजाज के एक शाद्वल या नखलिस्तानी राज्य की प्रतिस्पर्धिनी क्षुद्र शासकमंडली की उस सूझ का धन्यवाद करना चाहिए जिसने मक्का की एक प्रतिद्वन्द्विनी जाति के परित्यक्त प्रवक्ता (पैगंबर) को अपने साथ आकर रहने के लिए निमंत्रित किया और इस आशा से उन्हे अपना नेता बनने की चेष्टा करने का अवसर प्रदान किया कि वह शायद उनकी आपसी फूट दूर कर उनमे वह एकता लाने मे समर्थ हों जिसे प्राप्त एव स्थापित करने मे वे खुद असफल हो रहे थे। हिजरा के तीस साल के अन्दर ही यतरीब एक ऐसे साम्राज्य की राजधानी बन गया जिसमे सीरिया तथा मिस्र के पूर्ववर्ती रोमन उपनिवेश ही नहीं बे

वरन् पूर्ववर्ती सामानी साम्राज्य का समस्त क्षेत्र भी था। यतरीब को शासन की राजधानी बनाने का कारण निम्नलिखित तथ्य था। बात यह थी कि दूरस्थित यह शाद्वल राज्य उस केन्द्रीय बीज के तुल्य था जिससे मुस्लिम अरबी विश्व-साम्राज्य की कोपलें फूटकर ऐसी तेजी के साथ बढ चली कि लोगो को ईश्वरीय हस्तक्षेप का भान होने लगा। फिर यह नगर 'मदीनतुन्नबी' (नबी का नगर) के रूप मे जगमगा उठा। मदीना वैध रूप से खिलाफत की राजधानी बना रहा। कम से कम तबतक जबतक कि अब्बासाई खलीफा मसूर ने ७६२ ई. मे बगदाद की नीव नही डाली। किन्तु इस तिथि से सौ वर्ष से भी पहिले उम्मायद खलीफाओं ने राजधानी को, यथार्थतः, दमिश्क में पहुचा दिया।

अब हम अभियानकर्ताओं (मार्चमेन) द्वारा निर्मित सार्वभौम राज्यो की ओर आते है। मिस्री सभ्यता के लबे इतिहास मे, लोअर नील नद के ऊपरी भागो से आने वाले इन अभियानकर्ताओ ने कम से कम तीन बार समाज पर राजनीतिक ऐक्य बलात् स्थापित किया और हर बार किसी सार्वभौम राज्य के अन्दर, प्रयाण के बाद ही राजधानी बदलने (तीसरी बार तुरन्त नही, कुछ समय बाद) का दृश्य देखने मे आया। राजधानी नद के ऊपरी भागो जैसे थीबीज (लुक्सर) या उसके समकक्ष किसी स्थान से हटाकर ऐसे स्थान पर ले जायी गयी जहा आबादी का प्रमुख भाग आसानी से पहुच सके। पहिले दो अवसरो पर वह मेम्फीज (काहिरा—कैरो) या उसके बराबर के स्थान पर ले जायी गयी जबकि तीसरे अवसर पर नील डेल्टा के उत्तर-पूर्वी कोण के सीमान्त गढ मे ले जायी गयी जो सैनिक दृष्टि से आक्रमण के लिए सुलभ था।

हेलेनी (यूनानी) इतिहास में रोम का भाग्य मिस्री थीब्स की याद दिलाता है। जैसे थीब्स ने नील नद के प्रथम प्रपात की सरक्षकता न्यूबिया के बर्बरो के विरुद्ध अलकाब से छीन ली थी वैसे ही रोम ने गाल्स के विरुद्ध हेलेनीय जगत् की निगहबानी एत्रस्कनो से ले ली। थीब्स की भाति ही, रोम ने भी बाद मे अपनी सेनाओं को अन्दर की ओर अभिमुख किया और उस हेलेनीय समाज पर राजनीतिक ऐक्य थोप दिया जिसका वह स्वत भी एक सदस्य था। अनेक सदियों तक उस साम्राज्य की राजधानी के रूप में उसकी स्थिति बनी रही जिसका उसी ने सृजन किया था, यद्यपि इसकी कल्पना भी की जा सकती है कि यदि मार्क एंटोनी की चलती और ऐक्टियम के युद्ध का परिणाम कुछ दूसरा हुआ होता तो उसकी प्रमुख विजयो को देखने वाली पीढी के काल मे ही राजधानी के रूप मे उसकी मर्यादा सिकन्दरिया (अलेक्जेन्ड्रिया) के हाथ चली गयी होती। तीन सदियो के बाद ऐसी परिस्थितियो की शृखला के कारण जिनका वर्णन यहां सभव नही है, तेजी से पतित होते हुए साम्राज्य की राजधानी कही ज्यादा अच्छे स्थान कुस्तुनतुनिया (कास्टेण्टिनोपुल) मे चली गयी। क्रमानुवर्ती सार्वभौम राज्यो की राजधानी के रूप मे बास्फोरस के तट पर स्थित नगर का भविष्य बडा लंबा था। मदीना की भाति ही टाइबर के तट पर बसे हुए नगर को समय पर एक उच्चतर धर्म का पवित्र नगर बनकर ही सन्तोष करना पडा।

यदि कुस्तुनतुनिया (कांस्टेण्टिनोपुल) दूसरा रोम था तो मास्काउ (मास्को)

मार्क्स के पूर्ववर्ती काल में प्रायः तीसरे स्थान का दावा करता रहा। अब हम रूसी कट्टर ईसाई सभ्यता के सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत राजधानियो की प्रतियोगिता पर विचार कर सकते हैं। रोम की भांति मास्काउ (मास्को) ने भी बर्बरो के विरुद्ध, एक अभियान-राज्य की राजधानी के रूप में अपनी जीवन-यात्रा शुरू की। ज्यों-ज्यो मगोल यायावरो की तरफ से खतरा कम होता गया, मास्काउ (मास्को) को पश्चिमी ईसाई जगत् के अपने निकटतम पड़ोसियो—पोलो एव लिथएनियनो—के आक्रमणो का सामना करने और उन्हे मार भगाने मे लग जाना पडा। ऐसे समय जब राजधानी के रूप मे उसका भविष्य सुरक्षित मालूम पडता था, पश्चिमी रंग मे रंगे एक जार की अश्रान्त महत्त्वाकाक्षाओ ने, अपनी नवीन रचना सेंट पीटर्सबर्ग के पक्ष मे, उसे अधिकारच्युत कर दिया। स्वीडन से जीती गयी भूमि पर १७०३ ई. मे इस सेट पीटर्सबर्ग की नीव डाली गयी थी। देश के दूर भीतरी भाग से हटाकर पीटर महान् अपनी राजधानी एक ऐसे स्थान पर ले गया जिसके जादुई द्वार परियों के स्वर्ग मे खुलते थे और जो उसकी राय में प्रौद्योगिक दृष्टि से कही उन्नत दुनिया मे था। यह घटना हमे सिल्यूकस निकेटार की याद दिलाती है जो अपनी राजधानी सुदूरपूर्वी सिल्यूशिया से ओरोन्तीज तट पर स्थित एन्तिओक मे ले गया था। किन्तु इन दोनों मे कुछ अन्तर भी है। एन्तिओक के लिए अपनी सिल्यूशिया का त्याग करने मे सिल्यूकस (जो दक्षिण-पश्चिम एशिया में एक विदेशी साम्राज्य का निर्माता था) अपनी ही एक कृति का त्याग कर रहा था—ऐसी कृति का जिसके साथ कोई प्रबल राष्ट्रीय भावना सम्बद्ध नही थी, फिर वह एक ऐसे स्थान के पक्ष मे था जो मेडिटेरेनियन से मुश्किल से एक दिन की यात्रा पर था अत. हेलेनी (यूनानी) जगत् के हृदय के अधिक निकट था। सच पूछिए तो ऐसा करने मे वह अपने गृह, अपने देश की ओर भी उन्मुख हुआ था। किन्तु रूस के मामले मे ऐसी बात नही थी, सम्पूर्ण भावनाएं परित्यक्त मास्काउ (मास्को) के पक्ष मे थी और पश्चिम के जिस रुक्ष और शीतल जलमार्ग की ओर पीटर की नयी प्रायोगिक राजधानी की खिडकिया खुलती थी उनकी हेलेनी (यूनानी) जगत् के मेडिटेरेनियन से कोई तुलना ही न थी। सेट पीटर्सबर्ग दो सौ वर्षों तक अपने स्थान पर जमा रहा। उसके बाद जब साम्यवादी क्रान्ति हुई तो मास्काउ (मास्को) फिर होश मे आया और सेट पीटर के नगर को अपने नये नाम लेनिनग्राद[१] पर ही सन्तोष करके रह जाना पडा। यह सोचकर विचित्र-सा लगता है कि इस चतुर्थ रोम का भाग्य, नाम के विषय मे, प्रथम (रोम) से बिलकुल भिन्न रहा। जब रोम एक सार्वभौम राज्य की

१ इस प्रकार के नाम-परिवर्तन के प्रसंग में कुछ हास्यास्पद बातें भी आती हैं। इस संक्षिप्त सस्करण के संपादक को याद आता है कि लगभग आधी सदी पहिले उसे एक ऐसे मित्र का पत्र मिला था जो हाल ही एक फ्रांसीसी प्रान्तीय कस्बे में लौटा था। उसने लिखा था—पिछली बार जब मैं यहां था तबसे कौंसिल में 'बाबू-विरोधी' (ऐंटी-क्लेरिकल्स) दल ने अपना बहुमत कर लिया है तथा 'ज्यां बैपटिस्ट' मार्ग अब 'एमिली जोला' मार्ग हो गया है।

राजधानी नहीं रह गया तब भी वह कैवूर एवं मुसोलिनी के कृत्यों के बावजूद, वह सब बना रहा जो वह आज भी है—एक सेंट पीटर का स्थान या सेंट पीटर के पवित्र नगर-जैसा।

ये कुछ उद्देश्य हैं जिन्होने इतिहास के कतिपय सार्वभौम राज्यों के शासकों को अपनी राजधानियों का स्थान चुनने मे प्रभावित किया। जब हम उस अनिश्चित उपयोग पर विचार करते हैं जो इन राजधानियों का शासकेतर लोगो तथा प्रबल अल्पमत-द्वारा किया गया, तब हमे सबसे असस्कृत कार्यों अर्थात् कब्जा एवं लूट से आरंभ करना पड़ता है। एक पुरानी कथा के अनुसार सैनिक शक्ति मे प्रबल एक राज्य के सैनिक फील्ड मार्शल ब्लूचर ने वाटरलू के युद्ध के बाद प्रिंस रीजेंट का अतिथि रहते हुए, लन्दन को देखकर कहा था—"कैसा विनाश है!" राजधानियों के ध्वस और लूट की तो एक लम्बी सूची बनायी जा सकती है और यदि हम विजयी लुटेरो के पक्ष में हुए परिणामो का अनुसरण करे तो देखेगे कि ऐसी भयंकर दावतों के बाद अक्सर अपच की बारी आती है। चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व के हेलेनी समाज और ईसा की सोलहवी सदी के पाश्चात्य समाज के सैनिक चेलों ने जो बर्बर कृत्य किये उनसे उनको लज्जित ही नही होना पडा, वे उसी में तिरोहित भी हो गये। प्रारंभिक बर्बर जन जो अपराध दड न पाने की भावना के साथ कर सकते थे वे वित्तीय अर्थव्यवस्था विकसित समाज में दडित हुए बिना नही कर सकते। प्रथम के द्वारा दक्षिण-पश्चिम एशिया के कोषागारो की लूट और दूसरे के द्वारा अमरीका के शोषण ने अकस्मात् चतुर्दिक सोने की धारा प्रवाहित कर दी जिससे भयंकर रूप से मुद्रास्फीति (इनफ्लेशन) हो गयी। और पर्सीपोलिस में मैसीडोनियन तथा कुजको मे स्पेनिश लुटेरों के पापों का प्रायश्चित्त साइक्लेड्स के आयोजियन शिल्पकारो एव स्वेबिया के जर्मन किसानों को करना पड़ा।

आइए, अब हम कम दुःखदायी विषयो की भी चर्चा कर ले। सार्वभौम राज्यो की राजधानी वाले नगर स्पष्टतः सब प्रकार के सास्कृतिक प्रभावो के प्रसार के सुविधाजनक केन्द्र थे। उच्चतर धर्म अपने प्रयोजन के लिए उन्हे उपयोगी पाते थे। जूडा से आये हुए नेबुछदनेजर के निर्वासित जब बैबिलोन की कैद में थे तब राजधानी के नगर ने 'इनक्यूबेटर' (ताप-सचालित अडस्फोटन यत्र) के रूप मे एक उच्च भ्रूणिक धर्म की सेवा की और उस धर्म ने अपने ग्रामीण रूप की जगह एक सार्वदेशिक दृष्टिकोण अपनाकर अपनी आत्मा प्राप्त की।

एक सार्वभौम राज्य की राजधानी आध्यात्मिक बीजोद्भव के लिए अच्छी भूमि प्रस्तुत करती है क्योंकि इस प्रकार का नगर अपने घनीभूत एव लघु रूप में एक विशाल जगत का प्रतीक होता है। उसकी दीवारो के अन्दर सभी वर्गों एवं अनेक राष्ट्रों के प्रतिनिधि रहते हैं, उसमे कई भाषाए बोलने वाले लोगो का निवास होता है; उसके द्वार सब दिशाओं की ओर जाने वाले मार्गों पर खुलते हैं। एक धर्म-प्रचारक वहां एक ही दिन झोंपड़ियों एवं महलों दोनों में धर्मोपदेश कर सकता है। और उसने यदि सम्राट का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया तो वह साम्राज्य-

शासन के शक्तिमान यत्रो को अपने उपयोग के लिए प्रस्तुत कर दिये जाने की आशा कर सकता है। सुषा-स्थित सम्राट के अन्त पुर मे नेहेमिया की अनुकूल स्थिति के कारण ही उसे यरूशलेम के मन्दिर-राज्य के लिए आर्टा जरेक्सीज प्रथम का सरक्षण प्राप्त हुआ। इसी प्रकार जिन जेसुइट पादरियो ने आगरा और पेकिन (पेकिंग) के शाही दरबारो मे सोलहवी एव सत्रहवी शताब्दियो मे अनुकूल स्थिति प्राप्त करने की चेष्टा की और उसमे सफलता पायी, उन्होने भी उसी नेहेमीय कौशल के भरोसे हिन्दुस्तान और चीन को कैथोलिक ईसाई मत मे दीक्षित करने का स्वप्न देखा था।

निश्चय ही राजधानी वाले नगरो का ऐतिहासिक कार्य (मिशन) अन्त में धार्मिक क्षेत्र मे ही उपलब्ध होता है। सिनाई (चीनी) राजकीय नगर लोयाग मानव जाति की नियति पर जो प्रबल प्रभाव उस समय भी डाल रहा था जब ये पक्तिया लिखी जा रही थी, वह सुदूरपूर्वीय चाऊ तथा बाद मे हान वश की राजधानी होने की अपनी पूर्व-राजनीतिक भूमिका के फलस्वरूप नही था। राजनीतिक दृष्टि से लोयाग निनेवा और टायर के समकक्ष अवश्य था, किन्तु तब भी वह अपना प्रबल प्रभाव डालने मे समर्थ इसलिए था कि वह एक ऐसी रोपणिका (नर्सरी) बन चुका था जिसमे महायान के बीज सिनाई सास्कृतिक परिस्थिति मे प्राप्त जलवायु के अनुकूल पनप रहे थे और इस प्रकार सिनाई जगत् मे व्यापक रूप से अपने को बोये जाने के योग्य बना सके थे। कराकोरम का निर्जन प्रदेश भी अदृश्य रूप से जीवित था क्योकि ईस्वी सन् की तेरहवी सदी मे इस अनुर्वरा नगरी का तीव्र गति से जो उत्थान होता दिखायी पड़ा उसके कारण रोमन कैथोलिक मतवाले पश्चिम के धर्मप्रचारक नेस्तोरियन मत के मध्य-एशियाई तथा लामावाद के तिब्बती व्याख्याताओ के आमने-सामने आ गये।

अपने समय के निकट पहुचकर देखे तो १९५२ ई मे यह स्पष्ट हो चुका था कि रोमुलस एव रेमस या आगस्टस नही बल्कि पीटर एव पाल रोम के अमर महत्त्व के प्रणेता थे और कुस्तुनतुनिया (कान्स्टेण्टिनोपुल), जिसे द्वितीय ईसाई रोम कहना चाहिए, जब एक सार्वभौम राज्य की राजधानी होने की सब अभिव्यक्तियो से शून्य हो चुका था तब भी उसका ससार मे बड़ा प्रभाव था, केवल इसलिए कि वह तब भी एक ऐसे पट्रियार्क का केन्द्र-स्थान था जिसे रूसी चर्च सहित दूसरे पूर्वीय परंपरा-निष्ठ धर्मसघ (ईस्टर्न आर्थोडाक्स चर्च) के धर्माध्यक्ष भी प्रमुख मानते थे।

सरकारी भाषाए एव लिपिया

इतना तो मान ही लेना चाहिए कि एक सार्वभौम राज्य मानसिक संचरण-समूचन (communication) के लिए सरकारी माध्यमो को अपना चुका होगा। इसके अन्तर्गत न केवल जबान से बोली जाने वाली भाषाओ का सप्रेषण ही आता है वरन् चाक्षुष प्रलेखो (visual records) की भी कोई न कोई प्रणाली आ जाती है। लगभग सर्वत्र चाक्षुष प्रलेखो की प्रणाली ने सरकारी भाषा की संकेतलिपि का रूप ग्रहण कर लिया है। और यद्यपि इकाज ने बिना किसी सकेतलिपि की सहायता लिये

ही सर्वसत्ताधारी शासन कायम रखने में सफलता प्राप्त की है पर इसे अपवाद ही मान लेना चाहिए।

ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें सार्वभौम राज्य की स्थापना के पूर्व किसी एक भाषा एवं लिपि ने अपनी सम्पूर्ण संभव प्रतिस्पर्द्धिनी भाषाओं एवं लिपियो को मैदान से मार भगाया है। उदाहरणार्थ मिस्री 'मध्य साम्राज्य' मे पुरानी मिस्री भाषा एव चित्रलिपि का ही ग्रहण किया जाना अनिवार्य था। जपान के शोगुनो के शासन में जपानी भाषा तथा उन चुने हुए चीनी अक्षरों की लिपि का होना आवश्यक था जो जपान मे पहिले से ही ग्रहण की जा चुकी थी। रूसी साम्राज्य मे रूसी भाषा तथा यूनानी वर्णमाला के स्लाव सस्करण की महती रूसी विविधताओ का होना भी अनिवार्य था। किन्तु यह सरल स्थिति सर्वत्र सामान्य रूप से उपलब्ध नही। अक्सर साम्राज्य-निर्मातागण, सरकारी भाषा एवं लिपि के इस मामले में, अपने को ऐसी स्थिति मे पाते हैं कि उनको कोई घटित तथ्य स्वीकार कर लेने की जगह कई प्रतिद्वन्द्विनी भाषाओ एवं लिपियों मे से किसी एक का चुनाव कर लेने का कठोर कर्तव्य पालन करना पडता है।

इन परिस्थितियो में अधिकाश साम्राज्य-निर्माताओं ने अपनी मातृभाषा को ही सरकारी स्वीकृति प्रदान की है और यदि उसकी कोई लिपि नही होती तो वे किसी दूसरी लिपि को ग्रहण कर लेते है या फिर इसके लिए एक नयी लिपि का आविष्कार करते हैं। परन्तु ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमे साम्राज्य-निर्माताओं ने अपने शासित प्रदेशो की राष्ट्रभाषा के रूप मे पहिले से ही प्रचलित किसी दूसरी भाषा के पक्ष मे अपनी मातृभाषा का परित्याग कर दिया है या किसी प्राचीन भाषा के पुनरुज्जीवित किये जाने का पक्ष ग्रहण किया है। किन्तु साम्राज्य-निर्माताओ के लिए सामान्य मार्ग यही रहा है कि वे अपनी राष्ट्रीय भाषा एव लिपि को एकाधिकार दिये बिना ही सरकारी संरक्षण प्रदान करे।

अब इन सामान्य स्थापनाओ को प्रत्यक्ष सर्वेक्षण के उदाहरण के प्रकाश मे देखना चाहिए।

सिनाई (चीनी) जगत् में यह समस्या त्स-इन-शी-ह्वाग-ती द्वारा स्वाभाविक कठोरता के साथ हल कर ली गयी। सिनाई (चीन) सार्वभौम राज्य के निर्माता ने एकमात्र चीनी अक्षरो के उस रूप को प्रसारित किया जो उसके अपने पैत्रिक राज्य त्स-इन मे सरकारी उपयोग मे आ रहा था और इस प्रकार उस प्रवृत्ति को रोकने मे सफल हुआ जो उपर्युक्त संकटकाल (Time of Troubles) की समाप्ति तक बहुत दूर जा चुकी थी और जिसके अनुसार प्रतिद्वन्द्वी राज्यो में से हर एक अपनी ग्राम्य-लिपि को विकसित करना चाहता था—उस ग्राम्य लिपि को जो प्रदेश के बाहर के बहुत ही कम साक्षरों के लिए सुबोध या स्पष्ट थी। चूकि सिनाई (चीनी) अक्षर सार्थक विचार-लिपि या भावचित्रों के रूप मे थे और किसी ध्वनि का प्रतिनिधित्व करते थे इसलिए त्स-इन-शी-ह्वाग-ती ने इस कार्य-द्वारा सिनाई समाज को एक समान चाक्षुष भाषा प्रदान की। यह भाषा उस स्थिति में भी जारी रहने को थी जब बोली जाने

वाली भाषाएं टूटकर एक-दूसरे की समझ मे न आने वाली बोलियों के रूप में बदल जायं। वह सार्वदेशिक संचार-साधन के रूप मे उस अल्पमत की सेवा कर सकती थी जो उसे पढ़ने या लिखने की क्षमता प्राप्त कर लेता था—ठीक वैसे ही जैसे आधुनिक पाश्चात्य जगत् मे कागज पर लिखे अरबी अंक उन सब लोगों को एक ही अर्थ प्रदान करते हैं जो बोलने मे उन अंको को विभिन्न नामो से पुकारते हैं। इतने पर भी जैसा कि यह समान उदाहरण इगित करता है, यदि भाषा एव लिपि की एकता के पक्ष मे दूसरी और शक्तिया काम न कर रही होती तो त्स-इन-शी-ह्वाग-ती ने सिनाई अक्षरो को जो एक प्रामाणिक रूप प्रदान किया वह भी विभिन्न बोलियो के विवाद को दूर न कर पाता।

सिनाई अक्षरो के एक निश्चित और प्रामाणिक रूप प्रदान करने के कार्य की कल्पना शायद मिनोन सार्वभौम राज्य के अज्ञात सस्थापक द्वारा भी की गयी होगी। मिनोन जगत् मे जो लिपिया प्रचलित थी उनमे से तबतक किसी का भी गूढ वाचन नही हो पाया था जब यह ग्रथ लिखा गया था।[1] किन्तु उनकी तरतीब या शृंखला से इस बात का प्रमाण मिलता है कि लेखन कला मे एक क्रान्तिकारी सुधार अवश्य किया गया था। मध्य मिनोन द्वितीय से मध्य मिनोन तृतीय तक जो परिवर्तन हुआ उसमे हम देखते है कि जो दो प्रकार की स्वतत्र चित्रलिपिया प्रथमाविधि के आरभ मे चल पडी थी वे सहसा पूर्णतया एक नयी, रेखाबद्ध अ लिपि (लाइनियर ए)[2] द्वारा दबा दी गयी। सीरियाई समाज के इतिहास मे भी हमे त्स-इन-शी-ह्वाग-ती का एक प्रतिरूप उम्मायद खलीफा अब्दुल मलिक (राज्यकाल ६८५—७०५ ई०) के व्यक्तित्व मे मिल जाता है। उमने भी अरब खिलाफत के भूतपूर्व रोमी प्रान्तो मे यूनानी के स्थान पर, तथा भूतपूर्व सासानी प्रान्तो मे पेहलवी के स्थान पर अरबी भाषा एवं लिपि को सार्वजनिक आलेखो की सरकारी भाषा के रूप मे स्थान दिया।

अब हम अधिकत पाये जाने वाले ऐसे उदाहरण लेंगे जिनमे एक सार्वभौम

[1] भाग ७ से १० तक के इस संक्षिप्त संस्करण के प्रकाशन के पूर्व मिनोम 'लाइनियर बी' लिपि का गूढ़ वाचन सर्वश्री अ. वेंत्रिस एव आई. चैडविक ने यूनानी भाषा के वाहन के रूप में किया (देखिए जर्नल ऑव हेलेनिक स्टडीज, भाग ७३ पृ. ८४—१०३), उनकी व्याख्या को तुरन्त ही प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार कर लिया।

[2] १९५४ ई० में, इन पंक्तियों के लिखे जाने तक 'लाइनियर ए' का गूढ़ वाचन संभव नहीं हो सका था। सम्पूर्ण क्रीट द्वीप में यह लिपि व्यापक रूप से प्रचलित थी और जिस भाषा का वह वाहन थी वह शायद प्राक्-यूनानी मिनोन (फिर वह चाहे जिस भी भाषा-कुल के अन्तर्गत रही हो) रही होगी। बाद की 'लाइनियर बी' लिपि, जिसके विषय में अब निश्चय हो गया है कि वह यूनानी भाषा का ही वाहन थी, क्रीट में 'नोसोस' (Cnossos) तक सीमित थी किन्तु मुख्य देश की माईसीनीय (माईसीनियन) सभ्यता के कई केन्द्रों में भी उसका प्रसार था।

राज्य में कई सरकारी भाषाओं एवं लिपियों को मान्यता दी गयी। इन सरकारी भाषाओं में साम्राज्य-निर्माता की अपनी भाषा एव लिपि तो रहती ही है।

भारत के ब्रिटिश राज मे साम्राज्य-निर्माताओं की मातृभाषा अंग्रेजी को कई प्रयोजनों मे मुगलों के समय से चली आयी सरकारी भाषा फारसी के स्थान पर रखा गया। उदाहरणार्थ ब्रिटिश भारतीय सरकार ने अपने राजनयिक पत्र-व्यवहार के लिए १८२६ ई. में और उच्च शिक्षा के लिए १८३५ ई. मे अंग्रेजी को माध्यम बना दिया। किन्तु जब १८३७ ई. में ब्रिटिश भारत मे फारसी को उसके सरकारी पद से हटा देने का अन्तिम निश्चय किया गया तब ब्रिटिश भारतीय शासन ने और सब कार्यों के लिए, जो पहिले फारसी द्वारा किये जाते थे, अंग्रेजी को माध्यम नहीं बनाया। न्यायिक और आर्थिक कारवाइयो मे, जिनका सम्बन्ध हर जातीयता, जाति एव वर्ग के सभी भारतीयो से था, फारसी का स्थान अंग्रेजी को नही वरन् स्थानीय भाषाओं को दिया गया, और संस्कृत-बहुल हिन्दी का, जो हिन्दुस्तानी नाम से प्रसिद्ध थी, निर्माण ब्रिटिश प्रोटेस्टेंट धर्म-प्रचारको ने किया। उनका उद्देश्य उत्तर भारत की हिन्दू आबादी को उर्दू नाम से विख्यात फारसी-बहुल हिन्दी की एक प्रतिरूपिनी भाषा उपलब्ध करा देना था। इस समय तक भारतीय मुसलमानो ने अपने लिए उर्दू का निर्माण कर लिया था। एक विदेशी साम्राज्य-निर्माता की विदेशी भाषा को एकमात्र सरकारी भाषा बनाकर राजनीतिक शक्ति का दुरुपयोग न करने का यह मानवीय एव विवेक-पूर्ण निर्णय, शायद अंशत· इस उल्लेखनीय तथ्य का कारण है कि जब ११० साल बाद उनके वंशजो ने अपना राज अपनी भारतीय प्रजाओ को सौंपा तो हिन्दुस्तान एवं पाकिस्तान दोनो उत्तराधिकारी राज्यो मे निश्चित रूप से मान लिया गया कि अंग्रेजी भाषा ने ब्रिटिश राज्य मे जिन प्रयोजनो एव कार्यों का निर्वाह किया है उनके लिए, कम से कम अस्थायी रूप से, अंग्रेजी भाषा आगे भी जारी रहेगी।

इसका ठीक उलटा उदाहरण हमे सम्राट जोजेफ द्वितीय (राज्यकाल १७८०—९० ई. तक) के कृत्य मे मिलता है। जोजेफ फ्रांसीसी क्रान्ति के पूर्व की पीढ़ी मे पश्चिमी जगत् का एक प्रबुद्ध शासक माना जाता था। पर उसने डैन्यूबीय हैप्सबर्ग बादशाहत (डैन्यूबियन हैप्सबर्ग मोनार्की) की जर्मन न बोलने वाली प्रजाओं पर जर्मन भाषा का व्यवहार करने का निर्णय थोप दिया। यद्यपि आर्थिक उपयोगिता एवं सांस्कृतिक सुविधा इस राजनीतिक नादिरी हुक्म (diktate) के पक्ष में थी, फिर भी जोजेफ की भाषा-सम्बन्धी नीति बुरी तरह असफल हुई और इसी के कारण उन राष्ट्रीय आन्दोलनों की दागबेल पडी जिनसे सौ वर्षों से कुछ अधिक समय बाद हैप्सबर्ग साम्राज्य के टुकडे-टुकड़े हो गये।

भाषा-सम्बन्धी जो नीति अरब खिलाफत मे सफलता के साथ और डैन्यूबीय हैप्सबर्ग राजशासन मे असफलतापूर्वक प्रयुक्त हुई उसका अनुसरण ओथमन (ओटोमन) साम्राज्य के तुर्की स्वामियो ने कभी नही किया। वहां साम्राज्य शासन की सरकारी भाषा संस्थापक की प्रादेशिक तुर्की थी किन्तु ईसाई सन् की सोलहवी तथा सत्रहवी सदियों में, जब ओथमन शक्ति अपनी पराकाष्ठा पर थी, पादशाह के दास परिवार

(स्लेव हाउसहोल्ड) की सामान्य भाषा सर्ब-क्रोट थी और नौसेना की सर्व-सामान्य भाषा इतालवी (इटालियन) थी। ब्रिटिश भारतीय सरकार की भांति ही, ओथमन सरकार ने भी, असैनिक या दीवानी मामलो मे अपनी प्रजाओ को अपनी पसन्द की भाषा अपनाने की स्वतत्रता देने की नीति अपनायी। यह बात अधिकतः व्यक्तियो के निजी व्यवसाय से सम्बन्ध रखने वाले मामलो मे चलती थी।

अपने उन प्रान्तो मे लैटिन को जबरदस्ती लादने मे इसी प्रकार का सयम रोमनो ने भी दिखाया जिनमे यूनानी (ग्रीक) या तो मातृभाषा थी अथवा परपरा से चली आ रही सामान्य भाषा व राष्ट्रभाषा थी। उन्होंने सम्राट सेना की इकाइयो मे लैटिन को सैनिक कमान की एकमात्र भाषा बनाकर ही सन्तोष कर लिया। इन सैनिक इकाइयो के लिए यह नियम अनिवार्य था—फिर चाहे जहा भी उनकी भरती हुई हो या जहा भी उन्हे रखा गया हो। इसके अलावा यूनानी या पूर्वी भूमि पर लैटिन मूल वाली जो बस्तिया थी उनके नागरिक प्रशासन मे भी लैटिन अनिवार्य थी। अन्य कार्यों मे उन्होने ऐटिक शब्दो का प्रयोग वहा जारी रखा जहा सरकारी तौर पर उनका पहिले से इस्तेमाल होता था। यही नही, उन्होंने उसे लैटिन के साथ-साथ बराबरी का स्थान प्रदान कर खुद रोम के केन्द्रीय शासन मे उसकी एक सरकारी मर्यादा बना दी।

रोमनो ने यूनानी (ग्रीक) भाषा के साथ उदारता का जो व्यवहार किया वह सस्कृति के माध्यम के रूप मे लैटिन पर यूनानी की श्रेष्ठता का अभिनन्दन मात्र नही था। यह कुछ और भी था, यह रोमन आत्माओ की सकरता (hybris) पर राजमर्मज्ञता की एक उल्लेखनीय विजय का द्योतक था, क्योंकि साम्राज्य के दूर-दूर फैले प्रदेशो मे जहा यूनानी का लैटिन से कोई मुकाबला नही था, लैटिन की विजय आश्चर्यजनक थी। यूनानी भाषा के क्षेत्र के बाहर की प्रजाओ एव मित्रो पर इसका उपयोग थोपने की जगह, रोमन अपनी सुखद स्थिति के कारण इसके सरकारी प्रयोग को एक रियायत या विशेष सुविधा मानकर इसका आकर्षण बढ़ाने मे समर्थ हुए। फिर लैटिन ने अपनी शान्तिपूर्ण विजयो को केवल उन भाषाओं की कीमत पर नही प्राप्त किया जो कभी लिपिबद्ध नही हुई। इटली मे उसे आस्कन एवं अम्ब्रिया जैसी अपनी भगिनी इतालीय बोलियों तथा मेसेपियन एवं वेनेशियन जैसी इलीरियन बोलियो से प्रतियोगिता करनी पडी। ये भाषाए सास्कृतिक जगत् में एक समय लैटिन की बराबरी की थी। इसके अलावा अपने अनातोलियन गृहक्षेत्र के सास्कृतिक उत्तराधिकार से लदी एट्रस्कन से उसे जो होड लेनी पडी उसकी तो बात ही क्या है। इसी प्रकार अफ्रीका मे उसे प्यूनिक का मुकाबला करना पडा। इन संघर्षों मे लैटिन सदा ही विजयिनी होती रही।

इससे भी अधिक आत्म-नियत्रण 'चारो दिशाओं के साम्राज्य' (The Realm of the Four Quarters) के सुमेरीय सस्थापको ने प्रदर्शित किया जबकि उन्होंने तुच्छ अक्कादियन (एकेडियन) भाषा को अपनी सुमेरु भाषा के समकक्ष मान दिया। इस सार्वभौम राज्य का अन्त होने के पूर्व अक्कादियन ने बाजी जीत ली थी और सुमेरु व्यवहारत. एक मृत भाषा हो गयी थी।

एकेमीनियाइयों ने अपने साम्राज्य-शासन में अपनी फारसी मातृभूमि की भाति ही अपनी फारसी मातृभाषा को भी उदारतापूर्वक स्थान दिया। साम्राज्य के महत् उत्तर-पूर्वी मार्ग पर स्थित बेहिस्तान की चट्टान पर दारा (डेरियस) महान ने अपने कार्यों का जो विवरण खुदवाया है वह कीलाक्षरी लिपि (Cuneiform script) के तीन विभिन्न रूपो मे साथ-साथ मिलता है। ये लिपिया तीनो शाही राजधानियो की तीन भिन्न भाषाओ की द्योतक हैं—सुषा के लिए एलामाइट, एकबताना के लिए मीडो, फारस और बैबिलोन के लिए अक्कादी। किन्तु इस सार्वभौम राज्य के अन्तर्गत विजयिनी भाषा सरकारी तौर पर आदृत तीन भाषाओ मे से एक भी नही थी, वह थी अपनी सुविधाजनक लिपि वाली अरामी (Aramıc)। इस उदाहरण से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी भाषा के भाग्य का निर्णय करने मे राजनीति की अपेक्षा व्यवसाय एव सस्कृति का भाग अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है, क्योंकि एकेमीनियाई साम्राज्य मे अरामी भाषा-भाषियो का राजनीतिक दृष्टि से कोई महत्त्व नही था। अरामी को देर मे सरकारी सरक्षण और मर्यादा प्रदान करके एकेमीनियाई सरकार ने एक निर्विवाद व्यावसायिक तथ्य को स्वीकार कर लिया था किन्तु अरामी न सबसे उल्लेखनीय विजय यह प्राप्त की कि एकेमीनियाई शासन के बाद उसकी लिपि ने कीलाक्षरी लिपि को फारसी भाषा के माध्यम के रूप मे अपदस्थ करके स्वय वह स्थान ले लिया।

मौर्य साम्राज्य मे दार्शनिक सम्राट अशोक (राज्यकाल २७२–३२ वर्ष ई पू) ने ब्राह्मी एव खरोष्ठी नाम की दो विभिन्न लिपियो मे लिखी जाने वाली अनेक स्थानीय बोलियो का प्रयोग कर निष्पक्ष न्याय एव व्यावहारिक सुविधा दोनो की मार्ग पूरी करने में सफलता पायी। अशोक के गुरु गौतम ने मानव जाति को निर्वाण का जो मार्ग दिखाया था उसमे अपनी प्रजा को परिचित करने के सम्राट के सकल्प से ही उसे इस उदारता की प्रेरणा मिली थी। इकास साम्राज्य के स्पेनी विजेताओ को भी इसी प्रकार की भावनाओ ने प्रेरित किया था और अपनी अमरीकी प्रजा में कैथोलिक मत के प्रचार के लिए उन्होने क्वीचुएन देश भाषा का उपयोग करने की इजाजत दे दी थी।

यदि इस अध्याय की समाप्ति इस प्रश्न के साथ करे कि इनमे लाभ-भागी कौन हुए तो हम देखते हैं कि जिन साम्राज्यो मे ये भाषाए सरकारी प्रयोग मे आती थी उनके उद्धारकों ने बाद मे हर तरह के धर्म-निरपेक्ष व धर्मेतर क्षेत्रो मे तथा, महत् धर्मों के प्रचारकों ने भी अपने क्षेत्रो मे उनका प्रयोग किया। भाषा एव लिपि के इस मामले से जो निष्कर्ष निकलते है वे इतने स्पष्ट हैं कि विस्तृत रूप से उनके चित्रण-विवेचन की आवश्यकता नही।

हमने अपने सर्वेक्षण मे जिन भाषाओ का जिक्र किया है उनमे से किसी का उत्तर-इतिहास इतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना आरामी का है। इनमे से अन्य भाषाओ को सार्वभौम राज्य के शासको का जितना सरक्षण प्राप्त हुआ था उससे कम ही इसे मिला था। जब सिकन्दर (अलेक्जेंद्र) ने एकेमीनियाई साम्राज्य का ध्वस कर दिया

तब एकेमीनियाइयो ने अपने पाश्चात्य प्रदेशो मे इसे जो सरकारी मान दिया था, उससे वह अशिष्टतापूर्वक उतार दी गयी और उसके स्थान पर आतिक क्वाइने (Attic Koine) को बैठा दिया गया। यद्यपि इस तरह उसे राजकीय सरक्षण से विरहित कर दिया गया फिर भी सांस्कृतिक विजय की जो शृंखला उसने सरकारी संरक्षण प्राप्त होने के पहिले ही आरम्भ की थी, उसे पूर्व मे अक्कादी और पश्चिम में कनानाई (Canaanite) भाषाओं को अपदस्थ कर उसने पूरा कर लिया और 'उर्वर बालेन्दु' (The Fertile Crescent)[1] की समस्त सेमिटिक बोलने वाली जनसख्या की जीवित भाषा बन गयी। उदाहरणार्थ, यही वह भाषा थी जिसमें निश्चित रूप से जीसस (ईसा) ने अपने शिष्यों से बात की। जहां तक अरामी वर्ण-माला का सवाल है उसने तो और भी व्यापक विजय प्राप्त की। १५९९ ई. मे, मंचुओ-द्वारा चीनकी विजय के आरंभ मे ही यह मचू भाषा की लिपि बन गयी। उच्च धर्मों ने इसकी सेवा अगीकार कर इसे आगे बढ़ा दिया। अपनी सरल हिब्रू (Square Hebrew) शैली मे यह यहूदी धर्मग्रन्थो तथा पूजा विधि का—वाहन—भाषा—बन गयी, अरबी रूपान्तरण मे इसने इस्लाम की वर्णमाला का रूप धारण कर लिया; अपने सीरियाई रूप मे इसने नेस्तोरीयवाद (Nestorianism) और मोनोफीजिटवाद (Monophysitism) की परस्पर-विरोधी नास्तिकता की निष्पक्ष रूप से सेवा की, अपनी पेहलवी शैली के अवेस्ताई रूपान्तरण में इसने जरथुस्त्रीय धर्मसंघ की पवित्र पुस्तको को सुरक्षित रखा, अपने मानिकेयाई (Manichaean) रूपान्तरण मे इसने एक ऐसे पाखण्डी-शिरोमणि की सेवा की जिसे ईसाई और जरथुस्त्री दोनो ने एक समान शाप दिया; अपने खरोष्ठी रूपान्तर मे इसने सम्राट अशोक को ऐसा साधन प्रदान किया जिसके द्वारा वह बुद्ध की शिक्षाओं को, पूर्वकाल के एकेमीनियाई प्रान्त पंजाब मे अपनी प्रजाओ तक पहुचा सका।

कानून (विधि)

सामाजिक कर्मक्षेत्र, जो विधि विषय के अन्तर्गत आता है, अपने को तीन बड़े खण्डो मे विभाजित कर लेता है : १. प्रशासनिक विधि (Administrative Law) जो शासन के प्रति प्रजा के कर्तव्यों का निर्धारण करता है, २ आपराधिक विधि (Criminal Law) और ३ दीवानी विधि (Civil Law)। इन दोनो का सम्बन्ध, एक समान, ऐसे कार्यों से है जिनमे दोनो पक्ष 'निजी व्यक्ति' (private person) होते हैं। निस्सन्देह कोई भी सरकार प्रशासनिक विधि से उदासीन नही रह सकती क्योंकि सरकार का पहिला काम अपने अधिकार का आरोपण और उसकी अवज्ञा के उन सब कार्यों—घोर राजद्रोह (high treason) से लेकर कर (टैक्स) चुकाने की चूक तक—का दमन करना है जिनमे प्रजा सरकार की इच्छा के प्रति अविनयी होती है। इन्हीं

[1] अरब मरुस्थल के उत्तर में मिस्र से सीरिया, मेसोपोटामिया एवं बेबिलोन होते हुए फारस की खाड़ी तक फैला उपजाऊ भू-क्षेत्र।

विचारणाओ के कारण सरकारों को आपराधिक विधि की ओर भी ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि, यद्यपि ऐसा हो सकता है कि अपराधी सीधे या जान-बूझकर सरकार पर आक्रमण न कर रहा हो, किन्तु सरकार के शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने के कार्य में सचमुच हस्तक्षेप कर रहा हो। परन्तु जहां तक दीवानी विधि और सरकार का सम्बन्ध है उसमे सरकारे खुद अपने लाभ की अपेक्षा प्रजा के लाभ का ज्यादा ख्याल रखकर कार्य करती हैं। यह कोई आश्चर्य की चीज नही है कि इस बात को लेकर लोगो में व्यापक मतभेद है कि सार्वभौम राज्यो की सरकारो ने इस विभागीय विधि पर कहां तक ध्यान दिया है।

विधि के क्षेत्र मे सार्वभौम राज्यो को एक ऐसी विशेष समस्या का सामना करना पड़ता है जो ग्राम्य-राज्यों के सामने नहीं आती। उनके राज्य-क्षेत्र में अनेक विजित ग्राम्य-राज्यों की प्रजाएं सम्मिलित होती हैं और ये ग्राम्य-राज्य, अन्य विषयो की भाति विधि के क्षेत्र मे भी, ऐसा उत्तराधिकार छोड़ जाते है जिनके साथ उनके विध्वसक और उत्तराधिकारी को निपटना पड़ता है। कम से कम एक उदाहरण तो अवश्य है जिसमे साम्राज्य-निर्माता—इस मामले मे मगोल—अपनी प्रजा से इतने घटिया थे कि वे अपने पुरखों के कानून का कोई भी अश उन पर लागू न कर सके। उस्मानलियो ने प्रशासनिक एवं आपराधिक विधि पर अपना सुदृढ नियत्रण स्थापित किया किन्तु अपनी विविध गैर-तुर्की प्रजा की आबादियों के दीवानी कानून या विधि मे हस्तक्षेप करने से विरत रहे। दूसरी ओर हम देखते है कि सिनाई (चीनी) त्स-इन-शी-ह्वाग-ती ने अपने स्वभावानुकूल, एक कलम से, एक ही प्रकार का व्यापक कानून सब पर जबर्दस्ती लागू कर दिया। उसने आज्ञप्ति (decree) जारी की कि उसके पुश्तैनी राज्य त्स-इन में जो कानून प्रचलित है वे ही उन छः प्रतिस्पर्द्धी राज्यो के समस्त क्षेत्रो मे भी जारी किये जायं जिन्हे उसने जीतकर अपने राज्य मे मिला लिया है। उसके इस कार्य के कम से कम दो समानान्तर उदाहरण आधुनिक पाश्चात्य इतिहास मे भी मिलते हैं। नेपोलियन ने अपने साम्राज्य के समस्त इतालवी —इटालियन, फ्लेमी (फ्लेमिश), जर्मन और पोल (पोलिश) इलाको मे अपनी नवनिर्मित फरासीसी विधि-संहिता (Law Code) को जारी किया था। इसी प्रकार भारत की ब्रिटिश सरकार ने इंगलैंड की देशविधि (Common Law) को, अशतः मूल रूप मे और अशतः परिवर्तन के साथ, स्थानीय कानूनों मे सम्मिलित करके, उस पूरे इलाके मे जारी किया जिस पर उसका प्रत्यक्ष शासन था।

अपने साम्राज्य मे विधि की एकरूपता स्थापित करने के विषय मे रोमन, अग्रेजों या नेपोलियन या त्स-इन-शी-ह्वाग-ती की अपेक्षा सुस्त थे। रोमी (रोमन) विधि की छाया में रहना रोमी नागरिकता की एक प्रशंसित सुविधा थी और साम्राज्य की समस्त प्रजा पर नागरिकता का प्रगतिशील अभिदान (conferment) तब तक पूरा नही हुआ जब तक कि २१२ ई. मे केराकल्ला का फर्मान जारी नही किया गया। खिलाफत के समानान्तर इतिहास मे भी (खिलाफत की) गैर-मुस्लिम प्रजा को साम्राज्य-निर्माता के धर्म में दीक्षित करके क्रमशः ही इस्लामी कानून का शासन स्थापित किया गया।

ऐसे सार्वभौम राज्यो मे, जहा विधि के प्रगतिशील मानकीकरण (standard-ization) ने करीब-करीब एकरूपता प्राप्त कर ली थी, वहा कभी-कभी और आगे की भी एक अवस्था आयी जिसमे साम्राज्य के अधिकारियो द्वारा एक ही साम्राज्य-विधि का संहिताकरण (codification) किया गया। रोमी विधि (रोमन ला) के इतिहास मे सहिताकरण की ओर प्रथम पग उस 'एडिक्टम परपेचुएम' (स्थायी आदेश) के हिमीकरण (freezing) द्वारा उठाया गया, जो अभी तक प्रत्येक नगरपति (Practor urbanus) द्वारा अपने शासन-वर्ष के आरम्भ मे नये रूप से प्रसारित किया जाता था, और उसकी पूर्ति ५२९ ई. मे जस्टिनियेनियन संहिता के प्रवर्तन द्वारा, अन्तिम पग उठाकर, की गयी। सुमेरीय 'चतुर्दिक् राज्य' (Sumerian Realm of the Four Quarters) मे 'उर' से शासन करने वाले सुमेरीय सम्राटो के तत्त्वावधान मे सकलित, इससे पूर्व की सहिता ही, आगे चलकर साम्राज्य के 'अमोराई'(Amorite) उद्धारक, बैबिलोन के हम्मूरबी द्वारा प्रवर्तित सहिता का आधार बन गयी। इसका पता १९०१ ई मे आधुनिक पाश्चात्य पुरातत्त्वज्ञ जे डी. मार्गन ने लगाया था।

न्यायशास्त्र मे सिद्धि के शिखर को पार करने के बहुत बाद, किसी सामाजिक उलटफेर के पूर्व उपान्त्य काल मे ही, सामान्यत सहिताकरण की माग अपनी पराकाष्ठा पर पहुचती है, क्योकि तब उस समय के विधि-निर्माता विनाश की दुर्निवार शक्तियो के साथ युद्ध मे पीठ दिखा असाध्य रूप से भाग रहे होते है। जस्टीनियन स्वय भी ज्यो ही भाग्यदेवी के विरुद्ध पीठ दिखाकर भागा और उसके मुह पर अपने 'कार्पस जूरिस' (न्यायतत्त्व) की प्रभावशाली मोर्चाबदी उठा फेकी, त्यों ही वह क्रोध के निष्ठुर कुत्तो द्वारा एक कागजी दौड मे सरपट भागने के लिए विवश कर दिया गया। किसी तरह अपने 'नावेलाई' (Novellae) के पन्नो द्वारा वह अपना रास्ता नापता रहा। फिर भी, अन्ततोगत्वा, भाग्यदेवी को सहिता-निर्माताओ के साथ दया का व्यवहार करना ही पडता है क्योकि एक श्रेष्ठतर युग के उनके तिरस्कृत पुरखे प्रशसा की जो मदिरा उनको देने से इनकार कर देने, वही एक ऐसी आगे आने-वाली पीढी द्वारा उनके प्रेतो को प्रदान की गयी जो बहुत दूर थी, बडी बर्बर थी, या फिर अत्यधिक भावप्रवण होने के कारण उनकी रचनाओ के मूल्याकन मे असमर्थ थी।

इस विवेचनाहीन श्रद्धावान् पीढी को भी बाद मे पता लग जाता है कि पवित्र की हुई इन सहिताओ को तबतक लागू नही किया जा सकता जबतक कि उन्हे अनूदित न कर लिया जाय। और जब हम 'अनूदित' कहते है तब हमारे मन मे लगभग उसी प्रकार के व्यवहार की बात रहती है जो शेक्सपियर के 'बाटम' को सहन करना पडा था जब पीटर क्विंस ने अपने मित्र को गधे का सिर दिये जाने पर, चौककर कहा था, "तेरा कल्याण हो बाटम ! तू अनूदित हो गया।" जस्टीनियन के युग के तुरन्त बाद ही लम्बार्ड, स्लाव एव अरब आक्रमणो का एक तूफान आ गया। इसी प्रकार सुमेर एव अक्काद की अन्तिम अवस्था मे, शीनार के मैदानों मे, हम्मूरबी द्वारा किये गये राजनीतिक एव सामाजिक पुनरुद्धार के परिश्रमपूर्ण कार्यो को पहाड़ियों की ओर

से होने वाले कसाई (Kassite) आक्रमणों के जलप्लावन से घिरकर कम नुकसान नही उठाना पड़ा। जब १५० वर्षों के मध्यान्तर के बाद उद्धारक लियो (Leo, the Restorer) एव उसके उत्तराधिकारियो ने बैजटाइन साम्राज्य का पुनर्निर्माण आरम्भ किया, तो उन्हे जस्टीनियन के 'कार्पस 'ज्यूरिस' की अपेक्षा 'मूसाई कानून' (Mosaic Law) से ज्यादा सही सामग्री प्राप्त हुई। इसी प्रकार इटली मे भी भविष्य की आशा 'कार्पस ज्यूरिस' पर नही, बल्कि सेंट बेनेडिक्ट के नियम पर आश्रित रही।

इस प्रकार जस्टीनियन की संहिता खतम हो गयी और दफना दी गयी। किन्तु लगभग चार सौ वर्षों बाद, ग्यारहवीं शती मे होने वाले न्यायशास्त्रीय पुनर्जागरण के बीच, बोलोग्ना विश्वविद्यालय में वह पुनः जीवित हो उठी। इस केन्द्र से इस समय के बाद, बढ़ते हुए पश्चिम के विस्तार के कोने-कोने तक अर्थात् जस्टीनियन के ज्ञान-क्षेत्र से बहुत दूर-दूर तक उसके प्रभाव की किरणे पहुच गयी। अन्धकार युग मे 'बौद्धिक शीतागार' (Intellectual Cold Storage) के रूप मे बोलोग्ना की क्षमता का धन्यवाद करना चाहिए कि रोमी कानून (रोमन ला) का एक पाठ आधुनिक हालैण्ड, स्काटलैण्ड और दक्षिण अफ्रीका मे 'प्राप्त' हुआ। 'सनातन या परपरानिष्ठ ईसाई जगत्' (Orthodox Christendom) मे अपेक्षाकृत कम कष्ट उठाने और तीन शतियो तक कुस्तुनतुनिया मे निष्क्रिय पड़े रहने के बाद 'कार्पस ज्यूरिस' ईसाई संवत् की दसवी शताब्दी मे पुन· प्रकट हुआ और मैसीडोनियन वश ने अपने आठवीं शती के सीरियाई पूर्ववर्तियो के मूसाई कानून के स्थान पर इसे प्रचलित किया।

हम उन टीटन बर्बर राज्यो की रीतियो मे रोमी कानून के अन्त:सरण का वर्णन करने के लिए नही ठहरेंगे जिनके सामने उनका कोई भविष्य नही था। इसकी अपेक्षा पहिले के विविध रोमी प्रान्तो के अरब विजेताओ के इस्लामी कानून मे चोरी-छिपे हुए अप्रकट, फिर भी निश्चित, अन्त.सरण अधिक महत्त्वपूर्ण एव उल्लेखनीय हैं। यहां जिन दो तत्त्वो का मिश्रण हुआ वे और भी ज्यादा बेमेल थे और उनके मिश्रण के परिणामस्वरूप किसी बर्बर राज्य के उपयुक्त ग्राम्यविधि का नही, बल्कि एक व्यापक विधि का जन्म हुआ जिससे पुनरुद्धारित सीरियाई सार्वभौम राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति होनी थी, और इस राजनीतिक गठन के टूट जाने के बाद भी जीवित रहकर, एक ऐसे इस्लामी समाज के जीवन को शासित करना और ढालना था, जो खिलाफत के पतन के बाद, निरन्तर अपना विस्तार करता गया—यहा तक कि इन पक्तियो को लिखने के समय उसका क्षेत्र इण्डोनेशिया से लीथूनिया एव दक्षिण अफ्रीका से चीन तक फैल गया है।

टीटन प्रतिरूपों के विरुद्ध आदिकालिक मुस्लिम अरब, अपने पुरातन परंपरागत जीवन-पथ से बुरी तरह हिल उठे थे। यह सब उनके अरब के मरुस्थलो एव शाद्वलों (नखलिस्तानो) से निकलकर रोमी एव सासानी साम्राज्यो के मैदानों तथा नगरो पर फट पड़ने तथा सामाजिक वातावरण मे एक आकस्मिक परिवर्तन का धक्का लगने के पूर्व ही हो गया। बहुत दिनों से अरब पर पड़ने वाले सीरियाई और यूनानी सास्कृतिक प्रभावो ने एक ऐसी पुंजीभूत सामाजिक स्थिति पैदा कर दी थी जो पैगम्बर मुहम्मद

की निजी जीवन-यात्रा मे बड़े नाटकीय रूप मे प्रकाशित हुई। उनकी सफलताएं इतनी विस्मयकारी एवं उनका व्यक्तित्व इतना प्रबल था कि कुरान एव हदीस मे लिखित उनकी आकाशवाणियो तथा कार्यों को ही उनके अनुयायियो ने न केवल मुस्लिम समाज के जीवन, बल्कि शुरू मे अपने से कई गुने अधिक सख्या वाली गैर-मुस्लिम प्रजाओ तथा उनके मुस्लिम विजेताओ के बीच के सम्बन्धो का भी नियमन करने वाले कानून का स्रोत मान लिया। मुस्लिम विजयो की तीव्र एव तूफानी गति ने तथा मुस्लिम विजेताओं के नवीन कानून के स्वीकृत आधार की विवेकहीनता ने एक बडी भयानक समस्या पैदा कर दी। कुरान एवं हदीस से एक दूषित समाज के लिए व्यापक विधि (कानून) के अवतरण का कार्य उतना ही अस्वाभाविक था जितनी इसराइल की सन्तति (यहूदियों) की एक मरुभूमि में मूसा से जलकूप पैदा कर देने की प्रार्थना थी।

कानून के चारे की खोज में पड़े हुए विधिवेत्ता के लिए, निश्चय ही कुरान एक पथरीली भूमि-जैसा था। हिजरा के पूर्व, मुहम्मद के मिशन के मक्का वाले अराजनीतिक युग से आरभ होने वाले अध्यायो मे एक व्यावहारिक विधिवेत्ता को उससे कही कम सामग्री मिलेगी जितनी उसे 'न्यू टेस्टामेण्ट' (बाइबिल) मे मिलेगी, क्योकि उनमे आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण तथा बार-बार दोहरायी गयी ईश्वर की एकता की घोषणा और बहुदेववाद एव मूर्तिपूजा की निन्दा के अलावा ज्यादा कुछ न मिलेगा। मदीना मे दिये हुए वक्तव्यो-सम्बन्धी अध्याय प्रथम दर्शन मे ज्यादा आशाप्रद दिखायी पड सकते हैं। क्योकि हिजरा मे मुहम्मद ने अपने ही जीवनकाल मे एक ऐसी स्थिति प्राप्त कर ली थी जो ईसाई सवत् की चौथी शती तक ईसा के किसी भी अनुयायी को नही प्राप्त हुई थी। वह एक राज्य के अधिपति बन गये और इसके बाद उनके वक्तव्यो का सम्बन्ध मुख्यत सार्वजनिक कार्यों से ही रह गया। फिर भी बाहरी दृढीकरण के बिना इस मदीनाई 'सूरा' समूह से एक सर्वतोमुखी विधि-व्यवस्था को खोज निकालना कम से कम उतना ही कठिन है जितना सन्त पाल के धर्मपत्रो से किसी न्यायशास्त्रीय जादूगरी-द्वारा उसको निकाल लेना है।

इन्ही स्थितियो मे अरब खिलाफत का निर्माण करने वाले कर्मवीरो ने सिद्धान्त को स्वय अपना अवसर प्राप्त करने की छूट दी और स्वावलम्बन का सहारा लिया। उन्होने सामान्य बोध, साधर्म्य, मतैक्य एवं प्रथा की सहायता से अपना रास्ता निकाला। जो कुछ वे चाहते थे वह जहा भी मिला वही से उन्होने उसे ले लिया। इस पर भी यदि धर्मात्मा लोग कल्पना कर ले कि वह सीधे पैगम्बर के मुह से निकल कर आया तो क्या कहा जा सकता है? इस प्रकार जिन स्रोतो से लूट हुई, उनमे रोमी कानून का एक महत्त्वपूर्ण स्थान था। कुछ मामलो मे उन्होने इस स्रोत के सीरियाई प्रान्तीय पाठ से सीधे-सीधे लिया किन्तु अधिकतर रोमी कानून इस्लाम तक यहूदियों के माध्यम-द्वारा पहुचा।

यहूदी विधि (Jewish Law), जिसके पीछे मुहम्मद के हिजरा के समय तक एक लम्बा इतिहास निर्मित हो चुका था, का जन्म इस्लामी शरीयत की भांति ही उन यायावरों की परंपरागत बर्बर प्रथाओ से हुआ था जो उत्तरी अरब की अनुर्वर भूमि

से सीरिया के मैदानों तथा नगरों में घुस आये थे। सामाजिक वातावरण में उसी एक आकस्मिक एवं आत्यन्तिक परिवर्तन की आपातिक स्थिति का सामना करने के लिए, आदिवासी अरबों की भांति आदिवासी इसरायलियों (यहूदियों) ने भी एक भ्रष्ट समाज की ऐसी प्रचलित विधि (कानून) का सहारा लिया जो उन्हें 'प्रामिज्ड लैण्ड' में फैली दिखायी पड़ी।

यद्यपि 'डिकैलॉग' एक विशुद्ध यहूदी निर्माण-सा दिखायी पड़ता है किन्तु इसरायली कानून का दूसरा अंश, जो विद्वानों में 'केवेनेट कोड'[1] (प्रसंविदा संहिता) के नाम से विख्यात है, हम्मूरबी की संहिता का ऋणी जान पड़ता है। उत्तरकालीन सीरियाई समाज की एक स्थानीय शाखा में कम से कम नौ सदियों बाद वहां की विधि-व्यवस्था में होने वाली सुमेरी विधि-संहिता का यह समागम इस बात को प्रमाणित करता था कि सुमेरी सभ्यता की वे जड़ें कितनी गहरी एवं दृढ़ थीं जो हम्मूरबी की पीढ़ी के साथ समाप्त होने वाली सहस्राब्दी में फैली थीं। उसके बाद आने वाली लगभग एक सहस्राब्दी में विविध विस्मयकारी सामाजिक एवं सांस्कृतिक क्रान्तियां आती रहीं, फिर भी हम्मूरबी की संहिता में समाविष्ट सुमेरी विधि (सुमेरियन ला) हम्मूरबी की सीरियाई प्रजाओं या आश्रित राजाओं की सन्तति में उसी प्रकार और ऐसे प्रबल रूप में जारी रही कि कनानाई (कनानाइट) यहूदी बर्बर विजेताओं के अनुभव-शून्य कानून को प्रभावित किये बिना न रह सकी।

जो बर्बर एक उच्चतर धर्म के अण्ड-पोषक (incubator) थे उनकी विधि (कानून) में इस प्रकार प्रवेश करके रोमी विधि की भांति ही सुमेरी विधि ने इतिहास पर उससे कहीं गहरी छाप डाली जितनी अपने अन्य समवर्गों की भांति प्रतिष्ठा के साथ समाप्त हो जाने वाले बर्बरों को प्रभावित करने में डाली थी। जब ये पंक्तियां लिखी जा रही हैं तब भी अपने एकमात्र मूसाई रूप के कारण सुमेरी विधि एक जीवित शक्ति बनी हुई है। दूसरी ओर उसी तिथि में इस्लामी शरीयत रोमी विधि का न तो एकमात्र, न सबसे प्राणमय ही, वाहन रह सकी है। ईसवी सन् की बीसवीं सदी में रोमी विधि के मुख्य एवं सीधे उत्तराधिकारी प्राच्य सनातन (Eastern Orthodox) एवं पाश्चात्य कैथोलिक ईसाई चर्चों के धर्मादेश (Canons) थे। इस प्रकार सामाजिक क्रिया के अन्य क्षेत्रों की भांति ही विधि के क्षेत्र में भी आन्तरिक श्रमजीवी-वर्ग द्वारा उत्पन्न अधिकारी संस्था ही सार्वभौम राज्य की प्रमुख लाभानुभोगी (beneficiary) संस्था रही।

पंचांग; बाट एवं माप; मुद्रा :

आदिकालिक जीवन के बाद के किसी भी स्तर पर काल, दूरी, लम्बाई, परिमाण; भार एवं मूल्य के मानक माप सामाजिक जीवन की आवश्यकताएं हैं। इस

[1] **एक्जोडस, अध्याय चौबीस १७—२६, एवं पूर्णतर वक्तव्य के रूप में अध्याय बीस, २३ से अध्याय तेईस, ३३ तक।**

प्रकार की सामाजिक चलावनियां (social currencies) सरकारों से कहीं पुरानी हैं। ज्यों ही सरकारों का जन्म होता है त्यो ही वे उनके लिए चिन्ता का विषय बन जाती हैं। सरकारों का निश्चित एव मुख्य प्रयोजन सामान्य सामाजिक उद्यमों के लिए केन्द्रीय राजनीतिक नेतृत्व प्रदान करना है और इन्हे मानक माप-तौल के बिना कार्यरूप में परिणत नही किया जा सकता। फिर सरकारो का निषेधात्मक प्रयोजन अपनी प्रजाओ को इसके लिए विश्वस्त कर देना है कि सामाजिक न्याय का कुछ न कुछ अश तो उन्हे प्राप्त होगा ही। और 'व्यवसाय' प्रणाली के अधिकांश निजी मामलो मे किसी न किसी प्रकार के मानक या प्रामाणिक माप-तौल का सम्बन्ध आता ही है। यो तो हर तरह की सरकारों से मानक माप-तौल का सम्बन्ध आता है किन्तु सार्वभौम राज्यो के लिए वह विशेष चिन्ता का विषय है क्योंकि अपनी प्रकृति के कारण ही इन राज्यो को उसकी अपेक्षा कही अधिक विविधता एवं भिन्नता रखने वाली प्रजाओ को एक मे गूथकर रखने की समस्या का सामना करना पडता है जितना ग्राम्यराज्यों को अपनी प्रजाओ के संबन्ध मे झेलना पडता है। इसलिए मानक नाप-तौल से जो सामाजिक एकरूपता आती है उसमे उनकी विशेष दिलचस्पी होती है। हा, शर्त यह है कि उनको प्रभावशाली रूप से लागू किया जा सके।

सब प्रकार के मानक माप मे समय मापने की किसी प्रणाली की आवश्यकता सबसे पहिले अनुभव होती है। इसमे भी प्रथम आवश्यकता वर्ष मे आने वाली ऋतुओ के माप की है। इसके कारण वर्ष, मास, दिन के तीन विभिन्न-विभिन्न प्राकृतिक चक्रो (cycles) का सामंजस्य आवश्यक होता है। अग्रगामी कालमापको (chronometrists) ने शीघ्रता के साथ यह पता लगा लिया कि इन कालचक्रो के बीच जो अनुपात हैं वे सरल भिन्न नही वरं करणिया (surds) हैं। फिर एक ऐसे महावर्ष (Magnus Annus) की खोज आरभ हुई जिसमे ये विसवादी चक्र साथ-साथ आरंभ हो और अपने दूसरे समकालिक प्रारभ-बिन्दु पर पुन. एक साथ मिले। इस खोज ने मिस्री, बैबिलोनी और माया (Mayan) समाजो मे ज्योतिर्गणित के आश्चर्यजनक प्रयोगो को जन्म दिया। एक बार जब इस प्रकार की गणना की गाडी चली, तो मुकुलित ज्योतिषियो ने न केवल सूर्य-चन्द्र वर ग्रहो तथा 'स्थिर' तारकाओ की वर्तुल गति पर भी ध्यान दिया और उनका तैथिक क्षितिज (Chronological Horizon) इतनी दूर चला गया कि उसको अभिव्यक्त करना सरल नही और उसकी कल्पना करना तो और भी कम सरल है। यद्यपि परवर्ती सृष्टिविज्ञानी को ये बातें सकुचित-सी मालूम होगी क्योकि उसकी आखो में हमारा यह विशिष्ट सौर जगत् आकाश-गंगा (Milky Way) के तारक-चूर्ण का एक कणमात्र है और स्वय आकाश-गगा भी ज्वलनशील जन्म से मृत्युकारी भस्मीकरण की ओर जाती हुई असख्य नीहारिकाओ मे से एक व्यतीत (Ci-devant) नीहारिका (nebula) से अधिक कुछ नही है।

तैथिक विस्तृतियो के मानसिक अनुसन्धान की अद्यतन अवस्था की बात छोड दे, तो भी सूर्य तथा 'स्थिर तारकाओ' मे से एक की प्रतीयमान गतियो के बीच बार-बार होने वाले सपात के अल्पतम सामान्य माप ने १४६० वर्षों के मिस्री 'सोथिक चक्र'

को और सूर्य-चन्द्र तथा पंच-ग्रह के सामान्य चक्र (cycle) ने ४३२,००० वर्षों के बैबिलोनी महावर्ष को जन्म दिया। इसी प्रकार ३७४,४४० वर्षों के विशाल 'मायिक' (Mayan) महाचक्र में दस विभिन्न अवयवी चक्रों को एकत्र कर दिया गया। आश्चर्यजनक रूप से ठीक, यद्यपि भयानक रूप से जटिल, मायिक पंचाग माया के 'प्राचीन साम्राज्य' से सम्बद्ध यूकातेक एवं मेक्जी (Mexic) समाजो को उत्तराधिकार में प्राप्त हुआ।

ज्योतिषियो की भांति सरकारें भी वर्ष-गणना तथा पुनरावर्तक वर्ष-चक्र के सधियोग से अपने को सम्बन्धित पाती हैं, क्योकि प्रत्येक सरकार की प्रथम चिन्ता अपना अस्तित्व कायम रखने की होती है और परम निष्कपट शासन को भी शीघ्र ही पता लग जाता है कि अपने कार्यों का कोई स्थायी आलेख रखे बिना वह ज्यादा दिनो तक कार्य नही कर सकता। सरकारो-द्वारा ग्रहण किया गया एक तरीका था अपने कार्यों को कुछ वार्षिक दडाधिकारियो—जैसे रोमी वाणिज्यदूत (रोमी कौंसल)—के नाम पर दिनाकित करना। इसी प्रकार होरेस, अपने एक गीत में, हमसे कहता है कि "वह मैनलियस के कौंसल (वाणिज्यदूत) रहते समय पैदा हुआ था।" यह वैसा ही हुआ जैसे कोई लन्दनवासी अपनी जन्मतिथि बताने के लिए नगर के उस प्रतिष्ठित आदमी का नाम ले दे जो उसके जन्मवर्ष मे लार्ड मेयर रहा हो। ऐसी प्रणाली से जो असुविधा होती है वह स्पष्ट है; कोई भी आदमी न तो सब कौंसलो के नाम याद रख सकता है, न यही स्मरण रख सकता है कि वे किस क्रम से नियुक्त हुए थे।[1]

एक ही सन्तोषजनक प्रणाली रह जाती है—वह है किसी विशिष्ट वर्ष को आरभिक तिथि के रूप मे चुन लेना और उसके बाद के वर्षों की गणना करना। इसके प्राचीन उदाहरण निम्नलिखित है—रोम पर फासिस्त कब्जा, प्रथम फरासीसी प्रजातन्त्र की स्थापना, पैगबर मुहम्मद की मक्का से मदीना हिजरत, भारतीय जगत् मे गुप्त वश के राज्यस्थापन, सेल्यूसीद साम्राज्य के हस्मोनी (हस्मोनियन) उत्तराधिकारी राज्य की जूडिया मे स्थापना तथा बैबिलोन मे विजयी सेल्यूकस निकेटर के पुन प्रवेश से आरंभ होने वाले युग।

कुछ ऐसे भी मामले हैं जिनमे युगो की गणना ऐसी घटनाओं से की गयी है

[1] इसी प्रकार ईसाई चर्चों-द्वारा इस्तेमाल किये जाने वाले 'नाइसीन' तथा 'एपोस्टिल्स' कोड दोनों में प्राप्त 'पोंटियस पाइलेट के अधीन दु.ख-सहन' वाक्यांश में किसी व्यक्ति के विरुद्ध दोषारोप की जगह एक तिथि का वक्तव्य मात्र है। यदि इन धर्ममतों के रचयिता शास्त्रार्थ में पड़ने की इच्छा रखते तो वे साम्राजिक रोम के एक ऐसे प्रतिनिधि का नाम न बताते जिसके साथ उनकी सफाई और फिर से मेल हो गया था, बल्कि अपराध को यहूदियों पर मढ़ देते—यहूदी जिन्हें ईसाई उस समय भी घृणा करते थे। 'पोंटियस पाइलेट के अधीन दु ख-सहन' का आशय केवल यह दावा है कि 'ट्रिनिटी' (त्रैत--त्रिगुट) का द्वितीय व्यक्ति एक ऐतिहासिक पुरुष हुआ है जिसकी एक निश्चित तिथि थी और वह दूसरे धर्मों के काल्पनिक व्यक्तियों—जैसे मिथ्रास या ईसिस या साइबील—की तरह नहीं है।

जिनकी निश्चित तिथि विवादास्पद है। उदाहरणार्थ, इसका कोई प्रमाण नहीं है कि ईसा ईसाई सवत् के प्रथम वर्ष में पैदा हुए थे—यहा तक कि यह ईसाई संवत् भी उसकी छठवी शताब्दी तक प्रचलित नही हो सका था। इसी तरह इसका भी कोई प्रमाण नही है कि रोम की स्थापना ७५३ वर्ष ईसा-पूर्व में हुई थी या ओलिम्पिक समारोह पहली बार ७७६ वर्ष ईसा-पूर्व में मनाया गया था। इसका तो और भी कोई प्रमाण नही है कि यह विश्व ७ अक्टूबर, ३७६१ ईसा-पूर्व में उत्पन्न हुआ (यहूदियो के मतानुसार) या १ सितबर, ५५०६ ईसा-पूर्व (प्राच्य सनातन ईसाइयो के अनुसार) या २३ अक्टूबर, ४००४ ईसा पूर्व की पिछली संध्या को ६ बजे उद्भूत हुआ (सत्रहवी शताब्दी के आयरिश काल-विशेषज्ञ आर्कबिशप उश्शर के अनुसार)।

पिछले दो अनुच्छेदो मे इन युगो को, चुनी घटनाओ की तिथियों के प्रमाणौचित्य के कम से, रखा गया है। किन्तु यदि हम इन युगो के विस्तृत एवं दीर्घकालिक प्रचलन की दृष्टि से इस सूची का सिंहावलोकन करे तो हम देखेगे कि जिस तावीज या मत्र-कवच से उनकी सफलता या असफलता का निर्णय हुआ है वह धार्मिक स्वीकृति की प्राप्ति या उसका अभाव मात्र है। १९५२ ई. के इस वर्ष मे, जब ये पंक्तिया लिखी जा रही हैं, पाश्चात्य ईसाई संवत् समस्त जगत पर छा गया है और इसका गंभीर प्रतिस्पर्द्धी इस समय सिर्फ इस्लामी सवत् है, यद्यपि यहूदी अपने स्वाभाविक आग्रह के साथ अब भी सृष्टि के आरंभ होने की तिथि के अपने अनुमान पर ही कायम है। सच बात तो यह है कि मानव बुद्धि द्वारा काल के माप एवं मानवात्माओ पर धर्म के अधिकार इन दोनो के बीच एक परंपरागत सम्बन्ध है। जिन समाजो मे इतनी व्यवहार-कुशलता या तार्किकता है कि ज्योतिष का खुलेआम मजाक उडाया जाता है, उनमें भी चित्त की अगम्य अवचेतन गहराइयो मे इस मूढाग्रह या वहम ने अधिकार जमा रखा है। इसीलिए ऐसे उदाहरण दुर्लभ हैं जिनमे विवेक-सम्मत पचाग-शोधन का कार्य सफल हो पाया है। जिस फरासीसी क्रान्ति की तर्कसंगत विधि-सहिताएं पृथिवी के एक छोर से दूसरे छोर तक फैल गयी थी और जिसके विद्यादभ से पूर्ण नवीन माप-तौल के बाटों—ग्राम, किलोग्राम, मिलीग्राम तथा मीटर, किलोमीटर एवं मिलीमीटर—ने खूब सफलता प्राप्त की उसे भी अन्ध-विश्वासपूर्ण एव ईसाई चर्च द्वारा पवित्र किये हुए रोमी पंचाग (Roman Calendar) को अपदस्थ करने मे खुद पूरी तरह पराजित हो जाना पड़ा। फिर भी फरासीसी क्रान्तिकारी पचांग एक आकर्षक निर्माण था। उसमे महीनों के नाम थे और वे अपनी समाप्ति द्वारा ३-३ की चार ऋतुओं मे विभाजित किये गये थे। प्रत्येक मास की अवधि एक समान ३० दिनो की थी तथा प्रत्येक महीने मे १०-१० दिन की अवधि के तीन सप्ताह रखे गये थे। सामान्य वर्ष की पांच दिनों की कमी "इस आज तक आविष्कृत सबमे बुद्धिमत्तापूर्ण पचांग की कोई बाधा नही थी—पर वह एक ऐसे देश के लिए जो अपने दसवे, ग्यारहवे और बारहवे महीने को क्रमशः अक्तूबर, नवबर और दिसंबर कहता था, जरूरत से ज्यादा युक्तिसंगत था।"[1]

[1] थाम्पसन, जे. एम : 'दि फ्रेंच रेवोल्यूशन' (आक्सफोर्ड १९४३ ब्लैकवेल) पृ. ९

उपर्युक्त उद्धरणों मे जिन गलत नामों (misnomers) की निन्दा की गयी है उनके पास इसका एक स्पष्टीकरण भी था और उसे रोमी लोकतंत्र के सैनिक इतिहास में देखा जा सकता है। रोमी पंचाग में छः महीने मूलतः देवो के नाम पर नहीं बल्कि सख्या-द्वारा व्यक्त किये जाते थे और जब पहिली बार उनको नाम दिये गये तब वे अंकों मे कुछ गलत भी नही थे। मूलतः रोमी सरकारी वर्ष प्रथम मार्च को शुरू होता था तथा इस महीने का नाम युद्ध के रोमी देवता के नाम पर रखा गया था, और जब-तक सरकारी कार्रवाई का क्षेत्र राजधानी से कुछ ही दिनों की यात्रा तक सीमित था तबतक नवनिर्वाचित मजिस्ट्रेट (दण्डाधिकारी) १५ मार्च को अपना कार्यभार सम्हालने के बाद वासन्तिक अभियान के समय तक स्थान पर पहुचकर अपनी कमान ग्रहण कर सकता था। किन्तु जब रोमी सनिक कार्रवाइयों का क्षेत्र इटली के आगे तक फैल गया तब इन दूर स्थानो में से किसी एक की कमान पर नियुक्त मजिस्ट्रेट जब तक अपने स्थान पर पहुचता था तब तक मौसम बहुत कुछ बीत जाता था। हनीबाल युद्ध के बाद जो अर्द्धशताब्दी आयी उसमे तो इस पंचाग-दोष का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रहा क्योंकि पचाग खुद इतना पथभ्रष्ट हो गया था कि जिस महीने के आगमन की कल्पना वसत मे की जाती थी वह हटकर पूर्ववर्ती शरद में पहुच गया। उदाहरणार्थ १६० ईसा-पूर्व के वर्ष मे जब रोमी सेना ने मैग्नेशिया के एशियाई रणक्षेत्र मे सिल्यूमीद की सेना को हराया, तो वहां सैनिक दस्ते केवल इसीलिए समय पर पहुंच पाये थे कि सरकारी १५ मार्च पीछे हटकर पूर्व वर्ष के १६ नवम्बर को पहुच गया था। इसी प्रकार १६८वें वर्ष ईसा-पूर्व मे जब एक दूसरी रोमी सेना ने पाइडना मे मैसिडोनी (मैसिडोनियन) सेना को निर्णायक रूप से पराजित किया, तो सरकारी १५ मार्च वस्तुतः पिछला ३१ दिसम्बर था।

ऐसा जान पडता है कि इन दोनो तिथियों के बीच रोमी स्वय ही अपने पंचांग का शोधन करने लगे थे। परन्तु दुर्भाग्य की बात तो यह थी कि वे उसे ज्योतिष के अनुसार जितना ही ठीक करते उतना ही सैनिक समय-सारणी की दृष्टि से वह बेकार होता जाता था। तदनुसार १५३ ईसा-पूर्व मे ऐसा हुआ कि जिस दिन वार्षिक मजिस्ट्रेटों को अपना कार्यभार सम्हालना था उसे १५ मार्च से हटाकर पीछे की ओर १५ जनवरी पर ले जाया गया। परिणामस्वरूप मार्च की जगह जनवरी वर्ष का पहिला महीना बन गया किन्तु ज्योतिष सम्बन्धी अयुक्तताए तबतक चलती ही रही जबतक कि जूलियस सीजर ज्योतिषियो के निष्कर्षों का एकाधिकारिक समर्थन करने मे समर्थ नही हो गया। इसके बाद उसने एक जूलियन पंचांग चलाया जो ज्योतिष के अनुसार ठीक तिथि के इतना सन्निकट था कि लगभग डेढ हजार साल तक चलता रहा। इसी समय छः अंक-निर्दिष्ट महीनो मे से प्रथम (क्विंस टाइलिस) को एक नाम दिया गया जो अंग्रेजी का 'जुलाई' हो गया है। अगली पीढी में इसके बाद का महीना अगस्त बन गया। फिर जूलियस और आगस्टस सरकारी तौर पर 'दीवस' (देव) नाम से ही अभिहित थे और जिन देवों के नाम पर पहले ही महीनों के नाम रख दिये गये थे, उनके बीच इनके नामों का प्रवेश कुछ अनुचित न था।

धर्मों के साथ पंचागो के विचित्र संसर्ग का चित्र जूलियन पचांग के बाद के इतिहास में दिखायी पड़ा। ईसाई सवत् की सोलहवी शती तक यह स्पष्ट हो गया कि उसमे दस दिन शेष रह जाते हैं तब दस दिन घटाकर तथा शताब्दिक अधिवर्ष (Leap Year) सम्बन्धी नियम मे परिवर्तन करके उसकी अशुद्धता को अत्यणु की प्रमात्रा (quantum) तक सशोधित कर दिया गया। सोलहवी शती के पाश्चात्य ईसाई समाज मे यद्यपि सन्त टामस एक्वीनोज के युग की लीक पर गैलीलियो का युग चढा चला आ रहा था फिर भी यह अनुभव किया गया कि केवल पोप ही पंचाग-शोधन के कार्य का आरंभ कर सकते है। तदनुसार सशोधित पचाग का उद्घाटन १५८२ ई. मे पोप ग्रिगोरी तेरहवे के नाम पर हो किया गया। किन्तु प्रोटेस्टेण्ट धर्मानुयायी इंगलैण्ड मे किसी समय के पूज्य पोप इस समय तक केवल रोम के निन्दित बिशप मात्र रह गये थे। यहां तक कि उनकी गर्हित दुष्टताओं से मुक्ति पाने के लिए बादशाह एडवर्ड षष्ठ की 'द्वितीय प्रार्थना पुस्तक' मे प्रार्थना की गयी। एलिजाबेथ की प्रार्थना-पुस्तक मे यह विरक्तिजनक अश निकाल दिया गया किन्तु भावना तो फिर भी बनी ही रही। अंग्रेजी एव स्काटी सरकारे अगले १७० वर्षों तक अपने प्राचीन पचागो से दृढतापूर्वक चिपकी रहीं और इस प्रकार उस युग के भावी इतिहासकारो को एन एस. तथा ओ.एस. के बीच भेद करने के तुच्छ कार्य मे समय देने के लिए विवश करती रही। अन्ततोगत्वा जब १७५२ ई. मे ब्रिटेन अपने यूरोप महाद्वीप के पडोसियों की पंक्ति मे आ गया तब बुद्धिसगत कही जाने वाली अठारहवी शती की ब्रिटिश जनता ने उससे कही ज्यादा तहलका मचाया जितना ऊपर से उसकी अपेक्षा कम प्रबुद्ध दीखने वाली ईसवी सवत् की सोलहवी शती के कैथोलिक जगत् ने मचाया था। क्या इसका कारण यह है कि जहा तक पंचाग का सम्बन्ध था, पार्लमेंट का अधिनियम (Act) पोप के 'बुल' या फतवे के पीछे छिपी ईश्वरवाणी के सामने एक दुर्बल विकल्प था ?

जब हम पचागों एव युगों के क्षेत्र से निकलकर तौल, माप तथा मुद्रा के क्षेत्र में जाते है, तो सामाजिक प्रवर्तनो के ऐसे क्षेत्र में प्रवेश करते हैं जिसमे धार्मिक विश्वासो से अनियत्रित, यौक्तिक बुद्धि का शासन रहता है। इसीलिए जहा फरासीसी क्रान्तिकारियो को धर्मनिरपेक्ष नये पचाग के प्रवर्तन मे पूर्ण असफलता हुई वहा तौल के नये बाट एव माप के विषय मे उन्हे सार्वजनिक सफलता भी प्राप्त हुई।

जब हम नये ढग की फरासीसी एव सुमेरी मीटर प्रणालियो की तुलना करते है, तो हमे ज्ञात होता है कि फरासीसी सुधारको के कार्य में जो चकाचौध करने वाली सफलता मिली, उसका कारण उनकी न्यायपूर्ण नरमी थी। पुराने शासनकाल की विस्मयकारी रूप से चित्र-विचित्र या बहुरंगी सारणियो को गणना की एक ही प्रणाली के अन्तर्गत लाने में उन्होने जब असुविधापूर्ण दाशमिक पद्धति का अयौक्तिक अनुसरण किया तो अपनी व्यावहारिक सुबुद्धि का ही परिचय दिया। यह दाशमिक पद्धति मानव जाति के सम्पूर्ण भागो-द्वारा जो एक मत से ग्रहण कर ली गयी थी वह कुछ इसके गुणो के कारण नहीं थी बल्कि केवल इसलिए कि सामान्य मानव को हाथ-पाव

में दस-दस उंगलियां ही होती हैं । यह प्रकृति का एक निष्ठुर क्रियात्मक व्यंग्य था कि उसने निम्न श्रेणी के कशेरुकीय (vertebrate—रीढदार) प्राणियों में से कुछ को उनके चार अंगों मे से हर एक में छः अंक वाले हिस्से दिये किन्तु इस प्रशंसनीय प्राकृतिक अक-गणक (Abacus) को उसका उपयोग करने के लिए विवेचना-शक्ति नही दी, जबकि मानव प्राणी को विवेक देकर भी उपागो के विषय मे उसके साथ बड़ी कजूसी का व्यवहार किया और १० या २० चीजे देकर ही टरका दिया । यह दुर्भाग्य की बात रही क्योकि दाशमिक गणना में आधारिक माप केवल दो और पाच मे ही विभाजित हो सकता है जबकि दो, तीन और चार सबसे एक समान विभक्त हो सकने वाली सबसे छोटी संख्या १२ है । इतने पर भी दाशमिक अक-पद्धति अनिवार्य थी क्योकि जबतक किसी समाज की कोई प्रज्ञा सख्या १२ की आन्तरिक श्रेष्ठता को समझने योग्य हो पायी, तब तक दाशमिक अंकन पद्धति अछेद्य रूप से व्यावहारिक जीवन में जम चुकी थी ।

फरासीसी सुधारको ने इन दशकटकीय चुभनो को क्षमा कर दिया, किन्तु उनके सुमेरी पूर्ववर्ती कम विवेकवान् थे । सुमेरु ने सख्या १२ की विशेषताओं का जो आविष्कार किया था वह उसकी प्रतिभा का ही एक शोशा था और उन्होने माप-तौल की अपनी प्रणाली के द्वादशिक आधार पर पुन.शोधन का एक क्रान्तिकारी पग उठाया. किन्तु उन्होंने यह महसूस नही किया कि जबतक वे अपने साथी मानवो को सब कामो के लिए द्वादशिक अकपद्धति ग्रहण करने को तैयार करने का अगला कदम नही उठाते तबतक द्वादशिक माप-तौल से होने वाली सुविधाए दो असमानुपातिक तुलाएं साथ-साथ चलने से होने वाली असुविधाओ के कारण नष्ट हो जायगी । सुमेरी द्वादशिक प्रणाली पृथिवी के कोने-कोने मे फैल गयी किन्तु पिछले डेढ सौ वर्षों के बीच यह अपनी तरुण फ्रासीसी प्रतिस्पर्द्धिनी के विरुद्ध एक हारती हुई लडाई लड रही है । आक्सफर्ड की भाति उर भी 'पराजित हेतुओ का गृह' सिद्ध हुआ, यद्यपि सच्ची बात यह है कि उर की लडाई तबतक खत्म नही मानी जा सकती जबतक अग्रेज एक फुट मे १२ इच और एक शिलिग मे १२ पेस की गिनती करते है ।[1]

ज्यों ही यह बात मान ली गयी कि सच्चा व्यवहार सामाजिक चिन्तन का विषय है और कोई भी स्वनामधन्य सरकार गलत तौल और माप देने को एक दडनीय अपराध माने बिना नही रह सकती, मुद्रा के आविष्कार का क्रम अपने आप ही आ जाता है । किन्तु इस कार्य की पूर्ति भी कतिपय निश्चित एव क्रमिक उपायो का अवलम्बन करने के पूर्व नहीं हो सकती । इस प्रकार का आवश्यक कार्य-समूह भी सातवीं शती ईसा-पूर्व तक निष्फल रहा, यद्यपि उस समय समाज मे सभ्यता नाम की चीज शायद तीन हजार वर्षों से वर्तमान थी ।

[1] दिन के चौबीस घंटे और घंटे के ६० मिनट भी सुमेरु के ही आविष्कार हैं और अनन्त काल तक उनके जीवित रहने की आशा है । फरासीसी क्रान्तिकारियों तक ने घड़ी को दाशमिक बनाने का प्रयत्न नहीं किया ।

पहिला कदम था—कुछ विशेष वस्तुओ को विनिमय के माध्यम की भांति बर्तने का उपाय। इससे उस वस्तु की आन्तरिक उपयोगिता न खोते हुए भी उससे स्वतंत्र एक दूसरी वस्तु प्राप्त हुई। किन्तु इस पग से स्वत ही मुद्रा का आविष्कार नहीं हो गया क्योकि चुनी हुई वस्तुए विविध प्रकार की थी और सब धात्विक नही थी। उदाहरणार्थ मेक्सी एव ऐंदियन विश्व मे, स्पेनी कब्जे के समय तक पुरानी दुनिया मे 'बहुमूल्य धातुए' नाम से विख्यात एव प्रलोभनीय तत्त्व इतने परिमाण मे मौजूद था कि स्पेनी विजेताओ को वह काल्पनिक और अविश्वसनीय मालूम पडा। वहा के मूल निवासी बहुत पहिले से इन धातुओ के परिमार्जन-शोधन की कला जानते थे और कलाकृतियो मे उनका प्रयोग करते थे। किन्तु उन लोगों ने कभी विनिमय के माध्यम के रूप मे उनका उपयोग करने की बात नही सोची थी—यद्यपि इस प्रयोजन के लिए वे फलिया, सूखी मछली, नमक एव समुद्री घोंघे और सीपिया आदि कुछ विशेष पदार्थों का प्रयोग करते थे।

व्यापारिक रूप से अन्तर्ग्रथित मिस्री, बैबिलोनी, सीरियाई एव यूनानी जगत् मे बहुमूल्य धातुओ का प्रयोग आसानी से तौलने योग्य छड़ों के रूप मे मूल्य के माप के लिए उसके सैकडो क्या हजारों वर्ष पहिले से होता आ रहा था, जब एजियन सागर के एशियाई तट पर स्थित कतिपय यूनानी नगरों की सरकारो ने विनिमय के धात्विक माध्यम को दूसरी वस्तुओ के समान स्तर पर रखने की प्रचलित प्रथा के आगे जाकर इसे गलत बाट या माप देने के कानून के अन्तर्गत एक अपराध बना दिया। इसके बाद इन अग्रगामी नगर-राज्यो ने दो और क्रान्तिकारी कदम उठाये—एक यह कि इन मूल्यवान् धात्विक इकाइयो पर राज्य का एकाधिकार स्थापित कर दिया, दूसरा यह कि इस सरकारी करेंसी (मुद्रा) पर कोई विशिष्ट मूर्ति एव आलेख का अकन कर दिया जिससे मालूम हो जाय कि वह मुद्रा सरकारी टकसाल का एक प्रामाणिक उत्पादन है और उनके ऊपर जो तोल एव कोटि (क्वालिटी) अकित है उसे सबको स्वीकार करना चाहिए।

चूकि लघु क्षेत्रफल एव संख्या वाले राज्य में मुद्रा की व्यवस्था करना कोई कठिन काम नही है इसलिए यह कोई घटना नही थी कि नगर-राज्यो ने ऐसी प्रयोगशालाओं (laboratories) का काम किया जिनमे यह प्रयोग किया जा सका। किन्तु इसके साथ यह भी उतना ही स्पष्ट है कि मुद्रा की उपयोगिता त्यों-त्यो बढती जाती है ज्यों-ज्यो उस क्षेत्र का विस्तार होता है जिसमे वह विधिमान्य निविदा (legal tender) है। जब छठी शती ईसा पूर्व के प्रारभिक दशको मे लीडियाई (लीडियन) राजतन्त्र ने मिलेटस के अतिरिक्त अनातोलिया के पश्चिमी तट पर स्थित सब यूनानी नगर-राज्यों को जीत लिया और हालीज नदी तक देश के अन्तरंग भाग पर भी कब्जा कर लिया तो उसने पराजित यूनानी नगर-राज्य फोकेया (Phocaea) के स्थानीय मान पर आश्रित मुद्राए जारी की जो सारे लीडियाई साम्राज्य मे फैल गयी। लीडियाई बादशाहो मे सबसे प्रसिद्ध (और अन्तिम भी) क्रोशस (Croesus) था जो इस उपाय से इतना धनवान् हो गया कि अपने वैभव के लिए एक जनप्रवाद-सा बना रहा। ईसाई

संवत् की बीसवीं शती का आधे से अधिक भाग बीत जाने पर भी अब तक एक पश्चिमवासी के मुह से राथ्स चाइल्ड या राकफेलर या फोर्ड या मारिस या अन्य आधुनिक पाश्चात्य कोट्यधीशों की जगह ज्यादा स्वाभाविकता के साथ निकलता है— "क्रोशश जैसा धनवान्.... ।"

अन्तिम एवं निर्णायक कदम तब उठाया गया जब लीडिया का राज्य, अपनी बारी, विशाल एकेमीनियाई साम्राज्य मे मिला लिया गया। इसके बाद मुद्रा रूप मे प्राप्त द्रव्य का प्रचलन हुआ। चूंकि सिनाई जगत् ज्यादा दूरी पर स्थित था इसलिए हान-लियू-पैंग के कुशल हाथो से त्स-इन-शी-ह्वाग-ती के क्रान्तिकारी साम्राज्य-निर्माण का उद्धार हो जाने के बाद ही वह मुद्राप्रणाली को ग्रहण करने के योग्य बन सका। ११९ ईसा-पूर्व सिनाई सम्राट की सरकार को, अब तक अनाविष्कृत सत्य की एक दीप्तिमयी अन्त प्रेरणा हुई कि केवल धातु ही ऐसा पदार्थ नही जिससे द्रव्य या मुद्रा का निर्माण किया जा सके।

'छ-आगन्गान'-स्थित शाही बाग मे, सम्राट के पास एक श्वेत मृग (हिरन) था। यह जानवर दुर्लभ है, साम्राज्य-भर में उसका जोडा नही था। किसी मन्त्री की सलाह पर सम्राट ने इसे मरवा डाला और इसके चमड़े से एक प्रकार का ट्रेजरी नोट बनवाया। उसका विश्वास था कि उसकी नकल न की जा सकेगी। ये चर्मखण्ड एक-एक वर्गफुट के थे। इनमे एक झालरदार किनारी थी और ये विशेष प्रकार से चित्रित किये गये थे। प्रत्येक खण्ड का मनमाना मूल्य, अर्थात् चार लाख ताम्र-मुद्रा, था। जो राजा या सामन्त सम्राट के प्रति सम्मान प्रकट करने आते थे उन्हे नकद दाम देकर एक चर्मखण्ड खरीदने और उसी पर अपने उपहार सम्राट को देने के लिए विवश किया जाता था। किन्तु मृग के ये चर्मखण्ड बहुत थोड़ी सख्या मे थे इसलिए शीघ्र ही वह समय आ गया जब इस तरकीब से सरकारी खजाने मे अत्यावश्यक द्रव्य का आना बन्द हो गया।[1]

करेंसी नोटों का आविष्कार तबतक प्रभावपूर्ण ढग पर लागू नही किया जा सका जबतक कि उसके साथ कागज और छपाई के दो और सिनाई (चीनी) आविष्कार नही हो गये। चैक के रूप मे, बेचनीय (negotiable) कागज ताग सरकार-द्वारा सन् ८०७ एव ८०९ ई. मे जारी किये गये थे। इनका प्रतिरूप सरकारी खजाने मे सुरक्षित रहता था। किन्तु इस बात का कोई प्रमाण नही है कि इन चैकों पर के अभिलेख मुद्रित (छपे हुए) थे। मुद्रित कागजी मुद्रा ९७० ई. में सुंग सरकार-द्वारा अवश्य जारी की गयी थी।

इसमे कोई सन्देह नही कि कागजी मुद्रा (करेंसी नोटों) का आविष्कार उन्हें जारी करने वाली सरकारो की प्रजाओ के लिए लाभदायक सिद्ध हुआ, यद्यपि उनमे स्फीति (inflation) और अवस्फीति (deflation) की सामाजिक रूप से विध्वसकारी

[1] फिट्जेरल्ड, सी. पी. : 'चाइना : ए शार्ट कल्चरल हिस्ट्री' (लन्दन, १९३५, क्रीसेप्ट प्रेस) पृ. १९४-९५।

अस्थिरताएं चलती ही रहती थी और कम मूल्य पर लेकर अधिक मूल्य पर बेचने का प्रलोभन भी आविष्कार के साथ ही आया। किन्तु इससे भी ज्यादा लाभ खुद इन नोटों को जारी करने वाली सरकारो को हुआ, क्योकि मुद्रा जारी करने से एक सरकार का सीधा एव निरन्तर ससर्ग प्रजा के एक अल्पसख्यक, उद्योगी, समझदार और प्रभावशाली वर्ग से होता रहता है। यह मुद्रावतरण अपने आप न केवल सरकार की प्रतिष्ठा मे वृद्धि करता है वरन् उसे आत्म-विज्ञापन का भी अत्यन्त श्रेष्ठ अवसर प्रदान करता है।

जहा के लोग अपने विदेशी शासन की राजनीतिक दासता के जुए के प्रति असन्तोष एव विरोध रखते है उन पर भी इस मुद्रा प्रणाली का प्रभाव पडता है—यह बात 'न्यू टेस्टामेण्ट' (बाइबिल) के एक श्रेष्ठ लेखाश मे बतायी गयी है—

"उन्होंने उसके पास कुछ फैरिसियो (Pharisees) **और हेरोडियो** (Herodians) **को इसलिए भेजा कि उसकी जुबान पकड़ सकें। जब वे आये तो उन्होंने उससे कहा— प्रभु, हम जानते हैं कि आप सच्चे हैं और आपको किसी भी आदमी की परवा नहीं है, क्योंकि आप मानव देह को महत्त्व नहीं देते बल्कि सच्चाई के साथ ईश्वर का मार्ग बताते है। तब बताइए कि सीजर को खिराज देना विधि-सम्मत है या नहीं ? हम उसे दें या न दें ?"**

"किन्तु उसने उनके पाखण्ड को जानते हुए कहा—'मुझे क्यो प्रलुब्ध करते हो ? एक पेनी ले आओ, जिसे मैं देख सकूं।' वे उसे ले आये और उसने उनसे कहा—'इस पर किसकी मूर्ति और आलेख है ?' उन्होंने उससे कहा—'सीजर का।' ईसा ने उत्तर में उनसे कहा—'जो चीजें सीजर की है उन्हें सीजर को दो और जो ईश्वर की है उन्हें ईश्वर को दो।"

"वे लोग उसकी जुबान लोगों के सामने पकड न पाये। उसके उत्तर पर विस्मित होकर चुप बैठ रहे।"[1]

यह अपने आप ही होने वाला नैतिक लाभ, जो मुद्रा जारी करने से एक भयानक रूप से प्रतिकूल राजनीतिक एव धार्मिक वातावरण मे भी प्राप्त हो जाता है, रोमी साम्राज्य-सरकार के लिए टकसाल से होने वाले आर्थिक लाभ की अपेक्षा कही ज्यादा मूल्यवान् था। मुद्रा पर सम्राट की प्रतिच्छवि से उस यहूदी आबादी के मन मे भी साम्राज्य-सरकार के लिए कुछ प्रतिष्ठा का भाव उत्पन्न हुआ जो रोम के राज्य को न केवल अवैध मानती थी बल्कि यह भी मानती थी कि 'दस धर्मादेशो मे दूसरा खुद यहोवा-द्वारा मूसा को प्रस्तर-फलक पर अपने हाथ से लिखकर दिया गया था और जिसमे स्पष्ट निषेधाज्ञा थी —

"तू स्वय किसी प्रतिमा का अंकन नहीं करेगा, न ऊपर स्वर्ग की किसी वस्तु, या उसके नीचे की धरती या धरती के नीचे के जल में की किसी वस्तु की प्रतिमा खींचेगा। तू स्वयं उनके आगे नहीं झुकेगा, न उनकी सेवा करेगा,

[1] **मार्क बारह, १३-१७। मैट बाईस, १५-२१। ल्यूक बीस, २०-२५**

क्योंकि तुम्हारा प्रभु और ईश्वर मैं हूँ—और मैं ईर्ष्यालु ईश्वर हूँ।"[१]

जब १६७ ई. पू. में सिल्यूसीद राजा एन्तिओकस चतुर्थ ने यहावा के यरूशलेम-स्थित पवित्रतम मन्दिर में ओलिम्पियन ज्यूस की एक मूर्ति रखवा दी तो उस 'विनाशकारी घृणित वस्तु'[२] को 'ऐसे स्थान पर जहां वह नहीं होनी चाहिए'[3] देखकर यहूदी इतने बिगड़े कि तबतक शान्त नहीं हुए, जबतक कि उन्होंने सिल्यूसीद शासन का नामोनिशान नहीं मिटा दिया। पुनः जब सन् २६ ई. में रोमी कोषाधिकारी (Roman Procurator) पाण्टियस पाइलेट ने रोम के सैनिक झण्डो को, जिन पर सम्राट की मूर्ति अंकित थी, लेकर, कपड़े मे लपेटे हुए और रात के अंधेरे मे यरुशलेम मे प्रवेश किया तो यहूदियो मे इतनी भयानक प्रतिक्रिया हुई कि पाइलेट को उन चिह्नो एव प्रतीकों को वहा से हटाना पडा। किन्तु इन्ही यहूदियो ने, सीजर की मुद्राओ पर वही घृणित मूर्ति न केवल चुपचाप देखने के लिए अपने को तैयार कर लिया बल्कि उनको स्पर्श करने, उनका इस्तेमाल करने, उन्हे कमाने और जमा करने मे भी वे सिद्ध हो गये।

रोमी सरकार भी नीति के साधन के रूप मे एक देशव्यापी मुद्रा-प्रणाली के महत्त्व को समझने मे पीछे न रही।

"प्रथम शती के मध्य के बाद से साम्राज्य-सरकार ने न केवल तात्कालिक जीवन-युग की राजनीतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक एवं कला-सम्बन्धी प्रेरणाओं के दर्पण के रूप में मुद्रा के क्रियान्वयन का महत्त्व अंगीकार किया—शायद ही और सरकारो ने इसके पूर्व या बाद ऐसा किया होगा—बल्कि प्रचार के दूरगामी साधन के रूप में भी उसकी अपरिमेय एव अद्वितीय संभावनाओं को ग्रहण किया। समाचार-वितरण की आधुनिक प्रणालियां तथा प्रचार के आधुनिक साधन, डाक के टिकट से लेकर आकाशवाणी तथा समाचार-पत्र तक सबका प्रतिरूप हमें इस सामाजिक मुद्रा-प्रणाली में दिखायी पड़ता है, जिसमें वार्षिक, मासिक—हम कह सकते हैं दैनिक—नवीनताएं एवं टाइप की विविधताएं सार्वजनिक घटनाओं के प्रभाव का विवरण प्रस्तुत करती हैं और उन लोगों के उद्देश्यों एवं विचारधाराओं को व्यक्त करती हैं जिनका राज्य पर नियंत्रण है।"[४]

स्थायी सेनाएं :

किस सीमा तक स्थायी सेनाओं की आवश्यकता है, इस विषय पर सार्वभौम राज्यो मे बड़ी भिन्नता पायी जाती रही है। उनमे कुछ तो ऐसे थे जिन्होंने करीब-करीब पूरी तरह उनका त्याग कर दिया था। दूसरे ऐसे थे कि एक शोचनीय आवश्यकता के रूप मे इन व्ययसाध्य संस्थाओ, चल एवं गेरीजन कार्य मे लगी स्थिर

[१] एक्जोडस बीस, ४-५ [२] डैन ग्यारह, ३१ एवं बारह, ११

[3] मार्क तेरह, १४.

[४] टॉयनबी, जे. एम. सी. 'रोमन मैडेलियंस' (न्यूयार्क १९४४, दि अमेरिकन न्यूमिस्मेटिक सोसायटी), पृ. १५.

सेना दोनों, को ग्रहण किया। ऐसे सार्वभौम राज्यो की सरकारो को उन कठिन और कभी-कभी असाध्य समस्याओ का सामना करना पड़ा जिन्हे इन भारी-भरकम एव अक्सर खतरनाक संस्थाओ ने उनके लिए पैदा कर दिया। किन्तु ये सब ऐसी बाते हैं जिनका अनुसन्धान करने के लिए हम ठहर नही सकते। इस शीर्षक के अन्दर आ सकने वाले अनेक विषयो मे से हम केवल एक तक ही अपने को सीमित रखेगे। वह जो शायद सबसे मनोरजक और सबसे महत्वपूर्ण तथा इस परिच्छेद के सामान्य तर्क के निकट भी है—अर्थात् ईसाई चर्च के विकास पर रोमी सेना का प्रभाव।

निश्चय ही ईसाई चर्च रोमी सेना का सबसे प्रकट या सबसे निकट का लाभानुभोगी नही था। सभी विघटनशील साम्राज्यो की सम्पूर्ण सेनाओ से सबसे ज्यादा लाभ उठाने वाले लोग थे वे विजातीय एव बर्बर जो उनमे भरती कर लिये जाते थे। उत्तरकालिक एकेमीनियाइयो ने यूनानी अर्थलोभी आदमियो की भरती कर जो पेशेवर चल सेना बनायी वही सिकन्दर महान के द्वारा एकेमीनियाई साम्राज्य की पराजय का कारण हुई। अब्बासाई खलीफाओ के अग-रक्षको मे, तथा रोमी साम्राज्य एव मिस्री 'नवीन साम्राज्य' की स्थायी सेनाओ मे बर्बरो की भरती के कारण खिलाफत मे तुर्की बर्बरो, रोमी साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तो मे टीटानी (टीटानिक) एव सर्मेशियन (Sermatian) बर्बरो तथा मिस्र मे हाइकसास बर्बरो का शासन स्थापित हुआ। इससे भी ज्यादा आश्चर्य तब होता है जब हम किसी सेना के प्रावरण (लबादे) को एक चर्च पर उतरता देखते है और आश्चर्य तब और बढ जाता है जब इस प्रेरणा एव उत्साह का पाने वाला असैनिक परपरा मे विश्वास रखने वाला चर्च होता है।

खून गिराने मे तथा फलस्वरूप सैनिक सेवा मे आत्मिक आपत्ति होने के कारण आदिकालिक ईसाई इस विषय मे यहूदी परपरा से भिन्न थे। उनका विश्वास था कि ईसा का द्वितीय विजयागमन शीघ्र ही होने वाला है और उनको धीरज के साथ उस समय की प्रतीक्षा करने का आदेश है। १६६ ईसा-पूर्व से १३५ ई तक तीन सौ वर्षों की अवधि मे जब यहूदियो ने पहिले सिल्यूसीद, फिर रोमी शासन के विरुद्ध विद्रोहो की एक शृखला-सी खडी कर दी तब लगभग इतनी ही लम्बी अवधि मे (ईसा के मिशन से आरभ करके रोमन साम्राज्य-सरकार तथा चर्च के बीच ३१३ ई मे हुई सधि एव मैत्री तक) ईसाइयो ने अपने रोमी उत्पीडको के विरुद्ध कभी सशस्त्र विद्रोह नही किया। जहा तक रोमी सेना मे भरती होने का विषय है, यह निश्चय ही ईसाइयो के मार्ग मे एक रोड़ा-सा था क्योकि इसमे न केवल प्रत्यक्ष सेवा द्वारा खून बहाने का प्रश्न आता था बल्कि, अन्य चीजो के साथ-साथ, मृत्युदण्ड और फासी देने, सम्राट के प्रति बिना किसी प्रतिबन्ध के निष्ठा की सैनिक शपथ लेने, सम्राट की प्रतिमा की पूजा करने एव उसके लिए बलिदान देने की तैयारी, तथा मूर्ति की भांति ही असैनिक झण्डो के प्रति भक्ति रखने की आवश्यकता के प्रश्न भी सम्बद्ध थे। तथ्य तो यह है कि प्रारभिक ईसाई पादरियो-द्वारा सेना मे नौकरी करना ईसाइयो के लिए निषिद्ध घोषित कर दिया गया था। ओरिजेन और टर्टूलियन द्वारा इस प्रकार की घोषणा हुई थी—यहा तक कि लैक्टेण्टियस ने भी कुस्तुनतुनिया की शान्ति-

सन्धि हो जाने के बाद प्रकाशित अपनी एक पुस्तक में ऐसा ही फतवा दिया था।

यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि ईसाई चर्च-द्वारा रोमी सेना का बहिष्कार ऐसे समय टूट गया जब सेना मे स्वेच्छा से ही भरती होती थी—रोमी साम्राज्य-शासन द्वारा यह प्रश्न उठाने और डाओक्लेटियन (राज्यकाल २८३—३०५ ई.) द्वारा अनिवार्य सैनिक सेवा जारी करने (यद्यपि यह भी केवल सिद्धान्त तक ही सीमित रही) के सौ से भी अधिक वर्ष पहिले। लगभग १७० ई. तक तो इस सवाल पर संघर्ष होने की स्थिति को सदा बचाया गया। ईसाई सिविल अधिकारी ईसाइयों की भरती से हाथ खींचे रहते थे। दूसरी ओर यदि कोई व्रात्य (Pagan) सैनिक सेवा करते हुए धर्म-परिवर्तन द्वारा ईसाई हो जाता था तो चर्च भी अवधि के अन्त तक उसे अपनी सेवा ज्यों की त्यों जारी रखने और सेना द्वारा दिये गये हर तरह के काम करते रहने की स्थिति को स्वीकार कर लेता था। सभवतः चर्च ने इस शिथिलता को अपने लिए उसी प्रकार विहित मान लिया जैसे उसने शुरू से कितनी ही परस्पर-प्रतिकूल बातो को सहन किया था—जैसे दासप्रथा—उस स्थिति मे भी जब मालिक एव दास दोनों ईसाई हो। इस युग मे चर्च को आशा थी कि ईसा के द्वितीय आगमन को इतना थोडा समय रह गया है कि एक सैनिक, जो धर्म-परिवर्तन द्वारा ईसाई बन चुका है, ठीक उसी तरह अपना समय बिता सकता है जिस तरह दासता के बन्धन मे बधा वह दास जो धर्म-परिवर्तन से ईसाई हो गया है।

ईसाई सवत् की तीसरी शती मे ईसाइयों ने रोमी समाज के राजनीतिक रूप से उत्तरदायी वर्गों मे अधिकाधिक सख्या मे शामिल होना शुरू किया—अशतः स्वयं संसार मे उन्नति करके और अंशत. उच्चवर्गीय धर्मान्तरित लोगो को अपनी ओर मिलाकर। इस प्रकार रोमी सेना के सामाजिक महत्त्व के कारण जो सवाल उसके सामने आ खडा हुआ था, उसे सिद्धान्त रूप मे कभी हल न करते हुए या पूरे राज्य के—सेना जिसका एक अग थी—ईसाई हो जाने की प्रतीक्षा न करके भी, आचरण-द्वारा उन्होंने उसका उत्तर देने की चेष्टा की। डाओक्लेटियन की सेना में ईसाई सैनिक दल इतना बडा और इतना प्रभावशाली था कि ३०३ ई. के उत्पीडन का प्रहार पहिले सेना के ईसाइयों पर ही हुआ। यह निश्चित रूप से प्रकट है कि पश्चिमी प्रान्तो मे सेना मे ईसाइयों का प्रतिशत असैनिक आबादी मे ईसाइयों के प्रतिशत से ज्यादा था।

जिस युग में सैनिक सेवा पर प्रतिबन्ध जारी था उस युग मे चर्च पर सेना का प्रभाव और भी महत्त्वपूर्ण तथा ध्यान देने योग्य है। युद्ध मे उन्ही वीरतापूर्ण गुणो की आवश्यकता पडती है जो एक जनप्रिय धर्म के अनुयायियो को प्रदर्शित करने पडते है और ऐसे धर्मों के कितने ही उपदेशकों ने युद्ध के अस्त्रों एवं कलाओं द्वारा प्रस्तुत शब्द-भाण्डार का सहारा लिया है। सबसे ज्यादा तो खुद सन्त पाल ने ऐसा किया है। यहूदी परपरा मे, जिसे ईसाई चर्च ने अपनी ही विरासत के एक बहुमूल्य अंश की भांति सुरक्षित रखा है, युद्ध शाब्दिक एवं रूपकीय दोनों अर्थों में एक पवित्र कार्य है। जब यहूदी सैनिक परपरा एक शक्तिमान् साहित्यिक प्रभाव का प्रतीक थी तो रोमी सैनिक परपरा अपने को एक जीवन्त, प्रभावशाली यथार्थता के रूप में सामने लाती

था। प्रजातंत्र की रोमी सेना रोमी विजयों के निर्दय युग मे और उससे भी ज्यादा रोमी सिविल (नागरिक) युद्धो के निर्दय युग मे चाहे जितनी क्षतिकारी एव घृण्य रही हो किन्तु साम्राज्य की सेना, जो लूट पर नही वेतन पर निर्वाह करती थी और जो यूनानी जगत् के सभ्य आन्तरिक भागो मे फैलकर उसे नष्ट कर देने की जगह, बर्बरो से सभ्यता की रक्षा करने के लिए सीमाओं पर तैनात रहती थी, उसे उनका कल्याण साधन करने वाली सस्था के रूप मे रोम की प्रजा का स्वप्रसूत सम्मान, प्रशसा, यहा तक कि स्नेह भी प्राप्त हुआ और यह सेना के लिए एक उचित गर्व की बात थी।

सन् ६५ ई के लगभग रोम के क्लीमेण्ट ने कोरिन्थवासियो के नाम अपने प्रथम धर्मपत्र (Epistle) मे लिखा—"हमे अपने शासको की सेवा करने वाले सैनिको के आचरण पर गौर करना चाहिए। जरा उनकी उस सुव्यवस्थितता, विनम्रता और आज्ञाकारिता की तो सोचो जिनके साथ वे आदेश का पालन करते हैं। उनमे सब दूत (Legate) या जन-रक्षक (Tribune) शत-सेना नायक या इनसे छोटे अफसर भी नही है फिर भी अपनी टुकडी मे सेवा करने वाला प्रत्येक सैनिक सम्राट एव सरकार के आदेशो का पालन करता है।"

इस प्रकार अपने ईसाई पत्र-लेखको के सामने सैनिक अनुशासन का उदाहरण रखकर क्लीमेण्ट चर्च मे सुव्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। वह कहते थे कि आज्ञापालन सब ईसाइयो के लिए जरूरी है। वह केवल ईश्वर के प्रति ही नही, धार्मिक जगत् में अपने से बड़े जनो के प्रति भी होना चाहिए। किन्तु ईसाई चर्च की सैनिक कल्पना के विकास मे ईश्वर का सैनिक मुख्यत. धर्म-प्रचारक होता था। धर्म-प्रचारक को नागरिक जीवन की बाधाओ से अपने को मुक्त कर लेना चाहिए। और उसे अपनी शिष्टमण्डली द्वारा उसी प्रकार समर्थन पाने का अधिकार है जसे करदाता द्वारा दिये हुए धन से सैनिक को अपना वेतन पाने का अधिकार है।

इस प्रकार चर्च की सस्थाओ के विकास पर रोमी सेना का जो भी प्रभाव पडा हो, फिर भी वह रोमी सिविल सर्विस की अपेक्षा उस क्षेत्र मे कम प्रभावक्षम था। सेना के उदाहरण का मुख्य प्रभाव चर्च के आदर्शों पर पडा।

ईसाई धर्म-दीक्षा मे बपतिस्मे की जो प्रथा है उसकी तुलना सन्त साइमियन ने उस सैनिक शपथ (सैक्रामैण्टम) से की है जो रगरूट के रोमी सेना मे भरती होने के समय ली जाती थी। एक बार भरती हो जाने के बाद ईसाई सैनिक को अपना युद्ध कार्य 'नियमो के अनुसार ही' चलाना पडता था। उसे पलायन के अक्षम्य अपराध का, इसी प्रकार कर्तव्यच्युति (Dereliction of Duty) के गभीर अनाचार का भी, त्याग करना ही चाहिए। सन्त पाल ने रोमनो के नाम जो धर्मपत्र लिखा था उसमे सैनिक भाषा का एक पद आया है। टर्टूलियन ने उससे यह वाक्य ग्रहण किया—"अपचार (delinquency) का वेतन मृत्यु है।" बाइबिल के प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद मे सन्त पाल का पद 'पाप की मजदूरी' (Wages of Sin) है। इसी प्रकार ईसाई जीवन के सस्कारो एव नैतिक

दायित्वों को टर्टूलियन ने सैनिक कठोर श्रम या श्रान्ति (fatigue) के समान बताया है। उसकी शब्दावली मे उपवास सन्त की गश्त है और तलवारों की छाया सन्त मैथ्यू के अनुसार 'प्रभु की हलकी (सैनिक) गठरी' है; ईसाई सैनिक की निष्ठापूर्ण सेवा के लिए सेवा-मुक्ति के बाद 'ईश्वरी इनाम' की सिफारिश की गयी है। और जबतक यह इनाम न प्राप्त हो तब तक सैनिक अपने लिए रसद लेता रह सकता है बशर्ते कि वह सन्तुष्ट रहता है। क्रूस एक सैनिक पताका है और ईसा प्रधान सेनापति है। सच पूछें तो बेयरिंग गाइल्ड का 'ईसाई सैनिको, आगे बढ़ो' का नारा और जनरल बूथ की 'मुक्ति सेना' (Salvation Army) वाणी एव आचरण दोनों मे एक ऐसी समानान्तर रेखा खीचते है जो चर्च के प्रारम्भिक दिनों तक चली जाती है। किन्तु जिस सेना ने मूलरूप से ऐसी तुलना का सुझाव दिया वह एक गैर-ईसाई सेना थी, जिसे रोमी साम्राज्य ने एक दूसरे ही प्रयोजन से उत्पन्न किया और बना रखा था।

नागरिक सेवाएं (सिविल सर्विसेज) :

अपनी नागरिक या असैनिक सेवाओ का विस्तार करने मे सार्वभौम राज्यो मे बडी भिन्नता रही है। पैमाने के ऊपरी सिरे पर हम ओथमन सरकार को पाते है जिसने अपनी प्रशासनिक आवश्यकताओं के लिए वह सब किया जो मानवीय मेधा सोच सकती और मानवीय सकल्प पूर्ण कर सकता है। उसने एक ऐसी नागरिक सेवा (सिविल सर्विस) का निर्माण किया जो केवल पेशे वाली बिरादरीमात्र न थी, धर्मव्यवस्था का एक लौकिक या धर्मनिरपेक्ष पर्याय थी—ऐसी कठोरता के साथ विलगित, इतने सयम के साथ अनुशासित और इतनी क्षमता के साथ 'अनुकूलित' (conditioned) जैसे कोई अतिमानुषी, या अवमानुषी, जाति हो—मानवजाति के सामान्य प्रकार से इतनी भिन्न जैसे एक सुजात अश्व, कुत्ता (हाउण्ड) या बाज जो उत्पादनकर्ता या प्रशिक्षक (ट्रेनर) के हाथ मे पहिले अनगढ़ सामग्री के रूप मे आया रहा हो।

सार्वभौम राज्यो के लिए नागरिक सेवाओ के जन्मदाताओ के सामने एक समस्या प्राय. आती है कि जो अभिजात या कुलीनवर्ग (aristocracy) 'सकट-काल' मे इन राज्यो पर प्राय. अपनी धौंस जमाये रहा है, उसका क्या उपयोग किया जाय। उदाहरणार्थ, जब पीटर महान् ने मस्कोवी का पाश्चात्यीकरण आरभ किया तो वहा इसी प्रकार का अयोग्य कुलीनवर्ग मौजूद था। किन्तु 'प्रिंसिपेट' के संस्थापन के समय रोम-साम्राज्य में वही कुलीनवर्ग अत्यन्त योग्य एवं समर्थ था। पीटर और आगस्टस दोनों ने ही अपने-अपने साम्राज्य के कुलीनवर्ग से एक व्यापक प्रशासनिक संरचना (structure) का निर्माण करने के लिए सामग्री ली किन्तु दोनों के उद्देश्य भिन्न थे। जहाँ पीटर ने पुरानी चाल के सामन्तो को पाश्चात्य प्रणाली के कुशल प्रशासक बनने पर बाध्य किया वहां आगस्टस ने सिनेटरो को सहभागी के रूप में ग्रहण किया, कुछ इसलिए नही कि उसे उनकी सेवाओं की

आवश्यकता थी, बल्कि इसलिए कि वह इस सहभागिता को उस दुर्गति के विरुद्ध एक बीमा समझता था जो जबर्दस्ती हटा दिये गये भूतपूर्व शासक-वर्ग के अपमानित सदस्यों के हाथों उसके पूर्ववर्ती जूलियस सीजर को भोगनी पड़ी थी। जिन विरोधात्मक समस्याओ का सामना आगस्टस और पीटर महान् को करना पडा वे ऐसी किंकर्तव्यविमूढ़ कर देने वाली है कि एक साम्राज्य के निर्माता को प्राक्-साम्राजीय कुलीनवर्ग के सघर्ष मे ला खडा करती हैं। यदि कुलीनवर्ग योग्य है, तो वह सम्राट की सेवा को अपनी शान के खिलाफ समझकर नाराजी जाहिर करता है, इसके विपरीत यदि कुलीनवर्ग अयोग्य है, तो जो एकाधिकारी (डिक्टेटर) उनको अपनी सेना मे नियुक्त करता है उसे शीघ्र ही पता चल जायगा कि उसके हथियार की अहिंसकता उसकी धार के भोथर हो जाने से बराबर हो गयी है।

साम्राज्य के पहिले का कुलीन वर्ग ही एकमात्र ऐसा सामान नही था जिसे साम्राज्य-निर्माता अपनी नागरिक सेनाओ मे भरती करने के लिए चाहते थे। यदि यही तक बात होती तो इन बड़े आदमियो से कर्नलो का एक ऐसा दल बनता जो बिना किसी रेजीमेण्ट के होता। तब वकीलो एव दूसरे पेशे के आदमियो से निर्मित मध्यम वर्ग की आवश्यकता पडती जिसके सदस्य रेजीमेण्टी अफसरो के समकक्ष होते। इसके बाद भी सामान्य सैनिको की तरह छोटे स्थानो के लिए साधारण आदमियो की जरूरत पडती। कभी-कभी किसी सार्वभौम राज्य के निर्माता एक ऐसे वर्ग की सेवाए ग्रहण करने की सौभाग्यपूर्ण स्थिति मे होते थे जो अपने देश की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए पहिले से ही अस्तित्व मे आ चुका होता था। जबतक यूनाइटेड किंगडम (इग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, आयरलैण्ड) के प्रशासनिक इतिहास को जरा ही पहिले बीते अध्याय की पार्श्वभूमि मे रखकर न देखा जाय तबतक ब्रिटिश भारतीय सिविल सर्विस की प्रगति और उपलब्धियो को समझना कठिन होगा।

"१८३३ ई. के बाद कानून द्वारा कारखानो का निरीक्षण शुरू हुआ। यह एक नये प्रकार की नागरिक सेवा (सिविल सर्विस) के विकास की एक स्थिति थी' · रिवाज के स्थान पर विज्ञान को स्थापित करने मे बेथम के उत्साह तथा प्रशासन के बारे मे उसके इस विचार का कि वह एक 'प्रवीण व्यापार' (skilled business) है इस मामले मे पूर्णत सन्तोषजनक परिणाम हुआ। उसकी प्रेरणा से इगलैण्ड ने एक ऐसे कर्मचारी-मण्डल का निर्माण किया जिसने अपने काम मे प्रशिक्षण एव स्वतत्रता का समावेश किया। वह आग्ल जस्टिस आव पीस के समान नही था; नये 'नागरिक सेवक' का ज्ञान था। वह फरासीसी इण्टेण्डेण्ट की भाति भी नहीं था, क्योकि उनकी तरह केवल वह सरकार-द्वारा बनाया प्राणी नही था। अग्रेज जनता ने शिक्षित आदमियो का ऐसी शर्तों पर उपयोग करना सीखा जिनसे उनकी स्वतत्रता तथा आत्मसम्मान की रक्षा हुई। उस समय इस शिक्षित वर्ग का मुख्य कार्य नवीन (औद्योगिक) जगत् की अव्यवस्था पर सर्च लाइट फेकना था। दूषणो को प्रकट करने और योजनाए बनाने मे वकीलों, डाक्टरो, वैज्ञानिको और साहि-

त्यिकों ने जो भाग लिया उससे आकर्षित हुए बिना रिफार्म बिल पास होने के बाद आने वाली पीढ़ी के इतिहास का अध्ययन कोई नही कर सकता।"[१]

ऐसी थी मध्यम वर्ग के पेशेवर प्रशासको की वह नयी विरादरी जिसने भारत की ओर प्रयाण किया। अगले किसी अध्याय मे, दूसरे सन्दर्भ मे, हम उनकी सफलता और उनकी सीमाओ, दोनो, के बारे मे विचार करेंगे।

एक उजड़े, असगठित एवं श्रान्त विश्व की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए अपने को उत्तरदायी मानकर नयी सिविल सर्विस का निर्माण करने मे आगस्टस ने जो सफलता प्राप्त की, उसकी समता १५० वर्ष पहिले सिनाई जगत् मे किये गये हान ल्यू पैंग के काम से की जा सकती है। स्थायित्व की दृष्टि से विचार करने पर इस सिनाई किसान का कार्य रोमन श्रमिक के बहुत आगे निकल जाता है। आगस्टस की प्रणाली अपनी सृष्टि के बाद सातवी शती मे नष्ट-भ्रष्ट हो गयी जबकि ल्यू पैंग की प्रणाली, कम से कम, निरन्तरता के सूत्र के साथ चलती हुई १९११ ई तक कायम रही।

रोमी सामाजिक सिविल सर्विस का दोष यह था कि पुराने कुलीन वर्ग एवं सम्राट की तानाशाही के बीच जो झगड़ा था उसका असर इस पर भी पड़ा था। आगस्टस ने समझौता करके उस झगड़े को किसी तरह रफा-दफा कर दिया था किंतु भरा नहीं। फिर उसमे एक-दूसरे से त्रिलग की हुई दो प्रकार की सौपानिक संस्थाएं (hierarchies) थी और दो एक-दूसरे से बिलकुल भिन्न आजीविकाए भी थी; सिनेटर और सिनेटर से इतर दोनों प्रकार के सिविल सर्वेण्ट (नागरिक सेवक) अपने-अपने ढंग और रास्ते पर चलते थे। ईसाई सवत् की तीसरी शती मे जब प्रशासनिक उत्तरदायित्व के सब पदों से सिनेटर श्रेणी को हटा दिया गया तभी जाकर यह झगड़ा खत्म हुआ। किन्तु इस समय तक स्थानीय स्वायत्त शासन के ह्रास के कारण काम इतना बढ गया था कि डायोल्केटियन को विवश होकर इम्पीरियल सिविल सर्विस (साम्राजिक नागरिक सेवा) के स्थायी कर्मचारियो मे बहुत ज्यादा वृद्धि करनी पड़ी। रंगरूटो के लिए जो सामाजिक मानदण्ड आवश्यक था उसे इस विशेष परिस्थिति में नीचा कर दिया गया। इस और हान वंश की सिविल सर्विस के इतिहास दोनो के बीच का वैषम्य बड़ा ही शिक्षाप्रद है। वहा सामाजिक प्रतिष्ठा या छोटे-बड़े का ध्यान किये बिना जीविका एवं सेवा का द्वार योग्यता के लिए शुरू से ही खुला हुआ था; सम्राट ने स्वय १९६ ईसा पूर्व में एक अध्यादेश जारी कर प्रान्तीय सरकारी अधिकारियो को आज्ञा दी कि वे सार्वजनिक (सरकारी) सेवा के लिए उम्मीदवारों को योग्यता के आधार पर चुनें और उन्हे राजधानी सिर्फ इसलिए भेजें कि केन्द्रीय सरकार के अधिकारी उन्हे नियुक्त या अस्वीकार भर कर सकें।

जब हान ल्यू पैंग के उत्तराधिकारी हान ऊती (राज्यकाल १४० ईसा पूर्व से ८७ ईसा पूर्व तक) ने निश्चय किया कि उम्मीदवारो से जिस योग्यता की आशा की

[१] हैमण्ड, जे. एल, एण्ड बारबरा : दि राइज आव माडर्न इण्डस्ट्री (लन्दन, १९२५, मेथुएन) पृष्ठ २५६-५७

आती है वह, कन्फ्यूशश संप्रदाय की प्राचीन साहित्य-शैली में पुनर्लेखन की कुशलता तथा कन्फ्यूशश संप्रदाय के विद्वानों के लिए सन्तोषजनक उनके दर्शन को समझाने की योग्यता है तब इस नयी सिनाई सिविल सर्विस ने एक निश्चित रूप धारण कर लिया। इस प्रकार दूसरी शती ईसा-पूर्व की कन्फ्यूशियन विचारधारा को बड़े कौशल के साथ साम्राज्य-शासन का भागीदार बना दिया गया। इसे देखकर स्वयं कन्फ्यूशश विस्मित हो जाते किन्तु यह निर्जलीकृत (dehvdrated) अर्थात् नीरस राजनीतिक दर्शन भी एक सघबद्ध पेशेवर जीवन-प्रणाली के लिए उससे ज्यादा प्रभावशाली प्रेरणा का काम करता था जितना डायोल्केटियन के युग में यूनानी जगत् की साहित्यिक पुरातनपन्थी संस्कृति देती थी। वह चाहे जितना विद्यादंभी रहा हो किन्तु उसने एक पारंपरिक सदाचार तो दिया ही। सिनाई नागरिक सेवकों के प्रतिरूप रोमनो मे इसी एक बात की कमी थी।

जहा हान साम्राज्य और रोमी साम्राज्य ने अपनी-अपनी सिविल सर्विस अपने ही सामाजिक और सास्कृतिक उत्तराधिकार से निर्मित की वहा अपनी समस्या की प्रकृति के कारण पीटर महान को ऐसा कुछ करने का मौका नही मिल सका। १७१७—१८ ई. मे उसने नवीन पाश्चात्य प्रशासन-प्रणाली मे प्रशिक्षित करने के लिए अनेक प्रशासनिक महाविद्यालयो की स्थापना की। स्वीडन के युद्धबन्दियो को प्रशिक्षक के काम के लिए फासा गया और रूसी शिक्षार्थियो को प्रशासन-प्रशिक्षण के लिए कोनिग्सबर्ग भेजा गया।

जहा भी साम्राज्य की सिविल सर्विस का गठन चेतनापूर्वक विजातीय संस्थाओं की नकल पर किया जाता है, वहां लोगों के प्रशिक्षण के लिए विशेष प्रबन्ध करने की आवश्यकता पडती ही है। किन्तु थोडी-बहुत मात्रा मे इस प्रकार की आवश्यकता सभी तरह की सिविल सर्विस के लिए पडती है। इंकाई (Incaie), एकेमीनियाई रोमी तथा ओथमानी साम्राज्यो मे सम्राट का निजी परिवार ही साम्राज्य-सरकार की गाडी के पहिये की नाभि और प्रशासको का प्रशिक्षण विद्यालय था। इस पारिवारिक शिक्षण विद्यालय का काम बहुधा बालभृत्यो (pages) के दल का निर्माण कर या दैनिक शर्तों पर आदमियो को रखकर पूरा कर लिया जाता था। कुजको में स्थित इंका के सम्राट के दरबार मे शिक्षण के लिए नियमित पाठ्यक्रम था और बीच-बीच मे जाच-परख भी होती रहती थी। हैरोडोटस के कथनानुसार एकेमीनियाई साम्राज्य मे सब खानदानी फारसी बच्चो को ५ साल की उम्र से २० साल की उम्र तक सम्राट के दरबार मे शिक्षा दी जाती थी। यह शिक्षा अश्वारोहण, बन्दूक चलाने और सत्यकथन, केवल तीन विषयो मे होती थी। ओथमान दरबार ने अपने प्रारंभिक दिनो मे ब्रूसा मे बालभृत्यों के शिक्षण की व्यवस्था की थी और जब सुलतान मुराद द्वितीय (राज्यकाल १४२१—५१ ई) ने तात्कालिक राजधानी एड्रियानोपुल मे राजकुमारो के लिए एक स्कूल खोला तबतक वह व्यवस्था चल ही रही थी। मुराद द्वितीय के उत्तराधिकारी सुलतान मुहम्मद द्वितीय (राज्यकाल १४५१—८१ ई.) ने एक नवीन मार्ग ग्रहण किया और अपनी सिविल सर्विस मे उस्मानली मुसलिम सामन्तों के बच्चों को नही बल्कि ईसाई दासों को—यहा तक कि पाश्चात्य ईसाई राज्यों के युद्धबन्दियों

तथा पादशाह के अपने ही पूर्वी सनातनी ईसाई प्रजाओ से 'उपहार' मे प्राप्त बच्चों तक को—भर्ती किया । इस विचित्र संस्था की चर्चा हम इस ग्रन्थ के किसी पिछले अध्याय मे कर भी चुके हैं ।

इस प्रकार जब ओथमन पादशाहो ने जान-बूझकर अपने निजी दास परिवार को तेजी के साथ बढते हुए साम्राज्य के शासन के लिए साधन रूप में इस्तेमाल कर लिया और स्वतंत्र उस्मानलियो को उससे सचमुच बहिष्कृत कर दिया, तब रोमन सम्राटो ने सीजर के परिवार का ऐसा ही उपयोग करने को विवश होकर, साम्राज्य शासन मे मुक्त लोगो के कार्य-व्यापार को सीमित करने के उपाय किये । प्रारंभिक दिनों मे रोमन साम्राज्य के प्रशासन मे विशेषत. केन्द्रीय सरकार मे इन मुक्त आदमियो का बडा जोर था । सीजर की गृहस्थी मे स्थित पाच प्रशासकीय कार्यालय तो साम्राज्य के मत्रालय का रूप धारण कर चुके थे । किन्तु उन पदों पर भी जो परंपरा से मुक्त हुए आदमियो के लिए सुरक्षित-से थे, किसी मुक्त व्यक्ति के लिए रहना राजनीतिक दृष्टि से असभव हो गया । ज्यों ही वे प्रमुख स्थान पर पहुचते या उनका पता लगता कि वे निकाल दिये जाते थे । क्लाडियस एव नीरो के इन 'मुक्त हुए' (freedmen) मत्रियो के निरंकुश शक्ति-प्रदर्शन एव स्वेच्छाचार का परिणाम यह हुआ कि फ्लेबियन एव उनके उत्तराधिकारियो के समय मे सब प्रमुख पद एक-एक करके इक्वेस्ट्रियन आर्डर (अश्वारोही सरदारो के एक व्यावसायिक वर्ग) को हस्तान्तरित कर दिये गये ।

इस प्रकार रोमी सिविल सर्विस के इतिहास मे दास निम्न वर्ग एव सिनेटर कुलीन वर्ग दोनो के स्थान पर इक्वेस्ट्रियन अर्थात् व्यवसायी वर्ग की क्षमता बढ़ गयी तथा जिस कुशलता और ईमानदारी से इक्वेस्ट्रियन नागरिक सेवकों (सिविल सर्वेंट्स) ने अपने कर्त्तव्यो का पालन किया उसे देखते हुए अपने प्रतिस्पर्धियो पर उनकी विजय के औचित्य मे शका नही रह जाती । एक वर्ग का यह निष्क्रमण, जो प्रजातात्रिक शासन की पिछली दो शतियों मे शोषण, कृषि-कर और सूदखोरी से अत्यन्त धनी और शक्तिमान् हो गया था, शायद आगस्टसीय साम्राज्य-प्रणाली की सबसे अधिक उल्लेखनीय विजय है । इसी प्रकार ब्रिटिश भारतीय नागरिक सेवको (सिविल सर्वेट्स) की भरती भी व्यावसायिक वर्ग से ही हुई थी । उनकी सेवा का आरभ भी एक व्यावसायिक कम्पनी के रूप में हुआ था जिसका प्रयोजन अर्थ-लाभ से था । घर से इतनी दूर, प्रतिकूल जलवायु मे नौकरी करने मे उनकी मूल प्रेरणा यही थी कि व्यापार-द्वारा अपना भी कुछ निजी लाभ कर लेगे या सभव हुआ और किस्मत खुल गयी तो खजाना जमा कर लेगे । और जब वह ईस्ट इण्डिया कम्पनी, एक महत्त्वपूर्ण सरल सैनिक विजय-द्वारा ध्वस्त मुगल साम्राज्य के सबसे धनवान् प्रान्त मे प्रभुत्व-सम्पन्न सस्था के रूप मे बदल गयी (भले नाम में वैसी न हो) तो थोडे दिनो तक कम्पनी के नौकर अपने निजी लाभ के लिए तेजी के साथ धन बटोरने की छीन-झपट मे उसी बेशर्मी के साथ लग गये जैसी रोमन इक्वाइटो (सामन्तो) ने उससे कही ज्यादा लम्बी अवधि तक प्रदर्शित की थी । फिर भी रोमी की भाति ही इस ब्रिटिश उदाहरण में भी, लुटेरे अवाछनीय व्यक्तियो का दल ऐसे सरकारी सेवको की एक संस्था मे परिवर्तित कर दिया गया जिनका प्रेरणा-

केन्द्र अब व्यक्तिगत लाभ नही रह गया था और जिन्होंने असीम राजनीतिक सत्ता का दुरुपयोग किये बिना उसका इस्तेमाल करना सीखने को अपने सम्मान का प्रश्न बना लिया।

भारत मे ब्रिटिश प्रशासन के स्वभाव मे यह शुभ परिवर्तन अंशतः इसलिए हुआ कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने अपने सेवको को उनके कन्धो पर आ पडी नयी राजनीतिक जिम्मेदारियो को वहन करने के लिए शिक्षण देने का निर्णय किया। अपनी प्रशासन-सेवा में नियुक्ति के परिवीक्षकों (probationers) के लिए कम्पनी ने १८०६ ई. मे हर्टफोर्ड कैसिल नामक एक कालेज खोला जो तीन वर्षों बाद हेलीबरी मे स्थानांतरित कर दिया गया। इस कालेज ने अपने जीवन के ५२ वर्षों मे एक ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया। भारत का शासन कम्पनी के हाथ से सम्राट के हाथ मे चले जाने के कुछ ही समय पहिले, १८५३ ई. मे, पार्लमैण्ट ने भविष्य मे इस सेवा के लिए, प्रतियोगिता परीक्षा द्वारा भरती करने का निश्चय किया। इस निर्णय के कारण यूनाइटेड किंगडम के विश्वविद्यालयो एव तथाकथित पब्लिक स्कूलो (जिनसे निकलने वाले विद्यार्थी ही प्राय दोनो प्राचीन आग्ल विश्वविद्यालयो मे जाते थे) जैसी गैर-सरकारी संस्थाओ के लिए भी इस सर्विस का दरवाजा खुल गया। १८५७ ई. में हेलीबरी कालेज बन्द कर दिया गया। इसके जीवन के बावन वर्षो में रगबी के डा. अर्नाल्ड आये और चले गये किन्तु जिन सब बातो को लेकर उनके जीवन का निर्माण हुआ था वे सब समान मन वाले शिक्षको-द्वारा समस्त पब्लिक स्कूलों मे प्रचारित कर दी गयी। उन्नीसवी शती के उत्तरार्द्ध मे आने वाला औसत सिविल सर्वेण्ट स्कूल एव विश्वविद्यालय मे प्रशिक्षित हो चुका होता था। यह प्रशिक्षण एक विशेष प्रकार की विद्वत्ता का शिक्षण होता था जिसमे पाश्चात्यो के दृष्टिकोण के अनुसार 'प्राचीन' (क्लासिकल) भाषाओं और साहित्यों का ज्ञान तथा एक ऐसे ईसाई दृष्टिकोण का विकास करना शामिल था जो कुछ अस्पष्ट एव अरूढिवादी होते हुए भी दृढ हो। यदि हम इस नैतिक एव बौद्धिक प्रशिक्षण के साथ उस सिनाई कन्फ्यूशियन शास्त्रीय साहित्य के शिक्षण को समानान्तर उदाहरण के रूप मे ग्रहण कर लें जिसकी अपेक्षा बीस सदियो पूर्व स्थापित होने पर भी उस जमाने के चीनी सरकारी सेवको से की जाती थी तो यह सिर्फ एक कल्पना की ही बात न होगी।

अब हम इस बात पर विचार करें कि सार्वभौम राज्यों ने, अपने प्रयोजन के लिए जिन साम्राजिक नागरिक सेवाओ का निर्माण किया था उनसे मुख्य लाभ किन्हें हुआ ? निश्चय ही सबसे ज्यादा एव स्पष्ट लाभ उठाने वाले इन साम्राज्यों के वे उत्तराधिकारी राज्य थे जिनमें ऐसी कीमती विरासत का उपयोग करने की बुद्धि थी। इनकी सूची से हम पश्चिम के रोमी साम्राज्य के उत्तराधिकारी राज्यो को निकाल देते है। इन्होंने साम्राजिक सिविल सर्विस से कुछ ज्यादा शिक्षा नही ग्रहण की, बल्कि उसे छिन्न-भिन्न कर दिया। इससे ज्यादा सबक उन्होंने चर्च से लिया क्योकि वे उसी के अनुगामी हो गये थे। किन्तु हम देखते हैं कि यह चर्च स्वय ही रोमी सिविल सर्विस का एक लाभानुभोगी था। लाभानुभोगी उत्तराधिकारी राज्यो की सूची को पूर्ण किये बिना

भी इन पंक्तियों के लिखते समय, यह कहा जा सकता है कि हाल में ही बने हुए भारतीय गणराज्य तथा पाकिस्तान भारतीय ब्रिटिश सिविल सर्विस के लाभानुभोगी हैं।

किन्तु सबसे महत्त्वपूर्ण लाभानुभोगी चर्च ही रहे हैं। हम देख चुके हैं कि ईसाई चर्च का सौपानिक संघटन किस प्रकार रोमी साम्राज्य के सेवक-मण्डल के आधार पर बना। इसी प्रकार का आधार थीबास स्थित अमोन-रे के प्रधान पुरोहित के तत्त्वावधान मे 'पैन-इजिप्टिक' (मिस्रसमर्थक) चर्च ने मिस्र के नवीन साम्राज्य से प्राप्त किया। जरथुस्त्र संप्रदाय के लिए सासानी साम्राज्य ने इसी प्रकार का आधार प्रस्तुत किया। अमोन-रे के प्रधान पुरोहित की सृष्टि थीबा के फैरो (Theban Pharoah) का प्रतिबिम्ब है, जरथुस्त्री प्रधान मोबद सासानी शाहशाह के समकक्ष है और पोप में उत्तर-डायोक्लेटियन रोमी सम्राट से समानता पायी जाती है। लौकिक प्रशासनिक सगठनो ने चर्च की उससे कही घनिष्ठ सेवा की, जितनी उसके अपने सांघटनिक ढाचों द्वारा हुई है। प्रशासनिक सगठनो ने उनके दृष्टिकोण एव उनकी विशिष्ट प्रकृति को भी प्रभावित किया था। कुछ ऐसी भी घटनाए मिलती है जिनमे ये बौद्धिक और नैतिक प्रभाव न केवल उदाहरण-द्वारा बल्कि एक व्यक्ति के, जिनमे वे मूर्तिमान् हो उठे थे, लौकिक सेवा से ईसाई पन्थ की सेवा में स्थानान्तरित हो जाने के रूप में प्रकट हुए।

जिन तीन ऐतिहासिक व्यक्तियो ने, पश्चिम मे कैथलिक चर्च के विकास को निर्णायक मोड दिया है वे लौकिक रोमी साम्राजिक सिविल सर्विस से ही चर्च मे आये थे। एम्ब्रोसियस (जीवनकाल लगभग ३४०—९७ ई.) एक ऐसे नागरिक सेवक का पुत्र था जो अपने पेशे के सर्वोच्च शिखर पर पहुच चुका था। भावी सन्त एम्ब्रोसे भी अपने पिता के पद-चिह्नों का अनुसरण करता हुआ लीगूरिया प्रान्त एव रोमीलिया का गवर्नर हो गया था। सहसा ३७४ ई मे जन-प्रोत्साहन की एक लहर ने उसकी इच्छा जाने बिना ही, विश्वसनीय सरकारी सेवाकार्य से हटाकर उसे मिलन के धर्माध्यक्षीय अधिकार क्षेत्र (Episcopal See) मे घसीट लिया। कैसियोडोरस ने (जीवनकाल ४९०-५८५ ई) अपनी लम्बी आयु का प्रथम भाग बादशाह थियोडोरिक आस्ट्रोग्रोथ की सेवा मे रोमी (रोमन) इटली का प्रशासन करते हुए व्यतीत किया। अपने उत्तरकालीन जीवन मे इटली में स्थित अपनी एक ग्राम्य सम्पत्ति को उसने सन्यासियो के आश्रम मे परिवर्तित कर दिया जो मौण्ट कैसिनो स्थित सेंट बेनेडिक्ट के आश्रम का पूरक था। सेंट बेनेडिक्ट का अनुगमन करने वाले सन्यासियो का, जो ईश्वर के प्रेम मे डूबे खेतो मे कठोर शरीर-श्रम करते थे, यदि आरभ मे एक ऐसे कैसियोडोरस स्कूल से ससर्ग न होता जो समान आदर्शों से अनुप्राणित हुआ था और जिसमे उन्हें गूढ विश्वासपूर्ण प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थो एवं धर्मपुरोहितो की पुस्तकों की प्रतिलिपि करने का घोर मानसिक श्रम करना पड़ता था, तो वे विकासमान पाश्चात्य ईसाई समाज के लिए वह सब न कर पाते जो उन्होने किया। जहां तक ग्रीगोरी महान (जीवनकाल लगभग ५४० ई से ६०४ ई.) का सम्बन्ध है, बहुत दिनों तक नगर-शासनाधिकारी (Praefectus Urbi) के रूप मे लौकिक सरकारी सेवा करने के बाद उन्होंने नौकरी छोड़ दी और

कैसियोडोरस के उदाहरण का अनुकरण करते हुए, रोम के अपने पैतृक महल में एक संन्यासी आश्रम खोल दिया और अपनी आशा एव इच्छा के विपरीत, साधु-मार्ग ग्रहण कर पोपप्रणाली के निर्माताओ मे से एक हो गये। इन महान नागरिक सेवको मे से हर एक ने चर्च की सेवा मे वास्तविक शान्ति एव विश्राम प्राप्त किया तथा अपने सिविल सर्विस के जीवन मे प्राप्त कुशलताए एवं परम्पराएं चर्च की सेवा मे ले आये।

नागरिकताए ·

चूंकि सार्वभौम राज्य प्राय: अनेक प्रतियोगी ग्राम्य-राज्यों को बलात् मिलाकर बनाया जाता है, स्वभावत उसे शासक एव शासित के बीच फैली एक चौडी खाई के साथ जीवन का आरभ करना पड़ता है। इस खाई के एक ओर साम्राज्य निर्माण करने वाला समुदाय होता है, जिसमे पूर्ववर्ती युग के प्रतियोगी स्थानीय समुदायों के शासकों के बीच रह-रहकर अपने अस्तित्व के लिए होते रहने वाले लम्बे सघर्ष से बच रहे प्रभुताशील अल्पमत के प्रतिनिधि होते हैं, दूसरी ओर एक पराजित जनता पडी होती है। यह भी एक सामान्य बात है कि प्रभावशील ढग पर मताधिकार-प्राप्त अश, पराधीन बहुमत से भरती किये गये रंगरूटो के फलस्वरूप, समय बीतने के साथ-साथ अपेक्षाकृत बडा होता जाता है। किन्तु यह क्रम इस सीमा तक चला जाय कि शासक और शासित के बीच का प्रारभिक भेद पूरी तरह से मिट जाय, ऐसा बहुत ही कम होता है।

हां, एक उल्लेखनीय अपवाद ऐसा मिलता है जिसमे सार्वभौम राज्य की स्थापना के चौथाई शती के अन्दर ही समस्त जनता को मताधिकार-युक्त करने के कार्य मे सफलता प्राप्त हुई। यह उदाहरण सिनाई (चीनी) जगत् का है। दूसरे छ ग्राम्य-राज्यो को पराजित करके जिस विजयी प्रतियोगी त्स-इन द्वारा, २३०–२२१ ईसा-पूर्व में सिनाई सार्वभौम राज्य की स्थापना हुई थी, उसकी प्रभुता का तब अन्त हो गया जब २०७ ईसा-पूर्व मे हान ल्यू पैंग द्वारा त्स-इन शासक की राजधानी हसीन-याग पर कब्जा कर लिया गया। इस सिनाई सार्वभौम राज्य की समस्त जनसख्या के राजनीतिक मताधिकार प्राप्त करने की तिथि १९६ ईसा-पूर्व है। यहा यह कहने की जरूरत नही है कि राजनीतिक सफलता के कारण कुछ एक झटके मे सिनाई समाज का आधारभूत आर्थिक एव सामाजिक ढाचा बदल नही गया; वह समाज एक लघु सुविधाप्राप्त, शासक वर्ग का समर्थन करने वाले कर-दाता कृषकसमूह के रूप मे आगे भी बना रहा, किन्तु इतना जरूर हुआ कि तब से सरकारी सिनाई स्वर्ग मे जाने वाला रास्ता सचमुच सामाजिक वर्गों का विचार किये बिना योग्यता के लिए खुल गया।

बहुत अधिक समय तक कार्यशील ऐतिहासिक शक्तियों द्वारा जो सयोगकारी प्रभाव उत्पन्न होता है, निश्चय ही वह किसी एक कानून का निर्माण कर सबको एक-सी वैध मर्यादा प्रदान कर देने मात्र से नहीं पैदा किया जा सकता। भारत के ब्रिटिश राज्य मे यूरोपियनो, यूरेशियनो एवं एशियाइयों को, या इंडीज के स्पेनी साम्राज्य में यूरोपियनो, क्रियोलों (Creoles) और 'इंडियनो' को एकसी मर्यादा प्रदान कर देने और दोनों मामलों मे सबके एक ही मुकुट (सम्राट) की प्रजा होने पर भी शासक

एवं शासित में जो सामाजिक खाई चली आ रही थी वह कुछ बहुत कम नहीं हुई। इसका एक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण उदाहरण केवल रोमी साम्राज्य के इतिहास मे ही मिलता है, जहा एक समय का सुविधाप्राप्त प्रभुताशाली अल्पमत धीरे-धीरे अपनी पूर्ववर्ती प्रजाओं के समूह में मिलाकर सफलतापूर्वक समाप्त कर दिया गया और इस प्रकार आरम्भ में जो खाई थी वह पट गयी। फिर यहां भी राजनीतिक समानता का महत् तत्त्व रोमी नागरिक को वैधानिक मर्यादा प्रदान करने मात्र से नही प्राप्त हो गया। २१२ ई. मे कराकल्ला का राज्यादेश प्रचारित होने के बाद से ही रोम साम्राज्य के सब मुक्त पुरुष निवासी, कुछ थोड़े अपवादों को छोड़, रोमी नागरिक हो गये किन्तु तब भी जीवन की यथार्थताओं को विधि-साधर्म्य तक लाने के लिए अगली शती मे एक राजनीतिक एवं सामाजिक क्रान्ति की आवश्यकता हुई ही।

प्रिंसिपेट[1] के युग मे जिस राजनीतिक समत्व की ओर रोमी साम्राज्य बढ़ा जा रहा था और जहा वह डायोक्लेटियन के समय मे पहुच गया, उसका अन्तिम लाभानुभोगी निश्चय ही कैथोलिक ईसाई चर्च था। इस कैथोलिक ईसाई चर्च ने रोमन साम्राज्य से द्वैध नागरिकता की महती धारणा उधार ली। यह एक वैधानिक युक्ति थी जिसके द्वारा संकुचित निष्ठाओ की निन्दा किये बिना या स्थानीय प्रथाओं का उल्लघन किये बिना ही एक व्यापक समुदाय की सदस्यता के लाभो का उपभोग किया जा सकता था। प्रिंसिपेट के ढांचे के अन्दर ही ईसाई चर्च बढा और प्रिंसिपेट से शासित रोमी साम्राज्य में रोम के विश्वनगर के सभी नागरिक (महानगर मे यथार्थत निवास करने वाले कुछ लोगो को छोडकर) किसी ऐसी स्थानीय म्युनिसिपैलिटी या नगरपालिका के भी नागरिक होते थे जो रोमी राजनिकाय (body politic) के अन्तर्गत होते हुए भी एक स्वायत्त शासन-प्राप्त नगर-राज्य होती थी और जिसमें नगर-राज्य स्वायत्त शासन का परपरागत यूनानी रूप ही चलता था तथा इस स्थानीय मातृभूमि का अपनी सन्तति के प्रेम पर परंपरागत अधिकार एवं प्रभाव होता था। इसी रोमी धर्मनिरपेक्ष नमूने पर विकासमान एव विस्तारशील ईसाई पुरोहित वर्ग ने एक ऐसे संघटन एव सयुक्त भावना का निर्माण किया जो एक साथ ही स्थानीय एवं व्यापक दोनो थी। जिस चर्च के प्रति ईसाई निष्ठा रखता था, वह एक नगर विशेष का स्थानीय ईसाई समुदाय भी था और साथ ही वह कैथोलिक ईसाई समाज भी था जिसके आलिंगन मे ये सब स्थानीय चर्च एक-सी रीति और सिद्धान्त का पालन करने के कारण समा जाते थे।

[1] **अर्थात् प्राक् डायोक्लेटियन साम्राज्य, जिसे आगस्टस ने स्थापित किया था। आगस्टस 'प्रिंसेप्स' की उपाधि धारण करता था जिसका अर्थ था—'सदन (सिनेट) का नेता'।**

७. सार्वभौम चर्च (धर्मसंघ)

सभ्यताओं के साथ सार्वभौम चर्चों के सम्बन्ध विविध धारणाएँ

१. चर्च : नासूर के रूप मे

हम देख चुके है कि जब सभ्यता का क्षय हो जाता है और उसके बाद सकट-काल आता है तब उसमे बहुधा सार्वभौम चर्च का जन्म होता है और वह आगामी सार्वभौम राज्य के राजनीतिक ढाचे के अन्दर अपने हाथ-पाव फैलाता है। इस अध्ययन के पिछले किसी अध्याय मे हमने यह भी देखा है कि सार्वभौम राज्यो-द्वारा चलायी जाने वाली सस्थाओ से मुख्य लाभ उठाने वाले सार्वभौम चर्च ही रहे हैं, इसीलिए यह कोई आश्चर्यजनक बात नही है कि सार्वभौम राज्य के नायकगण, जिनके भाग्य का सूर्य अस्त हो रहा हो, उसी राज्य की छाती पर एक सार्वभौम चर्च की वृद्धि देखना पसन्द न करे। इस कारण साम्राज्य-शासन और उसके समर्थको की दृष्टि में चर्च राज्य के ह्रास के लिए उत्तरदायी एक नासूर (कैंसर) के रूप मे दिखायी पडता है।

रोम साम्राज्य के पतन को लेकर ईसाई सवत् की दूसरी शती के अन्तिम भाग मे सेलसस ने इसी प्रकार का लाछन लगाया था। तब से पश्चिम मे, जहा साम्राज्य मौत की घडिया गिन रहा था, बराबर उसमे वृद्धि ही होती गयी। इस विरोधी भावना का विस्फोट ४१६ ई. मे साम्राजिक रोम के गैलिक (फरासीसी) पुजारी और कट्टर व्रात्य (pagan) रूतीलियस नेमेतियनस की निम्नलिखित कविताओं मे, जो उसने मरुद्वीप को ईसाई सन्यासियो की बस्ती के रूप मे बदलते देखकर लिखी थी, मिलता है—

> **"ज्यों ही हम आगे बढ़े द्वीप वह दीख पड़ा**
> **सागर के बीच खड़ा दीन-हीन वेश में,**
> **संकुल जनों से जो, ज्योति की उपेक्षा कर**
> **'संन्यासी' बने हुए यूनानी नाम धर**
> **क्योंकि वे चाहते हैं निभृत में रहना,**
> **कोई ध्यान दे न सके जिससे उनके कार्य पर।**
> **भाग्य के वरदान उन्हें भीत करते हैं**
> **और वे डरते हैं उसके दुःख-शोक से।**
> **कैसा आश्चर्य है, वेदना से छूटने को,**

वेदना का जीवन ग्रहण ये करते हैं।
दूषित मस्तिष्क का कैसा उन्माद यह
पाप-भीति-हेतु जो समस्त पुण्य-
पन्थ का त्याग कर देते हैं।"[१]

अपनी यात्रा समाप्त करने के पूर्व रूतीलियस को दूसरे द्वीप मे इससे भी दु ख-जनक दृश्य देखने पड़े। वही द्वीप जिसने एक दिन उसके एक देशवासी को मुग्ध कर लिया था—

"गोर्गो खड़ा है देखो सागर के मध्य में
धोतीं तरंगें तुंग उसके चरण-तल
पीसा और साइरनस खड़े हैं दोनों पार्श्व मे
चट्टानी चोटियों से आंखें फेर लेता है
यद्यपि वे स्मारक हैं पिछली विपत्ति के।
जीवित मरण का वरण किया था यहीं
मेरी जाति के एक पागल युवक ने।
उच्च वंश, धन-धान्य, परिणय के सूत्र सब
भूल, उन्माद मे पृथिवी को छोड़कर
मिथ्या विश्वासवश आया था छिपने।
और उस अभागे दभी मानव ने सोचा झूठ,
दैवी स्फुलिंग है दरिद्रता मे जलता।
निर्दय कशाघात अपने ही जीवन पर,
इतने किये कि क्रुद्ध देव भी न करते।
तन-मूर्छाकारी मदिरा से भी हीन है,
सम्प्रदाय यह जो मन मूर्छित कर देता है।"[२]

इन पक्तियो मे उस प्रात्य अभिजात वर्ग की भावनाए बोल रही है जो रोम-साम्राज्य के विनाश का कारण हेलेनी (यूनानी) पन्थ की परपरागत उपासना के त्याग मे देखता था।

एक अस्तगत रोमन साम्राज्य और एक अभ्युदयशील ईसाई चर्च के बीच इस विच्छेद ने एक ऐसा सवाल खडा कर दिया जिसने न केवल समकालीन लोगो स प्रत्यक्ष सम्बन्धित जनो की, बल्कि काल की अत्यधिक चौडी खाई के पार, दूर की घटनाओ की चिन्ता करने वाली पीढी की भावनाओ को भी आन्दोलित कर दिया। जब गिबन ने अपने वक्तव्य मे लिखा—"मैने बर्बरता और धर्म की विजय-कथा कही

[१] रूतीलियस नेमेतियनस, सीव 'दे रेदितु सुओ' (De Reditu Suo) भाग १ पंक्ति ४३९-४६। डा जी एफ. सवेज आर्मस्ट्रांग-कृत तथा १६०७ ई. में 'बेल' लन्दन-द्वारा प्रकाशित अंग्रेजी अनुवाद से हिन्दी अनुवादक-द्वारा अनूदित।

[२] वही, पंक्तियां ५१५-२६

है", तब उसने अपने महत् ग्रन्थ के ७१ अध्यायों को न केवल नौ शब्दो में संक्षिप्त तथा घनीभूत करके रख दिया वरन् अपने सेल्सस एवं रूतीलियस के पक्ष मे होने की घोषणा भी कर दी। जैसा कि उसने देखा, एन्तोनाइन-युगीन यूनानी इतिहास का सास्कृतिक शिखर सोलह शतियों के उस कालान्तर के इस पार तक अपना सिर उठाये हुए खड़ा था और उसकी दृष्टि मे एक सास्कृतिक द्रोणी का प्रतिनिधित्व करता था। इसके सहारे गिबन के दादा-परदादाओ की पीढी ने एक दूसरे पर्वत की ऊपरी ढलान पर चढने और उस पर पाव जमाने में सफलता प्राप्त की जिस पर से यूनानी अतीत की जुड़वां चोटिया अपने सम्पूर्ण गौरव के साथ एक बार पुनः दिखायी पडी।

यह दृष्टिकोण, जो गिबन के ग्रन्थ में सन्निहित है, बीसवी शती के एक मानव-विज्ञानी (anthropologist), जिनका अपने क्षेत्र मे काफी ऊचा स्थान है, द्वारा भी बडी स्पष्टता और तीव्रता के साथ प्रकट किया गया है :

"महीयसी माता का धर्म, जिसमें अनगढ़ बर्बरता तथा आध्यात्मिक प्रेरणाओं का अद्भुत संगम था, समान प्राच्य धर्मों की बहुसंख्या में से एक था, जो ब्रात्यवाद के उत्तरकाल में सारे रोम साम्राज्य में फैल गया था और यूरोपीय प्रजाओं को जीवन के विजातीय आदर्शों से सतृप्त (saturate) करके प्राचीन सभ्यता के संपूर्ण ढांचे पर कुठाराघात करता था।

"यूनानी और रोमी समाज का निर्माण इस धारणा पर हुआ था कि व्यक्ति समुदाय के और नागरिक राज्य के अधीन है। चाहे इस संसार मे हो या परलोक में हो वह व्यक्ति की सुरक्षा के ऊपर राष्ट्रमण्डल (कामन-वेल्थ) की सुरक्षा को प्रधानता देता था और इसे मानव कर्म का सबसे बड़ा उद्देश्य मानता था। बचपन से ही इस निःस्वार्थ आदर्श के अनुसार प्रशिक्षित होने के कारण नागरिक अपना जीवन लोक-सेवा में व्यतीत करते थे और सबके सामान्य हित के लिए प्राण-त्याग करने को तैयार रहते थे और यदि कभी वे इस महत् त्याग से हट जाते थे तो यह समझते थे कि अपने देश के हित पर निजी हित को प्रधानता देकर उन्होंने अत्यन्त नीचता और हीनता का कार्य किया है। प्राच्य धर्मों के फैल जाने के बाद यह सब बदल गया क्योंकि उन धर्मों ने आत्मा को ईश्वर के प्रणिधान में ले जाने और इस प्रकार उसकी निरतिशय मुक्ति को ही मानव जीवन का एकमात्र ध्येय बताया। ये ऐसे उद्देश्य थे जिनकी तुलना मे राज्य की समृद्धि, क्या अस्तित्व तक, का कुछ महत्त्व नहीं रह गया। इस स्वार्थपूर्ण एवं अनैतिक सिद्धान्त का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि अपने आध्यात्मिक संवेगों पर अपने विचार केन्द्रित करने के लिए भक्त जनसेवा से अधिकाधिक दूर हटता गया। इसीलिए उसने अपने अन्दर इहलौकिक जीवन के प्रति तिरस्कार का भाव भी पैदा किया क्योंकि इसे वह एक महत्तर एव सनातन जीवन के लिए तैयारी के रूप में ग्रहण करता था। पृथिवी के प्रति अवज्ञा एवं तिरस्कार तथा स्वर्ग के ध्यान में उन्मद आनन्द से भरे सन्त एवं संन्यासी सर्वसाधारण की दृष्टि में, मानवता का सर्वोच्च आदर्श बन गये।

उन्होंने अपने सामने से उस देश-भक्त और नायक का पुराना आदर्श हटा दिया जो अपने को भूलकर जीता है और अपने देश के हित के लिए मरने को तैयार रहता है। जिनकी आंखें स्वर्ग के स्वर्ण-बादलों पर उभरती हुई प्रभु की नगरिया पर लगी थीं उन्हें स्वभावत पार्थिव नगर सूना एवं तिरस्करणीय-सा लगता था।

"इस प्रकार गुरुत्व का केन्द्र, कहना चाहिए कि, वर्तमान से एक भावी जीवन की ओर स्थानान्तरित हो गया। इसके कारण परलोक का जो भी लाभ हुआ हो किन्तु इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इस परिवर्तन से इस लोक की बहुत ज्यादा हानि हुई। राजनिकाय में व्यापक विघटन आरंभ हो गया। राज्य और कुटुम्ब के बन्धन शिथिल हो गये। समाज का ढांचा उसके व्यक्तिगत तत्त्वों के रूप मे द्रवित होने लगा। फलत: वह बर्बरता की गोद में जा गिरा क्योंकि सभ्यता केवल नागरिकों के क्रियात्मक सहयोग एवं अपने निजी हितो को सर्वजनहित के अधीन करने की उनकी रजामन्दी पर निर्भर है। लोगों ने अपने देश की रक्षा करने और अपनी श्रेणी को जारी रखने से भी इन्कार कर दिया। अपनी आत्मा और दूसरो की आत्माओं का बचाव करने की चिन्ता में वे भौतिक जगत् को, जिसे वे पाप का मूल समझते थे, अपने चतुर्दिक नष्ट होने के लिए छोड़कर सन्तुष्ट हो गये। यह सम्मोहन हजार साल तक चलता रहा। जब मध्ययुग समाप्त हो गया तो रोमी विधि (रोमन ला), अरस्तू के दर्शन तथा प्राचीन कला एवं साहित्य का पुनरुत्थान हुआ और यूरोप पुनः जीवन एव आचरण के स्वजातीय आदर्शों की ओर लौट आया। सभ्यता की जय-यात्रा में लम्बे विश्राम का अन्त हो गया। अन्त में प्राच्य आक्रमण की धारा हट गयी और अबतक वह भाटे में पड़ी है।"[1]

जब १६४८ ई. मे ये पंक्तिया लिखी जा रही है तब भी उसका भाटा—ह्रास चल ही रहा है और उनका यह लेखक आश्चर्य कर रहा है कि यदि उपर्युक्त शिष्ट विद्वान आज अपनी पुस्तक 'गोल्डेन बाउ' का उनके चतुर्थ सस्करण के लिए पुन:शोधन करते होते तो जीवन एवं आचरण के स्वजातीय आदर्शों पर यूरोप के लौट आने के उन कतिपय मार्गों के विषय मे क्या कहते जो उनके उत्तेजक अनुच्छेदों के लिखने के बाद इन इकतालीस वर्षों के बीच अपनाये गये हैं। यह सिद्ध हो चुका है कि फ्रेजर और उनके जैसे विचार रखने वाले कुछ समकालिक व्यक्ति बुद्धि-सगत एव सहिष्णु विचार के उन पाश्चात्य नवव्रात्यो (Neo-Pagan) की अन्तिम पीढी के लोग थे जो पहिली बार ईसाई सवत् की पन्द्रहवी शती मे इटली मे आविर्भूत हुई थी। १९५२ ई. तक वे अपने दानवी, सवेगी, उत्तेजनापूर्ण उन उत्तराधिकारियो-द्वारा निकाल बाहर कर दिये

[1] फ्रेजर, सर जे जी. . 'दि गोल्डेन बाउ' एडोनिस, ऐटिस, ओसिरिस : 'स्टडीज इन दि हिस्ट्री आफ ओरियण्टल रिलीजस' द्वितीय संस्करण (लन्दन १९०७ मैकमिलन) पृ. २५१-५३। एक पाद-टिप्पणी में ग्रन्थकार स्वीकार करते हैं कि प्राच्य धर्मों का प्रचार प्राचीन सभ्यता के पतन का एकमात्र कारण न था।

गये जो एक धर्मनिरपेक्ष पाश्चात्य समाज की पंखहीन गहराइयों से निकलकर आये थे। फ्रेजर के शब्द एक दूसरी ही प्रतिध्वनि के साथ अल्फ्रेड रोजेनबर्ग की भाषा मे फिर से कहे गये। फिर भी यह तथ्य तो रह ही जाता है कि रोजेनबर्ग और फ्रेजर दोनों गिबन वाले एक ही प्रतिपाद्य विषय की व्याख्या कर रहे थे।

इस अध्ययन के एक पूर्व भाग मे हम पहिले ही विस्तारपूर्वक बता चुके है कि वस्तुतः यूनानी समाज का पतन उस पर ईसाई धर्म या अन्य किसी प्राच्यधर्म (जो ईसाई धर्म के असफल प्रतिद्वन्द्वी थे) का आक्रमण होने के बहुत पूर्व हो चुका था। जांच-पडताल से हम इस निष्कर्ष पर पहुच चुके है कि आज तक तो महत्तर धर्मों द्वारा किसी भी सभ्यता की मृत्यु का अपराध नही बन सका। हा, ऐसे दुखद काण्ड की आगे सभावना की जा सकती है। इस सवाल के अन्तराल मे पैठने के लिए हमे अपनी जाच-पडताल स्थूल विश्व से उठाकर सूक्ष्म विश्व तक, अतीत इतिहास के तथ्यो से हटाकर मानव प्रकृति के शाश्वत तत्वो तक ले जानी पडेगी।

फ्रेजर का कथन यह है कि उच्च धर्म निश्चित एव असाध्य रूप से समाज-विरोधी (Anti-social) होते है। सभ्यता में जिन आदर्शों पर दृष्टि रहती है उनसे हटकर जब वह उच्च धर्मों द्वारा प्रतिपादित आदर्शों की ओर मुड़ जाती है तब क्या उन सामाजिक मूल्यो को क्षति पहुचना आवश्यक है जिनके लिए खडे होने का दावा सभ्यताए करती हैं? क्या आध्यात्मिक और सामाजिक मूल्य एक दूसरे के विपरीत और विरोधी हैं? यदि वैयक्तिक आत्मा की मुक्ति को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप मे ग्रहण किया जाता है तो क्या सभ्यता की सरचना (Structure) की अवज्ञा होती है? फ्रेजर इन प्रश्नो का स्वीकारात्मक उत्तर देते है। यदि उनका उत्तर ठीक मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह होगा कि मानव जीवन एक ऐसी दुखान्त घटना है जिससे उद्धार सभव ही नही है। परन्तु इस अध्ययन के लेखक की राय मे फ्रेजर का उत्तर मिथ्या था और वह उच्च धर्मों तथा मानवात्मा दोनो की प्रवृत्तियो की गलतफहमी पर आधारित था।

मनुष्य न तो एक आत्मत्यागिनी पिपीलिका है, न एक असामाजिक साइक्लाप्स[1] है। बल्कि वह एक सामाजिक प्राणी (Social Animal) है जिसके व्यक्तित्व को दूसरे व्यक्तित्वो के ससर्ग से ही व्यक्त एव विकसित किया जा सकता है। इसको उलटकर कहना चाहे तो यो कह सकते है कि एक व्यक्ति के सम्बन्ध-सूत्रो से दूसरे व्यक्ति के सम्बन्ध-सूत्रो के बीच उभयनिष्ठ भूमि के अतिरिक्त समाज और कुछ नही है। उन व्यक्तियो के कर्म-समूह के अतिरिक्त उसका कुछ भी अस्तित्व नही है जो केवल समाज के बीच ही जीवित रह सकते हैं। फिर अपने सगी मानवो के साथ व्यक्ति का जो सम्बन्ध होता है उसमे और ईश्वर के साथ उसके सम्बन्ध के बीच कोई असामंजस्य नही है। आदिकालीन मानव की आध्यात्मिक दृष्टि मे कबीले के आदमी और उसके देवों के बीच स्पष्टतः एक अन्योन्याश्रय भाव दिखायी पड़ता है जो कबीले

[1] यूनानी पुराण में वर्णित काना देवता। —अनु०

वालों को एक-दूसरे से विलग करने के स्थान पर दोनों के बीच परम शक्तिमान् बन्धन का काम करता है। आदिकालीन समाज मे ईश्वर के प्रति मनुष्य के कर्तव्य और पड़ोसी के प्रति उसके कर्तव्य के बीच इस सामंजस्य की क्रियाशीलता का अनुसन्धान एवं चित्रण स्वय फ्रेजर ने किया है। और जब लोगो ने देवरूपधारी सीजर की पूजा मे समाज के लिए एक नये बन्धन की उपलब्धि करनी चाही तो विघटनशील सभ्यताओं ने भी मानो गवाही देकर इसकी पुष्टि की। तब क्या फ्रेजर के कथनानुसार 'महत् धर्मों' ने इस सामंजस्य को विरोध के रूप मे बदल दिया? सिद्धान्त एव आचरण दोनो मे इसका उत्तर नकारात्मक ही मिलता है।

यदि हम आरभ मे चले तो पूर्वसिद्ध दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तित्वो की आध्यात्मिक कर्मशीलता के अभिकर्ता (Agent) के अलावा और किसी रूप मे कल्पना भी नही कर सकते और आध्यात्मिक कर्मशीलता का एकमात्र सभव क्षेत्र आत्मा (Spirit) एव आत्मा के सम्बन्धो के बीच ही फैला दिखायी पडता है। ईश्वर-प्राप्ति के प्रयत्न मे भी आदमी एक सामाजिक कर्म का ही सपादन करता है, और यदि ईश्वर का प्रेम इस दुनिया मे ही ईसा-द्वारा मानव जाति के उद्धार के रूप मे क्रियान्वित हो सकता है तब मनुष्य का उस ईश्वर के कम से कम असदृश होने के प्रयत्नो मे, जिसने मानव को अपने ही प्रतिबिंब रूप मे निर्मित किया, अपने मानव बन्धुओं के उद्धार के लिए अपना बलिदान करने के ईसा के उदाहरण का अनुगमन तो करना ही चाहिए। इसलिए ईश्वर की खोज मे अपनी आत्मा की रक्षा करने और पडोसी के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करने के बीच जो परस्पर-विरोध दिखायी पडता है, वह मिथ्या है।

"तू अपने ईश्वर प्रभु को अपने समस्त हृदय, अपनी समस्त आत्मा और अपने समस्त मन से प्रेम करेगा" यह प्रथम एव महान् धर्मादेश (Commandment) है। पर दूसरा भी इस जैसा ही है "तू अपने पडोसी को अपनी ही भांति प्यार करेगा?"[१]

इससे यह सिद्ध होता है कि पृथिवी के प्रति रणोद्यत चर्च मे रहकर ऐहिक समाजो के श्रेष्ठ सामाजिक उद्देश्यो की पूर्ति उस ऐहिक समाज की अपेक्षा कही अधिक सफलता-पूर्वक की जा सकती है जो इन उद्देश्यो की प्राप्ति का प्रयत्न सीधे-सीधे करता है और जिसके पास इससे ऊचा और कोई उद्देश्य नही है। दूसरे शब्दों मे, इस जीवन मे वैयक्तिक आत्माओ का आध्यात्मिक विकास अपने साथ उससे कही ज्यादा सामाजिक प्रगति ले आयेगा जितनी किसी दूसरे तरीके से प्राप्त की जा सकती है। बुनियन के रूपक (पिलग्रिम्स प्राग्रेस) मे तीर्थ यात्री (Pilgrim) को 'लघु प्रवेश-द्वार', जो सदाचरण के जीवन मे प्रवेश का मार्ग था, तबतक नही मिलता जबतक उसने उसके बहुत आगे क्षितिज पर 'उज्ज्वल प्रकाश'[२] को नही देखा। और यहा हमने जो कुछ ईसाई धर्म के

[१] मत्ती, बाईस, ३७-३९

[२] इसमें सन्देह नहीं कि 'पिलग्रिम्स प्राग्रेस' के प्रथम भाग में क्रिश्चियन और उसके

विषय में कहा है वही अन्य महत् धर्मों के विषय में भी कहा जा सकता है। एक वर्ग के रूप में, ईसाई धर्म का सार सभी धर्मों का सार है यद्यपि विभिन्न आंखों में ये विभिन्न वातायन—जिनसे होकर ईश्वरीय ज्योति मानवात्मा में प्रकाशित होती है—अपनी पारदर्शिता की मात्रा में या अपने द्वारा फेंकी गयी किरणों के चुनाव में कुछ अन्तर रख सकते हैं।

जब सिद्धान्त आचरण और मानव व्यक्तित्व के स्वभाव में निकलकर इतिहास के तथ्यों के क्षेत्र में प्रवेश करते है तो हमारा यह सिद्ध करने का काम कि धर्मात्मा लोगों ने वस्तुतः समाज की व्यावहारिक आवश्यकताओं की पूर्ति की है, बडा सरल हो जाता है। यदि हम असीमी के सन्त फ्रांसिस या सन्त विंसेण्टपाल या जान वेस्ले या डेविड लिविंगस्टोन के उदाहरण देते है तो शायद उस वस्तु को प्रमाणित करने के लिए हमें अपराधी करार दिया जा सकता है जिसे प्रदर्शन की कोई आवश्यकता नहीं है। इस-लिए हम मानवों के उसी वर्ग को लेंगे जिसको सामान्यतः नियम के अपवाद रूप में समझा और उपहास किया जाता है—मनुष्यों का ऐसा वर्ग जो 'ईश्वर के नशे में डूबे होने' के साथ ही 'समाज-विरोधी' भी माना जाता हो, जो धर्मिष्ठ एवं तिरस्कृत दोनों हो और जिस पर किसी सनकी की यह उक्ति लागू होती हो—'शब्द के सबसे बुरे अर्थ में एक भला आदमी', मतलब ईसाई वैरागी—जैसे अपने मरुस्थल में रहने वाले सन्त एन्तोनी या स्तम्भवासी सन्त साइमियन। इतना तो स्पष्ट ही है कि अपने को अपने सगी मानवों से पृथक् रखने में ये सन्त उससे बहुत बडी परिधि के साथ कहीं अधिक क्रियात्मक ससर्ग में आते थे जितनी बडी परिधि में लोग तब उनके निकट आते जब वे 'ससार-स्थित' होते और किसी दुनियावी पेशे में लगकर अपना जीवन व्यतीत करते। वे अपनी कुटिया में बैठे हुए भी ससार को उससे कहीं प्रभावशाली ढग पर हिला सके, जितना सम्राट अपनी राजधानी में बैठा हुआ उसे हिला सकता था। यह इसीलिए कि ईश्वर के साथ सान्निध्य स्थापित करके पवित्र हो जाने का उनका निजी साधनाभ्यास एक ऐसा सामाजिक कर्म भी था जो राजनीतिक स्तर पर की गयी किसी लौकिक

दो साथियों की तीर्थ-यात्रा एक ऐसी जीवन-यात्रा (Career) है जिसे हम पवित्र व्यक्तिवाद (Holy Individualism) कह सकते हैं, किन्तु दूसरे भाग में इस धारणा का संशोधन कर दिया गया है। और हम वहां ऐसे तीर्थयात्रियों का वृद्धिगत समुदाय देखते है जो न केवल अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर यात्रा कर रहे हैं वरन् जो रास्ते में एक-दूसरे के प्रति ऐहिक सामाजिक सेवाएं भी करते चलते हैं। इस विरोधाभास ने ही मोंस्योर नाक्स 'की रचना 'ज्यू द इस्पिरित' को जन्म दिया जिसमें वह प्रदर्शित करता है कि यद्यपि प्रथम भाग पवित्रवादी बुनियन की ही रचना है, दूसरा भाग ऐसे छद्म बुनियन की रचना है जिसके उपनाम के पीछे एक भक्त कैथोलिक महिला छिपी हुई है। —नाक्स, रोनाल्ड र० : 'एसेज इन सेटायर' (लन्दन, १९२८; शीड ऐण्ड वार्ड) अध्याय ७; 'दि आइडेंटिटी आफ सूड-बुनियन।'

सामाजिक सेवा से कहीं अधिक शक्ति के साथ मानवों को हिला सकता था।

"कभी-कभी यह भी कहा जाता रहा है कि पूर्वी रोमी (East Roman) का तापसिक आदर्श अपने समय के ससार से उसका अनुर्वर विनिवर्तन मात्र था।---भिक्षावाता जान (John' The Almsgiver) की जीवनी शायद इसका कुछ निर्देश कर सकती है कि क्यों कुस्तुनतुनिया (Byzantine)-निवासी सहानुभूति और आश्रय का पूर्ण विश्वास लिये, अपनी विपत्ति और आवश्यकता के समय सहृदयता एवं सान्त्वना के हित अपनी प्रेरणा से उस तपस्वी के पास गया? प्रारम्भिक बैजतियाई वैराग्य का एक महत्त्वपूर्ण अग सामाजिक न्याय के लिए उसकी तीव्र भावना और दीन तथा दलित लोगों के हित का समर्थन है।"[1]

२. चर्च : कीट-कोश के रूप मे

हमने इस विचार का खडन किया है कि चर्च ऐसे नासूर है जो सभ्यता की जीवित शिराओ को खा जाते है, फिर भी हम उद्धृत अनुच्छेद के अन्त में दिये गये फ्रेजर के इस मत से सहमत हो सकते है कि यूनानी समाज की अन्तिम अवस्था मे ईसाई धर्म की जो धारा इतनी तेजी के साथ बही थी वह पिछले जमाने मे बहुत क्षीण हो गयी और जो क्रिश्चियनोत्तर पाश्चात्य समाज (Post-Christian Western Society) इससे उद्‌भूत हुआ वह वैसा ही है जैसा प्राक्-रव्रीस्टीय यूनानी (Pre-Christian Hellenic) समाज था। इसके कारण चर्च एव सभ्यताओ के बीच के सम्बन्ध की एक दूसरी ही सभावित धारणा सामने आ जाती है। इस दृष्टिकोण को एक आधुनिक पाश्चात्य विद्वान ने निम्नलिखित अनुच्छेद मे प्रकट किया है—

"पुरातन सभ्यता नष्ट हो गयी थी ···दूसरी ओर, कट्टर ईसाइयों के लिए चर्च, यहूदी पादरी की भांति, जीवित एव मृत के बीच खडा था···जैसे इहलोक और परलोक की वस्तुओं के बीच की किसी वस्तु का द्योतक हो। वह ईसा का शरीर होने के कारण शाश्वत था—कोई ऐसी चीज जिसके लिए जिया और मरा जा सकता है। फिर भी वह उतना ही इस लोक में था जितना कि खुद साम्राज्य था। इस प्रकार चर्च के विचार ने एक ऐसे अमूल्य स्थिर-बिन्दु का निर्माण किया जिसके चतुर्दिक एक नयी सभ्यता धीरे-धीरे ठोस रूप ग्रहण कर सकती थी।"[2]

इस विचार से चर्चों का मुख्य प्रयोजन, समुदाय की प्रजातियों (species) को, जो सभ्यता के नाम से पुकारी जाती है, उस सकटपूर्ण राज्यान्तर-काल मे जीवन के एक मूल्यवान् कीटाणु की रक्षा करते हुए, जीवित रखना है जो उस प्रजाति के एक

[1] डान, ई. ऐंड बेनीज, एन. एच. : 'ग्री बैजटाइन सेंट्स' (आक्सफर्ड १९४८), ब्लैकवेल पृ० १९७-१९८।

[2] बर्किट, एफ.सी.: 'अर्ली ईस्टर्न क्रिश्चियैनिटी' (लन्दन १९०४, मरे) पृ० २१०-११।

नश्वर प्रतिनिधि के विनष्ट होने एवं दूसरे के जन्म लेने के बीच में आता है। इस प्रकार चर्च सभ्यताओं की जनन-प्रणाली का एक भाग बन जाता है और उस अण्ड, कीट-डिम्ब और कीट-कोश के रूप मे एक तितली से दूसरी तितली के बीच कार्य करता रहता है। इस अध्ययन के लेखक को यह स्वीकार करना पड़ा था कि इतिहास मे चर्चों की इस भूमिका के संरक्षकीय दृष्टिकोण से उसे बहुत वर्षों तक सन्तोष रहा है।[1] और अब भी उसका विश्वास है कि कीट-कोश (Chrysalis) के रूप मे उसके कार्य की धारणा, नासूर वाली धारणा के विपरीत, बहुत दूर तक ठीक है। किन्तु साथ ही उसका यह भी विश्वास हो चुका है कि चर्चों के बारे में यह बात केवल एक सत्यांश को प्रकट करती है। अब हमें इसी सत्यांश की परीक्षा करनी है।

यदि हम उन सभ्यताओ पर दृष्टि डालते हैं जो १९५२ ई० तक जीवित थी, तो हमे यह दिखायी पड़ता है कि उनमे से प्रत्येक की पार्श्व-भूमि में एक सार्वभौम चर्च अवश्य रहा है जिसके द्वारा वह पुरातन पीढी की किसी सभ्यता से सम्बद्ध थी। पाश्चात्य एवं सनातन ईसाई सभ्यताए, ईसाई चर्च के माध्यम-द्वारा यूनानी सभ्यता से सम्बद्ध थी। सुदूर पूर्वीय सभ्यता महायान द्वारा सिनाई (चीनी) सभ्यता से सम्बद्ध थी। इसी प्रकार हिन्दू सभ्यता हिन्दू धर्म द्वारा भारतीय (इण्डिक) सभ्यता से तथा ईरानी एव अरबी सभ्यताए इस्लाम के जरिये सीरियाई सभ्यता से सम्बद्ध थी। इन सभ्यताओ के पास कीट-कोश के रूप मे चर्च थे तथा विनष्ट सभ्यताओ के बचे हुए विविध जीवाश्म (Fossils), जिनकी चर्चा हम इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे कर चुके है, सब के सब ईसाई पौरोहित्यिक कवच के अन्दर सुरक्षित रहे। उदाहरण के लिए हम यहूदियो एवं पारसियों के नाम ले सकते है। ये जीवाश्म वस्तुत चर्च के ऐसे कीट-कोश थे जो अपनी तितलियो को जन्म देने मे असफल रहे।

हम आगे जिन उदाहरणो का सर्वेक्षण करने जा रहे हैं उनसे पता लगेगा कि जिस प्रक्रिया-द्वारा सभ्यता अपनी पूर्ववर्ती (सभ्यता) के साथ सम्बद्ध हो जाती है; कीट-कोश रूपी चर्च की दृष्टि से उसकी तीन अवस्थाए होती हैं जिन्हे हम गर्भाधानिक

[1] **आध्यात्मिक दृष्टि से संवेदनशील किसी प्राणी में यही विचार आत्मतृप्ति के स्थान पर एक विषण्ण भावदशा की सृष्टि करते हैं, "ज्यों ही प्राचीन (क्लासिकल) सभ्यता का पतन हुआ, ईसाई धर्म ईसामसीह का वह गरिमापूर्ण धर्म नहीं रह गया : वह विघटित होते हुए विश्व के लिए सामाजिक सीमेण्ट (मिलनकारी तत्त्व) के रूप में एक उपयोगी धर्म बन गया। इस प्रकार, अन्धकार युग के बाद पाश्चात्य यूरोपीय सभ्यता के पुनर्जन्म में उसने सहायता की। अबतक वह नाम के लिए ऐसे चतुर और अशान्त लोगों का धर्म बना हुआ है जो इसके आदर्शों के प्रति मौखिक आस्था प्रकट करना भी छोड़ते जा रहे हैं। जहां तक उसके भविष्य का सम्बन्ध है कौन भविष्यवाणी कर सकता है ?" बार्नेस, ई. डबल्यू., : 'दि राइज आव क्रिश्चियैनिटी' (लन्दन, १९४७, लॉगमैंस ग्रीन) पृ० ३३६।**

(conceptive), गर्भकालिक (gestative) एव प्रसवकारक (parturient) नाम दे सकते हैं। इन तीन अवस्थाओ को हम कालक्रमानुसार पुरातन सभ्यता की विघटनावस्था, राज्यान्तरकाल (interregnum) और नूतन सभ्यता का उद्भव कहकर भी पुकार सकते हैं।

सम्बद्धता की प्रक्रिया की गर्भाधानिक अवस्था तब शुरू होती है जब चर्च अपने चतुर्दिक फैले इहलौकिक परिवेश द्वारा प्राप्त सयोगो को ग्रहण कर लेता है। इस परिवेश का एक लक्षण यह होता है कि सार्वभौम राज्य अनिवार्यत उन अनेक संस्थाओं एव जीवन विधियों को निष्क्रिय बना चुका होता है जो अपनी विकासावस्था मे, और सकट काल मे भी, समाज का जीवनी-शक्ति देती थी। सार्वभौम राज्य का प्रयोजन है—प्रशान्ति। किन्तु उससे आगे होने वाली राहत की भावना शीघ्र ही नैराश्य-भावना से विजडित हो जाती है, क्योंकि जीवन अपने को किसी स्थान पर रोककर ही अपनी रक्षा नही कर सकता। ऐसी स्थिति मे एक उदीयमान चर्च प्रवाहहीन लौकिक समाज के प्रति वह सेवा करके स्वय अपना भाग्य निर्माण कर सकता है जिसकी उसे तुरन्त आवश्यकता है। वह मानव जाति की बद्ध शक्तियो के लिए नये स्रोतो का उद्घाटन कर सकता है। रोमन साम्राज्य मे—

"शल्यवाद पर ईसाई धर्म की विजय ने वक्ता को अलकृत वक्तृत्व के लिए नये-नये विषय और तार्किक को विवाद के लिए नये विचार दिये। इन सब बातों के भी ऊपर, उसने एक नया सिद्धान्त निकाला जिसके कार्यशील होने का अनुभव समाज के प्रत्येक भाग में किया गया। उसने गतिहीन समूहों को अन्दर से हिला दिया। उसने एक अमर्यादित साम्राज्य की जड जनता में तूफानी जनतन्त्र के तीव्र मनोभाव जगा दिये। धर्म-द्रोह के भय ने वह कर दिखाया जो उत्पीडन की भावना ने नहीं किया था। जो लोग एक अत्याचारी से दूसरे अत्याचारी के हाथ भेड़ो की तरह लिये-दिये जाने के अभ्यस्त थे, उन्हें उसने आन्दोलन में निष्ठा के साथ भाग लेने वाले आदमियों और दृढ़ विद्रोहियों के रूप में बदल दिया। वाणी के जो स्वर युगो से मौन थे, ग्रिगोरी के व्यासपीठ से गूज उठे। फिलिप्पी के मैदानो से जो भावना, जो प्रेरणा मर चुकी थी वह एथेनेसियस और एम्ब्रोसे में पुनः जीवित हो उठी।"[1]

इसमें जैसी वाग्मिता है, वैसा ही सत्य भी है किन्तु इसकी विषय-वस्तु वही दूसरी या 'गर्भकालिक' है। प्रथमावस्था ने, जिसमे विजय के पूर्व का सघर्ष था, सामान्य स्त्री-पुरुषो को एक महान बलिदान का हर्षोन्मादक अवसर प्रदान किया—वही अवसर जो सकट काल के निवारक के रूप मे रोमी साम्राज्य द्वारा अपने सार्वभौम राज्य की निर्जीव शान्ति थोपने के पूर्व उनके पूर्वजो के गौरव एवं दु.ख का कारण हुआ था। इस प्रकार 'गर्भाधानिक अवस्था' मे चर्च स्वय वह ऊर्जस्विता

[1] मेकाले, लार्ड · 'मिसलेनियस राईटिंग्स' मे 'इतिहास' (लन्दन, १८६०, लांगमैंस ग्रीन, २ भाग) भाग १, पृ० २६७

प्राप्त करता है जिसे राज्य न तो मुक्त कर सकता था, न जिसका उपयोग ही कर सकता था। फिर वह ऐसे नवीन स्रोतों की रचना करता है जिनके द्वारा लोग अपने को प्रकट कर सकते हैं। इसके बाद जो गर्भकालिक अवस्था आती है उसमे चर्च की कारंवाइयो मे अतिशय वृद्धि होती है। "ऐसे बहुत से आदमियों को, जो लौकिक प्रशासन में अपनी प्रतिभा के लिए कोई अवसर नही पा सके थे, वह अपनी सेवा मे ले लेता है। इस उदीयमान संस्था की ओर लोग खूब आकर्षित होते हैं और जिस गति से विघटनशील समाज का ह्रास एव पतन होता है उसी मात्रा में इसकी गति एवं विस्तार मे घटी-बढ़ी होती है। उदाहरण के लिए, विघटनशील सिनाई सम्यता मे यूरेशियन यायावरो-द्वारा पद-दलित पीत नद द्रोणी (Yellow River Basin) मे महायान को यांगत्सी द्रोणी की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त हुई, यागत्सी में तो वह बहुत दिनो तक प्रवेश ही नही कर पाया। यूनानी जगत् मे, चतुर्थ शती मे लातीनी रंग मे ढले हुए (लैटिनाइज्ड) प्रान्तवासी ईसाई धर्म में आ गये। यह घटना ठीक उस समय हुई जब सरकार का केन्द्र कुस्तुन्तुनिया चला गया, और सरकार ने पश्चिमी प्रान्तो को छोड ही दिया। विघटित होते हुए भारतीय जगत् मे हिन्दू धर्म की प्रगति के सम्बन्ध मे भी यही बात दिखायी देती है।

इस्लामी पुराण-कथाओ की एक विचित्र किन्तु अभिव्यक्तिमयी कल्पना मे कहा गया है कि पैगम्बर हजरत मुहम्मद ने एक मेढ़े या दुम्बे की शक्ल मे परिवर्तित होकर उस्तरे की धार के समान पतले एक पुल को बड़े विश्वासपूर्वक पार कर लिया था जो मुंह फाड़े हुए नरक (दोजख) की खाई के बीच से स्वर्ग तक पहुँचने का एक मात्र रास्ता था। इतिहास की वीरतापूर्ण स्थिति मे चर्च की उपमा इसी काल्पनिक घटना से दी जा सकती है। उस इस्लामी रूपक मे यह भी कहा गया है कि जिन नास्तिको या काफिरो ने खुद अपने पाव पर भरोसा करके इस साहसिक कार्य मे भाग लिया, वे निश्चित रूप से अगाध गर्त मे गिर गये। केवल वही मान-वात्माए उस रास्ते को पार कर सकी जिन्हे अपने पुण्य या निष्ठा के पुरस्कार-स्वरूप मेढ़े के बालो से सुन्दर किलनियों का रूप धारण कर चिपकने का अवसर दिया गया। जब रास्ता पार कर लिया गया तो चर्च की इस तारक सेवा की गर्भकालिक स्थिति समाप्त हुई और प्रसवावस्था आ गयी। अब चर्च और सम्यता के क्रिया-कलाप बिलकुल उलट जाते हैं और जिस धर्म ने गर्भाधानिक अवस्था मे पुरातन सम्यता से जीवनी शक्ति ग्रहण की थी और गर्भकालिक अवस्था में राज्या-न्तरकाल के तूफानों के बीच रास्ते को पार किया था वही अपने गर्भ मे अकुरित नवीन सम्यता को जीवन-शक्ति प्रदान करने लगता है। हम धर्म के तत्त्वावधान में इस सृजनात्मक शक्ति को लौकिक धाराओं मे सामाजिक जीवन के आर्थिक, राज-नीतिक एवं सास्कृतिक क्षेत्रो पर बहती हुई देखते हैं।

आर्थिक स्तर पर प्रसवकारी सार्वभौम चर्च ने नवीन निर्मित सम्यता को, जो सबसे आकर्षक और आज भी वर्तमान रिक्थ का दान किया था उसे समका-लिक पाश्चात्य जगत् के आर्थिक पराक्रम में देखा जा सकता है। जब एक नवीन

धर्म-निरपेक्ष समाज पाश्चात्य कैथोलिक ईसाई चर्च के अण्डकीट से लम्बे काल तक संघर्ष करने के बाद अपने को बाहर निकालने में समर्थ हुआ तब से चौथाई सहस्राब्दी बीत चुकी है फिर भी पाश्चात्य औद्योगिकी का अद्भुत एव दानवी उपकरण अब भी देखने में पाश्चात्य ईसाई आरण्यकवाद का एक गौण फल या उपसृष्ट सा लगता है। इस प्रबल भौतिक प्रासाद की मनोवैज्ञानिक नीव शरीर-श्रम के कर्तव्य एवं गरिमा मे निष्ठा मात्र थी---"परिश्रम सम्मानित है" (Laborare est orare)। यूनानी धारणा यह थी कि श्रम ओछा और हेय है, उससे यह क्रान्तिकारी अतिक्रमण कर लेना और उसे स्थापित कर देना सभव ही न होता यदि सन्त बेनेडिक्ट के आदेश से वह पवित्र न मान लिया गया होता। इसी नीव पर बेनेडिक्ट के सम्प्रदाय ने पाश्चात्य आर्थिक जीवन के कृषि-सम्बन्धी मूलाधार की स्थापना की थी, और इसी आधारिक कार्य ने सिस्टाशियन सम्प्रदाय को औद्योगिक अधिरचना (Superstructure) के लिए एक आधार दिया जिसे उनके विवेक-सचालित कर्म ने खडा कर दिया था। परन्तु जब इस "साधुनिर्मित टावर आव बेबेल" ने निर्माताओं के इहलौकिक पड़ोसियो के हृदयो मे लोभ उत्पन्न कर दिया और वह लोभ इस सीमा तक पहुच गया कि वे अपने को रोक न सके तब इस स्थिति का अन्त हो गया। सन्यासी आश्रमो की लूट ही आधुनिक पाश्चात्य पूजीवादी अर्थ-व्यवस्था के उद्भव का एक कारण थी।

जहा तक राजनीतिक क्षेत्र का सवाल है, इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे हम पोप-प्रणाली को एक ऐसे ईसाई लोकतत्र (Republica Christiana) की ढलाई करते देख चुके हैं जिसने मानव जाति को आश्वस्त कर दिया था कि वह एक साथ ही ग्राम-राज्य और सार्वभौम राज्य दोनो का लाभ उठाती हुई भी दोनों की हानियो से बची रह सकती है। धार्मिक राज्याभिषेक द्वारा स्वतत्र राज्यों की राजनीतिक मर्यादा को आशीर्वाद देकर पोपतंत्र (पेपैसी) राजनीति के जीवन मे पुनः वही अनेकता एवं विविधता ला रहा था जो यूनानी समाज की विकासावस्था मे बडी फलदायिनी सिद्ध हुई थी। इसके साथ ही जिस राजनीतिक अनैक्य एव विरोध के कारण यूनानी समाज का सर्वनाश हुआ था उसे दूर करने और नियत्रण मे रखने के लिए पोपतत्र ने सबके निर्णयो को अधिशासित करने के आध्यात्मिक अधिकार का दावा किया था। पोपतंत्र ने रोमी साम्राज्य का धर्मक्षेत्रीय उत्तराधिकारी होने के कारण ही यह दावा किया। एक धर्मनेता के पथ-प्रदर्शन में लौकिक ग्राम-राजाओं को मिल-जुलकर एक मे रहना था। कई शताब्दियों की परख और गलती के बाद यह राजनीतिक धार्मिक प्रयोग असफल हो गया। इस असफलता के कारणों के विषय में हम इस अध्ययन के पिछले किसी भाग में चर्चा कर चुके है। यहा तो प्रसवावस्था मे ईसाई चर्च ने जो भूमिका सपादित की उसी को याद रख लेना है और इसे भी स्मरण रखना है कि ब्राह्मण धर्माचारी वर्ग ने उदीयमान हिन्दू सभ्यता के राजनीतिक सगठन के लिए इसी प्रकार की भूमिका ग्रहण की थी। ब्राह्मणो ने राजपूत वंशो को इसी प्रकार विहित बना लिया जैसे ईसाई चर्च ने क्लोविस और पेपिन के प्रति किया था।

जब हम सनातन (कट्टर) ईसाई जगत् (आर्थोडाक्स क्रिश्चियेनडम) में ईसाई चर्च तथा सुदूर पूर्व में महायान ने जो राजनीतिक भूमिका संपादित की उसकी परीक्षा करते हैं, तब हम देखते हैं कि इन दोनो समाजों में चर्च का कार्य-क्षेत्र पूर्वगामी सम्यता के सार्वभौम राज्य के प्रेत का आवाहन कर सीमित कर दिया गया है—हान साम्राज्य में सुई एवं त' आंग के तथा सनातन ईसाई जगत् के मुख्य निकाय में रोमी साम्राज्य के पूर्व-रोमी (ईस्ट रोमन या बैजंतियाई) पुनरुत्थान के प्रेत द्वारा। सुदूर-पूर्वी समाज मे महायान ने अपने लिए एक नया स्थान पा लिया, जैसे अगल-बगल अस्तित्व रखने और एक ही जनता की आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले अनेक धर्मों तथा दर्शनों के समूह में एक वह भी हो। किंचित् संकोचपूर्वक वह सुदूर-पूर्वीय समाज के जीवन को आच्छादित करता रहा। सस्कृत मत-परिवर्तन-द्वारा कोरिया और जपान को सुदूर-पूर्वीय जीवन-प्रणाली मे लाने में भी उसकी देन है। उसने इस क्षेत्र मे जो काम किया उसकी तुलना पाश्चात्य कैथोलिक चर्च-द्वारा हंगरी, पोलैंड और स्केण्डे-नेविया को पाश्चात्य ईसाई तत्र मे खीच लाने से की जा सकती है। इसी प्रकार पूर्वी सनातन चर्च (ईस्टर्न आर्थोडाक्स चर्च) द्वारा रूस की धरती पर सनातन ईसाई सभ्यता का एक अंकुर रोपने के कार्य से भी उसकी तुलना हो सकती है।

जब हम उदीयमान सम्यताओं के प्रतिप्रसवकारी चर्चों की राजनीतिक देन से उनकी सास्कृतिक देन की ओर जाते है तो हम, उदाहरण-स्वरूप, देखते हैं कि महायान यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र से भगा दिया गया किन्तु वह सस्कृति के क्षेत्र में बडे प्रभावपूर्ण ढग से फिर जम गया। बौद्ध दर्शन की आदिकालीन विचारधारा मे जो कालजयी बौद्धिक क्षमता थी वह महायान को उत्तराधिकार-स्वरूप प्राप्त हुई थी। दूसरी ओर ईसाई धर्म का आरम्भ उसके अपने किसी तत्त्वज्ञान के बिना ही हुआ। इसलिए उसे अपना विश्वास यूनानी विचारधाराओं की विजातीय बौद्धिक शब्दावली मे सामने रखने की चतुराई करने को विवश होना पड़ा। पाश्चात्य ईसाई तंत्र मे यह यूनानी बौद्धिक मिश्र धातु बारहवीं शती मे अरस्तू के 'स्वागत' से और दृढ़ हो जाने के बाद अत्यधिक प्रबल हो उठी। विश्वविद्यालयो की स्थापना और विकास करके ईसाई चर्च ने पश्चिम की बौद्धिक प्रगति मे महत्त्वपूर्ण योग दिया किन्तु उसके सास्कृतिक प्रभाव की सबसे महती देन तो ललित कलाओ के क्षेत्र में थी। यह बात इतनी प्रत्यक्ष है कि इसके लिए किसी दृष्टान्त की आवश्यकता नही।

कीट-कोश के रूप मे चर्चों ने जिस भूमिका का अभिनय किया उसका सर्वेक्षण अब हमने पूरा कर लिया है किन्तु यदि हम किसी ऐसे ऊचे स्थान पर चढकर सिंहाव-लोकन कर सकें जहा से सभी सभ्यताएं एक दूसरे से अपने सम्बन्धों के साथ, देखी जा सकती हों तो हमें यह दिखायी देते देर न लगेगी कि केवल चर्च-रूपी अण्डकीट ही ऐसे माध्यम नही है जिनसे कोई सभ्यता अपनी पूर्ववर्ती के साथ सम्बद्ध होती है। एक ही उदाहरण ले : यूनानी समाज मिनोऊन सम्यता से सम्बद्ध था किन्तु मिनोऊन जगत् के अन्दर किसी चर्च के विकसित होने और यूनानी समाज के लिए चर्च-अण्डकीट प्रदान करने का कोई प्रमाण नही मिलता। यद्यपि प्रथम पीढ़ी की कतिपय सभ्यताओं

के आन्तरिक श्रमजीवियों मे उच्च धर्म का कोई-न-कोई आदिम रूप विकसित हुआ था (संभव है कि अन्य सभ्यताओ में भी विकसित हुआ हो और आधुनिक शोध को उसका ज्ञान न हो) किन्तु यह स्पष्ट है कि इन अतीत सूत्रों मे से कोई ऐसा नहीं था जो आगामी सभ्यता के लिए कुशल कीट-कोश का काम कर सके। इस प्रकार के जितने भी दृष्टान्त उपलब्ध है उनकी निरीक्षा करने से पता चलता है कि दूसरी पीढ़ी की कोई भी सभ्यता यूनानी, सीरियाई, भारतीय इत्यादि किसी चर्च के माध्यम-द्वारा अपनी पूर्ववर्ती सभ्यता से सम्बद्ध नही थी। जितने भी सार्वभौम चर्चों का हमें पता है वे सब दूसरी पीढी की सभ्यताओ के विघटित होते हुए सामाजिक निकायो के अन्तर्गत ही विकसित हुए थे। तीसरी पीढ़ी की कोई भी सभ्यता, यद्यपि उनमे से कई ध्वस्त हो गयी हैं और विघटित होती जा रही है (सभी के साथ ऐसा हो सकता है), सार्वभौम चर्चों की दूसरी फसल पैदा करने का विश्वसनीय प्रमाण नही दे पा रही है।

इसलिए हमारे सामने जो ऐतिसाहिक शृखला या मालिका है उसे हम निम्नलिखित रूप मे लिपिबद्ध कर सकते है :—

आदिकालीन समाज
प्रथम पीढी की सभ्यताए
दूसरी पीढ़ी की सभ्यताएं
सार्वभौम चर्च
तीसरी पीढ़ी की सभ्यताएं

इस सारणी को ध्यान मे रखते हुए अब हम इस सवाल पर विचार करने की स्थिति मे है कि चर्च सभ्यता की एक विशेष पीढी की उत्पादक सुविधाओ के अतिरिक्त भी कुछ हैं या नही हैं।

३. चर्च : समाज की महत्तर प्रजाति (स्पीशी) के रूप मे

(क) एक नया वर्गीकरण

अभी तक हमने यह मानकर काम किया है कि सभ्यताएं इतिहास मे नेतृत्व करती रही हैं और चाहे विघ्न (नासूर) रूप मे या सहायक (कीट-कोश) के रूप मे हो, चर्चों का स्थान अधीनता का या गौण रहा है। अब हम अपने दिमाग को इस सभावना की ओर खुला रखकर देखें कि चर्च नेता भी हो सकते हैं और सभ्यताओ के इतिहास की कल्पना तथा व्याख्या उनकी अपनी नियति के रूप में नहीं वरन् धर्म के इतिहास पर उनके प्रभाव के रूप मे की जानी चाहिए। यह विचार नूतन एव विरोधाभासपूर्ण मालूम होगा, परन्तु आखिर इतिहास को पाने-समझने का यही तरीका तो उस ग्रन्थ-समूह मे अपनाया गया है जिसे हम बाइबिल के नाम से पुकारते हैं।

इस विचार से हमे सभ्यता के मुख्य प्रयोजन के सम्बन्ध मे अपनी पूर्व-मान्यताओ में संशोधन करना पडेगा। अब हमें सोचना पडेगा कि दूसरी पीढ़ी की सभ्यताए इसलिए अस्तित्व मे नही आयीं कि अपने लिए सफलताए प्राप्त करें, न इसलिए जन्मीं

कि तीसरी पीढ़ी में भी अपने प्रकार का फिर से उत्पादन करे बल्कि वे केवल इसलिए अस्तित्व मे आयी कि पूर्णतः विकसित महत्तर धर्मों को जन्म लेने के लिए एक अवसर प्रदान करे। और चूंकि इन महत्तर धर्मों का जन्म मध्यकालिक सभ्यताओ के ध्वंस एवं विघटन के फलस्वरूप होता है इसलिए उनके इतिहासो के अन्तिम अध्यायो को— उन अध्यायो को जो उनके दृष्टिबिन्दु से असफलता की कहानी कहते है, महत्त्व का स्थान दे। इस विचार-प्रणाली के अनुसार हमे यह भी मान लेना होगा कि प्रारम्भिक वा आदिमकालीन सभ्यताए भी उसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए अस्तित्व मे आयी है, यद्यपि वे अपने उत्तराधिकारियो की तरह पूर्णत. विकसित महत्तर धर्मों को जन्म न दे सकी। उनके आन्तरिक श्रमजीवी वर्गों के अविकसित आदिम उच्च धर्म—तम्मुज एव ईशतर की उपासना तथा ओसिरिस एव ईसिस की उपासना—फूल-फल न पाये। फिर भी इन सभ्यताओ ने माध्यमिक या दूसरी पीढी की सभ्यताओ को जन्म देकर अपना जीवन-लक्ष्य (मिशन) पूरा कर लिया क्योकि इन माध्यमिक सभ्यताओं से ही बाद मे पूर्ण विकसित महत्तर धर्मों का उद्भव हुआ और प्रथम सभ्यताओ की अनगढ आदि-कालिक धर्म-सामग्री ने दूसरी पीढी द्वारा उत्पन्न महत्तर धर्मों के लिए प्रेरणा का कार्य किया।

इतना देख लेने पर आदिकालिक और माध्यमिक सभ्यताओ मे एक के बाद एक होने वाले उत्थान-पतन—दूसरे सन्दर्भ में देखे तो—एक लय के दृष्टान्त-जैसे लगते है जिसमे चक्र के क्रमिक आवर्तन से वह गाड़ी आगे बढती जाती है जिसे चक्र (पहिया) उठाये हुए है। यदि हम पूछें कि एक सभ्यता के चक्रावर्तन मे अधोगामी गति धर्मरथ को आगे बढाने का साधन या कारण क्यो होती है तो उसका उत्तर हमे इस सत्य मे मिलेगा कि धर्म एक आध्यात्मिक क्रिया है और आध्यात्मिक उन्नति एसचाइलिस द्वारा केवल दो शब्दो मे घोषित इस नियम के अधीन है—"हम पीडा से ही सीखते है।" यदि हम आध्यात्मिक जीवन की प्रकृति के इस सहज बोध को उस आध्यात्मिक प्रयास पर लागू करे जिसके परिणामस्वरूप ईसाई धर्म और उसके बन्धु महत्तर धर्म— महायान, इस्लाम एव हिन्दू धर्म—फूले-फले तो हम तम्मुज तथा अत्तिस, एडोनिस तथा ओसिरिस के भावोद्वेगो मे ईसा के भावोद्वेग की पूर्व झांकी पा सकते हैं।

यूनानी सभ्यता के ध्वस के परिणाम-स्वरूप जो आध्यात्मिक प्रसव-वेदना हुई उसी से ईसाई धर्म का जन्म हुआ था, किन्तु यह एक लबी कहानी का अन्तिम अध्याय था। ईसाई धर्म की जडें यहूदी एव जरथुस्त्रीय भूमि मे थी और वे जडें भी दूसरी दो माध्यमिक सभ्यताओं—बेबिलोनियाई और सीरियाई—के पिछले ध्वस से उद्भूत हुई थी। इसराइल एव जूडा के जिन राज्यो मे जूडाइज्म (यहूदी धर्म) के कूप-स्रोतों का पता चलता है, वे सीरियाई जगत् के परस्पर लडने वाले अनेक राज्यो मे से दो थे और इन ऐहिक राष्ट्र-मडलो का पतन एवं उनकी सम्पूर्ण राजनीतिक महत्त्वाकाक्षाओ की परिसमाप्ति ही ऐसे अनुभव थे जिनके कारण जूडा या यहूदी धर्म का जन्म हुआ और उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति 'पीडित सेवक' के उस शोकगीत[1] (elegy) मे हुई

[1] ड्यूटेरो-ईसाया के विविध पद, विशेषतः अध्याय ५३ के पद

जो एकेमीनियाई साम्राज्य की स्थापना के पूर्व सीरियाई सकटकाल के अन्तिम दिनों मे छठी शती ईसा-पूर्व लिखा गया था।

किन्तु इतने से भी हम कहानी के आरभ तक नहीं पहुंचते क्योंकि ईसाई धर्म की जूडियाई या यहूदी जड़ की भी अपनी मूसाई जड़ थी और इसराइल या जूडा के धर्म की यह पैगम्बर से पूर्व की अवस्था भी एक और पूर्ववर्ती लौकिक विपदा—मिस्र के उस 'नूतन साम्राज्य' के विध्वस—का परिणाम थी जिसके आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग मे इसरायली लोग उनकी अपनी ही परम्पराओ के अनुसार जबरन भर्ती किये जाते थे। इन्ही परम्पराओ मे कहा गया है कि उनके इतिहास के मिस्री काण्ड के पूर्व सुमेरी दीक्षा हो चुकी थी जिसमे एक सत्य ईश्वर से दैवी सन्देश पाकर अब्राहम ने अपने को विनष्ट सामाजिक नगर 'उर' से किसी प्रकार मुक्त किया। यह बात सुमेरी सभ्यता के विघटन काल के बीच मे किसी समय की है। इस प्रकार उस आध्यात्मिक प्रगति मे जिसकी परिणति ईसाई धर्म मे जाकर हुई, प्रथम पग इतिहासज्ञो को ज्ञात किसी न किसी सार्वभौम राज्य के पतन के साथ परम्परागत रूप से जुड़ा हुआ है। इस दृश्य भूमिका पर ईसाई धर्म एक ऐसे आध्यात्मिक विकास की चरम परिणति के रूप मे दिखायी पड़ता है जो एक पर एक आने वाले लौकिक सकटो के बाद भी न केवल जीवित रहा वरन् उनसे एक पुजीभूत प्रेरणा भी प्राप्त की।

इस दृष्टि से धर्म का इतिहास एकात्मक (Unitary) और प्रगतिशील दिखायी पडता है जब इसके प्रतिकूल सभ्यताओ के इतिहास अनेकताओं और पुनरावृत्तियो से पूर्ण हैं। काल-आयाम (Time-Dimension) का यह वैषम्य दिक्-आयाम (Space-Dimension) मे भी दिखायी पडता है। क्योंकि ईसाई धर्म तथा अन्य तीनों महत् धर्मों मे, जो ईसाई सवत् की बीसवी शती मे भी जीवित हैं, परस्पर उससे कही ज्यादा घनिष्ठ अनुरूपता है जो समवयस्क सभ्यताओ मे एक दूसरे के साथ थी। चूंकि महायान मे भी ईश्वर के प्रति वही दृष्टि थी जो एक आत्मोत्सर्गकारी त्राता (ईसा) मे थी इसलिए ईसाई धर्म और महायान मे एक दूसरे से बहुत ज्यादा अनुरूपता थी। जहा तक इस्लाम एव हिन्दू धर्म का प्रश्न है इनमे भी ईश्वरीय प्रकृति का अन्तर्दर्शन था जिसने उनको एक विशेष अर्थ एव उद्देश्य प्रदान किया था। इस्लाम ईश्वर के एकत्व का पुनःदृढीकरण था जबकि ईसाई धर्म इसके प्रतिकूल इस महत्त्वपूर्ण सत्य को, कम से कम ऊपर से देखने मे तो, दुर्बल करता था। हिन्दू धर्म ने मानवीय भक्ति के एक लक्ष्य के रूप मे ईश्वर के व्यक्तित्व की फिर से पुष्टि की। इसके आदिकालिक बौद्ध दर्शन मे इस व्यक्तित्व की प्रातिभासिक अस्वीकृति मिलती है। चारो महत् धर्म एक ही विषय-वस्तु के चार रूप या भेद थे।

किन्तु यदि ऐसा है तो फिर कम से कम जूडाई या यहूदी स्रोत से उद्भूत धर्मों, ईसाई मत और इस्लाम, मे उस दैविक ऐक्य के सम्बन्ध में मानव की झांकी कुछ दुर्लभ आत्माओ तक ही क्यो सीमित रही जबकि सामान्य दृष्टिकोण इसके प्रतिकूल था? जूडाई (यहूदी) महत् धर्मों में से प्रत्येक के प्रामाणिक दृष्टिकोण मे जो प्रकाश उसके निजी वातायन से आता था वही पूर्ण प्रकाश था और अन्य सब साथी

धर्म यदि अन्धकार में नही तो गोधूलि या झुटपुटे में ही बैठे हुए थे। इनमे से प्रत्येक धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय ने भी अपने साथी सम्प्रदायों के प्रति यही दृष्टिकोण बना लिया। इस प्रकार विविध सम्प्रदायो ने उसी को अस्वीकार कर दिया जो सर्वनिष्ठ था और एक दूसरे के दावे को न मानने के कारण ही नास्तिक को ईश्वर-निन्दा का अवसर मिल गया।

जब हम यह सवाल पूछते है कि क्या इस खेदजनक स्थिति के अनिश्चित काल तक चलते रहने की सभावना है तो हमे खुद अपने को याद दिलानी पडती है कि इस प्रसग मे "अनिश्चित काल" का अर्थ क्या है ? हमे इतना याद रखना चाहिए कि यदि मानव जाति अपनी नवाविष्कृत तकनीकों या प्राविधियो को ही इस ग्रह के प्राणिजीवन की समाप्ति कर देने मे नही लगाती तो मानवीय इतिहास अब भी अपने शैशव मे है और उसके अमरूय सहस्र वर्षों तक चलते रहने की सभावना है। इस सभावना के प्रकाश में धार्मिक ग्राम्यता वा सकीर्णता की वर्तमान अवस्था के अनिश्चित काल तक चलते रहने की बात वाहियात-सी मालूम होती है। या तो विविध सम्प्रदाय-निकाय (चर्च) और धर्म गुर्राते हुए एक दूसरे को तबतक नष्ट करते रहेगे जबतक कि उनमे से किसी का भी अस्तित्व शेष रह जायगा या फिर एक सग्रथित मानव जाति धार्मिक ऐक्य मे अपनी मुक्ति प्राप्त करेगी। हमे अब यह देखना है कि क्या हम, भले अस्थायी रूप से सही, उस भावी ऐक्य की प्रकृति की कल्पना कर सकते है ?

अपनी प्रकृति के ही कारण निम्न कोटि के धर्म स्थानीय होते है। वे कबीलों या ग्राम्य राज्यो के धर्म होते है। जब सार्वभौम राज्यो की स्थापना हो जाती है तब इन छोटे धर्मों का प्रयोजन समाप्त हो जाता है और विस्तृत क्षेत्रो मे बड़े-छोटे धर्म लोगो को धर्मान्तर-द्वारा अपने मे मिलाने की प्रतियोगिता करने लगते है। इस प्रकार धर्म व्यक्तिगत रुचि का विषय हो जाता है। इस अध्ययन मे हम एकाधिक बार यह देख चुके हैं कि किस प्रकार विविध धर्म उस पुरस्कार के लिए प्रतियोगिता मे शामिल हुए जिसे रोम साम्राज्य मे ईसाई धर्म ने जीतकर प्राप्त किया। यदि एक ही क्षेत्र मे—इस बार विश्वभर मे—अनेक धर्मों के धर्मोपदेशक धर्म-परिवर्तन की दिशा मे नवीन उत्साह से, फिर एक साथ काम करना शुरू कर देगे तो उसका परिणाम क्या होगा ? एकेमीनियाई, रोमी, कुशाण, हान एव गुप्त साम्राज्यों के इसी प्रकार के क्रियाकलाप के इतिहास देखने से मालूम पडता है कि ये परिणाम दो प्रकार के हो सकते हैं—या तो उनमे एक धर्म सब पर हावी हो जाता है या फिर प्रतियोगी धर्म एक दूसरे के साथ-साथ रहने के लिए राजी हो जाते हैं, जैसा कि सिनाई और भारतीय जगत् मे हुआ। ये दोनों परिणतियां एक दूसरे से उतनी भिन्न नही जितनी ऊपर से दिखायी पड़ती है क्योंकि विजयी धर्म प्राय: अपने प्रतियोगियों की प्रमुख विशेषताओ को अपनाकर ही विजय प्राप्त करते रहे हैं। विजयी ईसाई धर्म पन्थ मे साइबील एव ईसिस ने ही प्रभु की महिमामयी माता मेरी के रूप में अपने को फिर से व्यक्त किया है। इसी प्रकार मिथ्र एव सोल इन्विक्टस की ही वश-रेखा मे हम ईसा का युयुत्सु रूप देखते

हैं। इसी तरह विजयी इस्लाम के पन्थ मे एक निर्वासित ईश्वरावतार देव-रूप मे पूजित अली के आवरण मे पुन: दिखायी पडता है और निषिद्ध मूर्ति-पूजा खुद धर्म-सस्थापक द्वारा मक्का-स्थित काबा के सग-असवद की अन्धपूजा पुनः पवित्र कर दिये जाने के रूप मे अपने को फिर से दृढ़ कर लेती है। फिर भी इन दोनो वैकल्पिक परिणतियो में महत्त्वपूर्ण अन्तर है और पाश्चात्य रग मे रंगी बीसवी शती के जगत् के बच्चे अपने भविष्य के मामले मे उदासीन नही रह सकते।

तब किस परिणाम की आशा अधिक है ? जब जूडाई (यहूदी) मूल वाले महत् धर्मों का प्रसार हुआ तो उनमे बड़ी असहिष्णुता फैल गयी थी किन्तु जब भारतीय क्षेत्र मे भारतीय धर्मों की स्वाभाविक विशेषता का प्राधान्य था तो 'जिओ और जीने दो' ही सामान्य नियम था। इस विषय मे उत्तर का निर्णय महत् धर्मों के मार्ग मे आने वाले प्रतियोगियो की प्रकृति पर निर्भर करता है।

एक बार यह यहूदी अन्तर्दृष्टि कि 'ईश्वर प्रेम है' स्वीकार कर लेने और उसे घोषित कर देने के बाद ईसाई धर्म ने फिर ईर्ष्यालु ईश्वर वाली असगत यहूदी धारणा क्यो मान्य की ? यह प्रत्यागमन, जिसके कारण ईसाई धर्म तब से आज तक बराबर भयानक आध्यात्मिक क्षति उठाता आया है, वह मूल्य था जो ईसाई धर्म को सीजर की पूजा के प्रति अपने जीवन-मरण-संघर्ष मे विजयी होने के लिए चुकाना पड़ा था। और इस सघर्ष मे चर्च की विजय हो जाने के कारण जो शान्ति स्थापित हुई उसमे भी यहावा और ईसा के असगत सहयोग का अन्त नही हुआ बल्कि और दृढ़ हो गया। विजय की घडी मे ईसाई शहीदो की दृढ़ता ईसाई उत्पीडको की असहनशीलता मे बदल गयी। ईसाई धर्म के इतिहास का यह प्रारम्भिक अध्याय बीसवी शती की पश्चिमी हवा मे बहती हुई दुनिया के आध्यात्मिक भविष्य के लिए अपशकुन-सूचक है क्योकि जिस तिमिंगिल (विशालाकार सामुद्रिक जीव, Leviathan) की पूजा को प्रारम्भिक ईसाई चर्च ने ऐसी पटकान दी थी कि वह अन्तिम या निर्णायिक जान पडती थी, उसी ने सर्व-सत्ता-सम्पन्न राज्य के रूप मे उत्पन्न होकर अपने को फिर से दृढ कर लिया, इस पर उस राज्य से सघटन और यत्रीकरण की आधुनिक पाश्चात्य प्रतिभा ने पैशाचिक विचक्षणता के साथ इसलिए सहयोग किया कि मानवो की आत्माओ और शरीरो को इस सीमा तक गुलाम बना ले जिस सीमा तक अतीत के बुरी से बुरी आकाक्षा रखने वाले किसी अत्याचारी ने कभी कल्पना भी न की होगी। ऐसा मालूम पड़ता है जैसे पाश्चात्य रग मे रंगती जा रही आधुनिक दुनिया मे ईश्वर और सीजर के बीच फिर लडाई लडनी पडेगी और उस समय युयुत्सु चर्च के रूप में सेवा करने का नैतिक दृष्टि से सम्मानपूर्ण परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से खतरनाक कर्तव्य ईसाई मत को एक बार फिर पूरा करना पड़ेगा।

इसलिए जो ईसाई ईसवी संवत् की बीसवी शती मे पैदा हुए है उन्हे इस सभावना की कल्पना करना होगी कि सीजर-पूजा के साथ द्वितीय युद्ध में शायद ईसाई चर्च को पुन. यहावा-पूजा को ग्रहण करना और इस प्रकार पीछे लौटना पडेगा जबकि अभी पहिली बार की त्रुटि की पूर्ति ही नही हो पायी है। फिर भी यदि उन्हें इसमे विश्वास

है कि व्यथित ईसा में साकार हुए प्रेम-रूप ईश्वर का प्रकाश अन्त मे पाषाण-हृदयो को रक्त-मांस के हृदयो मे बदल देगा तब वे राजनीतिक दृष्टि से संयुक्त विश्व में धर्म के भविष्य की झांकी देखने का साहस कर सकते है—उस विश्व में जो ईसाई देवाभि-व्यक्ति-द्वारा यहावा तथा सीजर दोनों की पूजा से युक्त हो चुका होगा।

जब ईसाई संवत् की चौथी शती की समाप्ति होते-होते विजयी चर्च ने उन लोगो को उत्पीड़ित करना शुरू किया जिन्होंने उसमें शामिल होने से इन्कार किया तो व्रात्य साइम्माचुस ने उसका विरोध किया। उसके विरोध मे निम्नलिखित शब्द भी थे—'इतने महत् रहस्य की आत्मा तक केवल एक ही मार्ग से नही पहुंचा जा सकता।' इस वाक्य मे व्रात्य अपने ईसाई उत्पीडको की अपेक्षा ईसा के अधिक निकट है। उदारता अन्तर्दृष्टि की माता है और सत्य-ईश्वर तक पहुँचने के मनुष्य के प्रयत्न मे एक-रूपता नही हो सकती क्योकि मानव प्रकृति पर उर्वर अनेकता की ऐसी मुहर लगी हुई है जो ईश्वर के सृजन कर्म का प्रमाणाक (Hall Mark) है। धर्म का अस्तित्व इसलिए है कि वह मानवात्माओ को दैवी प्रकाश प्राप्त करने मे समर्थ बनाये और वह तबतक इस प्रयोजन की पूर्ति नही कर सकता जबतक वह ईश्वर के मानव उपासकों की विविधता एवं अनेकरूपता को ईमानदारी के साथ प्रतिबिम्बित नही करता। इतना मान लेने पर इस बात की कल्पना की जा सकती है कि वर्तमान महत् धर्मों मे से प्रत्येक जो जीवन मार्ग उपस्थित करता है और ईश्वर के सम्बन्ध मे जो दृष्टि देता है उसकी तुलना एक मुख्य मनोवैज्ञानिक टाइप (प्रकार) से की जाय जिसकी विशिष्ट आकृति मानव ज्ञान के इस नये क्षेत्र मे बीसवी शती के अग्रगामियों द्वारा क्रमशः प्रकाश मे लायी जा रही है। यदि इन धर्मों मे से प्रत्येक किसी विशद रूप से अनुभव की जाने वाली आवश्यकता की सचमुच पूर्ति न करता तो इसकी कल्पना करना कठिन है कि उनमे से हर एक इतने लम्बे समय तक मानव जाति के इतने बडे अश की निष्ठा प्राप्त कर सकता। इस प्रकाश मे जीवित महत् धर्मों की अनेकरूपता पथ के रोडे या विघ्नरूप मे न रह जायगी बल्कि अपने को मानव मन (Human Psyche) की विविधता के एक आवश्यक उपसिद्धान्त (corollary) के रूप मे व्यक्त करेगी।

यदि धर्म के भविष्य के विषय मे इस विचार पर लोगों का दृढ विश्वास हो जाय तो इससे सभ्यता की भूमिका-सम्बन्धी एक नवीन धारणा का जन्म होगा। यदि धर्म का रथ अपनी दिशा मे बराबर चलता रहा तो सभ्यता के उत्थान-पतन की चक्रिक और पुनरावर्तिनी गति न केवल विपरीत वरं वशवर्तिनी भी रहेगी। सभव है, पृथिवी पर जन्म-मरण के दुःखदायी चक्र के सावधिक आवर्तन द्वारा रथ को स्वर्ग की ओर उठाने मे वह अपने प्रयोजन की पूर्ति कर सके और अपनी महिमा का अनुभव भी कर सके।

इस संदर्श (Perspective) मे पहिली और दूसरी पीढ़ी की सभ्यताएं अपने अस्तित्व के औचित्य को साफ तौर से सिद्ध कर सकती हैं किन्तु तीसरी पीढ़ी वालियो का दावा, प्रथम दर्शन मे, अधिक सशयात्मक लगता है। पहिली पीढ़ी ने, अपने पतन या ह्रास में, महत् धर्मों के अविकसित और अनगढ़ तत्त्वो को पैदा किया। दूसरी पीढ़ी ने उस प्रजाति के चार पूर्णतः विकसित प्रतिनिधियों को जन्म दिया जो अभी हमारे

लिखने के समय तक क्रियाशील है। किन्तु तीसरी पीढ़ी के आन्तरिक श्रमिक वर्ग के उत्पादनों में से ऐसे जिन नये धर्मों के पहिचानने की कल्पना की जा सकती है, उन्होंने हमारे लिखने के समय तक तो बडा ही हल्का अभिनय किया है। और यद्यपि, जैसा कि ज्यार्ज इलियट ने लिखा था, "भविष्यवाणी मानवी त्रुटियों में सबसे निरर्थक है", फिर भी यह भविष्यवाणी करने मे हम कोई ज्यादा खतरा नही अनुभव करते कि अन्त मे वे किसी काम के सिद्ध नही होगे। इतिहास की जिस धारणा को हम उपस्थित कर रहे है उसके अनुसार आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के अस्तित्व का एक मात्र संभव औचित्य इतना ही है कि यह ईसाई धर्म और उसके तीन साथी धर्मों की इतनी सेवा कर सकती है कि विश्वविस्तृत पैमाने पर उनके लिए मिलनस्थली तैयार कर दे। यह सेवा वह उनके अपने सर्वोच्च मूल्यो एव विश्वासों के ऐक्य की अनुभूति उनमे पैदा करके कर सकती है और मनुष्य की सघटित आत्मपूजा के रूप मे व्यक्त मूर्तिपूजा की चुनौती को उन सबके सामने उपस्थित करके भी कर सकती है।

(ख) चर्चों के अतीत का महत्त्व

इस अध्याय के पिछले भाग मे हमने जो स्थिति अपनायी है उस पर एक ओर तो वे सब लोग आक्रमण कर सकते है जो सभी धर्मों को एक बहाना एव मनगढन्त कल्पना मानते है और दूसरी ओर उसे उनके आक्रमण का सामना करना पड सकता है जो मानते है कि ये चर्च सदा के लिए और बिल्कुल ही उन धर्मों के अयोग्य हैं जिन्हे मानने का दावा करते है। पहिले वर्ग के आक्रमण पर विचार करना तो इतिहास के इस अध्ययन के विचार-क्षेत्र के बाहर है। और जब हम दूसरे वर्ग तक अपनी सीमा मान लेते है तो हमे इतना स्वीकार करना ही पडता है कि हमारे आलोचक के पास अपने आरोप के लिए काफी मसाला है। उदाहरण के लिए, ईसाई चर्च के आरम्भिक काल से अत्याधुनिक काल तक के नेताओ का विचार करने पर मालूम पड़ता है कि उन्होने अपने पथ से विरत हो यहूदियो के पौरोहित्य तथा फारसीपन, यूनानियो के बहुदेववाद एव मूर्तिपूजा तथा रोमनो से उत्तराधिकार मे प्राप्त, सुविधा-सम्पन्न वर्गों का कानूनी समर्थन करने की वृत्तियो को ग्रहण कर अपने ही संस्थापक (ईसा) को अस्वीकार किया है। दूसरे धर्म भी इस बिना पर कुछ कम आलोच्य नही रहे है।

यद्यपि इन असफलताओ को क्षमा नही किया जा सकता किन्तु विक्टोरिया युग के एक हाजिर-जवाब बिशप की वक्रोक्ति द्वारा उनकी सफाई दी जा सकती है। जब उससे पूछा गया कि पादरी लोग इतने मूर्ख क्यो होते है तो उसने कहा—"आप और क्या आशा कर सकते है ? हम लोगो को अ-पादरियों से ही तो उन्हे लेना पडता है।" चर्च सन्तो से नही, पापियो से ही मिलकर बने हैं, और किसी भी समय के किसी भी समाज मे, स्कूलों की भाति ही, चर्च भी उस समाज के बहुत आगे नहीं हो सकते जिस समाज मे वे रहते, चलते-फिरते और अपना अस्तित्व रखते हैं। किन्तु विरोधी पुन आक्रमण करते हुए, विक्टोरिया युग के उस बिशप को कटु उत्तर दे सकता है कि चर्च ने अ-पादरी या गृहस्थ वर्ग से जो चुनाव किया है वह मलाई या सार (क्रीम) नही,

तलछट है। आधुनिक पाश्चात्य जगत् में ईसाई चर्च के विरुद्ध राजनीतिक दृष्टिकोण वाले विरोधियों-द्वारा यह एक आरोप बराबर लगाया जाता है कि वह प्रगति के चक्र मे केवल पाचे या अवरोध का काम करता रहा है।

"जैसे ही सत्रहवीं शती के आगे पाश्चात्य ईसाई जगत् (Western Christendom) से एक ख्रीष्टोत्तर पाश्चात्य सभ्यता (Post-Christian Western Civilisation) का विकास हुआ त्यों ही चर्च ने धर्म-निरपेक्षता या लौकिकता के प्रसार तथा नवप्रकृतिवाद (Neo-Paganism) के प्रत्यावर्तन से भीत होकर धर्मनिष्ठा (Faith) और नष्ट होती हुई सामाजिक व्यवस्था दोनों को एक समझने की भूल कर दी। इस प्रकार 'उदार' (लिबरल), आधुनिकतावादी (मार्डनिस्ट) तथा वैज्ञानिक की त्रुटियों के विरुद्ध एक बौद्धिक पृष्ठरक्षी कार्रवाई (Rearguard Action) करते हुए असावधानता-वश उसने राजनीतिक प्राचीनतावाद का रुख अपना लिया; सामंतवाद, राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, पूंजीवाद और प्राचीन तंत्रों का आम तौर पर समर्थन करने लगा और उन राजनीतिक प्रतिक्रिया-वादियों का मित्र और प्रायः अस्त्र बन गया जो उतने ही ईसाई-विरोधी थे जितना सामान्य 'क्रान्तिकारी' शत्रु था। आधुनिक ईसाई मत के अनैतिक राजनीतिक कारनामों का यही कारण है। उन्नीसवीं शती में उदार लोकतंत्र की भर्त्सना करने में उसने राजतन्त्र एवं कुलीनतंत्र का साथ दिया, बीसवीं शती में सर्वाधिकारवाद की निन्दा करने के लिए उदार लोकतन्त्र के साथ हो गया। इस प्रकार फरासीसी क्रान्ति के बाद से सदा ही वह अपने युग की राजनीति से एक पग पीछे की अवस्था में रहा है। निश्चय ही यह आधुनिक विश्व में ईसाई मत की मार्क्सवादी आलोचना का सारांश है। इसका ईसाई उत्तर शायद यह होगा कि जब एक विघटित होती हुई सभ्यता के भटकते हुए शूकर तीव्र गति से पतन की ओर जा रहे हों तो यह चर्च की जिम्मेदारी हो जाती है कि पशुओं के उस झुण्ड की पिछली पंक्ति की रक्षा करे और उसमें से जितनों के लिए संभव हो उतने पशुओं की आंखों को ढलान के ऊपर पीछे की ओर फेरने की चेष्टा करे।"[1]

जिन लोगों के लिए धर्म ख्याली पुलाव-सी चीज है उनके मत को इन आरोपों से बल प्राप्त होगा और दूसरे भी बहुत से लोगों को, जो इस दृष्टिकोण को अपना चुके हैं, यह बात सही मालूम होगी। दूसरी ओर इस अध्ययन के लेखक की भांति जिन लोगों का विश्वास है कि जीवन मे धर्म सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, और जो अपने इस विश्वास के कारण बहुत दूर तक देखकर विचार करेंगे, वे एक ऐसे अतीत का स्मरण करेंगे जो यद्यपि अपेक्षाकृत अल्पकालिक है फिर भी पुरातनता के कोहरे मे जाकर धूमिल हो गया है और वे एक ऐसे भविष्य की कल्पना करेंगे जो यदि पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के हाईड्रोजन (उद्जन) बम या ऐसे ही किसी ब्रह्मास्त्र द्वारा की जाने

[1] श्री मार्टिन वाइट द्वारा लेखक को दी गयी टिप्पणी। यह 'ए स्टडी आव हिस्ट्री' भाग ७ पृ० ४५७ पर प्रकाशित हो चुकी है।

वाली जातियों की हत्या से कटकर छोटा न हो गया तो अकल्पनीय कल्पों तक चलता रहेगा।

(ग) हृदय एवं मस्तिष्क का द्वन्द्व

जो आत्माएं ईश्वर के अनुसन्धान मे हैं वे धर्म के सार को उसके आनुषंगिक पदार्थ से अलग कैसे कर सकती है ? एक सार्वभौम समाज (Oikoumene) मे, जो विश्वव्यापी स्तर मिलकर एक होता जा रहा है, ईसाई, बौद्ध, मुसलमान और हिन्दू इस पथ पर आगे कैसे प्रगति कर सकते है ? आध्यात्मिक प्रकाश के इन मुमुक्षुओं के लिए केवल एक ही मार्ग खुला है और यह वही कठोर मार्ग है जिस पर चलकर उनके पूर्ववर्ती लोग धार्मिक ज्ञान के उस बिन्दु पर पहुचे थे जिसका प्रतिनिधित्व ईसाई संवत् की बीसवी शती के महत्तर धर्म करते है। आदिमकालीन व्रात्यवाद मे निहित अवस्था से तुलना करने पर उनका सापेक्ष ज्ञान निश्चित रूप से एक आश्चर्यजनक प्रगति की सूचना देता है, किन्तु वे अपने पूर्ववर्तियो के ही श्रम पर आश्रित नही रह सकते थे क्योंकि वे हृदय एवं मस्तिष्क के एक ऐसे द्वन्द्व से पीडित थे जिसे वे बिना समाधान पाये छोड नही सकते थे और जिसका समाधान केवल आध्यात्मिक गति मे और आगे जाने पर ही संभव था।

और इस सघर्ष के समाधान के लिए यह समझना जरूरी है कि वह कैसे पैदा हुआ ? सौभाग्यवश हृदय और मस्तिष्क के बीच के वर्तमान सघर्ष का उद्गम धूमिल नही है। यह महत्तर धर्मों पर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के सघात—टक्कर—से पैदा हुआ है जिसने उन्हे उनके मार्ग में ऐसी मजिल पर पकड़ लिया जहा वे तब भी पुरातन परम्पराओ का एक बोझा लादे चले जा रहे थे और जो अब तो किसी भी विचार से व्यवहारातीत हो चुका था—उस अवस्था मे भी जब आधुनिक वैज्ञानिक विचार प्रकाश मे न आये होते।

धर्म और बुद्धिवाद के बीच, इतिहास को ज्ञात यह पहिला ही सघर्ष नही था। कम से कम दो पूर्व दृष्टान्तो, अभिलेखो मे प्राप्य है ही। इन दोनो मे जो ज्यादा निकट का है उसको स्पष्ट करने के लिए हमे याद करना चाहिए कि चारो जीवित महत् धर्मों मे से हर एक का अपने धार्मिक इतिहास के प्रारम्भिक अध्याय मे बुद्धिवाद के एक पुरातन सस्करण (रूप) के साथ सघर्ष और बाद मे समझौता हो चुका है। इनमें से हर एक के धर्म-दर्शन (थियोलोजी) का आज जो कट्टर रूप है वह एक ऐसे स्थापित लौकिक तत्वज्ञान के साथ मेल कर लेने का ही फल है जिसे अस्वीकार करने, बल्कि उपेक्षा करने मे भी उदीयमान धर्म ने अपने को अक्षम पाया था क्योंकि इस विचारधारा का समाज के एक शिष्ट अल्पमत की मानसिक जलवायु पर नियन्त्रण था। यही अल्पमत उस समय चर्च का कार्यक्षेत्र था। ईसाई एवं इस्लामी धर्म-दर्शन यूनानी तत्वज्ञान की शब्दावली मे ईसाई धर्म और इस्लाम का ही उपहार था। इसी प्रकार हिन्दू धर्म-दर्शन भारतीय दर्शन की भाषा मे हिन्दू धर्म का उपहार था और महायान भारतीय दर्शन का ऐसा सम्प्रदाय था जिसने दर्शन का

अपना रूप न छोड़ते हुए भी अपने को धर्म के रूप मे बदल लिया था।

किन्तु यह उस कथा का प्रथम अध्याय नही है । जब उदीयमान महत् धर्मों का पाला इन दर्शनों से पड़ा था तब तक वे दृढ विचार-प्रणालियों में बदल चुके थे। फिर ये दर्शन किसी समय गत्यात्मक या ऊर्जस्वी बौद्धिक आन्दोलन के रूप मे रह चुके थे; और जीवन तथा प्रगति की उस युवावस्था में—जिसकी तुलना आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की वर्द्धनशील अवस्था से की जा सकती है—यूनानी और भारतीय दर्शनो को उन व्रात्य धर्मों से संघर्ष करना पड़ा जिन्हे यूनानी और भारतीय सभ्यताओं ने आदिम मानव से विरासत में पाया था।

पहिली बार देखने पर ऐसा लगता है जैसे ये दो नजीरें विश्वसनीय हैं। यदि मानवजाति धर्म एव बुद्धिवाद के बीच के दो अतीतकालिक संघर्षों मे जीवित रही तो इसे क्या वर्तमान संघर्ष के परिणाम के विषय में शुभ शकुन के रूप में नहीं ग्रहण किया जा सकता ? इसका उत्तर यह है कि इन दो संघर्षों मे से प्रथम में तो वर्तमान समस्या उठी ही नही थी और दूसरे मे इसको एक ऐसा समाधान मिल गया था जो उसके अपने समय एवं स्थान के प्रयोजन की दृष्टि से इतना प्रभावोत्पादक था कि इतने दिनों तक बचा रहकर बीसवी शती के पश्चिमी रग चढ़े विश्व के सामने कठोर समस्या के रूप मे आ खड़ा हुआ।

जब एक उदीयमान दर्शन और एक परम्परागत व्रात्यवाद का संघर्ष हुआ तब हृदय एव मस्तिष्क मे सामंजस्य लाने की कोई समस्या न थी क्योकि दोनों के बीच कोई ऐसी उभयनिष्ठ स्थिति नहीं थी जहां दोनो अवयवो का सघर्ष हुआ होता। आदिम-कालिक धर्म का सार विश्वास नही, कर्म था और अनुरूपता की कसौटी किसी धर्ममत की स्वीकृति नही वर उसके कर्मकाड मे शिरकत थी। आदिमकालिक धर्माचरण अपने मे स्वय ही एक ध्येय है, और कर्मकांडियों को कभी यह विचार नही आता कि जिन आचारो को वे करते हैं उनमें छिपे सत्य के लिए उन्हे उनके परे भी देखना चाहिए। आचारो का उनके उस प्रत्यक्ष प्रभाव से परे और कोई प्रयोजन नहीं है जो उनके विधिवत् अनुष्ठान से होने का विश्वास किया जाता है। तदनुसार इस आदिमकालीन धार्मिक पार्श्वभूमि पर ऐसे तत्त्वज्ञानी पैदा होते हैं जो सत्य और मिथ्या के लेबिलों के अन्तर्गत बौद्धिक शब्दावली मे मानव के परिवेश की तालिका बनाते है। जबतक ये तत्त्वज्ञान अपने वंशगत धार्मिक कर्तव्यो का पालन करते जाते है कोई टक्कर या भिड़न्त नही होती और उनके दर्शन मे कोई ऐसी बात भी नही हो सकती जो उन्हे वैसा करने का निषेध करती हो क्योकि परम्परागत आचारो मे कोई ऐसी चीज नही है जो किसी भी तत्त्वज्ञान के प्रतिकूल हो। दर्शन—तत्त्वज्ञान—और आदिमकालीन धर्म का सामना तो हुआ किन्तु टक्कर या भिड़न्त नहीं हुई। इस नियम का कम से कम एक प्रमुख भासमान अपवाद है किन्तु भलीभाति जांच करने पर उसका दूसरा ही रूप दिखायी पड़ता है। सुकरात ऐसा दार्शनिक शहीद नही था जिसे उत्पीडक व्रात्यवाद ने मौत के घाट उतार दिया हो। परिस्थिति की परीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी न्यायिक हत्या पेलोपोनीशियन युद्ध मे एथंस की पराजय के बाद दो प्रतिस्पर्द्धी दलो मे होने वाले जगली

राजनीतिक संघर्ष से सम्बद्ध घटना थी। यदि एथेनियन फासिस्तों के नेता की गणना उसके शिष्यों मे न होती तो शायद सुकरात अपनी शय्या में उसी प्रकार शान्ति से मरा होता जिस प्रकार कन्फ्यूशश मरा था जिसे सिनाई व्रात्यजगत मे उसकी प्रतिमूर्ति कह सकते हैं।

अब इस दृश्य पटल पर महत्तर धर्मों का आगमन हुआ तो एक नयी स्थिति पैदा हो गयी। जिन समाजों मे इन नवीन धर्मों का प्रथम दर्शन हुआ उनमें प्रचलित परम्परागत रीति-रिवाजों का बहुत-सा बोझ इन महत्तर धर्मों ने अपने साथ बाध लिया, किंतु विनष्ट पोत का यह प्रवहमान भग्नावशेष उनका सार-तत्त्व नही था। महत्तर धर्मों का विशिष्ट नूतन लक्षण यह था कि निष्ठा के लिए उनका दावा उन निजी दैवी सन्देशो पर आश्रित था जो उनके नबियो को प्राप्त हुआ था, और नबियों के ये वचन, तत्त्वज्ञानियो की प्रस्थापनाओ वा उक्तियों की भाति, तथ्य के वक्तव्य के रूप में उपस्थित किये गये जिन पर 'सत्य' या 'मिथ्या' का लेबिल लगना था। इससे सत्य एक विवादास्पद मानसिक क्षेत्र बन गया; अब से आगे दो स्वतत्र आप्त प्रमाण हो गये—नबियों द्वारा प्राप्त दैवी सन्देश या प्रकाश और दार्शनिक विवेक या तर्क। इन दोनों में से प्रत्येक ने बुद्धि के सम्पूर्ण कार्यक्षेत्र पर सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न अधिकार का दावा किया। इस तरह विवेक एवं कर्मकाड के सौहार्दपूर्ण सहजीवन के मागलिक दृष्टान्त की भाति विवेक एव दैवी प्रकाश दोनो के लिए जीना और दूसरे को जीने देना, अर्थात् साथ-साथ रहना असभव हो गया। ऐसा जान पडने लगा कि 'सत्य' के दो रूप हैं और उनमें से प्रत्येक अपने लिए पूर्ण और दूसरे को अमान्य करने के औचित्य का दावा तथा उससे विरत रखने का प्रयत्न करने लगा। इस नूतन एव यंत्रणाकारी स्थिति में दो ही विकल्प रह गये, या तो सत्य के दोनों साथ-साथ रहने वाले रूपो के प्रतिस्पर्द्धी भाष्यकार परस्पर किसी समझौते पर पहुंचें या फिर तबतक लडते जायें जबतक कि दोनो मे से कोई एक दल क्षेत्र से खदेड न दिया जाय।

एक ओर यूनानी एव भारतीय दर्शनों और दूसरी ओर ईसाई, इस्लामी, बौद्ध एव हिन्दू दैवी सन्देशों के बीच जो टक्करें हुईं उनमे सबने शान्तिपूर्ण सन्धि कर ली; तत्त्वज्ञान ने दैवी सन्देशो के प्रवचनों के विरुद्ध बौद्धिक आलोचना का प्रयोग बन्द करने की बात चुपचाप स्वीकार कर ली; इसके बदले उसे नबियों के सन्देशों का, हेत्वाभास-वादी की भाषा मे पुनर्मूल्यांकन करने का अधिकार मिल गया। हमे सन्देह करने की आवश्यकता नही कि दोनों ओर से समझौता सद्भावनापूर्वक किया गया किन्तु इतना तो हम देख ही सकते हैं कि वैज्ञानिक एवं नबियो द्वारा उच्चरित सत्य के बीच जो सम्बन्ध है उसकी समस्या का इससे कोई वास्तविक समाधान नही हुआ। दोनों प्रकार के सत्यों के बीच, धर्मदर्शन नामधारी नवीन मानसिक अनुशासन की भाषा में जो समझौता हुआ वह केवल शाब्दिक था। और धर्मों के जो सूत्र पवित्र माने गये थे उन्हे अस्थायी प्रमाणित होने के लिए छोड दिया गया क्योकि उन्होंने सत्य के गोलमोल अर्थ को उसी तरह सदिग्ध छोड़ दिया जैसा कि वह उन्हें प्राप्त हुआ था। द्वितीय संघर्ष का यह नकली समाधान पीढ़ियों से चलता आ रहा है और पाश्चात्य रंग में रंगते हुए वर्तमान विश्व में धर्म और बुद्धिवाद के विरोध की समस्या हल करने में

सहायक होने के स्थान पर उसने उसमें और अड़चन पैदा कर ली है। जबतक यह मान नहीं लिया जाता कि एक ही शब्द जब दार्शनिकों और वैज्ञानिकों-द्वारा प्रयुक्त होता है और जब नबियो-द्वारा उसका प्रयोग होता है तो वह एक ही वास्तविकता के सन्दर्भ में प्रयुक्त नही होता वरं अनुभूति के दो विभिन्न प्रकारों के लिए भिन्नार्थ-द्योतक पर एक ही शब्द के रूप मे प्रयुक्त होता है।

हमने जिस समझौते का वर्णन किया है उसके परिणाम-स्वरूप देर-सबेर विरोध का फिर से उठ खडा होना अनिवार्य है। क्योंकि जब एक बार दैवी सन्देश का सत्य विज्ञान के सत्य की भाषा मे मौखिक रूप से निर्मित हो गया तो विज्ञान के आदमी ऐसे सिद्धान्त-निकाय की आलोचना करने से सदा के लिए कैसे विरत हो सकते हैं जिसे विज्ञान की दृष्टि से सत्य मान लिया गया है ? दूसरी ओर ईसाई मत, जब एक बार उसका सिद्धान्त बुद्धिसम्मत भाषा मे निर्मित कर लिया गया, विवेक के विहित अधिकार-क्षेत्र के अन्तर्गत ज्ञान के प्रदेशो पर अधिकार का दावा करने से हट नही सकता। और जब सत्रहवी शती में एक आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने यूनानी दर्शन का जादू हटाना शुरू किया और नयी बौद्धिक दिशाओं की खोज में लग गया तो रोमी चर्च की प्रथम भावना यही हुई कि चर्च के पुराने यूनानी बौद्धिक मित्र पर एक जगती हुई पाश्चात्य बुद्धि के आक्रमण के विरुद्ध निषेधाज्ञा जारी कर दे—मानो ज्योतिष की भूकेन्द्रिक परि-कल्पना (थियरी) ईसाई निष्ठा का अनिवार्य भाग हो और गैलीलियो द्वारा टोलेमी (Ptolemy) का सशोधन करना एक धार्मिक अपराध हो।

१६५२ ई० तक विज्ञान एवं धर्म के इस युद्ध को चलते हुए तीन सौ साल हो गये और मार्च १६३६ मे हिटलर द्वारा अवशिष्ट जेकोस्लोवाकिया के विनाश के बाद ग्रेट ब्रिटेन और फ्रास की सरकारो की जो अवस्था हुई थी वैसी ही अवस्था आज चर्च के पुरोहित अधिकारियो की है। दो सौ वर्षों से अधिक समय से चर्च देखते आ रहे हैं कि विज्ञान उनके हाथ से एक पर एक प्रदेश छीनता और हथियाता जा रहा है। सृष्टि-शास्त्र, जीव-विज्ञान, भौतिकी, मानवशास्त्र हर एक को बारी-बारी से पकड़ कर इस प्रकार पुनर्निर्मित कर दिया गया है कि वह प्रचलित धार्मिक शिक्षण के विरुद्ध पड़ता है और इन हानियो का कोई अन्त होता भी नही दिखायी पड़ता। इस स्थिति मे धर्म-क्षेत्र के अधिकारियो ने देखा कि चर्चों के लिए बस एक ही आशा रह जाती है कि वे पूर्ण कट्टरता या दुराग्रह को अपनाये।

रोमन कैथोलिक चर्च मे १८६९-७० मे हुई वैटिकन कौंसिल के समादेशों तथा १६०७ ई० मे आधुनिकतावाद के प्रति घोषित अभिशाप मे कट्टरता की यह भावना व्यक्त हुई। उत्तरी अमरीका के प्रोटेस्टेण्ट चर्चों मे वह 'बाइबिल बेल्ट' के 'मूल सिद्धान्त' (Fundamentalism) के रूप में दिखायी पडी। इसी प्रकार इस्लामी दुनिया मे वह वहाबी, इद्रीस, सनुस एवं मेहदी नामक उग्र पुरातनपंथी आन्दोलनों के रूप में व्यक्त हुई। ऐसे आन्दोलन, शक्ति के नही, दुर्बलता के ही लक्षण थे। उन्हें देखकर तो ऐसा लगा कि महत्तर धर्म पतन की ओर दौड़े जा रहे हैं।

महत्तर धर्मों पर से मानव जाति की निष्ठा के सदा के लिए लुप्त हो जाने की

संभावना अमांगलिक है क्योंकि धर्म मनुष्य की तात्त्विक वा सारभूत शक्तियों में से एक है। जब मनुष्य धर्म की भुखमरी से पीड़ित होता है तो अपनी आध्यात्मिक निराशा में ऐसी धातुओ से भी धार्मिक सान्त्वना प्राप्त करने की चेष्टा करता है जहा उसकी संभावना नही होती। इसका एक महत् उदाहरण प्राचीन इनिहास में है—बुद्ध के सन्देश को सूत्रबद्ध करने की प्रथम चेष्टा मे सिद्धार्थ गौतम के शिष्यों ने जिस नितान्त रूप से निर्वैयक्तिक दर्शन का निर्माण किया था उसी से महायान की उत्पत्ति का आश्चर्यजनक कायापलट कार्य सभव हो गया। ईसवी संवत् की बीसवीं शती में पश्चिमी रग में रंगी दुनिया में भी भौतिक मार्क्सवादी दर्शन मे इसी प्रकार के रूप-परिवर्तन का आरम्भ दिखायी पड रहा है। यह उन रूसी आत्माओ मे होता दिखायी पड रहा है जो अपने परम्परागत धार्मिक सबल से रहित कर दिये गये हैं।

जब बौद्धवाद तत्त्वज्ञान से धर्म मे परिवर्तित हो गया तो उसका सुखद परिणाम निकला—एक महत्तर धर्म। किन्तु यदि महत्तर धर्मों को क्षेत्र मे धकेलकर बाहर कर दिया जायगा तो यह भय है कि उस रिक्तता का स्थान निम्न कोटि के धर्म ले लेंगे। कतिपय देशो में नवीन लौकिक विचारधाराओ—फासिज्म (उग्र राष्ट्रवाद), साम्यवाद, राष्ट्रीय समाजवाद आदि—के नवदीक्षित अनुयायी इतने प्रबल हो उठे कि उन्होंने सरकारो का नियत्रण अपने हाथ मे ले लिया और निर्दय उत्पीड़न-द्वारा अपने सिद्धान्तों और आचारो को लोगों पर थोप दिया। किन्तु अपनी पुजीभूत शक्ति के सर्वांग कवच मे मानव की पुरानी आत्मपूजा का यह पुन: स्फोट रोग की यथार्थ व्यापकता का कोई अनुमान नही प्रस्तुत करता। उसका सबसे गभीर लक्षण तो यह है कि अपने को जननात्रिक और ईसाई कहने वाले देशों में भी आबादी के $\frac{9}{10}$ भाग के धर्म का $\frac{4}{5}$ अंश आज देशभक्ति के सुन्दर नाम के पीछे छिपी, देवरूप मे परिवर्तित समुदाय की वही आदिकालिक आत्मपूजा है। इसके अतिरिक्त यह पुंजीभूत आत्मपूजा न तो प्रेतपूजा मात्र है, न इन पीछे पडने वाले भूत-प्रेतों में सबसे आदिम है। जितने भी आदिमकालिक समुदाय आज बच गये हैं, और पाश्चात्येतर सभ्यताओं की जितनी भी आदिमकालिक कृषक जनता है, और जो मानव जाति की जीवित पीढी की तीन-चौथाई से कम नही है, वह सब पाश्चात्य समाज के स्फीत आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग मे जबर्दस्ती भरती की जा रही है। ऐतिहासिक दृष्टान्तों के प्रकाश में ऐसा मालूम पडता है कि पूर्वजो की जिन धार्मिक प्रथाओ से दीन-हीन नये रंगरूटो की यह भीड अपनी धार्मिक आवश्यकताओ के लिए सन्तोष प्राप्त कर सकती है वे श्रम-जीवियो के धाघ मालिकों—आचार्यों, नेताओं के रिक्त हृदयो में विलुप्त हो जायगी।

इससे प्रकट होता है कि धर्म पर विज्ञान की करारी विजय दोनो पक्षों के लिए भयावह सिद्ध होगी, क्योंकि विवेक और धर्म दोनों ही मानव स्वभाव के आवश्यक उपादान हैं। अगस्त १९१४ मे समाप्त होने वाली सहस्राब्दी के चतुर्थांश में पाश्चात्य वैज्ञानिक मानव अपने इस निश्छल विश्वास मे हलका-फुलका होकर सन्तरण करता रहा है कि उसे संसार को अधिकाधिक अच्छा बनाने के लिए केवल मथ-मथकर नये-नये आविष्कार करते जाना है।

जब विज्ञान-उपासक मानव पा लेंगे कुछ और।
हम पहिले से सुखी बनेंगे जीवन मे इस ठौर।[1]

किन्तु वैज्ञानिक का विश्वास दो मूलभूत त्रुटियों के कारण दूषित हो गया। एक तो अठारहवीं और उन्नीसवी शतियों में पाश्चात्य जगत् मे जो अपेक्षाकृत अधिक सुख की स्थिति आयी उसे उसने अपनी उपलब्धि या सफलता मानने की गलती कर ली, फिर दूसरी गलती उसने यह मानकर की कि हाल मे प्राप्त यह सुखद स्थिति बहुत दिनो तक रहने वाली है। किन्तु वस्तुतः उनके सामने स्वर्ग की भूमि नही, मरुभूमि फैली पडी थी।

सत्य तो यह है कि अमानवीय प्रकृति पर नियन्त्रण का जो वरदान विज्ञान ने दिया है वह मनुष्य के लिए उससे बहुत ही कम महत्त्व का है जितने महत्त्व का खुद अपने साथ, अपने सगी मानवो के साथ और ईश्वर के साथ उसका सम्बन्ध है। यदि मानव के प्राक्-मानवीय पूर्वज को सामाजिक प्राणी बन सकने की सामर्थ्य न दी गयी होती और यदि आदिमकालिक मानव अपने सहकारिता के एव पूजीभूत कार्य करने के लिए बुद्धि की जो अनिवार्य शर्तें है उन सामाजिकता के अनगढ तत्त्वों मे अपने को प्रशिक्षित करने की आध्यात्मिक स्थिति तक न उठा होता तो मनुष्य को सृष्टि का स्वामी बनाने का जो अवसर बुद्धि को प्राप्त हुआ वह भी न प्राप्त हुआ होता। मनुष्य की बौद्धिक एव प्रौद्योगिक सफलताए उसके लिए महत्त्वपूर्ण रही है पर इसलिए नही कि खुद अपने मे उनका कोई महत्त्व है बल्कि केवल इसलिए कि एक सीमा तक उन्होने उसे उन नैतिक प्रश्नो का सामना करने और उनका समाधान खोजने के लिए विवश किया है जिन्हे शायद दूसरी अवस्था मे वह टालता जाता। इस प्रकार आधुनिक विज्ञान ने गभीर महत्त्व के नैतिक प्रश्न खडे कर दिये है किन्तु उन्हे हल करने की दिशा मे उसकी कोई देन नही है, न हो ही सकती है। जिन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का उत्तर मनुष्य को देना ही चाहिए वे ऐसे प्रश्न हैं जिन पर कहने के लिए विज्ञान के पास कुछ नही। जब सुकरात ने विश्व को प्रेरित और शासित करने वाली आध्यात्मिक शक्ति के साथ सानिध्य स्थापित करने के लिए भौतिक विज्ञान के अध्ययन का त्याग किया था तो वह यही शिक्षा देना चाहता था।

अब हम यह देखने की स्थिति में हैं कि धर्म से किस बात की आशा की जाती है। उसे विज्ञान को बौद्धिक ज्ञान का ऐसा प्रत्येक क्षेत्र---जो परपरा से धर्म के अन्तर्गत चले आ रहे हैं उन्हे भी—सुपुर्द कर देने के लिए तैयार रहना चाहिए जिन पर विज्ञान अपना अधिकार स्थापित करने मे सफल हो सकता है। बौद्धिक क्षेत्रों पर धर्म का परपरागत शासन एक ऐतिहासिक घटना थी, और जहां तक उस (धर्म) ने अपने इन शासित क्षेत्रो का त्याग किया वहां तक वह लाभ मे रहा क्योंकि उनकी व्यवस्था

[1] बेलाक, एच. : 'एलेक्ट्रिक लाइट', एक न्यूडीगेट पुरस्कार प्राप्त व्यंग्यकविता, जिसका विषय शायद आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी के अधिकारियों ने चुना था। रचना काल १८६० ई.।

करना उसका काम नही था। उसका कर्तव्य तो ईश्वर की पूजा के सच्चे ध्येय की ओर मानव को ले जाना और उसके साथ सम्बन्ध स्थापित करा देना है। ज्योतिष, जीवविज्ञान (Biology) तथा उपर्लिखित अन्य बौद्धिक क्षेत्रों को विज्ञान के हाथ में देकर धर्म ने निश्चित रूप से कुछ प्राप्त ही किया है। यहा तक कि मनोविज्ञान (Psychology) का त्याग भी यद्यपि बड़ा व्यथाकारी जान पड़ता है, उतना ही लाभदायक सिद्ध हो सकता है जितना व्यथाजनक है, क्योकि इससे शायद वह ईसाई धर्मदर्शन के कुछ ऐसे आवनारिक अवगुठनो को काट सके जो अतीत काल मे मानवात्मा और उसके स्रष्टा के बीच सब अवरोधों से अधिक कठिन सिद्ध हुए हैं। यदि विज्ञान इतना करने मे सफल हो गया तो वह आत्मा से ईश्वर को विरहित करने की जगह नियमित रूप से आत्मा को उसकी यात्रा के असीम दूरी पर स्थित लक्ष्य के एक पग निकट पहुचा देगा।

यदि धर्म और विज्ञान दोनों नम्रता सीख सकें और आत्मविश्वास की रक्षा कर सकें तथा वे नम्रता और आत्म-विश्वास अपने-अपने स्थान पर हों तो दोनों ऐसी मन.स्थिति मे हो सकते है जो पुर्नमिलन के लिए शुभ हो और यदि यह पुर्नमिलन होना ही है तो दोनो पक्षो को इसे किसी सयुक्त कार्य के द्वारा प्राप्त करना होगा।

अतीत काल मे ईसाई मत एव यूनानी दर्शन के बीच तथा हिन्दू धर्म और भारतीय दर्शन के बीच जो खीचातानी हो गयी थी, उसमे दोनों पक्षो ने इस सत्य को समझ लिया था। इन दोनो झगडो में धार्मिक अनुष्ठान को धर्मदार्शनिक अभि-व्यक्ति प्रदान करके और दार्शनिक शब्दावली मे पौराणिकता का समागम करके यथार्थ संघर्ष को बचा लिया गया था किन्तु जैसा कि हम देख चुके हैं, इन दोनो मामलो मे आध्यात्मिक एव बौद्धिक सत्य के सम्बन्ध का मिथ्या निदान करने के कारण मतिभ्रम हो गया था। उसकी स्थापना इस भ्रमात्मक मान्यता पर कर ली गयी थी कि आध्यात्मिक सत्य को बौद्धिक शब्दावली मे सूत्रबद्ध किया जा सकता है। बीसवी शती के पाश्चात्य रग मे रगी दुनिया मे हृदय और मस्तिष्क दोनों को अन्त मे असफल हो गये इस प्रयोग से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।

यदि चारो जीवित महत्तर धर्मों के वरेण्य धर्मदर्शन को छोड देना और उनके स्थान पर आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की भाषा मे नवनिर्मित एक दर्शन को लागू करना सगत होता तो भी इस प्रयोजन की सफल उपलब्धि एक पुरानी भूल की पुनरुक्ति मात्र होती। वैज्ञानिक ढग पर सूत्रबद्ध धर्म-दर्शन (यदि ऐसे धर्म-दर्शन की कल्पना सभव है) उतना ही असन्तोष-जनक और क्षण-भगुर सिद्ध होगा जितने आध्यात्मिक रूप में सूत्रबद्ध वे दर्शन थे जो १९५२ ई० में बौद्धो, हिन्दुओ, ईसाइयो और मुसलमानो के गले मे चक्की के पाट की भाति बधे हुए थे। असंतोषजनक वह इसलिए होगा कि बुद्धि की भाषा आत्मा की अन्तर्दृष्टि को प्रकट करने के लिए अपर्याप्त होती है; क्षणभंगुर वह इसलिए होगा कि बुद्धि का यह गुण ही है कि वह निरन्तर अपना आधार बदलती रहती और अपने पूर्ववर्ती निष्कर्षों का त्याग करती रहती है।

तब धर्म-दर्शन के रूप में अपने लिए एक उभयनिष्ठ मच निर्मित करने की अपनी

ऐतिहासिक असफलता के प्रकाश मे परस्पर अनुकूल होने के लिए हृदय और मस्तिष्क को क्या करना चाहिए ? क्या किसी और अधिक आशाप्रद दिशा मे सयुक्त कार्रवाई के लिए कोई मार्ग है ? जिस समय ये पक्तिया लिखी जा रही थी, पाश्चात्य मानव का मन, भौतिक विज्ञान की बढ़ती हुई विजयो से, जिसमे अणु के विच्छेदन की गौरवपूर्ण सफलता ने चार चांद लगा दिये हैं, अब भी सम्मोहित है। किन्तु यदि यह सत्य है कि मानवेतर प्रकृति पर मनुष्य के नियंत्रण की प्रगति मे एक मील की विजय का उसके लिए इतना महत्त्व नहीं जितना अपने साथ, अपने संगी मानवों के साथ तथा ईश्वर के साथ व्यवहार वा आचरण करने की उसकी क्षमता की वृद्धि में एक इंच की विजय का है, तो फिर इसकी कल्पना की जा सकती है कि ईसवी संवत् की बीसवी शती में पाश्चात्य मानव की सम्पूर्ण उपलब्धियो मे जो कमाल—चमत्कार—सिंहाव-लोकन मे सबसे महत्त्व का स्थान लेगा वह है मानव प्रकृति की अन्तर्दृष्टि के क्षेत्र में नवीन बातो की उद्‌भावना। समकालीन अग्रेज कवि की विदग्धतापूर्ण लेखनी से निकली कुछ पक्तियों मे एक ज्योति-किरण प्राप्त की जा सकती है—

सागर के पार अब पोत नही जाते हैं
धरती के छोर से नवीन प्राण प्राप्त कर
भूमडल पीछे छोड यूरप के कोने मे
गृह की दिशा की ओर नाव चली आती है।
नूतन जगत् की खोज के सदेशों से
मन जो तरंगित है उसको संभालती।
किन्तु परिवर्तन हों चाहे और कितने ही,
एक विश्व फिर भी बचा है जहा कल्पना
करती विहार, जो सुदूर पडा आज भी।
जिसमे रहस्य-सिंधु और हैं अनिश्चित तट,
जिसका पता है लगा मानव को हाल मे।
प्रेत छाया नाचती है, भय-विजडित धुंध है
ऐसा वह विश्व जहा नाविक नहीं जाते हैं
जिसमे प्रवेश मानस शास्त्री ही कर पाते।
भूमध्य रेखा, अक्ष-अश, ध्रुव भी न जहा
जहां देशातर है न, वह विश्व कौन है ?
मानव की आत्मा का अवगुठन-युक्त वह
धूमिल विशृंखलता का अद्‌भुत-सा विश्व है।[1]

मनोविज्ञान के राज्य में पाश्चात्य वैज्ञानिक विचार का आकस्मिक प्रवेश अंशतः उन दो विश्वयुद्धों का परिणाम है जो चित्र पर विध्वंसकारी प्रभाव डालने वाले अस्त्रों से लड़े गये। इस प्रकार जिस अभूतपूर्व नैदानिक (Clinical) अनुभव का अवसर

[1] स्किनर मार्टाइन : लेटर्स टू मलाया ३ और ४ (लन्दन १९४३, पुटनम) पृ. ४१-४३

मिला उसके लिए धन्यवाद करना चाहिए क्योंकि उसी के कारण पाश्चात्य बुद्धि चित्त की अवचेतन गहराइयो को भाप सकी और इस कार्य को करते हुए अपने सम्बन्ध में एक नयी धारणा—इस अथाह मन-गह्वर की सतह पर मडराती हुई पिशाच ज्योति की उपलब्धि की।

अवचेतन की उपमा एक शिशु, एक जगली, यहा तक कि एक ऐसे निर्दय जानवर से भी दी जा सकती है जो चेतन की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान्, अधिक ईमानदार और गलतियों की ओर कुछ कम प्रवृत्ति रखने वाला हो। यह सृष्टि के अचल रूप से पूर्ण ऐसे कार्यों मे से एक है जो स्रष्टा के विश्रामस्थल है जब कि चेतन मानवीय व्यक्तित्व एक ऐसी अपरिमेय उच्चतर कोटि की सत्ता की ओर असीम रूप से निकट है जो स्वय ही मानवीय चित्त के इन दो विभिन्न किन्तु अवियोज्य अगो की रचयित्री है। यदि आधुनिक पाश्चात्य मस्तिष्को ने अवचेतन का आविष्कार केवल इसलिए किया हो कि उसमें मूर्तिपूजा का एक नया आधार मिल गया है तो वे ईश्वर के निकट जाने के एक अवसर का त्याग करके उसके और अपने बीच एक नवीन खाई की सृष्टि मात्र करेंगे। नि सन्देह इस समय उनके लिए एक सुअवसर उपस्थित है।

(घ) चर्चों के भविष्य की आशा

यदि ईसाई सवत् की बीसवी शती मे उत्पन्न पीढी ऐसे दिन की आशा करे जब हृदय और मस्तिष्क परस्पर-अनुकूल हो जायेगे तो वह हृदय और मस्तिष्क के, चर्चों के अतीत के महत्त्व के उस ज्ञान से भी सहमत हो जाने की आशा कर सकती है जो हमारी जिज्ञासा की आखिरी मंजिल अर्थात् चर्चों एव सभ्यताओ के बीच के सम्बन्ध का एक आरम्भ-बिन्दु हो सकता है। इस बात का पता लगाने के बाद कि चर्च नासूर नही है बल्कि घटनावश अडकीट के अलावा और कुछ नही है, हम इस संभावना पर विचार करते रहे है कि क्या वे समाज की कोई उच्चतर प्रजाति (Species) तो नही हैं? जबतक हम यह न जान लें कि चर्चों का अतीत उनके भविष्य की सभावनाओ पर क्या प्रकाश डालता है तबतक इस प्रश्न पर हम अपना निर्णय नही दे सकते। और यहा सबसे पहिले हमे यह बात याद रखनी है कि ऐतिहासिक काल के पैमाने पर महत्तर धर्म, और जिन चर्चों मे वे मूर्त हुए, आयु में तब भी बहुत छोटे थे। विक्टोरियन उपासना-स्थलो मे लोकप्रिय एक भजन मे निम्नलिखित पक्तिया है—

युगो-युगो से बढा जा रहा,
उसकी शुभ यात्रा का रथ है।
अब भी ख्रीष्ट धर्मनिष्ठा से
चलता जाता अपना पथ है।
प्राणो मे है प्रबल भावना,
मन मे करता यही कामना
कब अपना घर दीख पडेगा ?
मन को जब विश्राम मिलेगा।

विवरण में मिलता है कि एक अधिकारी ने अपनी भक्त-मंडली को पहिली पंक्तिया बदलकर गाने का आदेश दिया था—

आज हुआ आरम्भ, चल पड़ा
उसकी शुभ यात्रा का रथ है।

इस अध्ययन के लेखक ने जो कुछ समझा है उसके हिसाब से उसके द्वारा किया परिवर्तन बिल्कुल तथ्यानुकूल है। आदिमकालीन समाजो की तुलना मे सभ्यताएं केवल कल की सृष्टि हैं और महत्तर धर्मों के चर्च तो इन प्राचीनतम सभ्यताओ से आधे ही पुराने हैं।

चर्च की वह कौन-सी विशेषता थी जिसने उसे सभ्यता और आदिमकालीन समाज दोनो से भिन्नता प्रदान की और जिसने हमे चर्चों का एक ऐसे वंश (Genus) की भिन्न एव महत्तर प्रजाति के रूप मे वर्गीकरण करने को बाध्य किया जिसमें समाज के ये तीनो प्रकार सन्निहित थे ? चर्चों का विशेष लक्षण यह था कि वे 'एक ही सत्य ईश्वर' को अपना सदस्य मानते थे। 'एक सत्य ईश्वर' के साथ इस मानवी भ्रातृत्व ने, जिसे आदिमकालीन धर्मों मे पाने की कोशिश की गयी थी और महत्तर धर्मों मे प्राप्त किया गया था, इन समाजो को कुछ ऐसे गुण प्रदान किये जो आदिमकालीन समाजो या सभ्यताओ मे नहीं पाये जाते थे। उसने उस विरोध पर, मनोमालिन्य पर नियंत्रण स्थापित करने की शक्ति दी जो मानव समाज के बद्धमूल दुर्गुणो मे एक था, उसने इतिहास के प्रयोजन के प्रश्न का एक समाधान उपस्थित किया।

विरोध—मनोमालिन्य—मानव जीवन मे इसलिए बद्धमूल हो गया है कि मानव ससार के उन सब पदार्थों मे सबसे अनाडी है जिनका सामना करने को वह विवश होता है, पर साथ ही वह एक सामाजिक प्राणी भी है और ऐसा प्राणी है जिसमे स्वतंत्रसकल्प शक्ति है। इन दो तत्त्वो के मिश्रण का तात्पर्य यह है कि केवल मानव सदस्य द्वारा निर्मित समाज मे सदा ही सकल्पो का सघर्ष होता रहेगा, और यदि मनुष्य मत-परिवर्तन के जादू का अनुभव करे तो यह सघर्ष आत्मघात की सीमा तक पहुँच जायगा। मनुष्य की मुक्ति के लिए ही मनुष्य का मत-परिवर्तन आवश्यक है क्योकि उसका स्वतंत्र एवं अनोषणीय संकल्प, ईश्वर से विलग करने का खतरा उठाकर भी उसे उसकी आध्यात्मिक क्षमता प्रदान करता है। अवचेतन मन के स्तर से ऊपर उठने की आध्यात्मिक क्षमता से युक्त न होने के कारण, प्राक्-मानवी सामाजिक प्राणी को यह खतरा डावांडोल नहीं कर सकता था, क्योकि अवचेतन मन ईश्वर के साथ उसी प्रयासहीन सामजस्य का अनुभव करता है जिसका आश्वासन उसकी निर्दोषता सब अमानवी प्राणियों को देती है। जब ऐसे याग (Yang) के गतिमान् होने से मानवीय चेतना एवं व्यक्तित्व का सर्जन हुआ जिसमे ईश्वर ने प्रकाश को अन्धकार से अलग कर दिया तो यह निषेधक रूप से परमानन्दपूर्ण 'यीन' अवस्था टूट गयी। मानव की जो चेतन आत्मा अद्भुत आध्यात्मिक प्रगति की उपलब्धि के लिए ईश्वर के वाहन का काम करती है, वही ईश्वर का प्रतिबिम्ब होने के बोध के कारण जब उन्मत्त हो जाती है और अपने को ही प्रतिमा रूप मे ढाल लेती है तो अपने को शोचनीय पतन के गर्त

में भी गिरा लेती है। यह आत्मघाती प्रणयोन्माद जो अहंकार के पाप की मजबूरी है, आध्यात्मिक पथभ्रष्टता मात्र है। अस्थिर सन्तुलन मानव व्यक्तित्व का सार है और इस अस्थिर सन्तुलन की अवस्था में जब आत्मा रहती है तब उसके लिए सदा ही आध्यात्मिक पथभ्रष्टता की ओर उन्मुख होने का भय बना रहता है। और यह आत्मा निर्वाण की 'यीन' स्थिति मे किसी आध्यात्मिक प्रत्यावर्तन द्वारा आत्म-पलायन करके नही पहुंच सकती। जिस पुनरुपलब्ध यीन-स्थिति मे मनुष्य को मुक्ति मिलती है वह निस्तेज आत्म-विनाश की शान्ति नही वरन् भलीभाति कसा हुआ सामंजस्य है। चित्त का कार्य है 'बाल-सुलभ चीजो को छोड़ देने के पश्चात्' बालोपम गुणो की पुनरुपलब्धि। ईश्वर के इच्छानुसार चलने और ईश्वर का अनुग्रह पाने के ईश्वरदत्त संकल्प के साहसिक प्रवर्तन द्वारा आत्मा को ईश्वर के साथ फिर से वही बच्चो-जैसा सानिध्य प्राप्त करना है।

यदि मनुष्य की मुक्ति का मार्ग यही है तो उसे बड़ा कठोर मार्ग तय करना है क्योकि जिस महती सर्जन-क्रिया ने उसे 'होमोसेपियस' बनाया उसी ने उसी कलम से उसके लिए 'होमोकांकोर्स' बनना कठिन कर दिया और जो सामाजिक प्राणी 'होमोफेबर' है उसे यदि अपने को नष्ट नही कर लेना है तो उसे सहकारितापूर्वक चलना ही होगा।

मानव मे जो सहजात सामाजिकता है उसके कारण प्रत्येक मानव समाज प्रभावपूर्ण रूप से सर्वग्राही होता है। आज १६५२ ई. तक कोई भी मानव समाज सामाजिक क्रियाशीलता के प्रत्येक स्तर पर विश्वव्यापी नही हो सका, किन्तु एक लौकिक वा धर्मनिरपेक्ष आधुनिक पाश्चात्य सम्यता ने पिछले दिनो, तुल्य राजनीतिक एव सांस्कृतिक सफलता प्राप्त किये बिना आर्थिक एवं प्रौद्योगिक स्तर पर करीब-करीब विश्वव्यापकता प्राप्त कर ली है और दो विश्वयुद्धो के विध्वसकारी अनुभव के बाद यह अनिश्चित ही है कि 'मार गिराओ' वाली भयानक रूप से परिचित उस नीति के बिना विश्व राजनीतिक रूप से सयुक्त हो सकेगा जो सभ्यताओ के इतिहास में विश्वव्यापी ऐक्य का परपरागत मूल्य रही है। किन्तु किसी तरह भी मानव जाति की एकता ऐसे भद्दे और असस्कृत तरीके से नही प्राप्त की जा सकती; यह केवल ईश्वर की एकता के विश्वास के अनुसार आचरण करने और इस ऐकिक पार्थिव समाज को ईश्वर के राष्ट्रमंडल (कामनवेल्थ) का एक प्रान्त समझने के प्रासगिक परिणाम के रूप मे ही प्राप्त की जा सकती है।

ईश्वर के राष्ट्रमडल के मुक्त समाज और सम्पूर्ण सभ्यताओ मे समादृत बन्द समाज के बीच जो महती खाई है और जिस आध्यात्मिक उड़ान के बिना यह खाई पार नही की जा सकती, उसका चित्रण करते हुए एक आधुनिक पाश्चात्य तत्त्वचिन्तक कहते है—

"मनुष्य का निर्माण बहुत छोटे-छोटे समुदायों के लिए हुआ था। यह बात सामान्यतः मानी जाती है कि आदिमकालीन समुदाय इसी प्रकार के होते थे किन्तु इतना और मानना पड़ेगा कि आदिमकालीन मानवात्मा का अस्तित्व बराबर कायम है, हां, वह ऐसी आवर्तों में छिपा हुआ है जिसके बिना सभ्यताओं का जन्म ही न हो सकता था···। सभ्य मानव आदिमकालीन मानव से मुख्यतः इस

बात में भिन्न है कि इसके पास ज्ञान का अटूट भंडार है और वे आदतें हैं जिन्हें उसने उपार्जित किया है···प्राकृतिक मानव उपार्जित विशेषताओं के नीचे दब गया है, फिर भी वह मौजूद है, उसमें करीब-करीब कोई परिवर्तन नहीं हुआ है।···यह कहना गलत है कि "प्रकृति को बाहर निकालो तो वह और द्रुत गति से लौटेगी", क्योंकि आप उसे निकाल बाहर कर ही नहीं सकते। वह सदा वहां है। लोगों की यह कल्पना सत्य नहीं है कि उपार्जित विशेषताएं इन्द्रियों में गर्भित होकर आनुवंशिक रूप से अपने को प्रकट करती है। भले दमित हो जाय किन्तु आदिमकालीन प्रकृति चेतना की गहराइयों में बनी रहती है। वह अत्यन्त सभ्य समाजों में भी खूब प्राणवती होकर रहती है····। हमारे सभ्य समाज यद्यपि इस प्रकार के समाज से भिन्न है जिनके लिए हम मूलतः बनाये गये थे, फिर भी एक तात्त्विक बात में उससे मिलते हैं। दोनों ही समानरूप से बन्द समाज हैं। अपनी प्रवृत्ति से हम जिन लघु मंडलियों के लिए बनाये गये हैं, उनकी तुलना में यद्यपि सभ्यताएँ बड़ी विशाल हो गयी हैं फिर भी उनमें कुछ लोगों को शामिल करने और दूसरे कुछ को निकालने की वही खासियत वर्तमान है। एक राष्ट्र, फिर चाहे वह कितना ही महान हो, और मानवता के बीच वही अन्तर है जो सीमाबद्ध और असीम में, बन्द—रुद्ध—और मुक्त में है।

"इस बद्ध समाज और मुक्त समाज, नगर एवं मानवता के बीच केवल मात्राभेद नहीं है, बल्कि प्रकार-भेद है। राज्य की एकता केवल उसको अपने को दूसरे राज्यों से बचाने की आवश्यकता के कारण है। आदमी अपने देश-बन्धुओं को इसलिए प्यार करता है कि वह विदेशियों से घृणा करता है। यह आदिम-कालिक प्रवृत्ति है और सभ्यता के बाह्यावरण के नीचे अब भी वर्तमान है। अब भी हम अपने रिश्तेदारों और अपने पड़ोसियों के लिए प्राकृतिक प्रेम का अनुभव करते हैं। परन्तु मानवता का प्रेम एक संस्कारित रुचि है। पहली स्थिति में हम सीधे पहुंच जाते हैं, जबकि दूसरी में सैकेंडहैंड या दूसरे के द्वारा होकर पहुँचते है क्योंकि केवल ईश्वर के माध्यम द्वारा ही धर्म मानव को मानवजाति से प्रेम करने की स्थिति तक पहुँचाता है, ठीक वैसे ही जैसे तत्त्ववेत्ता केवल विवेक के द्वारा ही हमें मानव व्यक्तित्व की महत्ता और मनुष्यों के अधिकार का सम्मान करना सिखाते है। न तो पहिले, न दूसरे दृष्टान्त में हम मानवता की धारणा तक दर्जे-बदर्जे अर्थात् कुटुम्ब और राष्ट्र के रास्ते पहुँच सकते हैं।"[1]

ईश्वर के भाग लिये बिना मानवजाति की एकता हो नही सकती; जब स्वर्गीय चालक को हटा दिया जाता है, तब मनुष्य न केवल उस वैमनस्य में जा फसता है जो उसकी सहजात सामाजिकता के प्रतिकूल है वरं एक दुःखदायी समस्या से भी संतप्त होता है जो उसके सामाजिक प्राणी होने के कारण उसमे अन्तर्निहित है; जितना ही

[1] बर्गसां, एच. : 'ला दिउ सोर्सेज डला मोरेल एत दि ला रिलीजन।' (पेरिस, १९३२। 'अल्कन') पृष्ठ २४-२८, २८८, २९३, २९७

वह अपनी सामाजिक प्रकृति के अनुकूल जीने का प्रयत्न करता है उतनी ही तीव्रता के साथ वह तबतक उसके सामने उपस्थित होती रहती है जबतक वह एक समाज मे अपना अभिनय करता रहता है, एक सत्य ईश्वर जिसका सदस्य नही है । समस्या यह है कि जिस सामाजिक क्रिया मे मनुष्य अपने को सार्थक करता है वह काल एव अवकाश, समय एव व्यवधान दोनो की दृष्टि से पृथिवी पर व्यक्ति की जीवन-सीमा के आगे निकल जाती है । इस प्रकार मात्र उसमे भाग लेने वाले प्रत्येक मानव व्यक्ति के दृष्टिकोण से देखने पर इतिहास 'एक जडमति द्वारा कही कहानी है जिसका कोई अर्थ नही । किन्तु जब मनुष्य उस इतिहास मे 'एक सत्य ईश्वर' के कर्तृत्व की झाकी पा लेता है तो बाह्य दृष्टि से देखने पर निरर्थक 'आवाज एव आवेश' एक आध्यात्मिक अर्थ ग्रहण कर लेता है ।

इस प्रकार यद्यपि एक सभ्यता अस्थायी रूप से अध्ययन का बोधगम्य क्षेत्र हो सकती है, ईश्वर का राष्ट्रमडल ही एक मात्र नैतिक दृष्टि से सहन किये जाने योग्य कर्मक्षेत्र है और पृथिवी पर इस 'ईश्वरीय नगर' (Civitas Dei) की सदस्यता वा नागरिकता मानवात्मा को महत्तर धर्मों द्वारा अर्पित की जाती है । यदि मनुष्य पृथिवी पर स्वेच्छापूर्वक ईश्वर के सहकारी के रूप मे अपना अभिनय कर सकता है तो लौकिक इतिहास मे वह जो खडात्मक एव क्षणभगुर भाग लेता है उससे उसे मुक्त किया जा सकता है । क्योकि स्थिति पर ईश्वर का जो प्रभुत्व है वह मनुष्य के नगण्य प्रयासो को एक दैवी मूल्य एव अभिप्राय से मडित कर देता है । मनुष्य के लिए इतिहास की यह युक्ति इतनी मूल्यवान् है कि धर्मनिरपेक्ष आधुनिक पाश्चात्य जगत् मे भी, इतिहास का एक प्रच्छन्न ईसाई दर्शन आगे होने वाले भूतपूर्व ईसाई बुद्धिवादियो के लिए रख छोडा गया है ।

> **"चूंकि बाइबिल गास्पेल (ईसा के सदुपदेश), सृष्टि की कथा तथा ईश्वर राज्य की घोषणा मे विश्वास रखते है इसीलिए ईसाइयों ने इतिहास की सकलता (Totality) का समन्वय करने का प्रयत्न किया । इसके बाद किये गये इसी प्रकार के प्रयत्नों ने केवल उस बीजातीत (Transcendent) लक्ष्य को बदल दिया जो ईश्वर के स्थानापन्न के रूप में सेवा करने वाली विविध अन्तर्निहित शक्तियों-द्वारा मध्ययुगीन समन्वय के ऐक्य का आश्वासन देता था; किन्तु प्रयास प्रधानतः वही रहा, और वे ईसाई ही थे जिन्होने सबसे पहिले इसकी कल्पना की, अर्थात् उन्होने इतिहास की सकलता की एक बुद्धिगम्य व्याख्या की जिससे मानवता के आरभ का कारण विदित हुआ और उसके अन्त का पता चला ।**
>
> **"समस्त कार्टेशियन प्रणाली एक ऐसे सर्वशक्तिमान् ईश्वर की धारणा पर आधारित है जो एक प्रकार से स्वयं अपने को उत्पन्न करता है और इसलिए निर्णयात्मक ढंग से (a fortiori) शाश्वत सत्यों की भी सृष्टि करता है जिनमें गणित के सत्य भी सम्मिलित हैं । यह असत् वा शून्य से (ex-Nihilo) समस्त जगत का उद्भव करता है और निरन्तर सृष्टि करते हुए उसको सुरक्षित रखता है क्योकि इसके बिना सम्पूर्ण वस्तुएं उसी शून्य वा असत् भाव**

(Nothingness) में समा जायेंगी जिसमें से उसकी इच्छा ने उनको निकाला है। जरा लीबनिज के मामले पर ध्यान दो। यदि उचित ईसाई तत्वों का दमन कर दिया जायगा तो फिर उसकी विचार-प्रणाली में क्या बचेगा ? उसकी अपनी आधारिक समस्या का बयान भी नहीं—अर्थात् वस्तुओं का क्रान्तिकारी उद्भव और एक स्वतंत्र एवं परिपूर्ण ईश्वर-द्वारा जगत की सृष्टि।...यह एक आश्चर्य-जनक और ध्यान देने योग्य तथ्य है कि यदि हमारे समयुगीन 'ईश्वर के नगर' और गास्पेल से उसी तरह निवेदन नहीं करते जिस तरह लीबनिज ने बिना हिचकिचाहट के किया था तो इसका कारण यह बिलकुल नहीं है कि उन पर इनका प्रभाव नहीं पड़ा है। उनमें बहुतेरे उसी से जीते हैं जिसे भूल जाने के लिए चुनते हैं।"[1]

अन्ततः एक सत्य ईश्वर की उपासना करने वाले समाज मे ही, उस भूतप्रेत बाधा (दुष्प्रभाव) के निवारण का आश्वासन प्राप्त हो सकता है जिसका हम इस अध्ययन के पिछले भाग मे नकल का खतरा (Perilousness of Mimesis) कहकर वर्णन कर चुके है। जैसा कि हम देख चुके है, सभ्यता की सामाजिक शरीर-रचना मे 'एकीलीज की एडी' (Achilles' heel) उसकी (सभ्यता-की) अनुकरण-निर्भरता है। यह अनुकरण एक ऐसी सामाजिक कवायद (Social Drill) के रूप मे होती है जिसका उद्देश्य यह निश्चय कराना होता है कि मानव जाति के सब सामान्य जन अपने नेताओ का अनुगमन करेगे। जब यीन-स्थिति से उस याग-क्रिया मे परिवर्तन होता है जो आदिकालीन समाज की प्रकृति मे उत्परिवर्तन वा नामान्तरण के द्वारा सभ्यता की उत्पत्ति के समय घटित होती है तब सामान्य जन अपने पूर्वजो का अनुकरण छोडकर जीवित पीढी के रचनाशील मानव व्यक्तित्वो का अनुकरण करने लगते है, किन्तु इससे सामाजिक प्रगति के लिए जो रास्ता खुलता है उसका अन्त मृत्यु के द्वार पर जाकर हो सकता है क्योकि कोई भी मानव प्राणी अपनी सीमा के अन्दर ही सर्जनशील हो सकता है और वह भी पराश्रयी हुए बिना नही और जब एक अपरिहार्य असफलता वैसे ही अपरिहार्य स्वप्न भग को जन्म देती है तब बदनाम नेताओ को अपने नैतिक दृष्टि से वचित अधिकार को बनाये रखने के लिए हिसक बल का सहारा लेना पडता है। ईश्वरीय नगर मे अनुकरण के एक नवीन स्थानान्तरण-द्वारा यह खतरा दूर हो जाता है। क्योंकि अनुकरण ऐहिक सभ्यताओ के क्षणभंगुर नेताओं से हटकर सम्पूर्ण मानवीय सर्जनशीलता के उद्गम ईश्वर की ओर चला जाता है।

ईश्वर का अनुकरण इन मानवात्माओ को उन निराशाओ की गोद मे नही डाल सकता जो परम ईश्वरानुरूप मानवो तक के अनुकरण से होती हैं और जब निराशाएं पैदा होती हैं तब वे एक अशान्त श्रमजीवीवर्ग के नैतिक पतन का कारण होती हैं। यह अशान्त श्रमजीवीवर्ग एक ऐसे समाज से बनता है जो अब केवल

[1] **गिलसन, ई . 'दि स्पिरिट आव मेडीवियल फिलासफी' अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन १९३६, शीड ऐण्ड वार्ड) पृ. ३९०-९१ एवं १४-१७**

प्रभावशाली अल्पमत बनकर रह गया है। इस प्रकार आत्मा एवं एक सत्य ईश्वर के बीच जो सांनिध्य स्थापित होता है वह उस बन्धन के रूप में कभी नहीं बदल सकता जो एक दास और निरकुश राजा के बीच होता है क्योंकि प्रत्येक महत् धर्म में विभिन्न मात्राओं में, शक्ति रूपी ईश्वर की कल्पना प्रेम के रूप मे की गयी है और इस प्रेमालु ईश्वर को एक मरते हुए ईश्वर के साक्षात् अवतार रूप में उपस्थित करना एक ऐसा ईश्वरीय न्यायवाद (Theodicy) है जो ख्रीष्ट के अनुकरण को अन्य पुनरुज्जीवन-रहित मानवो के अनुकरणो मे अन्तर्निहित दु खान्त घटना से सुरक्षित कर देता है।

चर्चों के जीवन में सभ्यताओं की भूमिका

(१) पूर्वरंग के रूप में सभ्यताएं

यदि पूर्वोक्त अनुसन्धान ने हमें विश्वास दिला दिया है कि महत्तर धर्मों को साकार रूप देने वाले चर्च, इस पृथिवी पर, एक और समान, 'ईश्वरीय नगरी' (Civitas Dei) के विविध सन्निकट मान हैं और ईश्वर का यह राष्ट्र-मण्डल (कामन-वेल्थ) समाज की जिस प्रजाति का एकमात्र और विचित्र प्रतिनिधि है, वह आध्यात्मिक दृष्टि से उस प्रजाति की अपेक्षा उच्चतर कोटि की है जिसका प्रतिनिधित्व सभ्यताए करती है, तो हम अपनी इस मूल कल्पना को उलटने के अपने प्रयोग मे आगे जाने के लिए प्रोत्साहित होगे कि इतिहास में सभ्यताओ की भूमिका ही प्रधान स्थान रखती है और चर्चों की भूमिका गौण या उसके अधीन है। तब हम सभ्यताओ के रूप मे चर्चों की व्याख्या न करके साहसपूर्वक एक नया रास्ता पकड़ेंगे---चर्चों के रूप मे सभ्यताओ पर विचार करने का। यदि हम सामाजिक कर्कट वा कैंसर की खोज में हो तो हम उसे उस चर्च मे नही पायेगे जो सभ्यता का अधिकार अपहरण करके उसकी जगह खुद छा जाता है अपितु उस सभ्यता में पायेंगे जो चर्च का मूलोच्छेद कर उसके स्थान पर बैठ जाती है, और जब हमने चर्च की उस कोशकीट के रूप में कल्पना की जिसके द्वारा एक सभ्यता दूसरी को जन्म देती है तो हमे अब उस आभासी सभ्यता की कल्पना चर्च के अवतार के पूर्वरग (Overture) के रूप मे करनी है और सम्बद्ध सभ्यता को आध्यात्मिक उपलब्धि के उच्चतर स्तर से प्रत्यावर्त्तन के रूप में ग्रहण करना है।

इस प्रतिज्ञा की पुष्टि के लिए एक टेस्ट केस के रूप मे यदि हम ख्रीष्टीय चर्च के जन्म को ले ले और अनेक शब्दो के लौकिक अर्थ किस प्रकार धार्मिक अर्थ एव प्रयोग मे बदल गये, इस सूक्ष्म किन्तु महत्त्वपूर्ण प्रमाण को उपस्थित करे तो हम उस भाषा-शास्त्रीय प्रमाण से इस दृष्टिकोण का समर्थन होता पायेंगे कि ख्रीष्टमत एक ऐसी धार्मिक विषयवस्तु है जिसमे लौकिक पूर्वरंग वर्तमान है और यह पूर्वरंग न केवल यूनानी सार्वभौम राज्य की रोमी (रोमन) राजनीतिक सफलता में सन्निहित है वर स्वयं यूनानीवाद या यूनानी संस्कृति (हेलेनिज्म) की सब अवस्थाओ एवं पहलुओं में मिली सफलता भी उसमें सम्मिलित है।

ख्रीष्टीय चर्च अपने नाम तक के लिए एथेंस नगर में प्रयुक्त उस पारिभाषिक

शब्द के लिए ऋणी है जो राजनीतिक कार्य निपटाने वाली नागरिको की सामान्य सभा के लिए प्रयुक्त होता था, किन्तु इस 'इक्लीजिया' (Ecclesia) शब्द को ग्रहण करने के बाद चर्च ने उसे एक ऐसा उभयार्थ प्रदान किया जिसमे रोम साम्राज्य की राजनीतिक पद-श्रेणी का प्रतिबिम्ब दिखायी पड़ता था। ईसाई प्रयोग मे इक्लीजिया के दो अर्थ हो गये—एक स्थानीय ईसाई समुदाय, दूसरा सार्वभौम खीष्टीय चर्च।

जब स्थानीय एव सार्वभौम खीष्टीय चर्च 'लेटी' (गृहस्थ, ससारी) एव 'वल्कर्जी' (पुरोहित-पादरी) नामक दो धार्मिक वर्गों मे बटकर ग्रन्थिल हो गया और जब 'वल्कर्जी' भी पद-श्रेणियो के एक सोपानिक संघटन (heirarchy) मे परिवर्तित हो गये तो उनके लिए भी जिन शब्दो की आवश्यकता पडी वे प्रचलित लौकिक यूनानी और लैटिन शब्द-भाण्डार से ही ले लिये गये। खीष्टीय चर्च का लेटी एक आदिम यूनानी शब्द 'लाओस' (laos) से ले लिया गया। लाओस शब्द जनसाधारण के लिए उन पर शासन करने वालो से उनकी भिन्नता प्रकट करने के लिए प्रयुक्त होता था। 'वल्कर्जी' ने अपना यह नाम यूनानी शब्द 'क्लेरोज' (Kleros) से लिया जिसका अभिप्राय तो 'मण्डली' था किन्तु उसका प्रयोग न्यायिक अर्थ मे होता था—उत्तराधिकार-प्राप्त जायदाद के निर्दिष्ट अश के लिए। खीष्टीय चर्च ने इस शब्द को ग्रहण कर उसका प्रयोग ईसाई समुदाय के एक ऐसे अश के लिए कर लिया जिसे ईश्वर ने अपनी सेवा तथा व्यावसायिक पौरोहित्य के लिए नियुक्त किया था। जहा तक आर्डर (order) या श्रेणी का सवाल है यह 'आर्डाईस' (ordines) शब्द से ले लिया गया जो रोमन राजसंस्था के राजनीतिक सुविधा-प्राप्त वर्गों के लिए प्रयोग किया जाता था। सर्वोच्च 'आर्डर' (श्रेणी) के सदस्य 'बिशप' कहलाने लगे जिसका अर्थ ओवरसियर (निरीक्षणकर्ता) था और जो 'एपिस्कोप्वाइ' (Episcopoi) से ग्रहण किया गया था।

जब तक खीष्टीय चर्च की धर्मपुस्तक के लिए 'ता बिब्लिया' (पुस्तके) शब्द का प्रयोग नही आरम्भ हुआ था तब तक उसे भूराजस्व के रोमन शब्द-भाण्डार से लिये गये शब्द स्क्रिप्चुरा (Scriptura) से अभिहित किया जाता था। ईसाई धर्म के जो दो 'टेस्टामेण्ट' (प्रतिज्ञापत्र) है उन्हे यूनानी मे 'दायाथेकाई' (diathekai) तथा लैटिन मे 'टेम्ठामेण्टा' इसलिए कहा जाता था कि उन्हे ऐसे वैध आदेशों के समान समझा गया जिन्हे ईश्वर ने पृथिवी के मानव जीवन को व्यवस्थित करने की दृष्टि से मानव के नाम दो किस्तो मे जारी किया था।

प्रारम्भिक खीष्टीय चर्च मे जो लोग आध्यात्मिक दृष्टि से विशिष्ट थे उन्होने अपनी साधना या प्रशिक्षण के लिए यूनानी शब्द 'ऐसेसिस' (acesis) लेकर 'एसेटिक' (वैरागी, तपस्वी) बना लिया। यद्यपि इसका प्रयोग प्रमुख यूनानी खेलो मे भाग लेने वाले कुश्ती-बाजो को दिये जाने वाले शारीरिक प्रशिक्षण के लिए होता था। और जब चौथी शती में शहीद होने के प्रशिक्षण का स्थान ससार-त्यागी—वैरागी—के प्रशिक्षण ने ले लिया तो इस नये प्रकार के ईसाई मल्ल ने, जिसकी साधना फौजदारी, कचहरी एव अखाडो में नाम प्राप्त करने की जगह मरुस्थल के एकान्त से सम्बद्ध थी, एक दूसरे यूनानी शब्द एनाकोरितीज (anachoretes) को ग्रहण कर लिया जो मूलत. ऐसे लोगों के लिए

प्रयुक्त होता था जो दार्शनिक चिन्तन-मनन या उत्पीडनकारी कर-भार के प्रति विरोध प्रकट करने के लिए अपने को व्यावहारिक जीवन से विच्छिन्न कर लेते थे। वही शब्द उन ईसाई उत्साहियों के लिए, विशेषत. मिस्र मे, प्रयुक्त होने लगा जो लौकिक दुराचरण के प्रति विरोध प्रकट करने तथा ईश्वर से सानिध्य स्थापित करने के लिए मरुस्थल में एकान्त निवास करने चले जाते थे। 'एरेमास' (Eremos) शब्द से 'एरेमाइट' वा 'हर्मिट' (सन्यासी) बन गया। जब इन एकान्तवासियो (Monachoi मोनाचोई=Monks मांक्स) ने अपने नाम के शाब्दिक अर्थ का परित्याग कर दिया और अनुशासित समुदायो के रूप मे रहने लगे तो पारिभाषिक शब्दो के विपरीत अर्थों के बोधक इस एकान्तवासी समाज (Monastrion) ने अपने नाम के लिए एक लैटिन शब्द 'कान्वेण्टस' (Conventus) ग्रहण कर लिया जो अपने लौकिक रूप मे दो बातो के लिए प्रयुक्त होता था—'त्रैमासिक अधिवेशन' और 'व्यापार परिषद'।

जब प्रत्येक स्थानीय चर्च में होने वाली सावधिक सभाओं की मूलतः अनौपचारिक कार्रवाइया बाद मे एक कठोर एवं तीव्र कर्मकाण्ड में बदल गयीं तो उस धार्मिक जनसेवा के लिए 'लीतूर्जिया' (Leiturgia) या अग्रेजी 'लीटर्जी' (गिर्जा का प्रार्थना-स्थल) शब्द को ले लिया गया जो पाचवी या चौथी ईसापूर्व शतियों मे एथेंस के राष्ट्र-मण्डल मे धनिको-द्वारा स्वेच्छा से किये जाने वाले व्यय के लिए प्रयुक्त होता था और जो इस सम्मानप्राप्त नाम से किंचित् मधुरता के आवरण मे वस्तुत एक अधिकर के तथ्य को छिपाने के लिए प्रयुक्त किया जाता था। इस सार्वजनिक प्रार्थना में मुख्य आचार या पवित्र समागम। (Holy Communion) जिसमे उपासकगण रोटी और मदिरा एक साथ बैठकर खाते-पीते थे और इस प्रकार खीष्ट के भीतर एव खीष्ट के साथ होने का एक प्राणवान् अनुभव प्राप्त करते थे। इस ईसाई सहभोज सस्कार (Sacrament) ने अपना नाम एक ग्राल्य रोमन प्रथा से ग्रहण कर लिया जिसके द्वारा एक नया रगरूट रोमी सेना की सदस्यता की शपथ लेता था। पवित्र समागम या होली कम्यूनियन, जिसकी परिणति सस्कार या सहभोज (सैक्रामेण्ट) मे होती थी, ने अपना नाम एक ऐसे शब्द से ले लिया जो अपने यूनानी रूप मे 'काईनोनिया' (Koinonia) और अपने लैटिन अनुवाद मे 'कम्यूनियो' होने के कारण किसी भी सामाजिक कार्य—विशेषत. राजनीतिक समाज—मे भाग लेने का अर्थ प्रकट करता था।

एक भौतिक अर्थ के अन्दर आध्यात्मिक अर्थ का उद्बोध उस उपक्रम का उदाहरण है जिसे इस अध्ययन के किसी पूर्वभाग मे हमने अलौकिकीकरण (Etherialisation) की सज्ञा दी है और उसे विकास का एक लक्षण माना है। यूनानी एव लैटिन शब्द-भाण्डार के अलौकिकीकरण का यह सर्वेक्षण—जिसे आसानी से बढ़ाया जा सकता है—इतना प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि यूनानी सभ्यता वस्तुतः ईसाई धर्म के लिए एक तैयारी (Praeparatio evangelii) या भूमिका थी और खीष्टीय मत के पूर्वरंग-रूप में यूनानी सभ्यता की जो सेवा है उसके मुख्य

प्रयोजन की खोज करते हुए हमने एक आशाप्रद अनुसन्धान की जमीन पर पांव रखे हैं। जब एक सभ्यता के जीवन ने एक प्राणवान् चर्च को जन्म देने के पूर्वरंग-रूप में सेवा की तो पूर्वगामी सभ्यता की मृत्यु को संकट नहीं वरं अपनी जीवन-गाथा की समुचित समाप्ति के अर्थ में ही ग्रहण किया जाना चाहिए।

(२) सभ्यता—प्रत्यावर्त्तन या प्रतीपगति के रूप में

हम यह देखने की चेष्टा करते रहे हैं कि यदि हम चर्चों के इतिहास को सभ्यताओं के रूप में देखने के आधुनिक पाश्चात्य स्वभाव को तोड़कर उसका प्रतिकूल दृष्टिकोण ग्रहण कर ले तो इतिहास कैसा दीख पड़ेगा। इसने हमे यह सोचने को भी प्रेरित किया है कि दूसरी पीढ़ी की सभ्यताओं को जीवित महत्तर धर्मों के पूर्व-रंग के रूप में ग्रहण करें तथा उसके फलस्वरूप उनके पतन एवं विघटन के कारण उन्हे असफल न समझें बल्कि उन्होंने इन महत्तर धर्मों के उत्पन्न होने के कार्य मे सहायता कर जो सेवा की है उसके कारण उन्हें सफल समझें। इस दृष्टि से तृतीय पीढ़ी की सभ्यताए पूर्वगामी सभ्यताओं के ध्वंसावशेष से उदित महत्तर धर्मों के प्रत्यावर्तनों के रूप मे देखी जा सकती हैं, क्योंकि उन विनष्ट सभ्यताओं की लौकिक विफलता की पूर्ति यदि आध्यात्मिक परिणामो को देखकर मान ली जाय तो धर्मसघीय कीट-कोशों से निकलने और अपने लिए एक नया पार्थिव जीवन जीना आरंभ करने की लौकिक सफलता की जाँच भी इसी कसौटी पर की जानी चाहिए कि उसका आत्मा के जीवन पर क्या प्रभाव पडता है। यह प्रभाव, स्पष्टत., प्रतिकूल ही रहा है।

यदि हम मध्ययुगीन पाश्चात्य ख्रीष्टीय लोकतन्त्र (Medieval Western Republica Christiana) से एक आधुनिक पाश्चात्य धर्म-निरपेक्ष सभ्यता के उद्भव को टैस्ट केस के रूप मे ग्रहण करें तो हमने इस अध्याय के प्रथमार्द्ध मे शब्दों के अर्थ एवं प्रयोग में परिवर्तन का उदाहरण देते हुए जो जाच-शैली अपनायी है उसी का अनुसरण कर हम इस सन्दर्भ में भी शब्द-परिवर्तन की तुच्छ घटनाओं पर विचार कर सकते हैं। पहले हम 'क्लेरिक' शब्द लेते हैं। 'पवित्र पदानुक्रम' मे जो क्लर्क होता था उसको हम लौकिक जगत् मे भी नम्र क्लर्क (लिपिक) के रूप मे पाते हैं। यह लौकिक क्लर्क इंगलैण्ड मे छोटे आफिस कार्यों का सम्पादन करता है तथा अमेरिका मे किसी भण्डार या स्टोर के बिक्रय-पटल (काउंटर) के पीछे काम करता है। 'कन्वर्जन' (Conversion) शब्द पहिले आत्मा को ईश्वर की ओर मोड़ने के अर्थ में प्रयुक्त होता था, वह आज 'कोयले का विद्युत-शक्ति के रूप में कन्वर्जन' (रूपान्तरण) अथवा 'पाच प्रतिशत माल का तीन प्रतिशत माल के रूप में कन्वर्जन' (परिवर्तन) के सन्दर्भ में हमारे लिए अधिक परिचित है। अब हम 'आत्माओं की चिकित्सा' की बात कम सुनते हैं, 'दवाइयों से शरीर की चिकित्सा' की बात बहुत ज्यादा सुनायी देती है। 'पवित्र दिवस' (Holy Day) आज 'अवकाश दिवस' (Holiday) हो गया है। ये सब उदाहरण 'भाषागत लौकिकी-करण' (Linguistic

dis-etherialization) अथवा 'भावागत अलौकिकीकरण के परित्याग' की बात ही कहते हैं जो समाज के धर्म-निरपेक्षीकरण का प्रतीक है।

"फ्रेडरिक द्वितीय महत् इन्नोसेंट का शिष्य एवं प्रतिपाल्य (Ward) था; वह राज्य के रूप में चर्च का संस्थापक था। वह एक बौद्धिक मनुष्य था और यदि हम उसकी साम्राज्य-कल्पना में चर्च की परछाई पाते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। समस्त इतालीय-सिस्लीय (Italian Siclian) राज्य, जिसके प्रति पोपगण पीटर के पितृदाय (Patrimony) के रूप में लुब्ध थे, इस प्रतिभावान् नरेश के लिए आगस्टस का पितृदाय बन गया। फ्रेडरिक ने चर्च की आध्यात्मिक एकता में समाहित लौकिक एवं बौद्धिक शक्तियों को युक्त करने तथा उन पर आधारित एक नये साम्राज्य का निर्माण करने की चेष्टा की।······ आइए, हम फ्रेडरिक के इतालीय-रोमन राज्य के पूरे महत्त्व को हृदयगम करें; एक शक्तिमान् इटालियन पक्षीय सामन्त-राज्य (Seignoiry), जिसने एक लघु अवधि के लिए एक राज्य के अंदर जर्मन, रोमन एव प्राच्य सब तत्त्वों को संयुक्त कर दिया था—फ्रेडरिक स्वयं महान् सामन्त एवं एक महत् निरंकुश राजा के रूप में विश्व का सम्राट था और रोम का मुकुट धारण करने वाले राजाओं में अंतिम था। बारबूसा की भांति उसका सीजर पद न केवल जर्मन बादशाहत से सम्बद्ध था वरं प्राच्य सिसिलीय (Oriental Sicilian) निरंकुशता से भी संबन्धित था। इस बात की अवधारणा कर लेने के बाद, हम देखते हैं कि 'रिनैसां' के समस्त निरकुश शासक, स्काला एवं मांट फेल्ट्रे, वाइकौंटी, बोर्जिया एवं मेडिसी, अपने लघुतम रूपो में भी, फ्रेडरिक द्वितीय के ही पुत्र एवं उत्तराधिकारी, इस 'द्वितीय सिकन्दर' के आगे राजा बनने वाले सेनापति (ग्याडोची) थे।"[१]

होहेनस्टाफेन के फ्रेडरिक के उत्तराधिकारियो की सूची और लम्बी की जा सकती है और उसमे ईसाई संवत् की बीसवी शती तक के लोगों का समावेश किया जा सकता है। आधुनिक पाश्चात्य जगत् की लौकिक या धर्म-निरपेक्ष सभ्यता, एक दिशा से, उसकी भावना से निःसृत जान पड़ती है। यह कल्पना करना बिल्कुल व्यर्थ होगा कि चर्च तथा लौकिक राजाओ के मध्य संघर्ष में सारा दोष एक पक्ष का ही था, हम तो यहां केवल यह कहना चाहते हैं कि ईसाई लोकतन्त्र के गर्भ से एक लौकिक सभ्यता का राक्षसी जन्म एक ऐसे यूनानी निरकुश राज्य के रिनैसां (पुनर्जागरण) के कारण ही सभव हुआ जिसमें धर्म राजनीति का एक विभाग था।

जब तीसरी पीढ़ी की सभ्यता ख्रीष्ट धर्म-सस्था से ही निकलकर अपना रास्ता बनाने मे समर्थ हुई तो क्या दूसरी पीढ़ी की आभासिक सभ्यता की सफलता के लिए 'रिनैसा' एक नित्य एव अपरित्याज्य साधन था ? यदि हम हिन्दू सभ्यता

[१] कैंटोरोविज, ई. : फ्रेडरिक दि सेकेण्ड, ११६४-१२५०, अंग्रेजी अनुवाद (लंदन १६३१, कांस्टेबुल) पृ० ५६१-२, ४६३-४

के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो हमें मालूम हो जायगा कि मौर्यों या गुप्तों के साम्राज्य मे इस प्रकार के समानान्तर पुनरुज्जीवन के दृष्टान्त प्राप्त नही होते ? किन्तु जब हम भारत से हटकर चीन की ओर मुडते हैं और सुदूरपूर्वीय सभ्यता को उसके गृहदेश में ही देखते है तो हमे हान साम्राज्य के सुई एवं ताग पुनरावर्तन मे रोमन साम्राज्य के पुनरावर्तन की एक आकर्षक एव अभ्रान्त प्रतिमूर्ति मिलती है। जो अन्तर है वह परिस्थिति का है। साम्राज्यवाद का सिनाई 'रिनैसा' पवित्र रोमन साम्राज्य के यूनानी रिनैसा की अपेक्षा कही सफल था, कम से कम प्राच्य सनातन खीष्टीय समाज (Eastern Orthodox Christian Society) के राज्य-क्षेत्र मे बैजैंतियाई (बैजैंटाइन) साम्राज्य का जो समानान्तर यूनानी 'रिनैसा' (पुनर्जागरण) था, उससे तो अधिक सफल निश्चय ही था। हमारे वर्तमान अनुसधान के लिए यह महत्त्वपूर्ण है कि तीसरी पीढी की सभ्यता भी, जिसके इतिहास मे उसकी पूर्ववर्ती का रिनैसा बहुत ज्यादा दूर तक प्रविष्ट हो गया था, उस चर्च के जाल से अपने को मुक्त करने मे बडी सफल थी जिसे उसकी पूर्ववर्ती ने जन्म दिया था। जिस महायान बौद्ध मत ने म्रियमाण 'सिनाई' (चीनी) जगत् को उतनी ही पूर्णता से मुग्ध कर लिया था, जितनी पूर्णता से ईसाई धर्म ने मृतप्राय यूनानी जगत् को वशीभूत किया था, वह सीनोत्तर (Post Sinic) राज्यान्तरकाल (इटररेनम) के चरम पतन में भी अपनी उन्नति के शिखर पर पहुच गया था किंतु इसके बाद तेजी के साथ उसका पतन हो गया। इतना प्रदर्शित कर देने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि एक मृत सभ्यता का 'रिनैसा' (पुनर्जागरण) एक जीवित महत्तर धर्म से प्रत्यावर्तन या प्रतीप गति का सूचक है और वह (रिवाइवल) जितना ही आगे ठेला जायगा, पापाच्छन्नता उतनी ही अधिक होती जायगी।

पृथिवी पर युयुत्सा की चुनौती

पिछले अध्यायों में हमने देखा कि जो लौकिक सम्यता धर्म-संघ से अलग हो गयी उसके लिए पूर्ववर्ती सम्यता के जीवन से कुछ तत्त्वों की सहायता लेकर अपना मार्ग बनाना स्वाभाविक था किंतु हमें अब भी इतना देखना शेष है कि इस विच्छेद का अवसर कैसे उपस्थित होता है; और निश्चित रूप से बुराई के इस प्रारम्भ की खोज हमें चर्च के किसी दुर्बल बिन्दु या गलत कदम में करनी चाहिए जिसकी कीमत पर या जिसके कारण यह विस्फोट सम्भव हो सका।

चर्च के लिए एक भयानक समस्या उसके मुख्य प्रयोजन में ही निहित है। इस पृथिवी को 'ईश्वरीय नगरी' के लिए जीतने की दृष्टि से चर्च युयुत्सु है और इसका मतलब यह है कि एक चर्च को आध्यात्मिक के साथ लौकिक विषयों से भी निपटना और पृथिवी पर अपने को एक संस्था के रूप में भी संघटित करना है। इस प्रकार एक अवज्ञापूर्ण परिवेश में ईश्वर का कार्य करने में चर्च को अपनी अलौकिक नम्नता ढकने के लिए ऐसे ठोस सांस्थिक आवरण की आवश्यकता पड़ती है जो चर्च की आध्यात्मिक प्रकृति के विरुद्ध होता है। इसलिए यह देखकर आश्चर्य नहीं होता कि संत-समागम की वह पार्थिव बाहरी चौकी जो लौकिक समस्याओं के समाधान की ओर आकर्षित हुए बिना इस संसार मे अपना काम नहीं कर सकती, संकटापन्न हो जाती है क्योंकि इन लौकिक समस्याओं पर सस्थागत अस्त्रों से आक्रमण करना उसके लिए आवश्यक हो जाता है।

इस तरह की सबसे प्रसिद्ध दुःखान्त घटना हिल्डेब्रैण्डाइन पोपतंत्र (पैपेसी) का इतिहास है और इस अध्ययन के किसी पिछले भाग में हम देख चुके हैं कि आभासतः अनिवार्य कारण-कार्य शृंखलाओं-द्वारा किस प्रकार हिल्डेब्रैण्ड करार पर घसीट लाया गया। यदि वह यौन एवं आर्थिक भ्रष्टाचार से पुरोहित या पादरी वर्ग का उद्धार करने की लड़ाई में अपने को न डालता तो वह ईश्वर का सच्चा सेवक नहीं हो सकता था, और वह चर्च के सघटन में चुस्ती न ले आता तो पादरी वर्ग का सुधार भी नहीं कर सकता था और चर्च के सघटन मे चुस्ती लाना तब-तक सम्भव न था जबतक कि चर्च एवं राज्य की अधिकार-सीमाओं का स्पष्ट निर्धारण न हो जाता और चूँकि सामंती युग में चर्च एवं राज्य के कार्य एक दूसरे

से अविच्छेद्य रूप में ग्रथित एवं सम्मिश्रित हो गये थे इसलिए वह तबतक चर्च के सन्तोष योग्य सीमा-निर्धारण न कर सकता था जबतक कि राज्य के क्षेत्र में अनधिकृत रूप से कुछ अंश काटकर चर्च को न दे देता। और ऐसा करने पर राज्य का विरोध करना उचित ही था। परिणाम यह हुआ कि पहिले आविपत्रों (Manifestoes) की लड़ाई के रूप में संघर्ष शुरू हुआ और तीव्र गति से बलात् युद्ध में अधःपतित हो गया। इस युद्ध में 'द्रव्य और बन्दूकें' प्रत्येक पक्ष के साधन बन गयीं।

हिल्डेब्रैण्डाइन चर्च की दुःखान्त घटना ऐसी आध्यात्मिक प्रतीप गति या प्रत्यावर्त्तन का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है जो चर्च के पार्थिव मामलों में उलझ जाने और अपना काम करने की चेष्टा करते हुए प्रसग-वश लौकिक कार्य-प्रणाली ग्रहण करने से अवक्षिप्त हुआ। इस आध्यात्मिक रूप से विध्वंसक इहलौकिकता तक पहुंचने के लिए एक दूसरा प्रशस्त मार्ग भी है। अपने मान (स्टैण्डर्ड) के अनुसार जीवित रहने के आचरण में ही चर्च आध्यात्मिक पश्चाद्गमन का खतरा उठाता है। क्योंकि पार्थिव संस्थाओं के पुण्यात्मक सामाजिक उद्देश्यों मे ईश्वरेच्छा अंशतः प्रकट होती है और ये पार्थिव आदर्श उन लोगों के द्वारा और अधिक सफलता के साथ पूर्ण हो सकते हैं जो इन आदर्शों को स्वयं अपने मे कोई साध्य नही मानते बल्कि उनमे कोई और ऊंची चीज पाने की कोशिश करते है। इस नियम के प्रवर्त्तन के दो अत्युत्कृष्ट उदाहरण हैं—सन्त बेनेडिक्ट तथा पोप ग्रिगोरी महान् की सफलताएं। ये दोनों सन्त पश्चिम में आश्रम जीवन-प्रणाली की श्रीवृद्धि के लिए तुल गये थे, फिर भी अपने आध्यात्मिक कार्य के एक आनुषगिक फल के रूप मे इन दो वीतराग महात्माओं ने ऐसे आर्थिक चमत्कार कर दिखाये जो लौकिक राजमर्मज्ञों की क्षमता के बिल्कुल बाहर थे। उनकी आर्थिक सफलताओं की प्रशंसा ईसाई एवं मार्क्सवादी दोनों प्रकार के इतिहासकार समान रूप मे करेंगे। इतने पर भी यदि ये प्रशंसाएं बेनेडिक्ट एवं ग्रिगोरी को परलोक मे सुनायी पड़ती तो ये सन्त निश्चय ही, गलतफहमी की व्यथा के साथ, अपने गुरु एव आचार्य की उक्ति का स्मरण करते—"यदि सभी लोग तुम्हारे विषय मे अच्छा कहे तो अपने पर अनिष्ट ही आया समझो।" और यदि वे किसी प्रकार इस धरती पर पुनः आ सकते तथा अपनी आखों मे देखते कि उन्होने इस पृथिवी पर रहते समय जो आध्यात्मिक प्रयत्न किये थे उनके अनुवर्ती आर्थिक प्रभावों के अन्तिम नैतिक परिणाम क्या हुए तो उन्हें निश्चय ही घोर यन्त्रणा होती।

व्यग्रकारी सत्य तो यह है कि ईश्वरीय नगरी के आध्यात्मिक परिश्रम के आनुषगिक भौतिक फल केवल उसकी आध्यात्मिक सफलता का ही प्रमाणपत्र नही हैं, वे ऐसे जाल भी हैं जिनमें एक आध्यात्मिक मल्ल उससे कहीं अधिक पैशाचिकता के साथ फंसाया जा सकता है जितने के साथ एक उग्र हिल्डरब्रैण्ड राजनीति एवं युद्ध मे उलझ जाने के बाद विनष्ट हो सकता है। सन्त बनेडिक्ट के युग तथा तथाकथित 'रिफार्मेशन' में ईसाई धार्मिक संस्थाओं के लूटे जाने के बीच के

मठ वा आश्रम-जीवन के इतिहास की हजारों साल की कहानी से लोग परिचित हैं और प्रोटेस्टेण्ट तथा ईसाई-विरोधी लेखको के सब दोषारोपो मे विश्वास रखने की आवश्यकता नही है। आगे हम जो उद्धृतांश दे रहे है वह एक ऐसे आधुनिक लेखक की कृति से ले लिया गया है जो आश्रम-विरोधी दुर्भावना के सन्देह से परे है और जिसे सामान्यतः प्राक्-रिफार्मेशन मठवास या यति-जीवन का अन्तिम एव निकृष्टतम युग समझा जाता है, उसकी बात नहीं कहता—

"ऐबाट (Abbot=मठाधीश) और कान्वेण्ट (ईसाई धार्मिक समुदाय) में जो खाई आ गयी उसका मुख्य कारण सम्पत्ति का संचय था। कालान्तर में मठों की जायदादें इतनी बढ़ गयीं कि मठाधीश अपनी जमीनों की व्यवस्था तथा तत्सम्बन्धी जिम्मेदारियों में ही पूर्णत व्यस्त रहने लगा। जायदादों तथा कर्त्तव्यों के विभाजन का ऐसा ही एक उपक्रम स्वयं साधुओं या मठवासियों में भी चल रहा था।···प्रत्येक मठ व्यवहारतः विभिन्न विभागों में विभाजित था; प्रत्येक विभाग की अपनी आय होती थी और अपने विशिष्ट दायित्व होते थे।···जैसा डोम डेविड नोवेल्स कहते हैं—"विंचेस्टर, कैण्टबरी तथा संत अल्बांस के मठों को छोड़कर, जहां कि प्रबल बौद्धिक अथवा कलात्मक हित वर्तमान थे, इस प्रकार का व्यवसाय एक ऐसी जीविका बन गया जो मठ में प्राप्त सम्पूर्ण प्रतिभा को आत्मसात् कर लेती थी।"···जिनमें प्रबन्धपटुता के गुण थे किन्तु जिनके पास कोई ऐसी जायदाद न थी कि उस पर उसका प्रयोग कर सकते, उनको विशाल सम्पत्ति एव जायदाद वाले मठों में पर्याप्त अवसर मिल गया।"[१]

फिर भी वह सन्यासी, जो एक सफल व्यवसायी के रूप मे अध.पतित हो गया है, आध्यात्मिक पश्चाद्गमन वा प्रत्यावर्तन के सबसे साघातिक रूप को प्रकट नही करता। इहलोक मे 'ईश्वरीय नगरी' के नागरिकों के लिए, घात मे छिपा सबसे निकृष्ट प्रलोभन राजनीति मे कूदना या व्यवसाय मे फिसल जाना नही है वर उस पार्थिव सस्था को देवता बना देना है जिसमे इस पृथिवी पर युयुत्सु चर्च अपूर्णत., यद्यपि अपरिहार्य रूप से, गठित है। देवरूप मे परिवर्तित मानवीय वल्मीक, जिसकी मनुष्य तिमिंगिल वा सागर-दैत्य के रूप में पूजा करते हैं, जितना अनिष्टकारी होता है उससे कही अधिक अनिष्टकारी यह देवरूप मे ढली चर्च की प्रतिमा है।

जब चर्च अपने बारे मे यह विश्वास करने लगता है कि वह न केवल सत्य का भाण्डार है वर अपने पूर्ण एव निश्चित रूप में व्यक्त सम्पूर्ण सत्य का एक मात्र भाण्डार है, जब वह कशाघातो, विशेषतः अपने ही परिवार के सदस्यो की चोटो, से उत्पीडित होता है तभी अवरोहण की दिशा मे पग धरता है। इसका

[१] **मरमैन, जे. आर एच.: "चर्च लाइफ इन इंग्लैण्ड इन दि थर्टीन्थ सैन्चरी" (कैम्ब्रिज, १९४५, यूनिवर्सिटी प्रेस) पृष्ठ २७९-८०, २८३,३५३.**

एक उत्कृष्ट उदाहरण है—रिफार्मेशन[१]-विरोधी ट्रीडैण्टाइन[२] रोमन कैथोलिक चर्च का वह रूप जिसमें कैथोलिकइतर जन उसे देखते थे। पिछले चार सौ वर्षों से हमारे लिखने के समय तक वह प्रहरी की भांति, ऐसी मुद्रा मे खड़ा रहा है जो उतनी ही अनम्य है जितनी उसकी चौकसी अटूट है—पोपतंत्र के शिरस्त्राण-सहित प्रबल कवच से सज्जित, सीने पर पद-मर्यादा का प्लेट लगाये तथा कठोर धर्माचार की आवर्त्तक लय मे ईश्वर की सैनिक सलामी लेते हुए। इस दुर्वह सस्थात्मक सर्वांग कवच का अवचेतन उद्देश्य था—इस ससार की समकालीन लौकिक सस्थाओ में दृढ़तम के आगे भी जीवित रहना। ईसाई संवत् की बीसवी शती मे एक कैथोलिक आलोचक, पिछले चार सौ वर्षों के इतिहास के प्रकाश मे कुछ जोर के साथ तर्क कर मकता है कि प्राक्-ट्रीडेण्टाइन कैथोलिक मत की हलकी शस्त्र-सज्जा के प्रति भी जो प्रोटेस्टेण्ट अधैर्य दिखायी पड़ा वह समय के पूर्व था। किन्तु यदि सगत भी होता तो इस निर्णय से यह सिद्ध नही होता कि अवरोधो को दूर करने की चेष्टा सदा ही गलत होगी या यह कि उनका ट्रीडेण्टाइन गुणीकरण एक गलती नही थी।[३]

[१] पाश्चात्य ईसाई जगत में होने वाला एक महत्त्वपूर्ण धार्मिक आन्दोलन, १६वीं शती में आरम्भ। मार्टिन लूथर द्वारा धर्मादेश से मनवायी गयी निष्ठा के विरुद्ध छेड़ा गया आन्दोलन। आरम्भ में नैतिक एवं धार्मिक। पोपलीला का पर्दा फाश करने वाला आन्दोलन।—अनुवादक

[२] रोमन कैथलिक चर्च की १५४५ ई. से १५६३ ई. तक ट्रेण्ट में हुई कौंसिल से सम्बन्धित।—अनुवादक

[३] उपर्युक्त अनुच्छेद, 'इतिहास का अध्ययन' के इस भाग की अन्य सामग्री के साथ, टाइप की हुई प्रति के रूप में लेखक के मित्र मार्टिन वाइट के पास भेज दिया गया था। पूरी पुस्तक में उनकी अनेक टिप्पणियां दी गयी हैं। उन्हीं की एक टिप्पणी निम्नलिखित है—"यहाँ एक रोमन कैथोलिक आलोचक, आपके द्वारा ही प्रायः प्रयोग किये गये शब्दों में वही उत्तर देगा—'अन्तिम सिंहावलोकन करो' (Respice Finem)। ऊपर का सम्पूर्ण अनुच्छेद ही संभावना के ऊपर आधारित है; वह अभी तक तो पूरी हुई नहीं है। क्या यह तथ्य नहीं है कि रोमन चर्च कौंसिल आव ट्रेंट के बाद कभी इतना शक्तिमान् और प्रभावशाली नहीं था जितना आज बीसवीं शती में है? जब १८७० ई में इसने अपने धर्म-विश्वास में पोप की निर्भ्रान्तता को ग्रहण किया था तब १६५० ई. में भी अपने सौभाग्य के आभासिक शिखर पर पहुँचकर उसने लौकिक पाश्चात्य जगत् का अपमान करते हुए आत्मविश्वास के रूप में, कुमारी माता (वर्जिन मदर) वाले सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया। क्या हमारे लिखने के समय इसी प्रकार संभावना नहीं की जा सकती कि अपने ट्रीडेण्टाइन सर्वांग कवच के साथ रोमन चर्च ही एक ऐसी पाश्चात्य संस्था है जो नवजात्य

अब हमने महत्तर धर्मों से लौकिक सभ्यताओं के निष्फल पुनरावर्त्तनों के प्रतीपगमन के कुछ कारणों पर अपनी उँगली रखी है और प्रत्येक मामले में हमने यह पाया कि संकट किसी निष्ठुर नियति (Saeva necessitas) अथवा किसी अन्य बाह्य शक्ति द्वारा नहीं, बल्कि एक ऐसे 'मूल पाप' (Original Sin) द्वारा अवक्षिप्त किया जाता है जो पार्थिव मानव प्रकृति में सहज है। किन्तु यदि महत्तर धर्मों से प्रतीपगमन या परावर्त्तन (Regression) मूल पाप का परिणाम है तो क्या हम यह समझ लें कि ये परावर्तन अनिवार्य है? यदि वे ऐसे ही हैं तो इसका मतलब यह होगा कि इस पृथिवी पर युयुत्सा की चुनौती निषेधात्मक रूप से इतनी कठिन है कि कोई भी चर्च अन्त में उसके सामने खड़े होने मे समर्थ नही है। फिर यह निष्कर्ष हमे पुनः इस विचार की ओर खींच ले जायगा कि चर्च इससे ज्यादा और कुछ नही है कि निरर्थक पुनरावर्तित सभ्यताओं के लिए क्षणभंगुर कीटकोशों का काम कर दे। क्या यही अन्तिम निष्कर्ष है? इससे पूर्व कि हम लाचारी के साथ मान लें कि ईश्वर की प्रकाशधारा किसी अगम्य अंधकार मे स्थायी रूप से निमग्न होकर नष्ट हो जाने के लिए है, आइए, हम एक बार पुनः उन आध्यात्मिक ज्योति-मालिकाओ पर दृष्टिपात कर लें जो महत्तर धर्मों के अवतरण-द्वारा संसार में लायी गयी हैं क्योंकि अतीत आध्यात्मिक इतिहास के ये अध्याय उन परावर्त्तनों से आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की दिशा मे शकुनसूचक सिद्ध होंगे।

हमने यह भी देखा है कि मनुष्य की आध्यात्मिक प्रगति मे क्रमानुसार जो मील के पत्थर हैं और जिन पर इब्राहीम, मूसा पैगम्बरों और ख्रीष्ट के नाम खुदे हैं, ऐसे स्थानो पर लगे हैं जहा से लौकिक सभ्यता की धारा का सर्वेक्षण करने वाला बता सकता है कि रास्ता कहा-कहा कटा हुआ है और कहां आवागमन में विच्छेद है, और आनुभविक प्रमाणों ने हमे यह विश्वास करने का कारण प्रदान किया है कि मानव के धार्मिक इतिहास में उच्च बिन्दुओं के साथ उसके लौकिक इतिहास के निम्न बिन्दुओ का आकस्मिक योग संभवतः मानव के पार्थिव जीवन के ही 'नियमों'—कानूनो—मे से एक होगा। यदि ऐसा है तो हमें यह जानने की आशा करनी चाहिए कि लौकिक इतिहास के उच्च बिन्दुओ का भी धार्मिक इतिहास के निम्न बिन्दुओं से अकस्मात् मिलन होता है और इहलौकिक ह्रास के साथ जो धार्मिक सफलताएं लगी

साम्यवादी राज्य के सामने खड़े होने और उसे चुनौती देने योग्य साबित होगी? और मास्को वैटिकन (पोपतंत्र) के प्रति जो विशेष भय एवं घृणा प्रकट करता है उससे क्या इस बात की पुष्टि नहीं होती? यदि ऐसा है तो इस डायनोसार (एक भीमकाय रेंगने वाले जन्तु) के पृष्ठ-वर्म की आकृति उतनी संगत नहीं होगी जितना कि एक लम्बा एवं सफलतापूर्वक संचालित घेरा। और कैथोलिक इतिहास की ट्रीडेण्टाइन स्थिति, सिंहावलोकन में, फ्रांस के पतन से विजय-दिवस के ब्रिटिश इतिहास की चर्चिलीय अवस्था-जैसी ही दिखायी पड़ेगी। आपने परिणाम के बारे में पहले से ही फैसला कर लिया है।"

रहती है वे न केवल आध्यात्मिक प्राप्ति वर आध्यात्मिक पुनरुज्जीवन की भी सूचक हैं। कथा के परम्परागत पाठ मे भी उन्हें पुनरुज्जीवन की भाति उपस्थित किया गया है।

उदाहरणार्थ हिब्रू पुराण में इब्राहीम (अब्राहम) के आवाहन का कारण 'टावर आव बेबल'[१] के आत्मविश्वासी निर्माताओं-द्वारा ईश्वर की अवज्ञा को बताया गया है। इसी प्रकार मूसा का मिशन मिस्र की उच्च रहन-सहन के अमंगलकारी प्रयोग से ईश्वर की प्रिय जाति की रक्षा करना था। यहावा ने इसराइल को जो देश प्रदान किया था उसमे दुग्ध एवं मधु की धाराए बहती थीं। इस देश के उपयोग-द्वारा इसराइल ने बडी भौतिक सफलता प्राप्त की थी किन्तु इसी के कारण वह आध्यात्मिक दृष्टि से अधःपतित हो गया था। इसी के प्रति अनुताप प्रकट करने की शिक्षा देने की प्रेरणा इसराइल एव जूडा के नबियो को हुई थी। जैसा कि एक लौकिक इतिहासकार देखता है, ईसा के भावावेग (Passion) में यूनानी सकट-काल (Hellenic Time of Troubles) की सम्पूर्ण तीखी वेदना भरी हुई है और ईसा का धर्ममन्त्र बाइबिल मे उस प्रसविदा (Covenant) को समस्त मानव जाति तक प्रसारित कर देने के प्रयोजन से स्वय ईश्वर के हस्तक्षेप के रूप मे उपस्थित किया गया है, जो पहिले ईश्वर ने एक ऐसे इसरायली के साथ किया था जिसके वशजो ने अपने आध्यात्मिक उत्तराधिकार को फारसी नियमानुवर्त्तनवाद (Formalism), सादूसी भौतिकवाद (Sadducaen Materialism), हीरोदीय अवसरवाद (Herodian Opportunism) तथा धर्मोन्मत्त कट्टरता के साथ मिश्रित कर दिया था।

इस प्रकार हमने देखा कि आध्यात्मिक ज्योतिर्मयता के चार विस्फोट आध्यात्मिक ग्रहण (Eclipse) तथा पार्थिव सकटो के कारण हुए और इससे हम यह अनुमान लगा सकते है कि यह कोई घटनाओ का अध्याय नही है। हमने इस अध्ययन के किसी पिछले भाग मे देखा है कि शारीरिक दृष्टि से कठोर परिस्थितियां ही पार्थिव सफलताओ की पोषणशालाए होती है और इस साधर्म्य के अनुसार इस बात की भी आशा की जा सकती है कि आध्यात्मिक दृष्टि से कठोर परिस्थितिया भी धार्मिक प्रयत्नो पर स्फूर्तिप्रद प्रभाव डालेगी। आध्यात्मिक दृष्टि से कठोर परिस्थिति वह परिस्थिति होगी जिसमे आत्मा की प्रेरणाए भौतिक समृद्धि-द्वारा अवरुद्ध हो गयी हो, सासारिक समृद्धि की दूषित भाप या मडाध, जो समुदाय को अचेत कर देती है, आध्यात्मिक दृष्टि से सवेदनशील एव कर्मठ आत्माओ को इस जगत् के आकर्षणो की अवज्ञा करने को उत्साहित कर सकती है।

क्या खीष्टीय सवत् की बीसवी शती की दुनिया मे धर्म के प्रति प्रत्यावर्त्तन आध्यात्मिक प्रगति का द्योतक होगा अथवा वह जीवन के उन कठोर तथ्यो से अस-

[१] शीनार प्रवेश का स्तंभ जिसमें विविध भाषाओं में अनेक लोगों के एक साथ बोलने के कारण बड़ा भ्रम फैला था। कोलाहल एवं भ्रम का स्थान। खामखयाली योजना।—अनुवादक

भव पलायन का एक अधम प्रयास होगा जिन्हे हम जानते हैं ? इस प्रश्न का हमारा उत्तर अंशत आध्यात्मिक विकास की संभावनाओ के अपने अनुमान पर निर्भर करेगा।

हम पहले ही एक संभावना के सम्बन्ध में लिख चुके है कि वह समय ज्यादा दूर नही जब लौकिक अधुनातन पाश्चात्य सभ्यता का विश्वव्यापी प्रसार एक ऐसे सार्वभौम राज्य की स्थापना-द्वारा अपने को राजनीतिक रूप में परिवर्तित कर लेगा जो भौतिक सीमा-रहित एक राष्ट्र-मण्डल मे सम्पूर्ण पृथिवी को अपनाकर इस प्रजाति के राजतत्र के आदर्श की पूर्ति करेगा। इसी सदर्भ मे हमने इस सभावना पर भी विचार किया कि ऐसे निर्माण के अन्दर चारों जीवित महत्तर धर्मों के अनुयायी शायद समझ ले कि एक समय की उनकी प्रतिस्पर्धी प्रणालिया वस्तुत एक ही सत्य ईश्वर तक पहुँचने के अनेक विकल्प -- मार्ग हैं और ये मार्ग ऐसे स्थानों से गुजरते है जिनमे एक ही मंगलमूर्ति की विविध आंशिक झलकें देखने को मिलती हैं। हमने यह धारणा भी बनायी कि इस प्रकाश मे ऐतिहासिक जीवित्त चर्च परस्पर मिल-जुल कर एक ही युयुत्सु चर्च मे विकसित होकर अन्त मे अनेकता मे एकता को अभिव्यक्त करें। यह मानते हुए कि ऐसा ही होना है, क्या इसका अर्थ यह होगा कि उस अवस्था मे ईश्वर का राज्य पृथिवी पर स्थापित हो जायगा ? खीष्टीय सवत् की बीसवी शती के पाश्चात्य जगत् मे यह एक अपरिहार्य प्रश्न है क्योंकि पृथिवी पर किसी न किसी प्रकार के स्वर्ग की स्थापना अधिकाश लौकिक विचार-धाराओ का लक्ष्य रही है। इस लेखक की राय मे प्रश्न का उत्तर नकारात्मक है।

इस नकारात्मक उत्तर का प्रकट कारण समाज की प्रकृति एवं मनुष्य की प्रकृति मे ही दिखायी पडता है। क्योकि समाज व्यक्तियो के कर्मक्षेत्रों की सर्वनिष्ठ भूमि के सिवा और कुछ नही है और मानव-व्यक्तित्व मे बुराई और भलाई की एक सहज क्षमता वर्तमान है। हमने जिस प्रकार के एक ही युयुत्सु चर्च की स्थापना की कल्पना की है वह मनुष्य को मूल पाप से मुक्त नही कर सकता। यह जगत् ईश्वर के राज्य का एक प्रान्त है किन्तु यह विद्रोही प्रान्त है, और उसके स्वभाव को देखते हुए लगता है कि वह सदा ही ऐसा रहेगा।

८. वीर-युग

२९

दुःखान्तिका की धारा

(१) एक सामाजिक बाँध

जब एक आकर्षक रूप से सर्जनात्मक अल्पमत का, गर्हित रूप से प्रभुताशाली अल्पमत के रूप मे पतन हो जाता है तथा इसी कारण जब एक विकासशील सभ्यता विनष्ट हो जाती है तो इसका एक परिणाम यह होता है कि कभी के आदिम समाज मे से उन धर्मान्तरित लोगो का विच्छेद हो जाता है जिन्हे विकासमान सभ्यता अपने सास्कृतिक विकिरण (Radiation) या प्रकाश द्वारा प्रभावित कर रही थी। तब उन भूतपूर्व धर्मान्तरितो का व्यवहार प्रशसा से घोर विरोध मे बदल जाता है; जहा वे हर बात का अनुकरण करते थे वहा युद्ध के लिए तैयार हो जाते है। इस युद्ध का दो मे से एक परिणाम होता है। जहा तक स्थानीय युद्धभूमि आक्रामक सभ्यता को किसी ऐसी प्राकृतिक सीमा तक बढने की सभावना प्रदान करती है जो अभी तक अ-नौ-गम्य (Unnavigated) सागर या अनतिक्रमित (Untraversed) मरुस्थल या अनारोहित (Unsurmounted) पर्वतश्रेणी के रूप मे रही हो, वहा तक बर्बरो को निश्चित रूप से पराजित किया जा सकता है, किन्तु जहा इस प्रकार की प्राकृतिक सीमा नही है, वहाँ भूगोल सैनिक कारवाई मे बर्बरो की सहायता करता है, क्योकि वहा पीछे हटते हुए बर्बर को अपने पृष्ठ-भाग (Rear) मे युद्ध के दाव-पेच के लिए ऐसा असीम क्षेत्र प्राप्त होता है कि बार-बार बदलता लड़ाई का मोर्चा (Battle front) देर-सबेर ऐसी रेखा पर पहुँच जाता है जहा आक्रामक सभ्यता की सैनिक श्रेष्ठता, आक्रामक के आधार-केन्द्र से लडाई का मैदान बहुत दूर चले जाने के कारण, निरर्थक हो जाती है।

इस रेखा पर हटता-बढता रहने वाला युद्ध किसी सैनिक निर्णय पर पहुँचे बिना एक स्थिर युद्ध मे परिवर्तित हो जायगा और दोनो पक्ष अपने को ऐसी गतिहीन स्थितियो मे पायेगे जहा वे एक दूसरे के आस-पास इस प्रकार जीवित रहेगे जैसे सभ्यता के विघटन एव एक-दूसरे के विरोधी होने के पूर्व, सभ्यता के सर्जनात्मक अल्पमत एव उसके द्वारा धर्मान्तरित लोगो के रूप मे साथ-साथ रहते थे। किन्तु साथ-साथ रहते हुए भी इन दोनों दलों के मानसिक सम्बन्ध विरोध से पूर्व की सर्जनात्मक अन्योन्य-क्रिया (Interaction) मे फिर से नही बदलते; इसके अतिरिक्त

वे भौगोलिक अवस्थाएं भी पुन. नही आ पाती जिनमे सास्कृतिक अन्त समागम पहिले सम्भव हुआ था। विकासावस्था मे, सभ्यता एक विस्तृत प्रागण के पार फैली बर्बरता से छायापन्न थी जिससे बाहर का आदमी इस आकर्षक रगस्थली मे सहज ही प्रवेश पा लेता था, किन्तु जब मित्रभाव विरोध मे बदल गया तब यह सवाही सास्कृतिक देहली (Limen) एक विसवाही या पृथक्कारी सैनिक मोर्चे (Limes) मे परिवर्तित हो गयी। यह परिवर्तन उन अवस्थाओ की भौगोलिक अभिव्यक्ति है जिनसे वीर-युग का जन्म होता है।

सच पूछे तो वीर-युग इसी विसवाही सैनिक मोर्चे की परिणति का सामाजिक एव मनोवैज्ञानिक परिणाम है, और हमारा प्रयोजन अब यह है कि घटना-क्रम का पता लगाये। इसके लिए एक आवश्यक पार्श्वभूमि उन बर्बर युयुत्सु दलो का सर्वेक्षण है जिन्होने विविध सार्वभौम राज्यो की सैनिक शक्तियो के विविध विभागो से लोहा लिया। इस प्रकार का सर्वेक्षण इस अध्ययन के किसी पिछले भाग मे किया भी जा चुका है जिसमे हमने साम्प्रदायिक धर्म एव महाकाव्य के क्षेत्र मे इन युयुत्सु दलो की विशिष्ट सफलताओ का उल्लेख किया था। अपने वर्तमान अनुसधान मे बिना पुनरुक्ति के हम उपर्युक्त सर्वेक्षण से सहायता ले सकते है।

एक सैनिक मोर्चे की उपमा ऐसे प्रतिषेधक बाध से दी जा सकती है जो अब खुली न रह गयी घाटी के आर-पार फैला हो—मानवीय कौशल एव शक्ति का एक भव्य स्मारक, प्रकृति की अवज्ञा करने वाला—फिर भी अनिष्टकर, अनिष्टकर क्योंकि प्रकृति की अवज्ञा एक ऐसा कौशलपूर्ण कार्य है जिसे मनुष्य बिना दण्ड पाये नही कर सकता।

"अरब-मुसलमानी परम्परा में कहा गया है कि किसी जमाने में यमन में द्रवात्मक इजीनियरिंग (Hydraulic Engineering) का एक विशाल निर्माण था। इसे मआरिब की दीवार या बाँध कहते थे। यमन के पूर्वी पर्वतों से नीचे गिरने वाली जल-राशि वहां एक विशाल कुण्ड में संचित होती थी और फिर वहा से नहरों के रूप में निकलकर देश के एक बड़े भूभाग को सींचती थी। उसके कारण खेती की सघन प्रणाली को जीवन प्राप्त होता था और एक घनी आबादी उसके सहारे जीती थी। कहानी में कहा गया है कि कुछ समय बाद यह बाँध टूट गया और टूटने में हर चीज को नष्ट करता गया। देश-निवासियों पर ऐसा विषम संकट आया कि कितने ही कबीले देश छोड़कर बाहर चले गये।"[1]

जो अरब समूह-प्रवास (Volkerwanderung)[2] अरब प्रायद्वीप से बडी शक्ति एवं वेग से निकलकर तीनशान एव पिरेनीज के पार तक फैल गया था, उसके

[1] कैतानी, एल "स्तुदी दी स्तोरिया ओरियंतेल", भाग १ (मिलन १६११, होयप्ली) पृ. २६६

[2] जातियों का सामूहिक प्रवास; विशेषत. दक्षिणी एवं पश्चिमी यूरोप में टीटानिक जातियों का प्रवास।—अनुवादक

पीछे जो प्रेरणा थी उस पर इस कथा से प्रकाश पड़ता है। यदि इसे किसी उपमा में परिवर्तित कर दिया जाय तो यह प्रत्येक सार्वभौम राज्य के प्रत्येक सैनिक मोर्चे की कहानी बन जायगी। सैनिक बाँध के फट जाने की सामाजिक आपदा कोई अनिवार्य दुःखान्तिका (Tragedy) है या वह परिहार्य है ? इस सवाल का जवाब देने के लिए आवश्यक है कि सभ्यता और उसके बाह्य श्रमजीविवर्ग के बीच जो सम्बन्ध है उसकी प्राकृतिक धारा के साथ बाँध-निर्माताओं-द्वारा किये गये हस्तक्षेप के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक प्रभावों का हम विश्लेषण करें।

जब एक बाँध का निर्माण किया जाता है तो उसका पहिला काम होता है उसके ऊपर एक जलकुण्ड की रचना, किन्तु वह चाहे जितना बड़ा हो, उसकी एक सीमा तो होती ही है। वह अपने अपवाह क्षेत्र (Catchment Basin) के एक लघु अंश से अधिक का सचय कदापि नहीं कर सकता। बाँध के ठीक ऊपर जो जलमग्न क्षेत्र है उसमे और उस पार पीछे की ओर के ऊँचे एवं सूखे क्षेत्र में तीव्र अन्तर होगा। किसी पिछले सन्दर्भ मे हम पहिले ही उस अन्तर या विरोध का पर्यवेक्षण कर चुके है जो किसी सैनिक मोर्चे के अपनी सीमा मे रहने वाले बर्बरों के जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव और जरा ज्यादा दूर के पृष्ठ-प्रदेश (Hinterland) के आदिवासियों की अविचलित अवसन्नता के बीच होता है। स्लाव लोग प्रीपेट के दलदल मे दो हजार वर्षों तक अपना आदिमकालिक जीवन शान्तिपूर्वक बिताते रहे जब कि इसी युग ने पहिले 'मीनो लोगो के अर्णवतन्त्र' (Thalassocracy of the Minos) की यूरोपीय स्थलसीमा के सन्निकट होने के कारण टीटन बर्बरों को भी वैसे ही अनुभव से गुजरते हुए पाया। 'जलकुण्ड' वाले बर्बर ऐसे विशेष रूप मे क्यों अस्थिर हो गये ? और उसके बाद उनको प्राप्त होने वाली ऊर्जा, जिसने उन्हे सैनिक मोर्चे को तोड़कर निकल जाने मे समर्थ किया, का स्रोत क्या है ? यदि हम पूर्वी एशिया की भौगोलिक स्थिति मे अपनी उपमा का अनुसरण करे तो हमे इन प्रश्नों का उत्तर मिल सकता है।

मान लीजिए कि हमारी उपमा मे जो कल्पित बाँध सैनिक मोर्चे का प्रतीक है, उत्तरकालिक चीनी प्रदेशों, शिनसी एवं शानसी, के अन्दर से जाने वाली 'महती भित्ति' (महान दीवार, 'दि ग्रेट वाल') वाले क्षेत्र की किसी ऊँची घाटी के आर-पार बना है। बाँध के प्रतिस्रोत के मुहाने पर, बराबर बढ़ते जाने वाले परिमाण मे गिरती जलधारा का आदि उद्गम क्या है ? यद्यपि बाह्यतः सारे का सारा जल, बाँध के ऊपर से निचली धारा में आ जाता है किन्तु उसका आदि उद्गम उस दिशा मे नही हो सकता, क्योंकि बाँध एवं पनधारा या जल-विभाजक (Watershed) के बीच का अन्तर इतना अधिक नही है और पनधारा के पीछे शुष्क मंगोलियन पठार ((Plateau) फैला हुआ है। वस्तुतः जलपूर्ति का आदिस्रोत बाँध के ऊपर नही बल्कि उसके नीचे, मंगोलियन पठार मे नही, प्रशान्त महासागर से प्राप्त किया जा सकता है क्योंकि उसी का जल सूर्यताप मे भाप बनकर पुरवैया-द्वारा उड़ता फिरता और अन्त मे ठण्डी हवा के आघात से वृष्टि के रूप मे अपवाह क्षेत्र मे गिर पड़ता है। मोर्चे के बर्बर पक्ष मे जो मानसिक ऊर्जा (Psychic Energy) सचित होती है, वह नगण्य मात्रा मे सीमा

पार के बर्बरों के अपने लघु सामाजिक दाय से प्राप्त होती है किन्तु उसका अधिकांश उस सभ्यता के विशाल भाण्डार से प्राप्त होता है जिसकी रक्षा के लिए बाँध का निर्माण किया गया है।

मानसिक ऊर्जा का यह रूपान्तरण कैसे हो जाता है ? रूपान्तरण-प्रक्रम किसी संस्कृति का विघटन और नये साँचे मे उसका पुनर्घटन (Recomposition) है। इस अध्ययन मे अन्यत्र हमने सस्कृति के सामाजिक विकिरण की तुलना प्रकाश के भौतिक विकिरण से की है और उस सन्दर्भ मे हम जिन 'नियमो' (कानूनो) पर पहुँचे थे उनका स्मरण दिलाना यहाँ आवश्यक है।

पहिला नियम यह है कि समाकल (Integral) प्रकाश-किरण की भाँति ही समाकल संस्कृति-किरण भी, उपेक्षक पदार्थ के अन्दर प्रवेश करते समय, अपने अगभूत तत्त्वो के वर्ण-क्रम (Spectrum) मे विवर्तित (Diffracted) हो जाती है।

दूसरा नियम यह है कि यदि विकिरणशील समाज पहिले से ही विघटित होने लगा है, तो यह विवर्त्तन किसी विजातीय समाज-निकाय के सघात के बिना भी हो सकता है। विकासमान सभ्यता की परिभाषा यह है कि जिसमे उसके घटको— आर्थिक, राजनीतिक और प्रकृत अर्थ मे 'सांस्कृतिक' घटको—मे एक-दूसरे के साथ सामजस्य हो, और इसी सिद्धान्त के अनुसार एक विघटनशील सभ्यता की परिभाषा यो की जा सकती है कि जिसके उपर्युक्त तीनो घटकों में परस्पर विरोध पैदा हो गया हो।

हमारा तीसरा नियम यह है कि एक समाकल सस्कृति-किरण का वेग (Velocity) और वेधक शक्ति (Penertrating Power) उन विविध वेगो और वेधक शक्तियो की औसत या माध्य होती है जो विवर्त्तन के परिणामस्वरूप एक-दूसरे से स्वतन्त्र रूप से गतिशील होने वाले उसके आर्थिक, राजनीतिक एव सास्कृतिक घटक प्रदर्शित करते है। अविवर्तित सस्कृति की अपेक्षा आर्थिक एव राजनीतिक घटको की यात्रा की गति तीव्र होती है, 'सास्कृतिक' घटक अधिक धीमी गति से यात्रा करते हैं।

इस प्रकार एक विघटनशील सभ्यता तथा सैनिक मोर्चे के पार के उसके विच्छिन्न बाह्य श्रमजीविवर्ग के बीच सामाजिक समागम मे सभ्यता के विवर्तित विकिरण का दुःखद ह्रास होता है। आर्थिक एवं राजनीतिक समागम-- व्यापार एव युद्ध — के अतिरिक्त व्यवहारत सब ओर समागम समाप्त हो जाता है, इनमे से भी अनेक कारणो से व्यापार अधिकाधिक सीमित और युद्ध अधिकाधिक गहरा होता जाता है। कुटिल लक्षणों के इस प्रभाव मे जो कुछ वरणशील अनुकरण होता भी है वह बर्बरो के अपने अभिक्रम (Initiative) या पहल पर होता है। वे केवल उन तत्त्वों का अनुकरण करने की पहल करते है जिन्हे वे ऐसे रूप मे स्वीकार करते है कि नकल का अरुचिकर उद्गम छिपा ही रह जाय। मान्य रूपान्तरो तथा सचमुच नवीन कृतियो, दोनो के उदाहरण हम इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग में दे चुके है। यहाँ हम इतना ही स्मरण दिलाना चाहते हैं कि 'कुण्ड' वाले बर्बरो के लिए सन्निकट की सभ्यता के महत्तर धर्म को अपसिद्धान्त के रूप में ग्रहण कर लेना स्वाभाविक है (उदाहरणार्थ, गोथों का एरियन विधर्मी ईसाई धर्म)। इसी प्रकार संलग्न सार्वभौम राज्य के सीजर-

तन्त्र को ऐसे स्वेच्छाचारी राजतन्त्र के रूप में ग्रहण कर लेना भी उनके लिए स्वाभाविक है जो किसी कबीलाई कानून (Tribal law) पर नही, बल्कि सैनिक दबदबे पर आधारित हैं। मौलिक सृष्टि की बर्बर क्षमता वीर काव्य मे व्यक्त होती है।

(२) चाप-सचय (एक्यूमुलेशन आव प्रेशर)

सैनिक मोर्चे की स्थापना से जो सामाजिक बाड निर्मित होती है उस पर भी प्रकृति के वही नियम लागू होते है जो बाध के निर्माण मे पैदा होने वाली भौतिक बाड पर लागू होते है। बाध के ऊपर सचित जलराशि नीचे के पानी के साथ एक स्तर पर होना चाहती है। भौतिक बाध के ढाचे मे इजीनियर जल-कपाटो (Sluices) के रूप मे सुरक्षा-वाल्वो (Safety valves) की योजना करता है जिन्हे परिस्थिति के अनुसार खोला या बन्द किया जा सकता है। सैनिक मोर्चे का निर्माण करने में राजनीतिक इजीनियर भी इस सुरक्षा-युक्ति की उपेक्षा नही करते। किन्तु इस मामले मे युक्ति केवल जल-प्रलय (Cataclysm) को अवक्षिप्त कर देती है। सामाजिक बाध के अनुरक्षण मे नियमित जल-निस्सारण द्वारा दाब या चाप का निवारण असभव है, बाध को हानि पहुचाये बिना जलकुण्ड से पानी बाहर नही निकल सकता क्योकि बाध के ऊपर जो पानी होता है वह वर्षा या सूखे मौसम मे क्रमश. बढने और घटने की जगह, इस मामले मे स्वभावत निरन्तर बढता ही रहता है। आक्रमण और प्रतिरक्षा (Attack and defence) की प्रतियोगिता मे, अन्तत आक्रमण की ही विजय होती है। समय बर्बरो के अनुकूल है। हा, यह सम्भव है कि अपने मोर्चे के पीछे से, विघटित होती हुई सभ्यता के अभिलषित क्षेत्र मे टूट पडने और उसे आप्लावित कर देने मे लम्बा समय लग जाय। यह भी सम्भव है कि इस लम्बी अवधि मे बर्बरो की भावना उस सभ्यता से प्रभावित एव विकृत भी हो जाय जिससे उन्हे विच्छिन्न कर दिया गया है। यह लम्बी अवधि, जिसमे मोर्चा टूट जाता है और बर्बर द्रुत गति से बढ चलते हैं, 'वीरयुग' की आवश्यक भूमिका है।

मार्चे के निर्माण से सामाजिक शक्तियो का एक ऐसा अभिनय शुरू हो जाता है जिसका निर्माताओ के लिए सकटापन्न अन्त होना निश्चित है। उस पार के बर्बरो मे समागम-हीनता की नीति बिल्कुल अव्यावहारिक है। साम्राज्य सरकार जो भी निश्चय करे किन्तु व्यापारी, अग्रगामी और दुस्साहसी तथा इसी प्रकार के और लोग उसे अनिवार्यत सीमा के उस पार खीच ले जायगे। ईसाई सवत् की चौथी शती के अन्त मे यूरेशियाई अनुर्वर मैदानो को लाघकर आने वाले हूण यूरेशियाई खानाबदोशो अथवा यायावरो के साथ रोमन साम्राज्य के सम्बन्धो का इतिहास इसका एक उल्लेखनीय उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किसी सार्वभौम राज्य के सीमावासी लोग सीमा पार के बर्बरो से किस प्रकार मिल-जुलकर काम करने लगते है। यद्यपि हूण बड़े ही रक्त-पिपासु बर्बर थे, और यद्यपि रोमन साम्राज्य के यूरोपीय मोर्चे पर उनकी प्रधानता क्षणस्थायी थी, फिर भी इस लघु अवधि के समकालिक विवरण के जो अवशेष प्राप्त है उनमे इस प्रकार के भाई-चारे के तीन महत्त्वपूर्ण मामलो का उल्लेख

है। इनमें भी सबसे आश्चर्यजनक मामला तो ओरेस्तीज नाम के एक पन्नोनियन रोमन नागरिक का है जिसके पुत्र रोमुलस आगस्तुलस ने, पश्चिम के अन्तिम रोमन सम्राट के रूप में, कलंकपूर्ण महत्त्व प्राप्त किया। यही ओरेस्तीज कुछ समय तक प्रसिद्ध सेनानायक अट्टिला का सचिव रहा था।

अप्रभावपूर्ण रूप से विलग मोर्चे को पार कर बाहर जाने वाले पदार्थों मे शायद युद्धास्त्र ही सबसे महत्त्वपूर्ण थे। यदि बर्बरो को सभ्यता के गढ़ मे निर्मित अस्त्रो के प्रयोग का अवसर न मिला होता तो वे इतनी सफलता के साथ आक्रमण न कर सके होते। ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य के पश्चिमोत्तर सीमान्त पर १८६० ई. के बाद "कबीलाई क्षेत्र मे राइफलो एव गोला-बारूद के प्रवाह ने सीमान्त युद्ध का स्वरूप एकदम से बदल दिया।"[१] पहिले सीमापार के पठानो एव बलूचियो तक आधुनिक पाश्चात्य लघु शस्त्रास्त्रों के पहुंचने का साधन ब्रिटिश भारतीय सेनाओ पर छापा मारकर डकैती कर लेना मात्र था; 'इसमे कोई बड़े खतरे या चिन्ता की बात न थी किन्तु जब फारस की खाड़ी से, जो बूशहर और मस्कत दोनो स्थानो पर अग्रेज व्यापारियो के कब्जे में थी, उनके पास बहुत ज्यादा हथियार पहुचने लगे तो चिन्ता की बात हो गयी।'[१] इस मामले में साम्राज्य की प्रजा के निजी हित को साम्राज्य सरकार के सार्वजनिक हित पर प्रधानता देकर बर्बरो को दूर रखने की जगह उनके साथ व्यापार करने का एक उल्लेखनीय उदाहरण मिलता है।

किन्तु सीमा पार का बर्बर सन्निकट की सभ्यता से सीखी हुई श्रेष्ठतर चालों का प्रयोग करके ही सन्तुष्ट नही हो जाता, वह प्राय उनमे सुधार भी करता है। उदाहरणार्थ, कैरोलिगियन साम्राज्य तथा वैसेक्स के राज्य की सामुद्रिक सीमाओ पर स्कैन्देनेवियन जलदस्युओ ने सम्भवत: उदीयमान पाश्चात्य ईसाई जगत के फ्रीशियन समुद्री सीमा-वासियो से जलयान-निर्माण तथा नौकानयन का कौशल सीखकर उसका ऐसा अच्छा उपयोग किया कि उन्होंने समुद्र पर अपना आधिपत्य ही स्थापित कर लिया। यही नही, उसके साथ आक्रामक युद्ध में उन्होंने पहल करनी भी शुरू कर दी और अपने शिकार पाश्चात्य ईसाई देशो के विरुद्ध उनकी नदियो एव समुद्री किनारो पर कार्रवाई का आरम्भ कर दिया। नदियों पर बढते हुए वे उस सीमा तक पहुच गये, जहा तक नौ-परिवहन सम्भव था। तब अनुकरण में प्राप्त एक वस्तु को उन्होंने दूसरी से बदल लिया और चुराये हुए घोड़ों पर सवार होकर अपना अभियान जारी रखा क्योकि उन्होंने नौकानयन की फ्रीशियन कला के साथ ही अश्वारोही युद्ध की फ्रैंकिश कला भी सीख ली थी।

समराश्व के लम्बे इतिहास मे एक बर्बर-द्वारा सभ्यता से प्राप्त किये हुए शस्त्र के उसी के विरुद्ध प्रयोग करने का सबसे नाटकीय उदाहरण है नयी दुनिया (अमेरिका), जहां अश्व का तबतक किसी को ज्ञान भी न था जबतक कि

[१] डेवीज, सी. सी. : 'दि प्राबलम आव दि नार्थ वेस्ट फ्रण्टियर १८९०-१९०८' (कैम्ब्रिज, १९३२, यूनीवर्सिटी प्रेस), पृ. १७६

कोलम्बस के बाद के पाश्चात्य ईसाई अनधिकार-प्रवेशकों-द्वारा उसका वहा आयात नहीं किया गया। जो पालतू पशु पुरानी दुनिया में खानाबदोश पशु-प्रजनको का मुख्य जीवनाधार था उसका मिसिसिपी द्रोणी के महान मैदानों मे अभाव होने के कारण जहां वह कृषकों का स्वर्ग बन सकता था वहां उन कबीलियों का शिकारगाह मात्र बनकर रह गया था, जो बड़े श्रम से पैदल अपने शिकार का पीछा करते थे। जो एक आदर्श अश्व-देश था उसमें ही अश्व के इस विलम्बित आगमन का आप्रवासी तथा मूलवासी दोनों के जीवन पर प्रभाव पडा। दोनो पर ही पडने वाला प्रभाव यद्यपि क्रान्तिकारी था किन्तु अन्य प्रत्येक विषयो मे एक-दूसरे से भिन्न था। टेक्सास, वेनेजुला तथा अर्जेण्टाइना के मैदान में अश्व के प्रचलन ने डेढ सौ पीढियों के कृषको के वंशजो को खानाबदोश पशु-प्रजनकों में परिवर्तित कर दिया; साथ ही उसने न्यू स्पेन के स्पेनी वायसराय-शासित उपनिवेश तथा अंग्रेजी उपनिवेशो की (जो बाद में संयुक्त राज्य बन गये) सीमाओ के पार महत् मैदानो मे रहने वाले 'इण्डियन' कबीलो को सचल अश्वारोही युयुत्सु दलो मे बदल दिया। बाहर से ग्रहण किये हुए इस शस्त्र ने यद्यपि इन सीमा पार के बर्बरो को अन्तिम विजय नही प्रदान की किन्तु उसने उनके अन्तिम पराभव को स्थगित अवश्य कर दिया।

जबकि ईसाई संवत् की उन्नीसवीं शती ने उत्तरी अमेरिका के प्रशाद्वलवासी इण्डियनों को अनधिकार-प्रवेशी यूरोपीय के ही एक शस्त्र का उसके मूल स्वामी के विरुद्ध प्रयोग करते और आयात किये हुए अश्व की सहायता से मैदानों के स्वामित्व के विषय मे उससे लडते देखा तब उसके पहिले ही अठारहवीं शती के वनवासी इण्डियनो को छद्म सघर्ष एव घात में यूरोपीय बन्दूको का प्रयोग करते वह देख चुकी थी। बन्दूक के साथ घने जगल ने इण्डियन की दोस्ती निबाही और इन दोनो का मिलन उन समकालिक यूरोपीय सैनिक चालों से श्रेष्ठ सिद्ध हुआ जिसकी संवृत रचना, निश्चित गति और अजस्र गोलीवर्षा, बिना सोचे-समझे दुश्मनों के विरुद्ध प्रयुक्त होने के कारण, स्वयं विनाश को प्राप्त हो गयी। दुश्मन ने यूरोपीय बन्दूक को अमरीकी जंगल की स्थिति के अनुकूल बना लिया था। इसलिए वे ज्यादा अच्छे रहे। जब आग्नेयास्त्रो (Fire Arms) का आविष्कार नही हुआ था तब भी एक आक्रामक सभ्यता में प्रचलित अस्त्रो को इसी प्रकार वनस्थितियो के अनुकूल बनाकर, उत्तरी यूरोप के ट्रासरेनेन वनो के बर्बर निवासियों ने उन रोमनो के आक्रमण से शान्त वनश्री-युक्त जर्मनी को बचा लिया था जिन्होने इसके पहिले ही आंशिक रूप से वनों को काट-कर खेती करने वाले गाल पर कब्जा कर लिया था। इन बर्बरो ने ईसवी सवत् ९ मे टीटोबर्गर वाल्ड मे गहरी एवं निर्णायक पटकान दी थी।

रोम-साम्राज्य एवं उत्तरी-यूरोपीय बर्बरो के बीच जो सैनिक सीमा-रेखा अगली चार शतियो तक बनी रही वह स्वयं ही अपना स्पष्टीकरण प्रस्तुत करती है। यह वही रेखा थी जिसके पार एक जंगल हिमाच्छादन (Glaciation) की अन्तिम पाली के बाद से बराबर राज्य करता आया था और उस कृषक मानव (Homo Agricola) के सब कार्यों पर अब भी प्रबलता के साथ छाया हुआ था, जिसने भूमध्यसागर से

आने वाली रोमी सेनाओं के लिए राइन एवं डैन्यूब तक रास्ता बना दिया था। यह रेखा रोम-साम्राज्य के दुर्भाग्य से यूरोप महाद्वीप का अतिक्रमण करने वाली सबसे लम्बी रेखा थी और इसके बाद से सीमा पार बर्बरो की बराबर बढती हुई कुशलता से लोहा लेने के लिए रोम की साम्राज्य-सेनाओं मे निरन्तर सख्या की वृद्धि करनी पडी।

इस पश्चिम के रंग मे रंगती जाने वाली दुनिया मे, जो इन पंक्तियो के लिखने के समय तक नाममात्र के अश को छोड भूमण्डल की समस्त निवास-योग्य तथा पारगम्य सतह पर छा गयी है, अब तक कुछ ग्राम्य-राज्य बच गये है। इन ग्राम्य-राज्यों की स्थानीय बर्बर-विरोधी सीमाओ पर बर्बरो के जो अविनयी अमानुषिक बन्धु थे उनमे से दो को आधुनिक पाश्चात्य औद्योगिक प्रविधि ने पहिले ही पछाड दिया था। जगल तो बहुत पहले ठण्डे फौलाद का शिकार हो चुका था, अनुर्वर मैदान या स्टेपी मे भी मोटरकार एव हवाई जहाज प्रविष्ट हो चुके थे। परन्तु बर्बरों के साथी पर्वत को तोडने मे जरा कठिनाई हुई। बर्बरवाद का उच्चपर्वतीय चंदावल दस्ता (Highlander rearguard) अपनी सबसे अन्तिम निरवलम्ब आशाओ मे, आकर्षक प्रवीणता के साथ, अपने भूप्रदेश से औद्योगिक पाश्चात्य सैनिक प्रविधि की कुछ ताजी चालो का प्रयोग करने लगा है। इसी प्रकार मोरक्को के स्पेनी एवं फरासीसी अधिक्षेत्रो के बीच स्थित सैद्धान्तिक सीमा पर रहने वाले रीफ हाईलैण्डरो ने १६२१ मे आंवल स्थान पर स्पेनियो पर जो कहर मचाया उसकी तुलना सन् ६ ई. मे टीटोबर्गरवाल्ड मे चेरूस्की तथा उनके पडोसियो द्वारा किये गये वरूस की तीन अक्षौहिणियो के विनाश से ही की जा सकती है। उन्होने १६२५ ई. में पश्चिमोत्तर अफ्रीका की फरासीसी सरकार की नीव हिला दी। १८४६ से, जब अंग्रेजो ने बर्बर-विरोधी सीमा सिखो से ले ली थी, १६४७ ई. तक, ६८ वर्षों की अवधि मे, हाथ की ऐसी ही सफाई के साथ वजीरिस्तान के महसूदो ने उनको पराजित करने के ब्रिटिश प्रयत्नो को, बार-बार विफल किया। १६४७ ई. मे तो अग्रेजो ने बिना किसी समाधान के पश्चिमोत्तर भारतीय सीमा का भयानक उत्तराधिकार पाकिस्तान को सौंप दिया।

१६२५ ई. में रीफी आक्रमण फरासीसी पश्चिमोत्तर अफ्रीका के मुख्य क्षेत्र से मोरक्को के फरासीसी अधिकृत क्षेत्र को जोडने वाले गलियारे (Corridor) को काटने मे सफल होते-होते रह गया। रीफी प्रयत्न जरा ही असफल रह गया; यदि वह सफल हो गया होता, तो भूमध्यसागर के दक्षिण तट पर स्थित समस्त फरासीसी साम्राज्य खतरे मे पड गया होता। इसी प्रकार का विराट भारतीय ब्रिटिश राजहित तब भी खतरे मे पड गया था जब १६१६-२० ई. मे वजीरिस्तान मे महसूद बर्बरो ने ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य की सेनाओ से मोर्चा लिया था। रीफी युद्ध की भाति, इस अभियान मे भी युद्ध-संलग्न (Belligerent) बर्बरों की शक्ति उन आधुनिक पाश्चात्य शस्त्रास्त्रो एव चालों को चतुराई के साथ अपना लेने और उन्हें पहाडी क्षेत्र के अनुकूल बना लेने मे थी जिनका पाश्चात्य आविष्कारको द्वारा बताये गये ढंग पर प्रयोग करना वहां की स्थिति में बेकार था। १६१४-१८ के महायुद्ध में यूरोपीय मोर्चे के लिए आविष्कृत भारी एवं महंगा साजसामान, जो संघटित सेनाओं के बीच चौरस भूमि पर लड़ने के

लिए उपयुक्त था, पर्वतश्रेणियों के पीछे छिपकर लड़ने वाले कबायली दलों के लिए उसकी अपेक्षा बहुत कम प्रभावशाली रह गया।[1]

जिन सीमावर्ती बर्बरों ने १९१९ ई. मे महसूदों-द्वारा तथा १९२५ ई. मे रीफियों-द्वारा प्रदर्शित सैनिक कुशलता प्राप्त कर ली है, उन्हे अनिर्णयात्मक रूप से पराजित करने के लिए भी त्रस्त मोर्चे के पीछे की शक्ति को इतना प्रयत्न करना पड़ता है जो—सख्याबल या सामग्री या रुपये किसी भी माप से—उसके परेशान करने वाले विरोधियों के उन तुच्छ साधनों से बहुत अधिक होता है जिन पर यह भारी-भरकम प्रत्याक्रमण किया जाता है। जिसे १८८१ ई. मे श्री ग्लैडस्टन ने 'सभ्यता के साधन'[2] कहा था वह इस प्रकार के युद्ध मे बाधा-स्वरूप भी हो सकता है और सहायक भी। ब्रिटिश भारतीय सेनाओं की गति उन बहुसख्यक मशीनी पुर्जों के कारण ही अवरुद्ध हो गयी थी जिन पर अपनी ही श्रेष्ठता के प्रतिपादन के लिए वह निर्भर करती थी। फिर एक ओर जब ब्रिटिश भारतीय सेनाए अपने बाहुल्य के कारण ही शीघ्रतापूर्वक और प्रभावशाली रूप से आक्रमण करने मे असमर्थ सिद्ध हुईं तब दूसरी ओर महसूदो के पास इतना कम था कि समझ मे नही आता था कि किस चीज पर आक्रमण किया जाय। किसी दण्डात्मक अभियान का प्रयोजन होता है दण्डित करना, किन्तु कोई ऐसे समुदाय को कैसे दण्डित करे? उन्हे अकिंचनता पर पहुँचा दे? पर वे तो पहले से ही अकिंचन थे। भले उनको इसमे मजा न मिलता हो पर ऐसे जीवन को उन्होंने अपने लिए अनिवार्य मानकर अगीकार कर लिया था। जिसे टामस हाब्स ने 'प्रकृति की अवस्था' (State of Nature) कहा है वैसा ही उनका जीवन था—ऐकान्तिक, दीन, मलिन, पाशव एव लघु। उसे और ऐकान्तिक तथा दीन, मलिन और पाशव तथा लघुतर बनाना सम्भव न था, और यदि सम्भव भी होता तो क्या किसी को यह भरोसा हो सकता था कि वे इसकी कुछ ज्यादा परवाह करेंगे? यहा हम एक ऐसे दृष्टिबिन्दु पर पहुँच रहे हैं जिसे इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे हम किसी दूसरे सन्दर्भ मे प्रकट कर चुके हैं। वह यह कि एक

[1] इसी प्रकार १८०८-१८१४ के प्रायद्वीपीय समर (Peninsular war) के योद्धाओं ने जिन चालों को अपनाकर बार-बार नेपोलियन की सेना को पराजित किया था, उन्हीं चालों के साथ वे आसानी से १८१४ ई. में न्यू आर्लियंस में ऐण्डरू जैक्सन-द्वारा, जिसने सीमावासियों का तरीका अपना लिया था, हरा दिये गये।

[2] ग्लैडस्टन ने पार्लमेण्ट की साधारण सभा (हाउस आफ कामंस) में कहा था—"सभ्यता के साधन समाप्त नहीं हुए हैं।" उस समय उनका अभिप्राय यह था कि अन्ततोगत्वा ब्रिटिश शासन आयरलैंड के राष्ट्रीय आन्दोलन एव अपराध के नियन्त्रण के लिए काफी सशक्त साबित होगा। यह उनकी गलती थी। ४० साल बाद 'सभ्यता' ने अपनी थकान को स्वीकार कर लिया और 'आयरिश फ्री स्टेट' स्थापित करने वाली सन्धि पर हस्ताक्षर कर दिया।

आदिकालिक समाज-निकाय उच्च भौतिक सभ्यता का उपभोग करने वाले समाज-निकाय की अपेक्षा ज्यादा सरलता एवं शीघ्रता से पुनः शक्ति प्राप्त करता है। वह उस तुच्छ कीट की भांति है जो आधा काट देने पर भी इस बात की ओर कोई ध्यान नहीं देता और पूर्ववत् अपना काम करता रहता है। पर अब हमें उन गीफियो और महसूदों को छोडकर लौट पडना चाहिए जो अभी तक तो सभ्यता पर अपने प्रहारो को किसी सफल परिणाम तक पहुंचाने मे असमर्थ रहे है, और दु:खान्तिका के उपक्रम की परीक्षा का कार्य पुनः आरम्भ कर देना चाहिए।

सीमान्त युद्ध के जिस आरोह वा उत्कर्ष ने सैनिक शक्ति के सतुलन मे एक क्रमिक परिवर्तन उपस्थित कर दिया, वह निरन्तर बढते आने वाले कर-भार के कारण उसकी अर्थव्यवस्था पर भारी बोझ डालकर सम्बद्ध सभ्यता को बराबर दुर्बल भी बनाता जाता है। दूसरी ओर वह बर्बरो की सैनिक क्षुधा को उत्तेजित करता है। यदि सीमा-पारवर्ती बर्बर अपरिवर्तित आदिमकालिक मानव ही बना रहता तो उसकी समस्त ऊर्जाओ का अधिकांश शान्ति की कला के प्रति ही समर्पित हो जाता और उसके शान्तिपूर्ण क्रम से उत्पन्न वस्तुओ के दण्डात्मक विनाश का उसी अनुपात में उस पर अधिक अवपीड़क (Coercive) प्रभाव पडता। अब तक पडौसी सभ्यता से आदिमकालिक समाज के नैतिक विच्छेद की दु:खान्त कहानी यही रही है कि सीमान्त युद्ध-कला मे विशेषज्ञता प्राप्त करने के लिए बर्बर अपनी पूर्वकालिक शान्तिपूर्ण उत्पादनक्षमता की अवज्ञा करता रहा है; वह पहले आत्मरक्षा और बाद मे अपनी जीविका प्राप्त करने की और उत्तेजक प्रणाली या विकल्प प्राप्त करने की दृष्टि से हल के स्थान पर तलवार एवं भाले को ग्रहण कर लेता है।

सीमान्त युद्ध में दोनो प्रतिपक्षियों के लिए भौतिक परिणाम मे जो महत्त्वपूर्ण विषमता होती है वह दोनो के नैतिक आधार की महती एवं वृद्धिमती असमानता मे व्यक्त होती है। विघटनशीला सभ्यता की सन्तति के लिए निरन्तर चलने वाला सीमान्त युद्ध, बराबर बढते जाने वाले वित्तीय व्यय का भार लिये आता है, दूसरी ओर बर्बर प्रतिपक्षी के लिए वह युद्ध बोझ नहीं वरं अवसर है, चिन्ता नही बल्कि उल्लास है। ऐसी स्थिति में यह कोई आश्चर्य की बात नही कि जो दल मोर्चे का कर्त्ता एवं शिकार दोनों होता है वह अपने बर्बर शत्रु को अपने पक्ष मे लाने के अन्तिम कार्यसाधक का प्रयोग किये बिना विनाश को स्वीकार नहीं कर सकता। इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे हम इस नीति के परिणाम की जाँच कर चुके हैं। और यहाँ हमें अपने इस पूर्व निष्कर्ष को दोहराने की आवश्यकता नही है कि मोर्चे के पतन का प्रतिकार करने का यह कार्यसाधक जिस संकट को रोकने के लिए बनाया जाता है उसी को और निकट ला फेंकता है।

सीमा-पारवर्ती बर्बरों के पक्ष में तुला के निष्ठुर झुकाव को रोकने के लिए रोम साम्राज्य ने जो संघर्ष किया उसके इतिहास में अपने साथी बर्बरो को दूर रखने के लिए बर्बरों की ही सहायता लेने की नीति स्वयं असफल हो गयी; क्योंकि यदि हम सम्राट थियोडोसियस प्रथम के शासन के एक विरोधी आलोचक की बात पर

विश्वास करें तो रोमनों ने खुद एक ओर तो बर्बरो को रोमी युद्धकला सिखला दी, दूसरी ओर उन्हें साम्राज्य की दुर्बलता से भी परिचित करा दिया।

"रोमी सेनाओं में अनुशासन का अन्त हो चुका था और रोमन तथा बर्बर के बीच का समस्त भेद टूट चुका था। दोनों श्रेणियों की सेनाएं निम्न स्तर पर एक-दूसरे से बिल्कुल हिल्ल-मिल्ल हो चुकी थीं क्योंकि सैनिक इकाइयों के आधार पर निर्मित सैनिकों का रजिस्टर तक अद्यतन नहीं रखा जाता था। इस प्रकार (सीमापारवर्ती बर्बर युयुत्सु दलों से भागकर रोमी साम्राज्य सेना में आये हुए बर्बर भगोड़े) रोमन सेना में भरती हो जाने के बाद, अपने घर जाने और अपनी जगह एवजी दे जाने के लिए तबतक स्वतन्त्र थे जबतक कि अपनी इच्छा से वे रोमनों की अधीनता में व्यक्तिगत सेवा करने के लिए तैयार नहीं होते थे। रोमन सैनिक दलों में फैली हुई इस प्रकार की निपट अव्यवस्था बर्बरों से छिपी नहीं थी, क्योंकि समागम के लिए द्वार उन्मुक्त कर दिये जाने के कारण भगोड़े उन्हें पूरी सूचना देने में समर्थ थे। बर्बरों का निष्कर्ष यह था कि रोमी राज-सस्था का प्रबन्ध इतना बुरा हो चुका था कि वह निश्चित रूप से आक्रमण को आमन्त्रित करता था।"[1]

जब इस प्रकार के भाड़े के टट्टू समूह रूप में पक्ष-परिवर्तन करते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नही कि वे प्राय: एक लड़खड़ाते हुए साम्राज्य पर अन्तिम प्रहार (Coup de grace) करने मे सफल होते हैं। किन्तु हमें अभी इसका स्पष्टीकरण करना तो शेष ही है कि, जैसा प्राय देखने में आता है, वे अपने मालिकों के विरुद्ध कैसे हो जाते है ? क्या उनका व्यक्तिगत हित उनके काम की जिम्मेदारियो से मेल नहीं खाता ? कभी-कभी छापा मारकर जो कुछ वे पा जाते हैं उससे तो जो वेतन नियमित रूप से वे प्राप्त कर रहे है वह ज्यादा लाभप्रद और ज्यादा सुरक्षापूर्ण है। तब वे गद्दार—द्रोही क्यो हो जाते है ? इसका उत्तर यह है कि जिस साम्राज्य की रक्षा के लिए उसे भाड़े पर रखा गया है उसके विरुद्ध होकर बर्बर भृतिभोगी निश्चय ही अपने भौतिक हित के विरुद्ध कार्य कर रहा है किन्तु ऐसा करने मे वह कोई भी आश्चर्य का काम नही कर रहा है। मनुष्य शायद ही कभी प्रमुखत आर्थिक मानव के रूप में काम करता है और गद्दार भृतिभोगी का आचरण ऐसे मनोवेग (Impulse) से नियन्त्रित होता है जो किसी भी आर्थिक विचार से अधिक प्रबल होता है। सीधा तथ्य यह है कि जिस साम्राज्य से उसने वेतन लिया है उससे वह घृणा करता है। और दोनों पक्षों के बीच जो नैतिक खाई है वह किसी ऐसे व्यावसायिक या स्वार्थमूलक कृत्य से सदा के लिए नही भरी जा सकती जो बर्बर-द्वारा किसी आन्तरिक इच्छा के परिणामस्वरूप नही किया गया है। जिस सभ्यता की रक्षा का भार उसे दिया गया है उसमे भाग लेने की उसे कोई इच्छा नही है। इस सभ्यता के प्रति उसमें श्रद्धा या अनुकरण की वह वृत्ति नही है जो इसी सभ्यता की आकर्षक विकासावस्था मे उसके पूर्वजों की थी। अनुकरण की धारा

[1] जोसियस : हिस्त्वायर, भाग ४, अध्याय ११ §§ १-३

की दिशा तब से उलट गयी है और इसकी जगह कि सभ्यता के प्रति बर्बर की आंखों मे आदर की भावना हो, सभ्यता के प्रतिनिधि की आखों मे बर्बर के प्रति सम्मान की भावना है।

"प्रारम्भिक रोमी इतिहास को असाधारण कृत्य करने वाले साधारण लोगों का इतिहास कहा गया है। उत्तरकालिक साम्राज्य में सिवा नेमी (routine) काम के असाधारण आदमी भी कोई और काम नहीं करते थे, और चूंकि साम्राज्य ने साधारण आदमी उत्पन्न एवं प्रशिक्षित करने में सदियां बिता दी थीं इसलिए उसके अन्तिम काल के असाधारण मनुष्य--स्टिलिको, ऐटियस इत्यादि—ज्यादातर बर्बर जगत् से उद्भूत हुए थे।"[१]

(३) जल-प्रलय और उसके परिणाम

जब बाँध फट जाता है तो उसमे संचित सम्पूर्ण जल भयानक रूप से सीधी ढलान पर से नीचे आता है और समुद्र मे चला जाता है, बहुत दिनो से प्रतिबन्धित शक्तियों की यह मुक्ति एक तिहरे संकट को जन्म देती है। पहले तो बाढ टूटे हुए बाँध के नीचे की शस्य-श्यामला धरती मे मानव की कृतियो का अन्त कर देती है। दूसरे, शक्ति एव जीवन देने वाला जल समुद्र मे जा गिरता है और मनुष्य के किसी प्रयोजन मे आये बिना व्यर्थ नष्ट हो जाता है। तीसरे, पानी निकल जाने से कुण्ड खाली हो जाता है, उसके ऊँचे तट सूख जाते हैं और फलस्वरूप जो हरियाली वहाँ उग आयी थी उसे मौत निगल जाती है। साराश यह कि बाँध के दृढ रहने पर जो जल अनेक प्रकार से आदमी के काम आता था, वह सर्वत्र प्रलय मचा देता है—उस भूमि मे भी जिसे वह नगा-सूखा छोड़ जाता है और उस भूमि मे भी जिसे वह डुबा देता है। यह सब बाँध-द्वारा जल के उस नियन्त्रण के हटते ही हो जाता है जिसे इतने समय तक वह उस पर रखे हुए था।

भौतिक प्रकृति के साथ मनुष्य की प्रतियोगिता की यह घटना इसे दर्शाने वाली एक अच्छी उपमा है कि सैनिक मोर्चे के नष्ट हो जाने के बाद क्या होता है। उसके परिणामस्वरूप जो सामाजिक जल-प्रलय होता है वह सभी सम्बन्धित लोगो के लिए एक सकट है, किन्तु विनाश का भार सबके लिए एक-सा नही होता बल्कि जिसकी आशा की जा सकती थी उसका उलटा होता है, क्योंकि प्रधान पीडित लोग वे नही होते जो विनष्ट सार्वभौम राज्य की भूतपूर्व प्रजाओं मे थे वर प्रकट रूप से विजयी दीखने वाले स्वय बर्बर होते है। उनकी विजय की घडी ही उनके शोक का अवसर बन जाती है।

इस विरोधाभास का स्पष्टीकरण क्या है ? बात यह है कि मोर्चा न केवल

१ कोलिगउड, आर.. जी., कोलिंगउड, आर जी एवं मायर्स जे एन एल. कृत 'रोमन ब्रिटेन एण्ड इंगलिश सेटिलमेण्ट्स', द्वितीय सस्करण में (आक्सफर्ड १९३७, क्लेयरेण्डन प्रेस), पृ० ३०७

सभ्यता की प्राचीर का काम करता था वर स्वय आक्रामक बर्बर के अन्तर में जो आत्म-विनाशकारी आसुरी शक्तिया छिपी थीं उनके विरुद्ध भी वह एक दैवी सुरक्षा का उपाय था। हम देख चुके हैं कि मोर्चे की निकटता सीमापारवर्ती बर्बरों मे एक शारीरिक बेचैनी पैदा करती है क्योकि मोर्चे के अन्तर्गत सभ्यता-द्वारा उत्पन्न मानसिक ऊर्जा की वर्षा से उनकी पूर्ववर्ती आदिमकालिक अर्थ-व्यवस्था और सस्थाए विघटित हो जाती है। यह मानसिक ऊर्जा ऐसी बाड़ के पार लगायी जाती है जो एक विकासमान सभ्यता और उसकी आकर्षक एव मुक्त देहली के पार के आदिकालिक धर्मान्तरित के बीच के सम्बन्धो के प्रकृत परिणाम, अर्थात् अधिक पूर्ण और अधिक सफल समागम के लिए स्वय बाधक होती है। हम यह भी देख चुके हैं कि जबतक बर्बर सीमा से बाहर रहता है तबतक वह इस विजातीय मानसिक ऊर्जा की बाड का कुछ अश सास्कृतिक—राजनीतिक, कलापूर्ण एव धार्मिक—उपज, मे रूपान्तरित करने मे सफल होता है। ये वस्तुए अशतः सभ्य सस्थाओ की अनुकृति एव अशत बर्बरों की अपनी नयी कृति होती है। मतलब यह कि जबतक बाध उस मनोवैज्ञानिक विक्षोभ को अपनी सीमा मे रखता है जिसका असर बर्बर पर पड सकता है तबतक उसका विशेष भ्रष्टकारी प्रभाव नही पड़ता और यह सुरक्षाकारी मोड खुद उस मोर्चे की उपस्थिति के कारण ही प्राप्त हो जाता है जिसे नष्ट करने पर बर्बर तुला होता है, क्योंकि मोर्चा जबतक चलता है तबतक किसी न किसी मात्रा मे वह आदिमकालिक मानव के उस अनुशासन का एक विकल्प प्रदान करता है जिसे खोकर तथा आदिमकालिक प्रथाओ के टूट जाने पर आदिम मानव सीमापारवर्ती बर्बर मे परिवर्तित हुआ है। मोर्चा उसे पूरा करने को कुछ काम देता है, पूर्ति के लिए कोई लक्ष्य प्रदान करता है, लोहा लेने के लिए कुछ कठिनाइया सामने रखता है, और इन सबके कारण उसकी कर्मण्यता बराबर अपने स्थान पर बनी रहती है तथा उसे अनुशासित कर देती है।

जब मोर्चे का अकस्मात् पतन हो जाता है और फलतः यह सुरक्षा नष्ट हो जाती है, कुछ अनुशासन भी दूर हो जाता है और उसी के साथ बर्बर को ऐसे कृत्य करने के लिए विवश होना पड़ता है जो उसके लिए बड़े कठिन होते हैं। यदि सीमापारवर्ती बर्बर अपने आदिमकालिक पूर्वज की अपेक्षा अधिक पाशविक और अधिक कपटी है तो यह उत्तरकालिक बर्बर, जिसने सीमा को तोड डाला है और मृत साम्राज्य के परित्यक्त प्रदेश मे एक उत्तराधिकारी राज्य का निर्माण किया है, उससे भी ज्यादा भ्रष्ट हो जाता है। जबतक मोर्चा कायम रहता है, सफल छापे की लूट का उपभोग करने मे उसकी आलस्यपूर्ण इन्द्रिय-लोलुपता का मूल्य उसे उस दण्डात्मक अभियान के विरुद्ध की जाने वाली सुरक्षा की आपदाए एव कठिनाइया उठाकर चुकाना पडता है जो उसके छापे के फलस्वरूप सामने आता है। पर मोर्चा टूट जाने पर किसी दण्ड-भय के बिना विलास एव आलस्य को चाहे जबतक बढाया जा सकता है। जैसा कि हमने इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे कहा था, सभ्यता की नकल (Partibus Civilium) करने में बर्बरो ने उन गिद्धों की दुःखदायी भूमिका अदा

की जो किसी लाश के गलित मांस एव उसमे रेंगते कीड़ो से पेट भरते हैं। यदि यह तुलना बडी वीभत्स मालूम पडती हो तो सभ्यता के खडहरो मे, जिसकी प्रशंसा वे नही कर सकते, उन्मत्त होकर दौड़ते विजयी बर्बरो के झुण्डों की उपमा ऐसे दुष्ट किशोरों के झुण्डो से दी जा सकती है जो घर एव स्कूल के नियंत्रण से भाग खड़े हुए है और ईसवी संवत् की बीसवी शती के नगर-समाजों के लिए समस्या बन गये हैं—

> **"इन समुदायों-द्वारा प्रकट होने वाली विशेषताएं, गुण-दोष दोनों में समान रूप से, स्पष्टत. किशोरावस्था की हैं···इसका विशिष्ट लक्षण···है मुक्ति—सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक मुक्ति—सामान्यत. वीर युगों की विशिष्टता न तो बचपन की विशिष्टता है न प्रौढ़ावस्था की···बल्कि वीर युग के प्रारूपिक मानव** (typical man) **की तुलना तो युवक से की जा सकती है···। सच्ची तुलना के लिए हमें एक ऐसे युवक की ओर देखना होगा जो अपने पालकों—माता पिताओं—के विचार एवं नियन्त्रण से ऊपर उठ गया हो। ऐसा उदाहरण भोले-भाले माता-पिताओं के उन लड़कों में मिल सकता है जिन्होंने स्कूल में या अन्यत्र बाह्य प्रभाव के कारण ऐसा ज्ञान प्राप्त कर लिया हो जिसके कारण अपनी परिस्थिति से ऊंची अवस्था मे रखे जा सकें।"**[1]

जो जातिया आदिमकालिक से बर्बर मे बदल गयी है उनमे आदिमकालिक प्रथाओ का ह्रास हो गया है। इस ह्रास का एक परिणाम यह हुआ है कि जो अधिकार पहले सगोत्र वर्गों द्वारा प्रयुक्त होता था अब 'कमीटेटस' (पारिषद-मण्डल) अर्थात् सरदार या राजा के प्रति निजी वफादारी की शपथ लेने वाले दुस्साहसिक व्यक्तियो की सस्था के हाथ मे चला गया। जबतक सभ्यता अपने सार्वभौम राज्य मे सत्ता का आभास भी बनाये रख सकी तबतक ये बर्बर युयुत्सु सरदार और उनका पारिषद मण्डल (कमीटेटस) एक मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) के रूप मे सफलतापूर्वक अपनी सेवाए प्रदान करते रहे। रोम साम्राज्य की अधोरेमी (Lower Rhenish) सीमा के सैलियन फ्रैंकिश रक्षको का, ईसाई सवत् की चौथी शती के मध्य से पाचवी शती के मध्य तक का, इतिहास इसके उदाहरण मे पेश किया जा सकता है। किन्तु एक लुप्त सार्वभौम राज्य के पूर्व-शासित प्रदेश के अन्तराल मे बर्बर विजेताओ-द्वारा स्थापित उत्तराधिकारी राज्यो का भाग्य देखने से प्रकट होता है कि बजर बर्बर राजनीतिक प्रतिभा का वह भोडा उत्पादन उन बोझो को सँभालने और उन समस्याओ का समाधान करने के योग्य बिल्कुल न था जो एक व्यापक ईसाई राज्य की राजमर्मज्ञता के लिए ही बहुत ज्यादा सिद्ध हो चुकी थी। एक बर्बर उत्तराधिकारी राज्य दिवालिया सार्वभौम राज्य की अमान्य साख की शक्ति पर अपना काम जारी कर देता है और पदो पर बैठे हुए ये गवार आत्मद्रोह-द्वारा अपने अनिवार्य विनाश के आगमन को और निकट ला देते है। यह आत्मद्रोह नैतिक अग्नि-परीक्षा के संपीडन से, अन्तर की किसी सांघातिक रूप मे मिथ्या वस्तु के फट पड़ने से होता है; क्योंकि जो

[1] **चैडविक, एच. एम. : 'दि हीरोइक एज' (कैम्ब्रिज १९१२, यूनीवर्सिटी प्रेस), पृष्ठ ४४२-४**

राजनीति एक स्वेच्छाचारी सैनिक नेता के प्रति शस्त्र-सज्जित आततायियों की सनक-भरी वफादारी पर निर्भर करती है एक ऐसे समुदाय के शासन के लिए नैतिक रूप से अयोग्य है जो सभ्यता को अपनाने के लिए एक असफल यत्न भी कर चुका हो। बर्बर पारिषद मण्डल (कमीटेटस) मे आदिमकालिक सगोत्र वर्ग के लोप के बाद विजातीय प्रजा की आबादी में स्वय 'कमीटेटस' का ही लोप हो जाता है।

सभ्य क्षेत्र मे अनधिकार-प्रवेश करने वाले बर्बर अपने अनधिकार-प्रवेश के अनिवार्य परिणामस्वरूप स्वय अपने को नैतिक ह्रास का दण्ड देते है। किन्तु आध्यात्मिक सघर्ष के बिना वे अपने इस भाग्य के आगे कधा नही डाल देते। इस आध्यात्मिक सघर्ष की रेखाए हमे उनके कर्मकाण्ड, पौराणिक गाथा तथा आचरण-मान-सम्बन्धी उनके साहित्यिक अभिलेखो मे मिलती है। बर्बरो की सर्वव्यापी प्रधान पुराण-कथा मे किसी दानव से नायक के विजय-युद्ध की बात कही गयी है। इस अपार्थिव शत्रु के पास एक ऐसा खजाना है जो वह मानव जाति से दूर रखे हुए है। ग्रेण्डेल तथा ग्रेण्डेल की माता से ब्यू-उल्फ के युद्ध, सर्प-राक्षस से सीगफाइड के युद्ध तथा गोर्गन के सिर काट लेने का पर्सियस का चमत्कार एव बाद मे एण्ड्रोमीडा को निगलने का प्रयत्न कर रहे सागर-दानव को मारकर उसे बचाने तथा उसका प्रेम प्राप्त करने के चमत्कार की कथाओ का सर्वनिष्ठ अभिप्राय (motif) यही है। जैसन के स्वर्णिम मेष-लोम के सर्प अभिभावक को अपनी चालो से पछाड देने तथा हेरोकिल-द्वारा सर्बेरस के अपहरण मे भी यही अभिप्राय पुन व्यक्त होता है। मोर्चे के बाहर की परिचित लावारिस भूमि (No man's land) से, एक ही छलाग मे बाड के विनष्ट हो जाने से प्रकट एक मुग्धकारी जगत् मे आ जाने का जो विकम्पनकारी अनुभव है उसके कारण चित्त की अवचेतन गहराइयो मे एक दानवी आध्यात्मिक शक्ति मुक्त हो उठती है। इस दानवी आध्यात्मिक शक्ति से मनुष्य के सर्वोत्कृष्ट आध्यात्मिक कोष, उसके तर्कनापरक सकल्प (Rational Will) की रक्षा के लिए बर्बर की अपनी आत्मा मे जो मानसिक सघर्ष होता है उसी का बाह्य प्रसार इस पुराण-कथा में दिखायी पड़ता है। यह कथा निश्चय ही एक ऐसे पिशाच-मोचन के अनुष्ठान का साहित्यिक उपाख्यान मे भाषान्तर है जिसमे सैनिक रूप से विजयी परन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से व्यथित बर्बर अपनी विनाशकारी मानसिक व्याधि का एक व्यावहारिक समाधान खोजने का प्रयत्न करता है।

वीर युग की विशिष्ट परिस्थितियों मे आरोपणीय आचरण के जो विशेष मान उद्भूत हुए उनमे एक दूसरे दृष्टिकोण मे हम मोर्चे की भौतिक बाड के पतन के कारण अवसन्न सभ्यता के बर्बर सरदारो एव नायको की आत्मा मे ताण्डव करने वाले दानव की विनाश-लीला पर एक नैतिक मर्यादा स्थापित करने का प्रयत्न देखते हैं। इसके प्रमुख उदाहरण हैं—एकियनो का होमरीय 'आइडोज' (लज्जा) और 'नेमेसिस' (आक्रोश) तथा उम्मायदों का ऐतिहासिक 'हिल्म' (कृत्रिम आत्मसयम)।

"सम्मान की भांति ही 'आइडोज' (लज्जा) एवं 'नेमेसिस' (आक्रोश) की भी मुख्य विशेषता यह है कि उनका आगमन तभी होता है जबकि मनुष्य स्वतन्त्र होता है, जब उस पर कोई बाध्यता नहीं होती। यदि तुम ऐसे लोगों

को लो···जो अपनी सम्पूर्ण पुरानी अनुशास्तियों (Sanctions) को तोड़कर उनसे अलग हो गये हैं और उनमें से किसी ऐसे शक्तिमान् एवं उद्दण्ड सरदार को चुनो जो किसी से नहीं डरता, तो पहले तुम यही सोचोगे कि ऐसा आदमी जो कुछ उसके दिमाग में आता है उसे करने के लिए स्वतन्त्र है। और तब, तथ्य के रूप में तुमको मालूम पड़ता है कि उसकी अव्यवस्था के बीच भी कोई ऐसा सम्भवित कार्य हो जायगा जो उसे बेचैन कर देगा। यदि खुद उसी ने वह काम किया है तो वह उस कार्य के लिए अनुताप करता है; वह काम भूतबाधा की भाँति उसे भयग्रस्त किये रहता है। यदि उसने उसे नहीं किया है तो उसे करने से दूर भागता है। वह ऐसा इसलिए नहीं करता कि कोई उसे दबाता है, विवश करता है, न इसीलिए करता है कि बाद में इसका कोई विशेष परिणाम निकलेगा, केवल इसलिए ऐसा करता है कि वह आइडोज (लज्जा) का अनुभव करता है······।

"अपने ही किये काम के विषय में अनुभव 'आइडोज' (लज्जा) है; दूसरे के द्वारा किये हुए काम के विषय में हम जो अनुभव करते हैं वह 'नेमेसिस' (आक्रोश) है। प्रायः यह वही होता है जो तुम सोचते हो कि दूसरे तुम्हारे बारे में अनुभव कर रहे होंगे।' 'परन्तु मान लो, कोई भी देख नहीं रहा है। काम जैसा तुम अच्छी तरह जानते हो, ऐसा है जिसके विषय मे 'नेमेसिस' (आक्रोश) का अनुभव करना है, परन्तु वहां अनुभव करने के लिए कोई उपस्थित नहीं है। इतने पर भी यदि तुमने जो कुछ किया है उसे नापसंद करते हो और उसके लिए 'आइडोज' (लज्जा) का अनुभव करते हो तो अनिवार्यतः तुममें यह चेतना है कि किसी आदमी या वस्तु द्वारा तुम्हारा कार्य नापसद या अस्वीकार किया जायगा।' 'पृथिवी, जल और वायु सबको दूषित आँखें हैं'···और उन्होने तुम्हें देख लिया है और जो कुछ तुमने किया है उस पर तुमसे रुष्ट हैं।"[1]

जैसा कि होमरीय महाकाव्य मे चित्रित हुआ है, मिनोनोत्तर (Post-Minoan) युग मे कायरता, मिथ्यालाप, कूटसाक्ष्य (Perjury), श्रद्धाहीनता तथा असहायों के प्रति निर्दयता या विश्वासघात ऐसे कार्य थे जिनसे 'आइडोज' (लज्जा) और 'नेमेसिस' (आक्रोश) की भावनाओ का उदय होता था।

"उनके साथ किये गये गलत कामों का सवाल छोड़कर भी, मानवों के कुछ वर्ग ऐसे होते ही हैं जो दूसरो की अपेक्षा अधिक लज्जा का विषय होते हैं। ऐसे लोग हैं जिनकी उपस्थिति मे मनुष्य लज्जा —एक आत्मचेतना, एक आतंक, सदा की अपेक्षा अधिक अच्छा व्यवहार करने के महत्त्व का अनुभव करता है। और किस तरह के आदमी मुख्यतः यह लज्जा-भावना उत्तेजित करते हैं ? निश्चय ही नृपतिगण, गुरुजन, साधु-संत, राजकुमार तथा राजदूत एवं उनके जैसे ही और तो हैं ही—ये सब ऐसे लोग हैं जिनके प्रति तुम स्वभावतः श्रद्धा का

[1] मरे, गिल्बर्ट : 'दि राइज़ आव दि ग्रीक एपिक', तृतीय संस्करण (आक्सफर्ड १९२४, क्लेयरेंडन प्रेस), पृ. ८३-८४

अनुभव करते हो, और जिनकी भली-बुरी सम्मति का संसार में महत्त्व है।··· फिर भी तुम देखोगे कि ये नहीं बल्कि दूसरे ही लोग हैं जो 'आइडोज' (लज्जा) की प्रेरणा उत्पन्न करते हैं···जिनके सामने तुम्हें अपनी अयोग्यता की और गहरी चेतना होती है और जिनकी अच्छी-बुरी सम्मति, अन्ततोगत्वा, अव्याख्येय रूप से और अधिक वजनदार होती है : संसार के वंचित, पीड़ित, असहाय तथा इन सबमें सबसे अधिक असहाय, मृत।"[1]

सामाजिक जीवन के सब पहलुओ मे प्रवेश करने वाली 'लज्जा' एव 'आक्रोश' के विरुद्ध 'हिल्म' (बाह्य आत्मसयम) 'राजनीतिक गुण' (Vertu des Politiques) है।[2] यह लज्जा एव आक्रोश की अपेक्षा और कृत्रिम, और कपटपूर्ण है, इसीलिए कम आकर्षक है। 'बाह्य आत्मसयम, नम्रता की अभिव्यक्ति नही है।

"बल्कि इसका उद्देश्य प्रतिपक्षी को अपमानित करना है खुद अपनी श्रेष्ठता का विरोध प्रकट करके उसे हतप्रभ कर देना है; अपनी गरिमा (dignity) और खुद अपने रवैये (attitude) की शान्ति का प्रदर्शन करके उसे चकित कर देना है··· तल में, 'हिल्म' अधिकांश अरब गुणो की भाति ही, ढोंग एव दिखावट का गुण है; इसमें वास्तविक तत्त्व की अपेक्षा दम्भ अधिक है।···'हिल्म' के लिए प्रसिद्धि जरा-सी ललित मुद्रा या मधुर वाणी के सस्ते मूल्य पर प्राप्त की जा सकती है। फिर सबसे बड़ी बात यह है कि अरब समाज जिस अराजकतापूर्ण स्थिति मे था और जिसमें हिंसा का प्रत्येक कार्य अनुतापहीन प्रतिहिंसा को जन्म देता था, उसमें यह समयोचित था।···· (मुआवियाह के उम्मायद उत्तराधिकारियो द्वारा) जिस रूप में 'हिल्म' का आचरण होता था उससे अरबों को राजनीतिक शिक्षा देने के उनके कार्य में सरलता होती थी, अपने फौलादी हाथों पर मखमली दस्ताने पहिन कर साम्राज्य पर शासन करने वाले नरेशों के पक्ष में मरुभूमि की अराजकतापूर्ण स्वतंत्रता का बलिदान करने में उनके शिष्यो में जो कटुता आती थी उसे यह मधुर बना देता था।"[3]

'हिल्म', 'आइडोज' तथा 'नेमेसिस' की प्रकृति का यह श्रेष्ठ चित्रण प्रकट करता है कि आचरण के ये मान वीर युग की परिस्थितियो के लिए कैसे उपयुक्त थे और यदि, जैसा कि हम पहिले बता चुके है, वीर युग आभ्यन्तरिक रूप से एक अस्थायी स्थिति है तो इसके आवागमन के निश्चिततम लक्षण इसके प्रमुख आदर्शों का अनुकरण वा विनाश है। ज्यो-ज्यो 'आइडोज' और 'नेमेसिस' (लज्जा एव

[1] मरे, गिल्बर्ट : 'दि राइज आव ग्रीक एपिक', तृतीय संस्करण (आक्सफर्ड १९२४, क्लेयरेण्डन प्रेस) पृ. ८७-८८

[2] लैमेंस, एस जे., पेरी एच : "एतू दे सर ला रेने दु कॅलिफे ओम्मायदे मोआविया आयर" (बेरूत १९०८, इम्प्रेमेरी कैथोलीक, पेरी १९०८, गुइथनर) पृ० ८१, टिप्पणी २—इस पुस्तक के अंश प्रकाशकों की अनुमति से उद्धृत किये गये है।

[3] वही पृ. ८१, ८७, १०३

आक्रोश) आखों से ओझल होते जाते है, उनके विलोप के कारण निराशा की कराह उठती है। "वेदना और शोक का अश ही मरणशील मानव के लिए छोडा जायगा, और उस बुरे दिन के विरुद्ध कोई सुरक्षा संभव नही होगी।"[१] हेसिओड अपने इस अल्पकालिक विश्वास के कारण दुःखी है कि अन्धकार युग (dark age) की सन्तति को जीवित रखने वाली इन धुधली ज्योतियो का निवर्तन शाश्वत अन्धकार के आगमन का अपशकुन है, उसे इसका अभ्यास नही कि नैश ज्योतियो का निवर्तन दिन के प्रत्यागमन का सन्देश है। सत्य तो यह है कि ज्यो ही एक उदीयमान नूतन सभ्यता के अगोचर आगमन के कारण इस पृथिवी पर उनका अस्तित्व निरर्थक हो जाता है क्योंकि वह अन्य ऐसे गुणो का प्रचलन कर देती है जो सामाजिक रूप से अधिक रचनात्मक होते है, भले ही सौन्दर्य की दृष्टि से कम आकर्षक हों, त्यो ही आइडोज और नेमेसिस (लज्जा एव आक्रोश) पुनः स्वर्ग को लौट जाते हैं। जिस लौह युग (Iron Age) में पैदा होने के लिए हेसिओड रोता है, सच पूछें तो वही युग है जिसमें एक मृत मिनोय (Minoan) सभ्यता के ध्वसावशेष से प्राणवती यूनानी सभ्यता का उदय हो रहा था, अब्बासाइयो के लिए उस 'हिल्म' (नकली आत्मसंयम) का कोई उपयोग नहीं रह गया था जो उनके पूर्ववर्ती उम्मायदों का ब्रह्मास्त्र (Arcarum Imperii) था। ये अब्बासाई ही वे राजमर्मज्ञ थे जिन्होने सीरियाई सार्वभौम राज्य के पुन. उदय के लिए रोम साम्राज्य के सीरियाई मोर्चे के विनाश से लाभ उठाने वाले उम्मायदो के चतुराईपूर्ण कार्य (tour de force) का अन्त कर दिया था।

ज्योही बर्बर के चरण टूटे और गिरे हुए मोर्चे को पार करते है त्योही दानव उसकी आत्मा को अपने कब्जे मे ले लेता है। इस दानव का अपसारण कठिन है क्योंकि वह उन्ही गुणों को विकृत कर देता है जिनसे उसके आखेट ने अपने को सज्जित कर रखा है। मदाम रोला ने एक समय 'स्वतन्त्रता' (लिबर्टी) के लिए जो कुछ कहा था वही कोई 'आइडोज' (लज्जा) के लिए भी कह सकता है—"तेरे नाम पर कैसे-कैसे अपराध किये गये है।" बर्बर की सम्मान-भावना "एक ऐसे अतिलोलुप हिंस्र पशु की भाति दहाडती है जो कभी नही जान पाता कि उसका पेट भर चुका है।"[२] इतिहास एव पुराण-कथा दोनो मे हम देखते हैं कि सर्वग्राहिणी नृशंसता वीर युग का प्रधान लक्षण है। जिस श्रीहत बर्बर समाज मे ये काले कृत्य किये जाते है वे उनके सम्पादन से इतने परिचित होते हैं और उनकी वीभत्सता से इतने कम प्रभावित होते हैं कि योद्धा नायको की स्मृति को अमरता प्रदान करने वाले चारण तक अपने नायक-नायिकाओ पर ऐसे पाप थोप देते है जो उनमें नही होते, केवल इसलिए कि उनके चरित्र की कालिमा उनकी क्षमता को बढाने वाली होगी।

१ हेसिओड : 'वर्क्स एण्ड डेज', पंक्तियां १९७-२००

२ ग्रोनबेक, वी. : 'दि कल्चर आव दि ट्यूटंस' (लन्दन १९३१, मिलफोर्ड, ३ भाग, दो में भाग २-३, पृ. ३०५

फिर ये वीर नायक केवल अपने घोषित शत्रुओं तक ही अपनी रोमांचकारी नृशंसता सीमित नहीं रखते। ऐट्रियस वंश के पारिवारिक झगड़े में की जाने वाली वीभत्सताएं ट्राय के विनाश की वीभत्सताओं के भी आगे बढ़ जाती है। फिर एक दूसरे के विरुद्ध आपस मे ही विभक्त वंश कब तक खड़े रह सकते हैं ?

एक आभासिक सर्वशक्तिमत्ता से आश्चर्यजनक रूप से आकस्मिक पतन वीर-युगीन बर्बर शक्ति के भाग्य का मुख्य लक्षण है। इसके महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक उदाहरण है—अट्टिला की मृत्यु के पश्चात् हूणों का और जेनसेरिक की मृत्यु के बाद वण्डालो का पतन। ये तथा ऐतिहासिक रूप से प्रमाणित अन्य उदाहरण इस जनश्रुति की सभावना प्रकट करते हैं कि एकेइयन विजय-धारा भी ट्राय को डुबाने के बाद, इसी प्रकार रुद्ध होकर समाप्त हो गयी और कत्ल किया हुआ 'अजमेमनन' एकेइयन-समर्थक अन्तिम योद्धा सरदार था। ये युयुत्सु सरदार अपनी विजय-सीमा चाहे जितनी बढ़ा लें किन्तु ये संस्थाओ का सर्जन करने के अयोग्य थे। शार्लमेन-जैसे दभी और अपेक्षाकृत सभ्य युद्धनेता तक के साम्राज्य का जो हाल हुआ वह उनकी अक्षमता का एक आश्चर्यजनक चित्र प्रस्तुत करता है।

(४) कल्पना और तथ्य

पिछले अध्याय में जो चित्र उपस्थित किया गया है, वह यदि सत्य है तो वीर युग पर बड़ा कठोर फैसला ही सम्भव है। सबसे हलका जो फैसला दिया जायगा वह भी इसे सदाचरण का एक निरर्थक उल्लघन बतायेगा; और कठोर न्यायाधीश इसे आपराधिक अनाचार बताकर निन्दा करेंगे। निरर्थकता का फैसला एक ऐसे विक्टोरियन साहित्यकार की मधुर कविता मे प्रतिध्वनित हुआ जो नव-बर्बर युग के तुषारपात (असफलता, निराशा) को अनुभव करने के लिए जीता रहा था—

लम्बे, श्रेष्ठ गोथ युद्धवीरों के पथ का,
बन्धु अनुसरण करो जीवन के रथ का,
अपनी नीलनयनी वे अंगनाएं संग लिये,
विस्चुला की ठंडी गोचर भूमियां विसार कर,
अन्ध तमयुक्त गृह छोड़ चले जाते थे।
बाल्टिक समुद्र के अंबरी तटों के साथ,
पौरुष की दिव्य ओज-राशि से भरे हुए
कल्पित से पथ पर अजान विश्व ओर, वे
निज धुन लिये हुए आगे बढ़े जाते थे।
बैंजनी-सी शक्ति के जटिल दुकूल फाड़
अंचल पर्वों से बल, आगे चले जाते हैं,
सेनाएं विजित कर आगे बढ़े जाते हैं।
सम्राट मारकर, नगर जलाते हुए
रोम व एथेंस को लूटते-लुटाते हुए

सीजर समाप्त कर रोमनों के स्थान पर
स्वयं विश्व-शासन की बागडोर लेते
सम्राट दुर्धर्ष देखो हैं बन गये ।
फिर भी त्रयशतियां वे लुंठन और रक्त तथा
हृदय के पशुत्व और हाथ की नृशंसता
से पूर्ण थीं वे; कुछ भी न छोड़ा,
गोथ बड़े शक्तिमान थे ।
किन्तु शक्तिमान थे विनाश अत्याचार में,
कुछ भी लिखा न, कोई काम ही दिखाया कर
चिन्तन और सर्जना की कोई देन छोड़ी नहीं ।
किन्तु कृषि क्षेत्र शस्यश्यामल से पूर्ण थे
हँसिया चलाने का यश वे पा गये—
अन्यथा धरित्री पर उनका न चिह्न है ।[1]

यह नपा-तुला फैसला, जिसकी घोषणा पद्रह शतियों के व्यवधान मे की गयी है, उस यूनानी कवि को सन्तुष्ट नही कर सकता था जो मिनो लोगो के सागर-साम्राज्य के उत्तराधिकारी बर्बरो द्वारा निर्मित नैतिक गदी बस्ती (Slum) मे अब भी रहने की तीव्र चेतना से युक्त है। मिनोत्तर (Post-Minoan) वीर युग के विरुद्ध हेसिओड ने जो अभियोग लगाया है उसका तात्पर्य है कि वह न केवल व्यर्थता बल्कि आपराधिकता (Criminality) के दोष से दूषित है। इससे यह भी मालूम पडता है कि उसके समय मे भी वह आपराधिकता एक उदीयमान यूनानी सभ्यता के ऊपर प्रेत-छाया की भाति लगी हुई थी। हेसिओड का फैसला बडा निष्ठुर है -

"और पिता जियस ने पार्थिव मानवों की एक तीसरी जाति और बनायी—एक कांस्य जाति, जो किसी भी बात में चांदी जैसी नहीं थी; मानो अखरोट के तनों से बनी हो, शक्तिमती और भयानक। एरीज के निदारुण कृत्यों एव अहकार के अनधिकार-प्रवेश में ही उनका आनन्द था। कभी रोटी उनके मुंह में नहीं गयी किन्तु सीने के अन्दर उनके हृदय वज्र की भांति दृढ़ थे—कोई उस दृढ़ता तक नहीं पहुँच सकता था। उनकी शक्ति महान थी और उनकी बलिष्ठ देहयष्टि के स्कन्धों से उगने वाले शस्त्रास्त्र अजेय थे। उनके सर्वांग-कवच कांसे के थे और कांसे से ही वे धरती जोतते थे (कृष्ण लौह का तबतक पता न था)। पर उनका पतन उन्हीं के हाथों हो गया। वे अपने ही रास्ते शीतल यमलोक के गलते हुए भवनों (कब्रों) में समा गये—नाम भी मिट गया। उनकी सम्पूर्ण शक्तिमती वीरता के साथ भी मौत ने उन्हें अपनी अंधेरी गोद में ले लिया और वे सूर्य की उज्ज्वल ज्योति छोड़कर चले गये।"[2]

[1] ब्रिजेज, राबर्ट · 'दि टेस्टामेण्ट आफ ब्यूटी' (आक्सफर्ड १६२६, क्लेयरेण्डन प्रेस), पुस्तक १, पंक्तियां ५३५-५५। कविता का हिन्दी अनुवाद अनुवादक द्वारा।

[2] हेसिओड, : 'वर्क्स एण्ड डेज', पंक्ति १४३-१५५

अपने ही अपराधपूर्ण दोषों से बर्बर अपने ऊपर पीड़ा का जो तूफान ले आते है उस पर भावी पीढ़ियों का निर्णय, हेमिओड की कविता के उस अंश में व्यक्त रूप मे, शायद अन्तिम होता, यदि कवि ने स्वय आगे यह न लिखा होता—

"जब यह जाति भी धरती के नीचे दब गयी तो फिर कारोनस के पुत्र जियस द्वारा सर्वमाता (पृथिवी) पर एक चौथी जाति का निर्माण किया गया— एक श्रेष्ठतर जाति, ज्यादा पुण्यवती, वीर मानवों की एक दैवी जाति—जिन्हें अर्द्धदेव कहा जाता है—एक जाति जो इस असीम पृथिवी पर समय से पहिले आ गयी। वे लोग भी बुरे युद्ध और भयानक लड़ाई द्वारा नष्ट कर दिये गये—कुछ तो ओडीपुस[१] के साथियों के लिए लड़ते हुए केडमस की भूमि में सप्तद्वार थीब्स (Seven-Gate Thebes) **के नीचे मारे गये, कुछ दूसरे मंजुकुंतला हेलेन के लिए विनष्ट होने को सागर के विशाल वक्ष पर जहाजों-द्वारा ट्राय ले जाये गये। वहां उनका अन्त हो गया और वे मृत्यु के आलिंगन में विलुप्त हो गये। फिर भी उनमें चंद लोग बच गये, कारोनस के पुत्र जियस द्वारा उनको मानव जाति से दूर, पृथिवी के छोर पर, आवास प्रदान किया गया। वहां वे रहते हैं। चिन्ता-रहित हृदय के साथ, सागरधारा के गहरे भंवरों में—सुखी वीर गण, जिनके लिए प्रतिवर्ष तीन-बार पकने वाली मधुर-मधुर शस्य-मालिका उपजाऊ खेतों द्वारा प्रस्तुत की जाती है।"[२]**

इस अनुच्छेद का अपने ठीक पहिले वाले अनुच्छेद से और उन जातियो की सूची से, जिनके मूल मे यह फैला हुआ है, क्या सम्बन्ध है ? यह प्रसग सूची की शृंखला को दो बातो मे काटता है। पहली बात तो यह है कि जिस जाति का पर्यवलोकन यहा किया गया है, अपनी पूर्ववर्ती स्वर्ण, रजत एव कास्य तथा उसकी उत्तराधिकारिणी लौह, जातियो के प्रतिकूल, किसी धातु से उसकी पहिचान नही की जाती; दूसरी बात यह है कि चारो अन्य जातिया एक-दूसरे का अनुगमन योग्यता के ह्रास की दिशा में करती है। इसके अलावा तीन पूर्ववर्ती जातियो की नियति, मृत्यु के बाद उनकी पृथिवी पर की जीवनावधि के अनुरूप है। स्वर्ण की जाति "जियस महान की इच्छा से शुभ प्रेतात्माओं मे बदल गयी—धरती के ऊपर की प्रेतात्माए, जो पार्थिव मानवों की अभिभावक और धनदायिनी हैं।" उससे हलकी रजत या चादी की जाति ने "मरणशील प्राणियो मे, पृथिवी के नीचे धन्यता का स्थान प्राप्त किया—यश मे दूसरा स्थान, फिर भी सम्मानप्राप्त।" किन्तु जब हम कास्य की जाति तक पहुचते है तब देखते हैं कि मृत्यु के बाद उनका भाग्य अशुभ मौन मे डूब गया है। इस साचे पर बुनी गयी सूची मे चौथी जाति के लिए तो हम यही आशा कर सकते है कि मृत्यु के बाद वह

[१] **ओडीपुस=थीब्स का बादशाह जिसने अपनी चतुराई से स्फिंक्स की पहेलियां सुलझायीं और उसके पिता को मारकर उसकी मां से विवाह कर लिया। —अनुवादक**

[२] **हेसिओड : 'वर्क्स एण्ड डेज,' पंक्तियां १५६-१७३**

शापितों की यन्त्रणा सहन करने के लिए दण्डित होगी; किन्तु उसके प्रतिकूल उनमें से कम से कम कुछ चुने हुए लोगों को हम मृत्यु के बाद स्वर्ग या परमानन्दधाम (Elysium) में ले जाये जाते देखते हैं, वहा वे पृथिवी से 'ऊपर' वही जीवन बिताते हैं जो स्वर्ण की जाति व्यतीत करती रही है।

कास्य जाति और लौह जाति के बीच वीरो की जाति का प्रवेश स्पष्टतः बाद की कल्पना है जो इस काव्य के क्रम (Sequence), सममिति (Symmetry) तथा आशय को भग करती है। कवि को यह भद्दा अश प्रविष्ट करने के लिए किससे प्रेरणा मिली ? निश्चय ही उत्तर यह होगा कि वीरों की जाति का जो चित्र यहा उपस्थित किया गया है, वह कवि एव उसकी जनता की कल्पना पर ऐसे स्पष्ट रूप मे उभर आया था कि उसके लिए स्थान खोजना ही पडा। वीरो की जाति, वस्तुत कासे की ही जाति है जिसका उल्लासहीन हेसिओडी तथ्य की शैली मे नही वर ऐन्द्रजालिक होमरी कल्पना में एक बार फिर वर्णन कर दिया गया है।

सामाजिक शब्दावली मे वीर युग मूढता और अपराध है, किन्तु भावात्मक भाषा मे वह एक महत् अनुभव है, पुलक से भरा अनुभव है, जिस बाड ने बर्बर आक्रामको के पूर्वजो को पीढियो तक परेशान किया था उसे तोड़ डालने और एक आभासिक असीम विश्व मे फट पडने का अनुभव—एक ऐसे विश्व मे जो उन्हे असीम सभावनाए प्रदान करता हुआ दीखता हो। परन्तु एक प्रशमनीय अपवाद को छोड, और सब सभावनाएं निष्फल सिद्ध होती हैं, फिर भी एक सामाजिक एव राजनीतिक स्तर पर बर्बरो की सनसनी पैदा करने वाली परिपूर्ण निष्फलता ही, विरोधाभासिक रूप से, उनके चारण कवियो की सर्जनात्मक कृतियो की सफलता का कारण होती है, क्योंकि कला के क्षेत्र मे असफलता-द्वारा जो निर्माण संभव है वह सफलता मे सभव नही है, कोई 'सफलता की कथा' ट्रेजेडी (दुःखान्त गाथा) की ऊचाई तक नही पहुच सकती। 'वोल-कर-वान-डर-उग' (volkervonderung)[1] या जातियो के प्रव्रजन-प्रवसन से उत्पन्न उल्लास जहां कर्मवीरों की मत्त आत्माओ को निराशा के गर्त मे डाल देता है वहा वह बर्बर कवि को अपने नायको की दुष्टता और अयोग्यता को अमरगान मे ढालने का अवसर भी प्रदान करता है। काव्य के इस ऐन्द्रजालिक राज्य मे बर्बर नायक मरकर वह संप्रेषित गरिमा प्राप्त कर लेते हैं जो वास्तविक जीवन मे कभी उनकी पकड मे न आयी थी। मृत इतिहास एक अमर रोमांस के रूप मे खिल पड़ता है। अपने उत्तरकालिक प्रशंसको पर वीर काव्य जो सम्मोहन डाल देता है उसके कारण वे यह सोच नहीं पाते कि वह वस्तुतः एक सभ्यता की मृत्यु और उसकी

[1] आदिवासियों का प्रव्रजन-प्रवसन, विशेषत ट्यूटन जातियों का दक्षिण-पश्चिम यूरोप में प्रवास। दूसरी शती से ग्यारहवीं शती तक यह प्रव्रजन चलता रहा और नार्थमैन—उत्तरवासी—इंगलैण्ड एवं फ्रांस में आकर बसते रहे। इन प्रवासों के कारण रोमन साम्राज्य का पतन हुआ, और इतिहास के प्राचीन एवं मध्य युगों के संक्रांतिकाल की यही मुख्य विशेषता रही है।—अनुवादक

उत्तराधिकारिणी सभ्यता के बीच एक अधम विष्कम्भ मात्र है, और जिसे इस अध्ययन की शब्दावली मे हमने जान-बूझकर व्यंग्यपूर्वक 'वीर युग' या 'वीरों का युग' कहा है।

जैसा कि हम देख चुके हैं, इस भ्रम का सबसे पहिला शिकार उस 'अन्धकार युग' का कवि हुआ है जो वीर युग का ही परिणाम है। जैसा कि सिंहावलोकन से स्पष्ट है, इस बाद के युग को ऐसे अन्धकार के लिए लज्जित होने का कोई कारण नहीं है जो केवल इस बात का द्योतक है कि बर्बर गृहदाहियो-द्वारा जलायी गयी होली बुझ चुकी है, और यद्यपि लपट के निशान वाली जमीन की सतह राख की ढेर से धुंधली हो गयी है, फिर भी अन्धकार युग ने जिस प्रकार अपने को सर्जनात्मक सिद्ध किया है उस प्रकार वीर युग कदापि नही था। समय पूरा हो जाने पर उस उपजाऊ भस्मक्षेत्र को कोमल हरीतिमा के अकुरों से आच्छादित करने के लिए नवीन जीवन का उदय होता है। हेसिओड का काव्य, होमर के निकट रखने पर नीरस लगता है किन्तु वह लौटती हुई वसन्त ऋतु का एक दूत है। फिर भी उषःकाल के पूर्व की तमिस्रा का यह ईमानदार इतिवृत्तकार हाल के नैश गृहदाह से प्रणोदित काव्य से इतना चमत्कृत है कि वह वीरो की जाति के काल्पनिक होमरी चित्र को, ऐतिहासिक काव्य के रूप मे विश्वासपूर्वक ग्रहण कर लेता है।

जब हम विचार करते हैं कि हेसिओड ने कांस्य जाति के अपने जिस चित्र को हमारे लिए सुरक्षित रखा है, उसमे होमरी स्वैर कल्पना (Fantasy) की सृष्टि के साथ ही बर्बर के उस रूप का भी एक निर्दय उद्घाटन है, जो कि वह वस्तुतः है। फिर भी, इस सूत्र के बिना भी, आन्तरिक साक्ष्य के प्रस्फोटन द्वारा इस वीर पुराणकथा को उड़ाया जा सकता है। पता चलता है कि इन वीरों ने पाप का जीवन बिताया और कांस्य जाति की निष्ठुर मृत्यु को प्राप्त हुए, और जब हम सब नकली रोशनिया बुझा देते है तथा दिन के संयत प्रकाश में कोलाहलपूर्ण झगड़े और उन्मत्त भोजोत्सव के कवित्वमय आदर्शीकरण को देखते हैं तो इसी तरह वलहल्ला (Valhalla)[१] भी एक गन्दी बस्ती के रूप मे दिखायी देती है। इम वलहल्ला मे प्रवेश प्राप्त करने के लिए जो वीर अपने को योग्य सिद्ध करते हैं वे भी वस्तुत. उन दानवों की कोटि के ही है जिनके विरुद्ध उन्होंने अपना पराक्रम प्रदर्शित किया है; और एक-दूसरे के द्वारा पृथिवी की गोद से नष्ट कर दिये जाने के कारण उन्होंने दुनिया को अपने ही द्वारा निर्मित प्रेत-नगरी से मुक्त कर दिया है और सिवा अपने और सबके लिए एक सुखद अन्त प्राप्त कर लिया है।

बर्बर महाकाव्य की चकाचौंध से प्रभावित होने वालो मे हेसिओड भले प्रथम व्यक्ति रहा हो पर वह अन्तिम नहीं था। ईसाई संवत् की जो उन्नीसवी शती ज्ञानवती

[१] नार्स पुराण कथा में ओडिन का हाल जिसमें वह रणयुद्ध में मारी जाने वाली आत्माओं को प्राप्त करता था। इसमें ५४० द्वार थे। प्रत्येक द्वार से प्रतिदिन उषःकाल में वीर सैनिक युद्ध करने जाते थे और देवताओं के साथ दावत खाने के लिए रात को लौटते थे।—अनुवादक

मानी जाती है उसमें एक नीम हकीम तत्त्वज्ञानी को हम ऐसी शुभ बर्बर 'नार्डिक जाति' की पुराणकथा का उद्घाटन करते पाते हैं जिसके रक्त का एक 'अक्षम समाज' की शिराओ में अन्त:क्षेप (inject) करने से वह यौवन के लिए अमृत सिद्ध होगा। और जब हम आनन्दी फरासीसी अभिजात की राजनीतिक आत्मक्रीडा (Jeu d'esprit) को दानवी जर्मन नव-बर्बरवाद के पैगम्बरों द्वारा एक जातिगत पुराण-कल्पना मे स्फुरित होते देखते है तो हृदय के टुकडे-टुकड़े हो जाते है। प्लेटो ने जोर दिया था कि उसके प्रजातन्त्र से कवियो को निर्वासित कर दिया जाना चाहिए। जब हम वीर गाथाओं (Saga) के प्रणेताओ एव 'तृतीय रीख'[1] (Third Reich) के सस्थापको के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध की खोज करते है तो प्लेटो के कथन का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है।

पर ऐसे अवसर भी आये हैं जब बर्बर हस्तक्षेपकारी ने भावी पीढियो के लिए नम्र सेवा का कार्य भी किया है। प्रथम पीढ़ी की सभ्यता से दूसरी पीढी तक के संक्रांति काल मे हस्तक्षेपकारी बर्बर ने, कुछ उदाहरणो मे, मृत सभ्यता और उसकी नवोत्पन्ना उत्तराधिकारिणी के बीच एक श्रृखला स्थापित करने का काम किया—ठीक वैसे ही जैसे दूसरी पीढ़ी की सभ्यता से तीसरी तक के सक्रातिकाल मे चर्च कोश-कीट ने श्रृखला स्थापित करने का काम किया था। उदाहरणार्थ, सीरियाई और यूनानी सभ्यताए मिनोई समाज के बाह्य श्रमजीविवर्ग द्वारा पूर्वगामी मिनोई सभ्यता से श्रृखलाबद्ध कर दी गयी थी। इसी प्रकार हित्ती या हित्ताई (Hittite) सभ्यता अपनी पूर्वगामी सुमेरु सभ्यता से और भारतीय सभ्यता अपनी पूर्वगामी सिन्धु सस्कृति (यदि उसे सुमेरु सभ्यता से स्वतन्त्र अपना निजी जीवन और अस्तित्व रखने वाली मान लें) से सम्बद्ध हो गयी थी। परन्तु जब इस सेवा की तुलना चर्च-कोश-कीटों की भूमिका के साथ करते हैं तो इसकी लघुता प्रत्यक्ष हो जाती है। यद्यपि युयुत्सु दलो को जन्म देने वाले बाह्य श्रमजीविवर्ग की भाति ही चर्चों का निर्माण करने वाला आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग भी एक विघटनशील सभ्यता के मनोवैज्ञानिक विच्छेद की सन्तति है किन्तु वह (आन्तरिक श्रमजीविवर्ग) अतीत से अपेक्षाकृत बहुत अधिक समृद्ध उत्तराधिकार प्राप्त करता और भावी पीढ़ियो को सौंपने मे समर्थ होता है। जब हम यूनानी सभ्यता के प्रति पाश्चात्य ईसाई सभ्यता के ऋण के साथ मिनोई सभ्यता के प्रति यूनानी सभ्यता के ऋण की तुलना करते हैं, तो यह बात स्पष्ट हो जाती है। खीष्टीय चर्च का यूनानीकरण सतृप्ति-बिन्दु (Saturation Point) तक कर दिया गया है; होमरी कवि मिनोयन समाज के विषय मे प्राय: कुछ भी नही जानते थे · वे 'रिक्तता के मध्य' (In Vacuo) अपने वीर युग के उस भीम शव को यदाकदा जिक्र करते हुए उपस्थित करते है जिस पर चारण कवि के गृद्ध-नायक—जो अपने को बड़े गर्व के साथ 'नगरो का विध्वसकर्ता' कहते हैं —गलित मास का भोग लगा रहे हैं।

यह स्पष्ट हो जाने पर, एकेइयनो और उसी भूमिका का अभिनय करने वाले उनकी पीढ़ी के दूसरे बर्बरो की सेवा प्राय: नगण्य-सी रह जाती है। सचमुच उसका क्या

[1] तृतीय जर्मन साम्राज्य जिसे हिटलर ने बनाने का दावा किया था। —अनुवादक

मूल्य था ? जब हम दूसरी पीढ़ी की उन सभ्यताओं की तुलना शेष माध्यमिक सभ्यताओं की नियति के साथ करते हैं जो इस सूक्ष्म बर्बर कड़ी-द्वारा अपनी पूर्ववर्ती सभ्यताओं से सबद्ध हो गयी थी, तब इसकी वास्तविकता स्पष्ट हो जाती है। जो कोई माध्यमिक सभ्यता अपनी पूर्ववर्तिनी के बाह्य श्रमजीविवर्ग द्वारा सम्बद्ध नहीं हो सकी होगी, वह निश्चित रूप से अपनी पूर्ववर्तिनी के प्रभविष्णु अल्पमत द्वारा सम्बद्ध की गयी होगी। केवल इतने ही विकल्प सभव हैं क्योंकि प्राथमिक सभ्यताओं के आन्तरिक श्रमजीविवर्ग के अविकसित महत्तर धर्मों से किसी कोश-कीट—चर्च का उद्भव नही हुआ।

तब हमारे सामने दूसरी पीढी की सभ्यताओ के दो वर्ग हैं—पहिला वह जो बाह्य श्रमजीविवर्ग द्वारा अपनी पूर्ववर्ती सभ्यताओ से सम्बद्ध है, दूसरा वह जो पूर्ववर्तिनी सभ्यता के प्रभविष्णु अल्पमत-द्वारा सम्बद्ध है। दूसरे विषयो मे भी ये दो वर्ग परस्पर-विरुद्ध दिशाओ मे खड़े हैं। प्रथम वर्ग अपने पूर्ववर्ती से इतना भिन्न है कि सम्बद्धता का तथ्य भी सन्देहास्पद हो जाता है। दूसरा या बाद का वर्ग अपने पूर्ववर्ती से इतने घनिष्ठ रूप मे विजड़ित है कि उनके भिन्न अस्तित्व के दावे का भी विरोध किया जा सकता है। बाद वाले वर्ग के तीन ज्ञात उदाहरण हैं—१. बैबिलोनी, जिसे या तो एक भिन्न सभ्यता या फिर सुमेरु सभ्यता का विस्तार समझा जा सकता है, २. यूकेताई (Yucatec) और ३. मेक्सिकी (Mexic)। अन्तिम दोनो माया या मय (Mayan) सभ्यता से सम्बद्ध है। इन दो वर्गों का चयन कर लेने के बाद हम दोनों के बीच एक और अन्तर का पर्यवेक्षण कर सकते है। माध्यमिक सभ्यताओ का अधिसम्बद्ध (Supra-affiliated) वर्ग (या प्राथमिक सभ्यताओ का मृत तना) पूरे का पूरा असफल हो गया, जबकि दूसरे वर्ग की सभ्यताए —यूनानी, सीरियाई और इंडिक (भारतीय) सफल हुईं। अधिसम्बद्ध सभ्यताओ मे से किसी ने, अपनी समाप्ति के पूर्व, किसी सार्वभौम चर्च को जन्म नही दिया।

यदि हम अपने इस निष्कर्ष को याद रखे कि कालक्रमानुसार एक के बाद एक आने वाले समाज-प्रकार (Types of Society) मूल्य-क्रम मे उसी भाति उत्तरोत्तर ऊपर उठते जाते हैं और उस क्रम मे महत्तर धर्म अब तक प्राप्त उच्चतम स्थिति मे हैं तो अब हम यह भी देख सकते हैं कि दूसरी पीढी की सभ्यता के बर्बर कोश-कीट (पर तीसरी पीढी के नही) महत्तर धर्मों के विकास मे भाग लेने के सम्मान-भाजन है। यह प्रस्थापना निम्नलिखित तालिका-द्वारा स्पष्टतम रूप मे व्यक्त की जा सकती है—
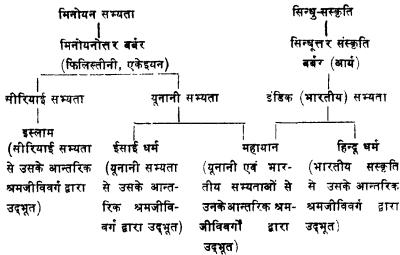
टिप्पणी : 'स्त्रियो की पिशाची रेजीमेण्ट' (सैनिक दल)

वीर युग के सर्वोत्कृष्ट पुरुष-युग होने की सभावना की जा सकती है। किन्तु जो प्रमाण है वे क्या इसे पशुबल का युग होने का दोषी नही सिद्ध करते ? और जब बल को उन्मुक्त कर दिया जाता है तो शरीर से प्रबल (पुरुष) जाति के सामने स्त्रियो को अपनी मर्यादा की रक्षा का क्या अवसर रह जाता है ? यह पूर्वसिद्ध (a priori) तर्क न केवल वीर काव्य में प्राप्त आदर्श-चित्र से वर इतिहास के तथ्यो से भी कट जाता है।

वीर युग में महान् सकट स्त्रियों के काम को लेकर ही आते हैं। जब स्त्रिया निष्क्रिय भूमिका में होती हैं तब भी ऐसा ही होता है। यदि गेपीडाई के विनाश का कारण रोजामुड के लिए अलब्बाइन को असन्तुष्ट कामना है तब तो यह प्रशसा की बात है कि ट्राय के विनाश की उत्तेजना हेलेन के लिए पेरिस की कामना के सन्तुष्ट हो जाने के कारण प्राप्त हुई थी। सामान्यत. स्त्रिया अप्रच्छन्न रूप से झगडा पैदा करने वाली होती हैं और उनका विद्वेष वीरो को एक-दूसरे के प्राण लेने के लिए उतारू कर देता है। बूनहिल्ड[१] और क्रीमहिल्ड[२] के बीच का पुराणोक्त कलह, जो अन्त

[१] यूरोपीय पुराण-कथा में एक तरुण और सुन्दरी रानी जिस पर सीगफ्राइड जादू के बल से अधिकार कर लेता है और अपने साले गुंथर की ओर उन्मुख करता है। जब उसे सीगफ्राइड की पत्नी क्रीमहिल्ड से इसका पता लगता है तो वह हेगन की सहायता से विश्वासघात का बदला लेती है और सीगफ्राइड को धोखे से मरवा देती है। —अनुवादक

[२] बादशाह गुंथर की बहिन और सीगफ्राइड की पत्नी। सीगफ्राइड कीमृत्यु के बाद ईतजेल से विवाह कर लेती है।—अनुवादक

में इत्जिल के डैन्यूबी हाल के हत्याकाण्ड के रूप में घटित हुआ, ऐतिहासिक ब्रूनहिल्ड और उसके शत्रु फ्रीडगुड के बीच के उस झगड़े में होने वाली सच्ची घटनाओं से जुड़ा हुआ है जो रोम साम्राज्य के उत्तराधिकारी मेरोविंजियन राज्य में ४० वर्ष तक चलने वाले गृहयुद्ध का कारण हुआ।

वीरयुग में पुरुषों पर स्त्रियों का प्रभाव केवल अपने पुरुष-समूह को भ्रातृघातक युद्ध में प्रवृत्त करने के दौरात्म्य तक ही सीमित नहीं है। शायद ही किसी स्त्री ने इतिहास पर उससे अधिक गहरी छाप डाली हो जितनी सिकन्दर की मां ओलिम्पियास और मुआविया की मा हिन्द ने डाली है। ये दोनों ही अपने दुर्जेय पुत्रो पर आजीवन नैतिक प्रभुता स्थापित करके अपने को अमर बना गयी हैं। इतने पर भी गोने रिलो, रेगनो (Regans) एव लेडी मैकबेथो की, प्रामाणिक इतिहास से कटी हुई सूची अनिश्चित सीमा तक बढ़ायी जा सकती है। इस घटना के स्पष्टीकरण के कदाचित् दो रास्ते है- -पहिला समाजशास्त्रीय, और दूसरा मनोवैज्ञानिक।

समाजशास्त्रीय स्पष्टीकरण इस तथ्य मे पाया जाता है कि वीर युग एक ऐसा सामाजिक राज्यान्तरकाल है जिसमे आदिमकालिक जीवन की परम्परागत आदतें टूट गयी हो किन्तु उदीयमान सभ्यता या उदीयमान महत्तर धर्म द्वारा अभी नवीन प्रथा की चपाती सिककर तैयार न हुई हो। इस क्षणभगुर स्थिति में सामाजिक शून्यक (vacuum) या रिक्तता ऐसे व्यक्तिवाद से भर जाती है जो इतना सर्वप्रभुता-सम्पन्न होता है कि लिंगो (sexes) के बीच के आन्तरिक भेदो को भी मिटा देता है। उल्लेखनीय है कि इस निरकुश व्यक्तिवाद का ऐसा परिणाम होता है कि कठिनाई से ही उस अव्यावहारिक नारी-अधिकारवाद से उसका भेद किया जा सकता है जो इन कालो के स्त्री-पुरुषो के भावनाक्षेत्र एव बौद्धिक क्षितिज के बिल्कुल परे होता है। समस्या पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करते हुए यह सुझाव दिया जा सकता है कि बर्बर अस्तित्व के लिए परस्पर-विनाशकारी जो युद्ध करते थे उनमे विजय दिलाने वाले पत्ते (कार्ड) पशुबल नही वर अध्यवसाय, प्रतिहिंसा, निष्ठुरता, चातुर्य और छल-छद्म हैं, और ये ऐसे दुर्गुण हैं जिनसे पापपूर्ण मानवीय प्रकृति स्त्री मे भी उतनी ही समृद्ध है जितनी पुरुष मे।

यदि हम अपने से ही सवाल करते है कि वीर युग के नरक मे अपनी पिशाची रेजीमेंट को सचालित करने वाली स्त्रिया वीर पुत्रियां हैं, जो खल नायिकाए हैं, या आखेट मात्र है, या क्या है, तो हमें कोई स्पष्ट उत्तर नही मिलता। स्पष्ट इतना ही है कि उनकी दुःखद नैतिक द्वैधवृत्ति (ambivalence) उन्हे कविता के लिए आदर्श विषय बना देती है, और यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि मिनोत्तर (पोस्ट-मिनोएन) वीर युग के महाकाव्य-उत्तराधिकार मे एक प्रिय शैली वह 'नारी-सूची' भी है जिसमे एक पुराणोक्त कर्कशा के अपराधों एवं कष्टो के गान से काव्यात्मक संस्मरणो की अन्तहीन शृखला में एक के बाद दूसरी गाथा सामने आ जाती है। जिन ऐतिहासिक नारियो की विकट दुस्साहसिकताए इस काव्य में प्रतिध्वनित हैं वे यदि पहिले से जानती होती कि एक सस्मरण का संस्मरण एक दिन किसी विक्टोरियन कवि की कल्पना में

साकार होकर 'ए ड्रीम आव फेयर वीमेन' (सुन्दर स्त्रियों का स्वप्न) की सृष्टि करेगा तो वे अपनी मुखाकृतियों से मुस्करा पड़ती। निश्चय ही वे मैकबेथ के प्रथम अंक के तृतीय दृश्य के वातावरण में अपने को अधिक सुखी अनुभव करती।

९. दिगन्तर सभ्यताओं के बीच समागम

३०

अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार

इस इतिहास के अध्ययन की प्रारम्भिक व्यावहारिक कल्पना यह थी कि ऐतिहासिक सभ्यताए अध्ययन के अनेक बुद्धिगम्य क्षेत्र है; यदि यह कल्पना उनके इतिहास की सब अवस्थाओ पर लागू होती तो हमारा कार्य अब तक पूर्ण हो गया होता। किन्तु वास्तविकता यह है कि जबतक हम किसी सभ्यता की उत्पत्ति, विकास एव पतन की बात पर विचार कर रहे होते है तबतक वह एक बुद्धिगम्य इकाई मालूम पडती है, किन्तु अपने विघटन की अवस्था मे वह वैसी नही रह जाती। जबतक हम अपनी मानस-दृष्टि उसकी सीमा के बाहर तक न ले जा सके तबतक सभ्यता के इतिहास की इस अन्तिम अवस्था को समझ नही सकते। इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है—सीरियाई सभ्यता द्वारा प्रेरणाप्राप्त ईसाई धर्म के लिए रोमन साम्राज्य का एक यूनानी पालने की व्यवस्था करना।

महत्तर धर्मों की उत्पत्ति मे विभिन्न सभ्यताओ के सघर्ष ने जो भूमिका अभिनीत की है वह ऐतिहासिक भूगोलशास्त्र का सामान्य तथ्य है। जब हम किसी मानचित्र मे महत्तर धर्मों के उत्पत्ति-स्थानो पर निशान लगाते है तब देखते है कि पुरानी दुनिया के समस्त भूतल पर अपेक्षाकृत अत्यन्त लघु दो भूमिखण्डो के अन्दर या उनके इर्द-गिर्द वे सब स्थान आ जाते है—एक ओर तो वह है आक्सस-जैक्जारतीस जलद्रोणी (Oxus-Jaxartes Basin) और दूसरा खण्ड है सीरिया। जब हम सीरिया कहते है तब हमारा अभिप्राय उसके उस विशद अर्थ से होता है जिसमे उत्तर अरबी स्टेपी, भूमध्यसागर और आर्मेनी तथा एनातोलियाई पठारो (plateaux) के दक्षिणी कगारो (escarpments) से सीमित क्षेत्र आता है। आक्सस-जैक्जारतीस जलद्रोणी महायान के उस रूप की जन्मस्थली थी जिसमे उसका सुदूरपूर्व-विश्व मे प्रसार हुआ। इसके भी पूर्व, कदाचित्, वह जरथुस्त्री मत की जन्मस्थली थी। सीरिया के एन्तिओक मे ईसाई मत के उस रूप का निर्माण हुआ, जिसमें वह, लिली के गैफैरिसी यहूदीवाद के विविध रूपो मे अवतीर्ण होने के पश्चात्, यूनानी जगत् मे फैला। यहूदी मत एव समारितनों का समधर्म दोनों दक्षिणी सीरिया मे उदित हुए थे। मैरोनाइतो के एकेश्वरवादी ईसाई मत एवं द्रूसो के 'हाकिम'-पूजक 'शी-मत' दोनो का जन्म मध्य सीरिया में हुआ। महत्तर धर्मों की जन्मस्थलियो का यह भौगोलिक केन्द्रीकरण तब

और भी महत्त्वपूर्ण हो उठता है जब हम अपना क्षितिज निकटवर्ती भूखण्डों तक ले जाते हैं। लाल सागर के छोर पर फैली अधित्यकाओं के साथ-साथ सीरिया का जो हेजाजी विस्तार है वह एक ऐसे ईसाई धर्म का जन्मस्थल है जो नवीन इस्लाम धर्म मे परिवर्तित हो गया। इसी प्रकार जब हम आक्सस-जैक्जारतीस जलद्रोणी के सम्बन्ध में अपने निरीक्षण का विस्तार करते है तो हमें महायान के प्रारम्भिक रूप का जन्म-स्थान सिन्धुनद की जलद्रोणी मे दिखायी पड़ता है।

इसका कारण, इसका स्पष्टीकरण क्या है ? जब हम आक्सस-जैक्जारतीस जलद्रोणी एव सीरिया की प्राकृतिक विशेषताओ पर ध्यान देते है और दोनों की परस्पर तुलना करते हैं तो मालूम पड़ता है कि दोनों को प्रकृति ने ऐसे 'पथगोलक' (Round About) के रूप मे सेवार्थ निर्मित किया है जहा कुतुबनुमा के किसी बिन्दु से आने वाले यातायात को कुतुबनमा के किसी दूसरे बिन्दु की ओर, अनेक विकल्प सम्मिश्रणों में सम्प्रेषित किया जा सकता है। सीरियाई पथगोलक पर नील-जलद्रोणी, भूमध्य-सागर, दक्षिणपूर्वी यूरोपीय पृष्ठप्रदेश-युक्त अनातोलिया, दजला-फुरात जलद्रोणी तथा अरबी स्टेपी से मार्ग आकर मिलते है। इसी प्रकार मध्य एशियाई पथगोलक पर ईरानी पठार होते हुए आने वाला दजला-फुरात मार्ग, हिन्दूकुश के दर्रों से होकर आनेवाला भारतीय मार्ग, और तारिम जलद्रोणी से होकर आनेवाला सुदूरपूर्वीय मार्ग मिलते है। इसके अतिरिक्त उस निकटवर्ती यूरेशियाई स्टेपी मे आने वाला एक मार्ग भी यहा आता है जिसने इस समय सूख गये द्वितीय भूमध्य-सागर का स्थान एव सवाहकता प्राप्त कर ली है और जिसकी पूर्वकालिक स्थिति का प्रमाण कैस्पियन सागर, अराल सागर एव बलकाश झील के रूप मे आज भी मिलता है।

प्रकृति ने जिस भूमिका के लिए इन शक्तिमान यातायात-केन्द्रो की रचना की थी, उसे, इनमे से प्रत्येक ने अत्याद्य सभ्यता के अवतीर्ण होने के बाद के पाच-छ. हजार वर्षों मे बार-बार अभिनीत किया है। एक के बाद एक आने वाले अनुवर्त्ती युगो मे सीरिया कभी सुमेरु एव मिस्री सभ्यताओ के बीच, कभी मिस्री, हित्ताई एव मिनोय सभ्यताओं के बीच; कभी सीरियाई, बैबिलोनी, मिस्री एव यूनानी सभ्यताओ के बीच, कभी सीरियाई, परम्परानिष्ठ ईसाई तथा पाश्चात्य ईसाई सभ्यताओं के बीच तथा अन्त मे अरबी, ईरानी तथा पाश्चात्य सभ्यताओ के बीच सघर्ष का केन्द्र रहा है। इसी प्रकार आक्सस-जैक्जारतीस जलद्रोणी क्षेत्र विभिन्न अनुवर्ती युगो में सीरियाई एव भारतीय सभ्यताओ के बीच; सीरियाई, भारतीय, यूनानी एवं सिनाई सभ्यताओं के बीच तथा सीरियाई एव सुदूरपूर्वीय सभ्यताओं के बीच सघर्ष का केन्द्र रहा है। इन सब सघर्षों के परिणामस्वरूप दोनो मे से प्रत्येक धर्मोत्पादक (Numeniferous) क्षेत्र अनेक विरोधी सभ्यताओ के सार्वभौम राज्यों मे मिलाया जाता रहा है। इन क्षेत्रों में विविध सभ्यताओ के बीच जो विशेष रूप से सक्रिय समागम होता रहा है उसी से उनकी सीमा मे इतने महत्तर धर्मों के जन्मस्थानों के असाधारण केन्द्रीकरण का रहस्य समझ में आ जाता है।

इस प्रमाण के बल पर हम इस आशय का एक नियम बना सकते हैं कि

महत्तर धर्मों के अध्ययन के लिए लघुतम बुद्धिग्राह्य क्षेत्र किसी भी एक सभ्यता के शासन-क्षेत्र से निश्चित रूप मे बड़ा होगा, क्योंकि वह ऐसा क्षेत्र होगा जिसमे दो या अधिक सभ्यताओ का परस्पर संघर्ष हुआ हो। हमारा अगला कदम उन संघर्षों का विशद सर्वेक्षण करना होगा जो कतिपय ऐतिहासिक उदाहरणो मे महत्तर धर्मों की उत्पत्ति का कारण हुए हो।

ये संघर्ष वस्तुतः अवकाश-आयाम या दिगन्तर मे उन सभ्यताओ के बीच समागम के द्योतक हैं जो प्राक्कल्पनाश्रित (exhypothesi) एक दूसरे की समकालीन रही हो, किन्तु इस अध्ययन के वर्तमान भाग में जाने के पूर्व हम इतना चाहते है कि सभ्यताओ का परस्पर-समागम काल-आयाम (time-dimension) मे भी हुआ है और वह भी दो प्रकार का। काल मे एक प्रकार का समागम तो अनुवर्त्तिनी सभ्यताओ के बीच प्रतीयमानता-एवं-सम्बद्धता का सम्बन्ध होता है। यह विषय इस सम्पूर्ण अध्ययन मे हमारे साथ रहा है। दूसरा समागम है—किसी विकसित सभ्यता तथा बहुत पहिले मरी पूर्ववर्त्तिनी सभ्यता के प्रेत के साथ का सम्बन्ध। हम इस प्रकार के संघर्षों को पुनर्जागरण (Renaissance) नाम से पुकार सकते हैं—नाम, जिसका इस ऐतिहासिक प्रपंच के एक विशेष उदाहरण के सिलसिले मे ईसवी संवत् की उन्नीसवी शती के एक फरासीसी लेखक ने आविष्कार किया था—यद्यपि वही एकमात्र उदाहरण न था। काल के अन्तर्गत सभ्यताओ के इस संघात का वर्णन हम इस अध्ययन के आगामी भाग के लिए सुरक्षित रखेंगे।

३१

समकालीन सभ्यताओं के मध्य संघातों का सर्वेक्षण

(१) परिचालन की एक योजना (ए प्लैन आफ आपरेशन)

जब हम समकालीन सभ्यताओ के बीच के सघातो का सर्वेक्षण करने का प्रयत्न करते है तो हमे इतिहास के भयानक रूप से जटिल चक्रव्यूह या भूलभुलैया का सामना करना पडता है, इसलिए इस झुरमुट मे कूदने के पूर्व कोई अनुकूल प्रवेश-बिन्दु खोज लेना हमारे लिए हितकर होगा। हमने अपने सास्कृतिक मानचित्र मे मूलत. जिन सभ्यताओं का निर्देश किया था उनकी सख्या इक्कीस थी, और पुरातत्त्व-सम्बन्धी अनुसंधान की प्रगति ने जब हमे सिन्धु-संस्कृति को सुमेरु सभ्यता से भिन्न तथा शाग-संस्कृति को सिनाई की पूर्ववर्तिनी एक दूसरी सभ्यता मानने को विवश कर दिया है तो इस परिवर्तन के कारण वह सख्या तेईस हो जायगी। किन्तु यदि हम यह तथ्य मान भी ले कि समकालिक अतिव्याप्ति से हीन कोई भी दो सभ्यताएं ऐसे किसी सघर्ष मे नही आ सकती जिससे इस समय हमारा प्रयोजन है, तो भी यह स्पष्ट है कि समकालीन सभ्यताओ के बीच हुए सघातो की सख्या सभ्यताओ की सख्या से बहुत बढ जायगी, और तथ्य है कि बहुत बढ़ जाती है। जैसा मैं पहिले ही कई बार कह चुका हूँ कि हमारे सामने सभ्यताओ की तीन पीढिया है। यदि पहिली पीढी सब की सब एक साथ मर गयी होती और दूसरी का भी वही हाल हुआ होता तो दिक्-आयाम मे होने वाले सघातो की बुनावट सरल हो गयी होती। हमे प्रथम पीढी की क ख ग घ एव ङ सभ्यताओ के पारस्परिक सघषो पर इस संभावना का खयाल किये बिना विचार करना होगा कि इनमे से किसी का दूसरी पीढी की च छ ज झ एव ञ सभ्यताओ से भी सघात हुआ होगा, परन्तु निश्चय ही बात ऐसी नही है। यद्यपि सुमेरु सभ्यता दूसरी पीढ़ी की किसी भीमकाय तरुणी (सभ्यता) से सघर्ष में आने के पूर्व ही भलीभाति दफना दी गयी थी किन्तु प्रथम पीढ़ी की विक्रमशीला मिस्री सभ्यता ने बिल्कुल ही दूसरे प्रकार का आचरण किया।

अभी 'आधुनिक' समय तक एक कारण ऐसा रहा है जिसने दिगन्तरीय समकालीन सभ्यताओं के बीच हुए वास्तविक संघर्षों की संख्या गणित के संभाव्य महत्तम अक से घटाकर करुणाजनक रूप से बहुत कम कर दी, सम्भव है दिक्-व्यवधान ही इतना बड़ा, अथवा ऐसी प्रकृति का रहा है कि उससे पारस्परिक सघर्ष का निराकरण

हो जाता रहा हो। उदाहरणार्थ, पुरानी दुनिया और नयी दुनिया की सभ्यताओं में तबतक कोई संघर्ष नहीं हुआ जबतक कि पाश्चात्य ईसाई सभ्यता ने अपने इतिहास के 'आधुनिक' अध्याय (लगभग १४७५-१८७५ ई) में सागर-सन्तरण की कला में दक्षता नहीं प्राप्त कर ली। यह सफलता एक ऐतिहासिक सीमा-चिह्न है और इससे हमें कोई ऐसा संकेत या सुराग प्राप्त हो सकता है जो हमे उस ऐतिहासिक चक्रव्यूह में प्रवेश-बिन्दु खोजने मे सहायक हो जिसके अनुसधान का दायित्व हमने ग्रहण किया है।

जब ईसाई संवत् की पंद्रहवीं शती मे पश्चिमी यूरोप के नाविकों ने सागर-सन्तरण की कला मे दक्षता प्राप्त करली तब उन्होने इस ग्रह (पृथिवी) पर स्थित सम्पूर्ण बसी हुई अथवा बसने योग्य भूमि तक शरीरत पहुचने के एक साधन पर अधिकार कर लिया। अन्य सब समाजो के जीवन मे पश्चिम का सघात क्रमशः प्रधान सामाजिक बल बन गया। ज्यो-ज्यों उन पर पश्चिम का दबाव बढ़ता गया उनके जीवन में उलट-पुलट होने लगी। शुरू मे केवल पाश्चात्य समाज, अपने जीवन मे, उस प्रलय से अप्रभावित-सा प्रतीत हुआ जो वह शेष ससार के जीवन में कर रहा था, किन्तु इस अध्ययन के लेखक के जीवन-काल मे ही पश्चिम एवं उसकी समकालिक सभ्यताओं के बीच होने वाले एक सघर्ष ने स्वयं पाश्चात्य समाज के क्षितिज को भी तमसाच्छन्न कर दिया।

पश्चिम एव एक विजातीय समाज-निकाय की इस टक्कर ने पाश्चात्य मामलो मे जो प्रभावशाली भूमिका ग्रहण कर ली वह हाल के पाश्चात्य इतिहास का एक नवीन लक्षण है। १६८३ ई में वियना पर द्वितीय उस्मानी (तुर्की ओटोमन) आक्रमण की विफलता से लेकर १९३९-४५ ई. के महायुद्ध मे जर्मनी की पराजय तक, सब मिलाकर पश्चिम शेष संसार से शक्ति मे इतना बढा-चढा था कि उनके अपने समूह के बाहर पाश्चात्य शक्तियों का सामना करने वाला कोई न था। किन्तु १९४५ ई. मे शक्ति के इस पाश्चात्य सर्वाधिकार का अन्त हो गया क्योंकि उस तिथि के अनन्तर, १६८३ ई. के बाद, पहिली बार शक्तिमत्ता की राजनीति का एक पृष्ठपोषक पश्चिमेतर रंग-रूप वाला एक राष्ट्र बन गया।

यह सच है कि सोवियत सघ और साम्यवादी विचार-धारा के साथ पाश्चात्य सभ्यता के सम्बन्ध मे एक अनिश्चितता थी। सोवियत सघ उस पीटरी रूसी साम्राज्य का राजनीतिक उत्तराधिकारी था जो ईसाई सवत् की सत्रहवी और अठारहवी शतियो के चक्र मे स्वेच्छा से पाश्चात्य जीवन-शैली का अनुयायी बन चुका था और उसके बाद से पश्चिम के खेल मे इस गुप्त समझौते-द्वारा शामिल होने लगा था कि नव-मतग्राही पाश्चात्य नियमों का पालन करेगा। फिर उदारतावाद एव फासिस्तवाद की भांति ही साम्यवाद भी, अपने मूल रूप मे, उन लौकिक विचारधाराओं मे से एक था जो ईसाई मत की स्थानापन्न या विकल्प रूप में आधुनिक पश्चिम मे उदित हुई थी। इस प्रकार एक दृष्टि से सोवियत संघ और सयुक्त राज्य (अमेरिका) के बीच विश्व के नेतृत्व के लिए, और साम्यवाद तथा उदारतावाद के बीच मानव जाति की निष्ठाप्राप्ति के लिए

जो प्रतियोगिता है उसे अब भी पाश्चात्य समाज के घर के अन्दर एक पारिवारिक समस्या के रूप मे देखा जा सकता है। दूसरे दृष्टिकोण से, अपने पीटरी पूर्वज के समान सोवियत सघ को एक ऐसे रूसी परम्परानिष्ठ (आर्थोडाक्स) ईसाई सार्वभौम राज्य के रूप मे ग्रहण किया जा सकता है, जिसने सुविधा और प्रच्छन्नता के लिए, जीवन का पाश्चात्य बाना पहिन रखा हो। इसी दृष्टिकोण से साम्यवाद को प्राच्य परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म के वैचारिक विकल्प के रूप मे देखा जा सकता है, जिसे उदारतावाद पर इसलिए तरजीह दी गयी कि उदारतावाद एक पाश्चात्य रूढिनिष्ठता ही तो था जब कि साम्यवाद का जन्मस्रोत पाश्चात्य होते हुए भी पाश्चात्य आखो मे उसे जघन्य नास्तिकता समझा जाता था।

जो भी हो, इतना तो असंदिग्ध है कि रूसी भावना एव विचार मे पाश्चात्य-विरोधी प्रवृत्ति का तीव्र पुन स्वरारोह १९१७ ई. की रूसी साम्यवादी क्राति का एक परिणाम था, और सोवियत सघ के, दो बची हुई प्रतियोगी विश्व-शक्तियो मे से एक के रूप मे आविर्भूत होने के कारण एक ऐसे राजनीतिक क्षेत्र मे फिर से सास्कृतिक सघर्ष पैदा हो गया, जो लगभग २५० वर्ष पूर्व एक ही सस्कृति के रग मे रंगी शक्तियो के बीच पारिवारिक राजनीतिक झगडों के लिए सुरक्षित था। यह भी ध्यान देने की बात है कि बहुत पहिले हार मानकर छोड दी गयी लडाई को पश्चिमीकरण के विरुद्ध फिर से जारी करने मे रूसी एक ऐसे उदाहरण की स्थापना कर रहे थे जिसका के अन्दर ही चीनियों द्वारा अनुसरण किया जा चुका है और समय आने पर जिसका ३१ साल अनुगमन जपानी, हिन्दू एव मुसलमान भी कर सकते है, बल्कि ऐसी जातिया भी उसका अनुसरण कर सकती है जो दक्षिण-पूर्वी यूरोप के परम्परानिष्ठ ईसाई जगत् के मुख्य अग के रूप मे पाश्चात्य रंग मे गहरी रगी जा चुकी है। इसी प्रकार नयी दुनिया की तीन निमग्न प्राक्-कोलम्बीय सभ्यताए भी इसका अनुसरण कर सकती हैं।

इन विवेचनाओ से विदित होता है कि आधुनिक पश्चिम तथा अन्य जीवित सभ्यताओ के बीच होने वाले संघर्षों की निरीक्षा, यात्रा के लिए एक अनुकूल बिन्दु बन सकती है। इसलिए अगले विचारणीय सघर्ष स्वभावत वे सघर्ष होगे जो पाश्चात्य ईसाई दुनिया के आरम्भिक, तथाकथित मध्य युग मे उसके पडोसियो के साथ हुए हो। इसके बाद हमारा कार्य यह होगा कि जो सभ्यताए आज नष्ट हो चुकी हैं उनमे से उन्हे अलग छाट ले जिनने अपने पड़ोसियो पर उतना ही प्रभाव डाला हो जितना पश्चिमी सभ्यता ने अपनी समकालिक सभ्यताओं पर डाला है। परन्तु ऐसा करते हुए भी हम प्रत्येक ऐसे संघर्ष पर विचार करने का आश्वासन नही दे सकते जिसे इतिहास की सूक्ष्म परीक्षा ने हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया हो।

किन्तु इस परिचालन-योजना का आरम्भ करने के पूर्व हमे उस तिथि का निर्णय कर लेना होगा जिससे पाश्चात्य इतिहास का आधुनिक अध्याय आरम्भ होता है।

पाश्चात्येतर पर्यवेक्षक उस क्षण से इसका आरम्भ मानेंगे जब प्रथम पाश्चात्य जलयानो ने उनके तटो का दर्शन किया होगा, क्योंकि अपाश्चात्य दृष्टि मे पाश्चात्य मानव

(Homo Occidentalis) का स्रोत समुद्र ही है, जैसा कि एक वैज्ञानिक कल्पना के अनुसार वही जीवन का भी स्रोत है। उदाहरणार्थ, सुदूरपूर्वीय विद्वानो ने जब मिग युग मे पहिली बार पाश्चात्य मानवता के नमूने देखे तो उनके तात्कालिक प्राप्ति-स्थान एवं संस्कृति के बाह्य स्तर को देखकर उन नवागन्तुको को दक्षिण-सागरीय बर्बर नाम दे दिया। इस तथा दूसरे सघर्षों मे सर्वव्यापी पाश्चात्य नाविक अपने शिकार व्यक्तियो की चकित दृष्टि मे एक तीव्र रूपान्तरण-मालिका से गुजरे। जब वे तट पर प्रथम बार उतरे तो पूर्वत अज्ञात नस्ल के एक निर्दोष सामुद्रिक जन्तुक (Animalculae) जैसे दिखायी पड़े, परन्तु बहुत शीघ्र उन्होने अपने को भयानक समुद्री दैत्यो के रूप मे प्रकट कर दिया और उसके बाद वे ऐसे परभक्षी उभयचर (Predatory Amphibians) सिद्ध हुए जो शुष्क भूमि पर भी वैसे ही चल सकते थे जैसे अपने जलतत्त्व मे।

आधुनिक पश्चिम के अपने दृष्टिकोण के अनुसार उसकी आधुनिकता उस क्षण मे आरम्भ हुई जब उसने ईश्वर के स्थान पर अपने को इसके लिए धन्यवाद दिया कि वह अपने 'मध्यकालिक' ईसाई अनुशासन से ऊपर उठ चुका है। यह आशाप्रद आविष्कार पहिले इटली मे हुआ। बात यह हुई कि जिस पीढ़ी ने पाश्चात्य जनता के आल्प्स पार के बहुमत को इटली के रग-ढग मे निमग्न होते देखा वह वही थी जिसने अटलांटिक समुद्र-तट के पाश्चात्य लोगो-द्वारा सागर को पराजित होते देखा था। इन दोनो ऐतिहासिक युगान्तरकारी घटनाओ को दृष्टि मे रखते हुए हम विश्वासपूर्वक पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक अध्याय का आरम्भ पन्द्रहवी शती के अन्तिम चतुर्थांश से मान सकते हैं।

जब हम आधुनिक पश्चिम और शेष जगत् के बीच हुए सघर्षों के परिणामो पर विचार आरम्भ करते है तो हमे पता चलता है कि नाटक आरम्भ होने के बाद बीता हुआ साढ़े चार शतियो का युग अननुकूल रूप से छोटा है और हम एक अधूरी कहानी का विवरण दे रहे है। यदि हम इसी प्रकार की एक पहिल की कहानी की ओर अपना ध्यान ले जाय तो यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जायगी। यदि हम अपने समकालिको पर आधुनिक पश्चिम के सघात के इस पुस्तक लिखने के समय तक के इतिहास की तुलना हित्ताई (हिट्टाइट), सीरियाई, मिस्री, बैबिलोनी, भारतीय एव सिनाई (चीनी) समाजो पर यूनानी सभ्यता के सघात से करें और इस कालक्रमानुसारी तुलना के लिए हम ३३४ ईसा-पूर्व सिकन्दर के हेलिसपोंट पार करने की घटना का १४९२ ई. मे कोलम्बस द्वारा अटलांटिक पार करने की घटना से समीकरण करे तो जो ४६० साल, हमे आधुनिक पाश्चात्य विवरणी मे १९५२ ई. तक पहुंचाते हैं वे दूसरी ओर (३२४ ईसा-पूर्व + ४६० वर्ष) हमे केवल १२६ ई. तक ले जाते हैं और यह तिथि सम्राट ट्राजन एव उसके उच्चायुक्त (हाई कमिश्नर) प्लिनी के बीच बिथीनिया और पाटस प्रान्तो मे ईसाइयो के एक दुर्बोध सम्प्रदाय के साथ होने वाले व्यवहार-विषयक पत्र-व्यवहार की तिथि के कुछ ही वर्ष बाद की है। उस समय कौन ईसाई धर्म की बाद वाली विजय की कल्पना कर सकता था? इस ऐतिहासिक समानान्तर से मालूम पड़ता है कि शेष जगत् पर पाश्चात्य सघात के विषय मे अध्ययन करने वाले एक पाश्चात्य छात्र की

मानस-दृष्टि से १९५२ ई. मे भी भविष्य किस पूर्णता के साथ छिपा रह सकता है ?

ईसाई संवत् की बीसवी शती में, इस ग्रन्थ के लिखने के समय, यूनानीवाद एव उसके समकालिकों के संघर्ष का बहुत पहिले अन्त हो चुका है अतः इतिहासकार के लिए उस कथा का आरम्भ से अन्त तक अनुसरण कर सकना सभव है; किन्तु उसका अन्त कहां जाकर प्राप्त होगा ? इसके अनुसन्धानकर्ता को अपने समय से बारहवी शती के पीछे न जाना पडेगा क्योकि उस समय सुदूरपूर्वीय जगत् और सीरियाई जगत् दोनों ही इस ओजस्विता के साथ यूनानीवाद के संघात की प्रतिक्रियाओ से भर रहे थे कि उसके विषय में जरा भी सन्देह नही रह गया था। सुदूरपूर्वीय जगत् मे चाक्षुष कलाएं उस समय भी यूनानी प्रभावो से अनुप्रेरित थी तथा सीरियाई जगत् में अरस्तू का दर्शन एव विज्ञान, अरबी भाषा के माध्यम से, प्राच्य विचारको को प्रभावित कर रहा था।

इस प्रकार के पर्यवेक्षण, जिन्हे दूसरे स्रोतो के उदाहरणो से अनिश्चित सीमा तक विस्तृत एव पुष्ट किया जा सकता है, उस बुद्धिमत्तापूर्ण सूक्ति का स्मरण दिलाते है कि समकालिक इतिहास का लिखना असम्भव है। किन्तु साथ ही यह एक ऐसा असम्भव कार्य है जिसे करने से इतिहासकार बाज नही आते, इसलिए अब हम अपनी आंखे खुली रखकर और पाठक को उचित चेतावनी देने के बाद, इस 'असम्भव कार्य' के विशेष क्षेत्र मे, जो हमारे सामने है, प्रविष्ट होते हैं।

(२) योजना के अनुसार परिचालन

क आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के साथ सघर्ष

१. आधुनिक पश्चिम और रूस

नोवागोरोड प्रजातन्त्र और मास्कोवी की ग्रैंड ड्यूकी को मिलाकर रूसी परंपरा-निष्ठ ईसाई सार्वभौम राज्य पंद्रहवी शती के अष्टम दशक मे बना था। इस प्रकार वह पाश्चात्य इतिहास के 'आधुनिक' अध्याय के प्रारम्भ का समकालिक ठहरता है। किन्तु इस तिथि के पहिले ही 'पाश्चात्य समस्या' से रूसी दिमाग का परिचय हो चुका था क्योकि चौदहवी एव पद्रहवी शतियो मे पोलैण्ड और लिथवेनिया का शासन रूसी परम्परानिष्ठ ईसाई राज्य की मूल विरासत के लम्बे भूखण्डो पर फैल चुका था। सोलहवी, सत्रहवी और अठारहवी शतियो मे पोलैण्ड एव लिथवेनिया (दोनो राज्य १५६९ ई. मे मिलकर एक हो गये थे) की रूसी आबादियों पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव, अधीन रूसी परपरानिष्ठ ईसाई समाज का रोमन कैथलिक चर्च के साथ धार्मिक एकीकरण हो जाने के कारण, बराबर बढता गया। एक ओर भूमिपति अभिजात वर्ग पर्याप्त अश मे जेसुइट मिशनरियो-द्वारा धर्मान्तरित किया गया, दूसरी ओर कृषक वर्ग का अधिकांश यूनिएट चर्च का सदस्य बन गया और उसे अपनी परपरागत रीतियां एव अनुशासन बनाये रखने की छूट दी गयी। इस प्रकार श्वेत रूसी (ह्वाइट रशस) और यूक्रेनी आबादियां अपने सगी रूसी प्राच्य परपरानिष्ठ ईसाइयो से बिछुड गयी; उनकी निष्ठा पर अधिकार करने के लिए मास्कोवी और पश्चिम के बीच का 'अदम्य सघर्ष' बराबर

१९३९-४५ के महायुद्ध के अन्त तक चलता रहा, जब किसी तरह इनके अन्तिम अवशेष रूसी प्रभाव में पुनः लाये गये।

इतने पर भी यह मूलतः रूसी किन्तु बाद में अर्ध-पाश्चात्य बन गयी सीमा-भूमि कोई ऐसा प्रमुख क्षेत्र न थी जिसमें रूस तथा आधुनिक पश्चिम के बीच संघर्ष होता रहा हो, क्योंकि आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का पोलैंड से आया हुआ प्रतिबिम्ब इतना धुंधला था कि रूसी आत्माओं पर उसका कोई गहरा प्रभाव नहीं पड सकता था। इस महत्त्वपूर्ण संघर्ष में पाश्चात्य पक्ष की ओर अटलांटिक तटवासी वे समुद्री लोग ही प्रधान योद्धा थे जिन्होंने इटालियनों से पाश्चात्य जगत् का नेतृत्व अपने हाथ में ले लिया था। इस प्रभुत्वशाली वर्ग मे बाल्टिक के पूर्वी तट पर बसे रूस के निकट पडोसी भी शामिल थे। किन्तु यद्यपि बाल्टिक प्रान्तों के जर्मन बैरनो (जागीरदारों) तथा मध्यवित्त वर्ग ने रूसी जीवन पर अपनी संख्या के अनुपात से अधिक प्रभाव डाला किन्तु प्रवेश के उन बंदरगाहों-द्वारा आने वाले अटलांटिक वासियों ने उसे कहीं ज्यादा प्रभावित किया, जिन्हें रूसी सम्राट-सरकार ने जान-बूझकर खोल रखा था।

इस समागम मे नाटक की कथावस्तु पश्चिम के प्रौद्योगिकीय पराक्रम (technological prowess) तथा रूसी आत्माओं के अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता कायम रखने के दृढ निश्चय के बीच एक दूसरे पर होनेवाली अविश्रान्त प्रतिक्रिया से निर्मित हुई थी। रूसियो का विश्वास था कि रूस की एक असाधारण नियति है। इसीलिए वे समझते थे कि द्वितीय रोम कुस्तुनतुनिया का प्रावरण (कर्तव्य) उनके कंधों पर आ पडा है। प्राच्य ईसाई परंपरानिष्ठ मत का गढ एवं अनुपम निधान (repository) बनने की भूमिका मास्काउ-द्वारा ग्रहण कर लेने का ही अन्त इस बात में जाकर हुआ कि १५८९ ई. मे मास्काउ में एक स्वतन्त्र पैट्रियार्की (धर्माधिकार क्षेत्र) की स्थापना हो गयी। यह घटना ठीक उसी समय घटित हुई जब मध्ययुगीन पाश्चात्य अतिसर्पणो (encroachments) द्वारा पहिले से ही कम हो गये रूसी राज्य पर आधुनिक पाश्चात्य प्रौद्योगिकी की प्रारंभिक विजयों का आतंक छाने लगा था।

इस चुनौती का चीन ने तीन भिन्न रूपो में उत्तर दिया। एक प्रतिक्रिया तो सर्वाधिकारवादी धर्मोन्माद की थी जिसका प्रचार और विवेचन 'प्राचीन आस्तिक' (Old Believers) नामक धर्मोन्मादी सम्प्रदाय-द्वारा हुआ। दूसरा उत्तर पूर्णतर हीरोदवाद (Herodianism = सुखेच्छावाद) के रूप में मिला जिसे महान पीटर-जैसी प्रतिभा का विवेचक मिल गया। पीटर की नीति यह थी कि रूसी साम्राज्य को परंपरानिष्ठ ईसाई सार्वभौम राज्य (आर्थोडाक्स क्रिश्चियन यूनिवर्सल स्टेट) से आधुनिक पाश्चात्य जगत् के एक ग्राम्यराज्य के रूप में बदल दिया जाय। पीटरी नीति का अनुसरण करके रूसियो ने अपने को दूसरे राष्ट्रो के समान बनाने का यत्न किया तथा पूर्वी परंपरानिष्ठ ईसाई धर्म का गढ बनने की अपनी अनुपम नियति की कल्पना का त्याग कर दिया, जबकि प्राचीन आस्तिकों का कहना था कि केवल रूसी समाज के अन्दर ही मानव जाति की भावी आशाएँ निहित हैं। यद्यपि पीटर की नीति, व्यक्त सफलता के साथ, दो सौ से अधिक वर्षों तक अपनायी जाती रही किन्तु उसे रूसी जनता का पूर्ण

एवं हार्दिक समर्थन कभी प्राप्त नही हुआ। १९१४-१८ के महायुद्ध मे रूस के सैनिक प्रयास का जो अकीर्त्तिकर पतन हुआ उससे इसका प्रमाण मिल गया कि दो सौ से अधिक वर्षों तक परीक्षा करने के बाद भी पाश्चात्यीकरण की पीटरी नीति न केवल अ-रूसी बनी रही बल्कि असफल भी हो गयी। उससे जो आशा की गयी थी वह पूरी नहीं हुई। ऐसी परिस्थिति मे रूस का अनुपम नियति-सम्बन्धी बहुत दिनो का दमित विश्वास साम्यवादी क्रान्ति के द्वारा पुनः प्रबल हो उठा।

रूसी साम्यवाद क्या था ? वह रूसी नियति की इस अदम्य भावना के साथ आधुनिक पाश्चात्य प्रौद्योगिकीय पराक्रम को मिला देने का एक प्रयत्न था। आधुनिक पाश्चात्य विचारधारा, यद्यपि वह प्रचलित पाश्चात्य उदारतावाद के प्रति विद्रोह की विचारधारा ही थी, को इस प्रकार ग्रहण करने मे भी आधुनिक पश्चिम के विरुद्ध रूस के एक अनुपम उत्तराधिकार के स्वामी होने के दृढ़ विश्वास को प्रकट करने का विरोधाभास ही निहित था। लेनिन और उनके उत्तराधिकारियों ने समझ लिया था कि पश्चिम के साथ उसके ही अस्त्रों से लडने की नीति, विशेषत: जब कि अस्त्रों का शुद्ध भौतिक अर्थों में निर्माण हुआ हो, सफल नही हो सकती। आधुनिक यूरोप की आश्चर्यजनक सफलता का रहस्य यही था कि उसमे आध्यात्मिक एव भौतिक शक्तियो का पूर्ण सामंजस्य था। आधुनिक यूरोपीय प्रौद्योगिकी के विस्फोट से जो दरारें पड गयी थी उन्होने आधुनिक पाश्चात्य उदारतावाद की प्रेरणा के लिए रास्ता खोल दिया था। पश्चिम के विरुद्ध रूस की जो प्रतिक्रिया थी उसकी सफलता के लिए उसका किसी ऐसे धर्म के नायक के रूप में प्रकट होना आवश्यक था जो समान स्तर पर उदारतावाद की प्रतिस्पर्द्धा कर सके। जो जीवित जातिया अपनी देशी सास्कृतिक परपराओ मे न तो पाश्चात्य थी न रूसी, उन सब की आध्यात्मिक निष्ठा अपने पक्ष मे प्राप्त करने के लिए इस धर्मविश्वास से सज्जित होकर रूस का पश्चिम से सामना करना अनिवार्य था। इतने से ही सन्तुष्ट न होकर शत्रु के शिविर मे प्रवेश करके, खुद पश्चिम की अपनी मातृभूमि मे, रूसी धर्म का उपदेश करने का साहस भी उसने किया। यह एक ऐसा विषय है जिसकी ओर हम इस अध्ययन के उत्तर भाग मे अनिवार्यतः ध्यान देंगे।

२. आधुनिक पश्चिम एवं परम्परानिष्ठ ईसाई जगत् का मुख्य निकाय

(दि माडर्न वेस्ट ऐंड दि मेन बॉडी आव आर्थोडाक्स क्रिश्चियेनडम)

परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् के मुख्य निकाय में आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का स्वागत और रूस मे उसका स्वागत दोनों ही समकालिक थे। दोनों मामलों में पाश्चात्य-करण का आन्दोलन ईसाई संवत् की सत्रहवीं शती के अन्तिम भाग मे प्रारम्भ हुआ; दोनों में पहिले बहुत दिनों से चले आते विरोध के रुख के स्थान पर इस आन्दोलन से उपेक्षा की भावना आयी। दोनों मामलों में परंपरानिष्ठ ईसाई आत्माओं के रुख मे परिवर्तन होने का एक कारण पश्चिम का वह पूर्वगत मनोवैज्ञानिक परिवर्तन था जिसमे एक असहिष्णु धार्मिक कटटरता की जगह एक धर्मेतर सहिष्णुता आ गयी थी। इस परिवर्तन मे पाश्चात्य प्राणियों की उस गहरी निराशा का प्रतिबिम्ब था जो पश्चिम

के तथाकथित धार्मिक युद्धों का परिणाम थी। जो भी हो, राजनीतिक स्तर पर इन दो विभिन्न परंपरानिष्ठ ईसाई पाश्चात्यकरण के आन्दोलनों के रास्ते अलग-अलग हो गये।

उपर्युक्त तिथि पर दोनों परंपरानिष्ठ ईसाई समाज सार्वभौम राज्यों के रूप में एक में जकड़ दिये गये। किन्तु इनमें से जहां रूसी सार्वभौम राज्य देशज निर्माण था वहा परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् का मुख्य निकाय इस पर ओथमन तुर्कों-द्वारा बाहर से लाकर थोपा गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि रूस में पाश्चात्यकरण का जो आन्दोलन चला वह उस समय वर्तमान सम्राट-सरकार को दृढ़ करने के लिए चलाया गया। यह आन्दोलन एक क्रांतिकारी प्रतिभावान् व्यक्ति द्वारा, जो जार भी था, ऊपर से नीचे की ओर चलाया गया था, जबकि ओथमन साम्राज्य मे पाश्चात्यकरण के आन्दोलनों का लक्ष्य ओथमन शक्ति को विशृंखल करके सर्ब, यूनानी तथा अन्य पराधीन परंपरानिष्ठ ईसाई जातियों को अन्ततोगत्वा राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाना था, और ये आन्दोलन नीचे से ऊपर की ओर संचालित किये गये थे—राजकार्य संभालने वाले राजकुमारो-द्वारा नही वर निजी व्यक्तियों के साहस-द्वारा।

सत्रहवी शती मे पश्चिम के प्रति परंपरानिष्ठ ईसाइयों के व्यवहार में जो क्रांति हुई उसने सर्ब एवं यूनानी लोगो मे रूसी हृदयों की अपेक्षा कही बड़े परिवर्तन की सूचना दी। यह बात तब स्पष्ट हो जाती है जब हम पश्चिम के प्रति दोनों के पूर्व विरोधभाव की भाषाओं की तुलना करते हैं। ईसाई संवत् की तेरहवीं शती मे यूनानियों ने उस तथाकथित लैटिन (रोमन) साम्राज्य के विरुद्ध प्रबल विरोध व्यक्त किया जो चतुर्थ धर्मयुद्ध—जिहाद (क्रूसेड) के 'फ्रैंको' (पश्चिमी यूरोपवासियों) द्वारा आधी शती से उन पर बलपूर्वक थोपा हुआ था। पंद्रहवी शती मे उन्होने परपरानिष्ठ एव कैथलिक चर्चों के उस एकीकरण को अग्राह्य ठहराया जो १४३९ ई में फ्लोरैंस की कौंसिल मे कागज पर स्वीकार किया जा चुका था—यद्यपि इस एकीकरण में ही तुर्की आक्रमणकारी के विरुद्ध पश्चिम से उनके लिए सहायता प्राप्त करने का एक मात्र अवसर था। किन्तु उन्होंने पोप पर पादशाह को तर्जीह दी। १७९८ ई. तक मे कुस्तुनतुनिया के यूनानी अखबारो ने यरुशलम के प्रधान धर्मयाजक (पैट्रियार्क) का एक वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमे वह अपने पाठको से कहता है—

> "जब कुस्तुनतुनिया के अन्तिम सम्राटों ने पूर्वी चर्च को पोप की दासता में धकेलना शुरू किया तब विशिष्ट ईश्वरी कृपा ने इस विडम्बना से यूनानियों की रक्षा के लिए ओथमन साम्राज्य को खड़ा कर दिया, जो पाश्चात्य राष्ट्रों की राजनीतिक सत्ता के विरुद्ध एक अवरोध तथा परंपरानिष्ठ चर्च का त्राता बन गया।"[1]

[1] फिनले, जी. : 'ए हिस्ट्री आव ग्रीस, बी. सी. वन हंड्रेड फोर्टीसिक्स टु ए. डी. एट्टीन हंड्रेड सिक्सटीफोर', (आक्सफोर्ड, १८७७, क्लेयरेंडन प्रेस, ७ भागों में) भाग ५, पृ. २८४-५

परन्तु पारंपरिक धर्मोन्माद की प्रतिज्ञा का यह विश्लेषण, पराजयशील सांस्कृतिक युद्ध का अन्तिम प्रहार था। सच पूछे तो इस युद्ध का निर्णायक मोड सौ वर्ष से पहिले ही शुरू हो चुका था। अपने ओथमन प्रभुओं से अपने पाश्चात्य पडोसियों को परपरा-निष्ठ ईसाइयो की सांस्कृतिक निष्ठा के इस हस्तान्तरण के आरम्भ की तिथि वस्त्रों के फैशन मे होने वाले परिवर्तनों के मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण संकेत द्वारा घोषित होती है। फिर वस्त्र-विन्यास के इस प्रमाण की पुष्टि सांस्कृतिक क्षेत्र मे प्राप्त अन्य प्रमाणो से भी होती है। सत्रहवी शती के सातवें दशक मे रिआया की सामाजिक महत्त्वाकांक्षा का लक्ष्य ओथमनों के रंग-ढंग का अनुसरण करना ही था, जैसा कि उस समय कुस्तुनतुनिया-स्थित अंग्रेज राजदूत के विश्व सचिव सर पाल राईकाट ने लिखा है—

"बुद्धिमान् मनुष्य के लिए यह बात ध्यान देने योग्य है कि किस प्रसन्नता के साथ यूनानी और आर्मनी ईसाई तुर्की आदतों की नकल करते हैं, और जहां तक वे जा सकते हैं, उसके निकट जाते हैं। और जब किसी असाधारण अवसर पर उन्हें अपनी ईसाई विशिष्टता से रहित होकर उपस्थित होने की सुविधा प्राप्त होती है तो अपने को कितना गौरवशाली समझते हैं।"[1]

दूसरी ओर हम देखते हैं, रूमन परंपरानिष्ठ ईसाई रईस डेमेट्रियस कैटेमीर को उस काल के एक चित्र मे कंटोप, कोट, वेस्टकोट एव कृपाण धारण किये दिखाया गया है। कैटेमीर १७१० ई. मे पोर्टे-द्वारा मोलदेविया का प्रिंस (शासक) नियुक्त किया गया था और अगले ही साल वह विश्वासघात करके रूसियो से जा मिला। निस्सन्देह, परिधान के ये परिवर्तन मन के साचे के तदनुवर्ती परिवर्तनों के बाह्य चिह्न हैं। उदाहरणार्थ कैटेमीर लैटिन, इटालियन तथा फरासीसी भाषाएं लिख-पढ सकता था तथा तुर्की की सेवा मे नियुक्त फनारियोत यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाइयों का मान अपने तुर्की मालिको-द्वारा अठारहवी शती मे पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के उनके ज्ञान के आधार पर किया जाता था। यह ऐसे युग की बात है जब ओथमन सरकार को ऐसी पाश्चात्य शक्तियो से, जिन्हे वह युद्ध में हरा नही पाती थी, व्यवहार करने के लिए चालबाज कूटनीतिज्ञो से काम लेना पडता था।

अठारहवी शती में ओथमन सम्राट की परंपरानिष्ठ ईसाई प्रजा की पीड़ाओं का मुख्य कारण, विघटन के मार्ग पर बढते हुए साम्राज्य मे व्याप्त कुप्रबन्ध था। इसके प्रतिकूल पाश्चात्य ईसाई जगत् मे धार्मिक सन्देहवाद के आगमन के साथ शासकीय कुशलता मे वृद्धि हुई और राजनीतिक चेतना का उदय हुआ। हैप्सबर्ग के कैथोलिक राजतन्त्र ने अपनी गैर-कैथोलिक प्रजाओ का परिपीडन बन्द कर दिया और उनकी सर्ब परपरानिष्ठ ईसाई प्रजाएं (हंगरी में हैप्सबर्ग राजतन्त्र द्वारा जीते हुए पूर्व ओथमन-शासित भूखण्डों मे बसाये हुए ओथमन साम्राज्य से आये शरणार्थी) ऐसे मनोवैज्ञानिक सवाहक माध्यम बन गयी जिनके द्वारा आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति सारी सर्ब प्रजा मे

[1] राईकाट, सर पी. : 'दि प्रेजेंट स्टेट आव दि ओटोमन इम्पायर' (लंदन, १६६८ ई., स्टार्की ऐण्ड ब्रोम) पृ० ८२

फैल गयी। पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव का दूसरा स्रोत वेनिस में होकर प्रवाहित हुआ; यह वेनिस १६६६ ई. के पूर्व साढ़े चार शतियों से यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई द्वीप क्रीट के अधीन था और इससे छोटे युगों में यूरोप महाद्वीपीय यूनान के कुछ भागों पर शासन भी कर चुका था। पाश्चात्यकरण की एक दूसरी शक्ति थी—कुस्तुनतुनिया-स्थित पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों की टोली। इस टोली ने साम्राज्य की सब जातियों के लिए अ-प्रादेशिक स्वायत्त शासन के प्राचीन ओथमन सिद्धान्त का लाभ उठाकर साम्राज्य के अन्दर एक लघु साम्राज्य बना लिया था जिसकी सीमा के भीतर वे न केवल ओथमन साम्राज्य मे बसे अपने देशवासियों पर वर उन ओथमन प्रजाओ पर भी शासन करते थे जिन्होंने उनकी सरकारी सेवा मे आश्रय लिया था। एक और भी दूसरा स्रोत उन यूनानी व्यापारी जातियो ने जारी कर दिया था जो पाश्चात्य जगत् मे लंदन, लिवरपूल और न्यूयार्क-जैसे दूर के स्थानो में जाकर स्थापित हो गयी थी।

इन भौमिक एवं सागरीय मार्गों से परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् के प्रमुख निकाय मे जो आधुनिक पाश्चात्य प्रभाव ज्योतित हुआ उसकी प्रतिक्रिया एक ऐसे समाज पर हो रही थी जो एक विजातीय सार्वभौम राज्य के अन्दर जी रहा था। इस प्रकार हम देखते है कि आधुनिक पाश्चात्य जीवन-प्रणाली ग्रहण करने का यत्न राजनीतिक स्तर पर प्रचलित होने के पूर्व शैक्षणिक स्तर पर हुआ। कारा ज्योर्ज और मिलोज ओब्रीनोविक के विद्रोहो के पूर्व पेरिस मे अक्षमान दियोज कोराइस तथा वियेना मे बूक करादजिक का शैक्षिक (academic) कार्य हो चुका था।

ईसाई सवत् की उन्नीसवी शती के आरम्भ में विश्वासपूर्वक यह भविष्यवाणी की जा सकती थी कि ओथमन साम्राज्य के यूरोपीय क्षेत्रों पर किसी न किसी प्रकार का पाश्चात्य रग चढ जायगा। किन्तु उस परिवर्तन का रूप क्या होगा, यह उस समय अस्पष्ट था। १८२१ ई. मे जिस शतवार्षिकी का अन्त हुआ उसके अन्दर विश्व-धर्माध्यक्ष (Oecumenical Patriarch) के फैनेरियत यूनानी पार्षदों ने रोम साम्राज्य के पूर्वी रोमन प्रेत को (मुर्दे से) जिन्दा कर देने के अपने पुराने स्वप्न को राजनीतिक स्तर पर पाश्चात्य समस्या का समाधान करने के एक नवीन स्वप्न में परिवर्तित कर दिया था। जिस प्रकार पीटर महान ने रूसी साम्राज्य को परिवर्तित कर दिया था उसी प्रकार उन्होंने ओथमन साम्राज्य को समसामयिक पाश्चात्य बहुजातीय प्रबुद्ध राजतंत्रों—जैसे डैन्यूबीय हैप्सबर्ग राजतंत्र—मे परिवर्तित कर देने का स्वप्न देखा। और प्रोत्साहनकारी बहुसख्यक प्रगतिशील राजनीतिक सफलताओ के कारण यह फैनेरियत यूनानी महत्त्वाकांक्षा बड़ी प्रबल हो उठी थी।

ओक्यूमेनिकल (सर्वव्यापक) पैट्रियार्क को विस्तारशील ओथमन साम्राज्य की सम्पूर्ण पूर्वी परंपरानिष्ठ ईसाई रैयत का सरकारी प्रधान बनाकर सुलतान ने कुस्तुनतुनिया के इस धर्माध्यक्ष को ईसाई प्रजाओं पर ऐसी राजनीतिक सत्ता प्रदान कर दी जो ईसाई सवत् की सातवी शती मे अरबों-द्वारा सीरिया एव मिस्र के विजय कर लिये जाने के बाद से कुस्तुनतुनिया के किसी सम्राट के शासनकाल में नही दी गयी थी। सत्रहवी एव अठारहवीं शती में यह राजनीतिक सत्ता उनकी आजाद मुसलमान साथी

प्रजाओं के कृत्य से और भी बढ़ गयी। १५६६ ई. में सुलेमान की मृत्यु हुई। उसके बाद के सौ वर्षों में आजाद मुसलमानो ने पादशाह के गुलाम कुटुम्ब को इस बात के लिए विवश कर दिया कि उन्हें ओथमन साम्राज्य के शासन में साझेदार बनाया जाय। इस राजनीतिक विजय के बाद उन्होने यूनानी रिआया को भी अपनी उस साझेदारी मे शरीक कर लिया। पोर्टे के ड्रैगोमन (दुभाषिया) तथा बेड़े के ड्रैगोमन के पद इसीलिए निर्मित किये गये कि ओथमन यूनानी प्रतिभा का साम्राज्य की सेवा में उपयोग किया जाय। इसके बाद भी गैर-यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई रिआया की कीमत पर यूनानियों के पक्ष मे और भी कारंवाइया की गयी।

१८२१ ई. के पूर्व की अर्द्धशती मे फैनेरियत यूनानी यह कल्पना कर सकते थे कि उन्हें ओथमन साम्राज्य मे कुछ इस प्रकार का प्रभुत्व मिलता जा रहा है जैसा समसामयिक बादशाह सम्राट जोजेफ द्वितीय जर्मनो के लिए डैन्यूबीय हैप्सबर्ग राजतत्र में प्राप्त करा देने के लिए सचेष्ट था। किन्तु इसी समय पश्चिम मे होने वाली क्रातिकारी घटनाओ के कारण फैनेरियतो की बढ़ती हुई शक्ति रुक गयी। प्रबुद्ध राजतंत्र (Enlightened Monarchy) के स्थान पर सहसा राष्ट्रवाद ने प्रबल प्रभावी पाश्चात्य राजनीतिक विचार का रूप ले लिया और ओथमन साम्राज्य की गैर-यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई रिआया पर तुर्की मुसलमानों की दासता की जगह, फैनेरियत यूनानी दासता लादने की अपनी उठती हुई राष्ट्रवादी आकाक्षा में कोई तृप्ति नही दिखायी पड़ी। यह बात डैन्यूबीय जागीरदारियो की रूमानियन आबादी के रुख से तब स्पष्ट हो गयी जब १८२१ ई. में, फैनेरियत यूनानी शासन के ११० वर्षों के स्थानीय अनुभव के बाद, हैप्सीलैंडी का आक्रमण बिल्कुल बिच्छिन्न हो गया। उन्होंने इस यूनानी के उस आदेश की ओर जरा भी ध्यान न दिया जो उसने परम्परानिष्ठ ईसाई समाज के सभी सदस्यों के रूप मे उस समाज को ओथमन शासन से मुक्त करने के लिए, फैनेरियत यूनानी नेतृत्व के अधीन शस्त्रग्रहण करने के हेतु उनको दिया था।

फैनेरियतों की 'महती सूझ' की यह विफलता इस बात का सकेत थी कि पाश्चात्य जीवन-प्रणाली अपनाने के निश्चय से युक्त ओथमन साम्राज्य की बहुजातीय परपरानिष्ठ ईसाई आबादी, अपने को अनेक ग्रामराज्यो के जोड़ या पैबंदो मे विभक्त करके ही रहेगी और फ्रास, स्पेन, पोर्चुगाल एवं हालैंड के साचे पर यूनानी, रूमन, सर्ब, बल्गार, अलबेनी एवं ज्योर्जी इत्यादि स्वतत्र जातियों के रूप मे निर्मित होगी—जिनमें से हर एक मे एक विशिष्ट धर्म की जगह एक विशिष्ट भाषा 'देशबन्धुओं' के एकीकरण और उन्हे 'विदेशियो' से अलग पहिचान कराने का साधन होगी। किन्तु उन्नीसवी शताब्दी के आरम्भ मे इस विदेशजन्मा आधुनिक पाश्चात्य सांचे की रूपरेखा को देख सकना मुश्किल था। उस समय ओथमन साम्राज्य मे थोड़े ही जिले ऐसे थे जिनकी आबादी भाषागत जातीयता के आधार पर लगभग-सजातीय भी रही हो और बहुत थोड़े ऐसे थे जिनमे राज्यत्व (Statehood) की प्रारंभिक बाते भी मौजूद रही हों। क्रातिकारी आधुनिक पाश्चात्य अभिकल्प (design) से मेल खाने के लिए राजनीतिक नक्शे के आमूल परिवर्तनकारी पुनर्निर्माण से लाखों मानव प्राणी बर्बाद

हो गये और ज्यों-ज्यों यह हिंसक कार्रवाई एक के बाद एक उन क्षेत्रों तथा आबादियों पर फैलती गयी जो राष्ट्रीयता के आधार पर राजनीतिक रूप से गठित होने में असमर्थ थीं, त्यों-त्यों दु:ख-कष्ट अधिक व्यापक और गहरा होता गया। यह भयानक कहानी १८२१ ई. में यूनानी राष्ट्रवादियों-द्वारा मोरिया के ओथमन मुसलमानी अल्पमत के विनाश से लेकर १९२२ ई. में पश्चिमी अनातोलिया से यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई अल्पमत के पूर्ण देशत्याग तक फैली हुई है।

इन प्रतिकूल परिस्थितियों में और ऐसे छोटे पैमाने पर जिन परंपरानिष्ठ ईसाई राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण हुआ था वे निश्चय ही पश्चिमी रंग में डूब रहे रूसी साम्राज्य की भांति, आधुनिक पश्चिम का वैसा सामना कर सकने की महत्त्वाकांक्षा नहीं पाल सकते थे जैसा मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् के साथ पूर्वी रोमन साम्राज्य ने किया था। उनकी दुर्बल शक्तियां लघु क्षेत्रखण्डो-सम्बन्धी स्थानीय झगडों में ही समाप्त हो जाती थीं; वे एक दूसरे के प्रति कटुतम शत्रुता रखते थे। बाहरी दुनिया के सम्बन्ध में उन्होंने अपने को ऐसी स्थिति में पाया जो उस स्थिति से भिन्न नहीं थी जिसमें उनके पूर्वजों ने ओथमनी शान्ति की स्थापना के पूर्व की शतियों में अपने को पाया था। उस युग में भी यूनानियों, सर्बों, बुलगरों एवं रूमनों के सामने मध्यकालिक पाश्चात्य संगी ईसाईयों की दासता या उस्मानलियों की दासता मे से एक को चुनने का सवाल था। ओथमनोत्तर काल में उनके सामने फिर दो विकल्प थे—या तो वे एक धर्मनिरपेक्ष आधुनिक पाश्चात्य समाजनिकाय में निमग्न हो जायं या पहिले पीटरी और बाद मे साम्यवादी रूस की दासता स्वीकार करें।

१९५२ ई. मे इन गैररूसी परंपरानिष्ठ ईसाई राज्यों में से अधिकाश वस्तुत: रूस के सैनिक एवं राजनीतिक नियंत्रण मे थे। यूनान एक मात्र अपवाद था, जहां सोवियत संघ एवं संयुक्त राज्य (अमेरिका) के बीच युद्ध के बाद के एक अघोषित युद्ध में रूसी हार गये थे। इस युद्ध में प्रत्येक पक्ष में विदेशी युद्धकारियों (Foreign Belligerents) के यूनानी परिपत्री (Proxies) मौजूद थे। इनके अलावा उसमे उस युगोस्लाविया के भी परिपत्री थे जिसने युद्धोत्तर रूसी नेतृत्व को ठुकराकर अमेरिकी सहायता स्वीकार कर ली थी। किन्तु रूसी प्रभुत्व के अन्दर जो राज्य थे उनमे यह बात स्पष्ट हो गयी थी कि रूसी सत्ता का अप्रत्यक्ष प्रयोग भी एक लघु अल्पमत के सिवा और सबके लिए घृणाजनक था। यह लघु अल्पमत उन साम्यवादियों का था जो सोवियत सरकार के एजेण्टों के रूप में इन देशों पर शासन कर रहे थे।

रूसी प्रभुत्व के विरुद्ध यह अवज्ञा बहुत पुरानी बात थी जिसे रूस में साम्यवादी क्रांति होने की तिथि के बहुत पहिले, उन्नीसवीं शती मे रूमानिया, बलगेरिया एवं सर्बिया के साथ रूसी सम्बन्ध के इतिहास से दिखाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, १८७७-७८ के रूसी-तुर्की युद्ध के तत्काल बाद रूस उस सर्बिया पर अपना प्रभुत्वकारी प्रभाव जमाने की सोच रहा था जिसको उसने तुर्की सेनाओं द्वारा पराजित होने से बचाया था। यही बात रूमानिया के बारे में भी थी जिसे उसी समय रूस ने दोबरूजा उपहार में दे डाला था। इन सबके अलावा वह (रूस) बल्गेरिया पर भी अपना प्रभुत्व

जमाना चाहता था क्योंकि उसे उसने एक मात्र रूसी शस्त्रास्त्रों के बल पर, शून्य से निकालकर अस्तित्व मे ला दिया था। किन्तु बाद की घटनाओं से प्रमाणित हो गया, जैसा कि पहिले भी विभिन्न स्थानों में अनेक बार प्रमाणित हो चुका था कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति मे कृतज्ञता जैसी कोई चीज नही हुआ करती।

गैर-रूसी परंपरानिष्ठ ईसाई देशो की यह रूस-विरोधी भावना, प्रथम दृष्टि में, ऐसे समय आश्चर्यजनक मालूम होगी जब परपरानिष्ठ ईसाई मत रूसी राज्य का प्रमुख धर्म था और जब पुरानी स्लावोनी विभाषा रूसी, रूमानी, बल्गेरी और सर्बी (रशन, रूमानियन, बल्गेरियन और सर्बियन) परंपरानिष्ठ चर्चों की सामान्य कर्मकांडीय भाषा थी। ओथमन चगुल से निकलने के संघर्ष में रूस ने इन सब जातियो को जब प्रभावपूर्ण सहायता प्रदान की थी तब इनके साथ व्यवहार करने में सर्व-स्लाववादिता (Pan-Slavism) तथा सर्व-परपरानिष्ठता (Pan-Orthodoxy) इस प्रकार विफल क्यों हो गयी ?

इसका उत्तर यही जान पडता है कि ओथमन परंपरानिष्ठ ईसाई पश्चिम के जादू से प्रभावित हो चुके थे और यदि रूस इन्हे किसी कदर आकर्षित करता था तो इसलिए नही कि वह स्लाव था, न इसीलिए कि वह 'परपरानिष्ठ' (orthodox) था किन्तु महज इसलिए कि वह उस पाश्चात्यकरण के प्रयास में अग्रगामी था जिस पर वे भी अपना दिल लगा चुके थे। किन्तु रूस से पश्चिम के रंग मे रंगते हुए इन गैर-रूसी लोगो का परिचय जितना ही घनिष्ठ होता जाता था उतना ही उन्हे यह स्पष्ट होता जाता था कि पीटरी रूस का यह पाश्चात्य आवरण केवल दिखाऊ है—एक रूसी को छीलो तो अन्दर तुम तातार पाओगे। यह दिखाने के लिए अनेक प्रलेखीय प्रमाण एकत्र किये जा सकते है कि ओथमन ईसाइयों मे रूस की सास्कृतिक प्रतिष्ठा कैथराइन महती के युग (राज्यकाल १७६२-९६ ई.) मे सर्वाधिक थी और उसके बाद ज्यों-ज्यो ओथमन साम्राज्य के मामलो मे रूसी हस्तक्षेप बढ़ने लगा और इन पीड़ित ईसाई जातियों को, जिनका त्राता बनने का रूस प्रयत्न कर रहा था, ज्यों-ज्यों रूसी स्वभाव का अधिकाधिक परिचय मिलता गया त्यो-त्यो उसकी प्रतिष्ठा गिरती गयी।

३ आधुनिक पश्चिम तथा हिन्दू जगत्

जिन परिस्थितियो मे हिन्दू जगत् से आधुनिक पश्चिम की टक्कर हुई वे कुछ बातो मे उन अनुभवो से आश्चर्यजनक समानता रखती थी जिनसे परपरानिष्ठ ईसाई जगत् को गुजरना पड़ा था। दोनो सभ्यताओ में से प्रत्येक अपने सार्वभौम राज्यो मे व्यक्त हो चुकी थी और दोनों के मामले मे यह शासन उन विदेशी साम्राज्य-निर्माताओं द्वारा थोपा गया था जो ईरानी मुस्लिम सभ्यता के बच्चे थे। जब उनके क्षितिज पर आधुनिक पश्चिम का उदय हुआ तब ओथमन परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् की भांति मुगल भारत मे भी इन मुसलमान शासकों की प्रजाएं अपने प्रभुओं की संस्कृति की ओर आकर्षित हो रही थी। ज्यों-ज्यो पश्चिम प्रसरित होकर बढ़ता गया और इस्लामी समाज की प्रभावशीलता कम होती गयी त्यो-त्यो दोनों क्षेत्रो मे वे अपनी निष्ठा बाद में उगने वाले सितारे के प्रति हस्तान्तरित करते गये। किन्तु जहां इनमें समानता के ये

बिन्दु दिखायी पड़ते हैं, वहां विषमता के भी कुछ उल्लेखनीय बिन्दु मिलते हैं।

उदाहरणार्थ, जब ओथमन परंपरानिष्ठ ईसाई पश्चिम की ओर झुके तब उन्हे उस सभ्यता की इसके पूर्व की मध्यकालिक अवस्था के साथ हुए सघर्ष के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभव से उत्पन्न पारपरिक विरोध-भावना पर काबू पाना पडा था। किन्तु इसके विपरीत हिन्दुओं को अपने सास्कृतिक पुनर्निर्धारण कार्य मे ऐसी दुःखद स्मृतियो से गुजरना नही पडा। क्योंकि हिन्दू जगत् एवं पश्चिम का जो सघर्ष १४९८ ई० मे कालीकट मे वास्को डि गामा के उतरने के साथ शुरू हुआ वह वस्तुतः इन दोनो समाजो के बीच प्रथम समागम का द्योतक था।

इसके अलावा परिस्थितियो के इस अन्तर से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है बाद की घटनाओ का अन्तर। परपरानिष्ठ ईसाई जगत् के इतिहास मे विदेशी सार्वभौम राज्य अपने विघटन के दिन तक अपने मुसलमान सस्थापको के हाथ मे ही रहा, दूसरी ओर जिस साम्राज्य को तैमूरी मुगल योद्धाओ के दुर्बल उत्तराधिकारी सघटित रखने मे असफल रहे उसे आंग्ल व्यापारियो ने पुनर्गठित किया। जब इन व्यापारियों ने देखा कि भारत मे जिस कानून और व्यवस्था की स्थापना के बिना कोई पश्चिमी प्राणी व्यापार-व्यवसाय नही चला सकता उसे यदि वे खुद नही करते तो उनके प्रतिद्वंद्वी फरासीसी करने जा रहे है तो उन्होने अकबर का अनुसरण किया। इस प्रकार हिन्दू जगत् के पाश्चात्यकरण की यह महत्त्वपूर्ण अवस्था ऐसे युग में आयी जब भारत पाश्चात्य शासन के अधीन था। इसके फलस्वरूप, भारत मे आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति का स्वागत, रूस की भाति, ऊपर से नीचे की ओर शुरू हुआ—ओथमनी परपरानिष्ठ ईसाई जगत् की भाति, नीचे से ऊपर की ओर नही।

इस स्थिति में हिन्दू समाज की ब्राह्मण एव वैश्य जातियो ने हिन्दू इतिहास मे वह भूमिका अभिनीत की जिसका अभिनय करने मे गैररूसी परपरानिष्ठ ईसाई इतिहास मे फैनरियत यूनानी असफल हो चुके थे। भारत के सम्पूर्ण राजनीतिक शासनो मे राज्य का मंत्रित्व ब्राह्मणो का परमाधिकार रहा है। सम्बद्ध हिन्दू समाज मे यह भूमिका अभिनीत करने के पूर्व वे इसे इंडिक जगत् मे अभिनीत कर चुके थे। मुगलो के मुसलमान पूर्वगामियो को और खुद मुगलो को भी उन हिन्दू राज्यो के उदाहरण का अनुगमन करना ज्यादा सुविधाजनक जान पडा जिनका अपहरण वे कर रहे थे। मुसलमान शासको की सेवा मे नियुक्त ब्राह्मण मंत्रियो एव निम्नाधिकारियो के कारण, यह विदेशी शासन हिन्दुओ के लिए उतना अप्रिय नही रह गया जितना उनके अभाव मे होता। ब्रिटिश राज ने भी, अपनी बारी, मुगल राज के उदाहरण का अनुसरण किया, दूसरी ओर अंग्रेजो के आर्थिक उद्योगो ने इसी प्रकार का अवसर वैश्यो के लिए भी उपस्थित कर दिया।

भारत का शासन ब्रिटिश हाथो मे चले जाने के फलस्वरूप फारसी की जगह अंग्रेजी को सम्राट-सरकार की सरकारी भाषा बनाने और उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप मे फारसी तथा संस्कृत साहित्य पर पाश्चात्य साहित्य को वरीयता देने की ब्रिटिश नीति का हिन्दू सांस्कृतिक इतिहास पर उतना ही महत् प्रभाव पडा था। दोनों

मामलों में एक व्यापक निरंकुश सत्ताधारी सरकार के आदेश से पाश्चात्य जीवन का परिच्छद प्रचलित हो गया। उच्च जाति के हिन्दुओं ने पाश्चात्य शिक्षा इसीलिए अर्जित की कि सरकार ने नियम बना दिया था कि यह शिक्षा ही ब्रिटिश-भारतीय सरकारी सेवाओं में प्रवेश पाने की कुंजी मानी जायगी। भारतीय व्यापार और सरकार के पाश्चात्यकरण ने भारत में दो पश्चिमी उदार पेशों का आरम्भ किया—विश्वविद्यालयीय सकाय (University Faculty) अर्थात् अध्यापन और विधिवर्ग या वकालत का। निजी उद्योग पर आश्रित पाश्चात्य ढंग के व्यापार-जगत् मे सर्वाधिक लाभप्रद कार्य यूरोपीय ब्रिटिश प्रजा के एकाधिकार (मोनोपोली) मे नही लाये जा सके।

अनिवार्य था कि जिस प्रकार ओथमन परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् मे फैनरियत यूनानी महत्त्वाकाक्षी हो उठे थे उसी प्रकार हिन्दू समाज का यह नवीन वर्ग भी इस आकांक्षा से पूरित हो उठता कि जिस व्यापक साम्राज्य के अन्तर्गत वे रह रहे थे उसे उन विदेशी हाथों से अपने हाथों मे ले लिया जाय जिन्होने उसे बनाया था और उस समय के प्रचलित संवैधानिक नमूने पर पाश्चात्य रंग मे रंगी दुनिया के ग्राम्य वा सीमित राज्यो मे बदल दिया जाय। अठारहवी एव उन्नीसवी शती के मोड पर फैनरियतों ने भी ओथमन साम्राज्य को अठारहवी शती के प्रबुद्ध राजतंत्र मे बदल देने का स्वप्न देखा था। उन्नीसवी एव बीसवी शती के मोड पर हिन्दू जगत् के पाश्चात्य रग में रंगे राजनीतिक नेताओ ने ब्रिटिशभारतीय साम्राज्य को एक प्रजासत्तात्मक पाश्चात्य राष्ट्रीय राज्य में बदलने के कही अधिक कठिन कार्य को अपनाकर पाश्चात्य राजनीतिक आदर्शों में परिवर्तन का अभिनन्दन किया। १५ अगस्त १९४७ को भारत का शासन ब्रिटिश से भारतीय हाथो मे हस्तान्तरित होने के पांच वर्षों से भी कम मे यह भविष्यवाणी करना समय के पूर्व है कि इस प्रयास का परिणाम क्या होगा, किन्तु इतना कहना संभव है कि भारतीय उपमहाद्वीप को अग्रेजों की जो सबसे मूल्यवान् देन थी उस राजनीतिक एकता को सुरक्षित रखने मे हिन्दू राजमर्मज्ञता उससे कही ज्यादा सफल हुई जितनी आशा करने का साहस विदेशी शुभैषी कर सकते थे। घटनाओ के झुकाव का पर्यवेक्षण करने वाले कितने ही ब्रिटिश पर्यवेक्षकों ने भविष्यवाणी की थी कि ब्रिटिश राज का पतन होते ही सारे उपमहाद्वीप के खण्ड-खण्ड हो जायँगे। वह भविष्यवाणी गलत साबित हुई, यद्यपि हिन्दू दृष्टिकोण से, पाकिस्तान के अलग हो जाने के कारण, अखण्डता को आघात पहुचा।

पाकिस्तान के निर्माण पर जोर देने मे भारतीय मुसलमानों का अभिप्रेरक उनका भय था जो दुर्बलता की चेतना से उत्पन्न हुआ था। वे भूले नही थे कि ईसाई संवत् की अठारहवी शती में किस प्रकार मुगल राज उस राज्य की तलवार के बल पर रक्षा करने मे असमर्थ हो गया था जिसे केवल तलवार से ही प्राप्त किया गया था। वे यह भी जानते थे कि उसी संप्रमाणित साधन (तलवार) से मुगलो के पूर्व-राज्य के अधिकाश भाग मराठा एव सिख-हिन्दू वारिस-राज्यों के हाथ मे चले गये होते यदि ब्रिटिश सैनिक हस्तक्षेप के कारण भारतीय राजनीतिक इतिहास को एक दूसरा ही मोड़ न प्राप्त हुआ होता। वे यह भी जानते थे कि ब्रिटिश राज्य के अधीन भी वे

हिन्दुओं-द्वारा दोनों जातियों के बीच के शाश्वत संघर्ष की उस अवस्था मे पीछे छोड दिये जायगे जिसमे ब्रिटिश सरपंच ने यह निर्णय दे दिया था कि प्रतियोगिता के साधन का स्थान तलवार की जगह कलम ले लेगी।

इन कारणो से भारतीय मुसलमानो ने १९४८ ई. मे अपने लिए एक अलग उत्तराधिकारी राज्य पाने पर जोर दिया। इसके फलस्वरूप जो विभाजन हुआ उससे ठीक उन्ही दु.खदायी परिणामो के दिखायी पडने का खतरा आ गया जो इसके पहिले की शताब्दी मे ओथमन साम्राज्य के विभाजन के बाद पैदा हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से परस्पर-मिश्रित जातियो को प्रादेशिक रूप से अलग-अलग राष्ट्रीय राज्यो में छाटकर रखने के प्रयत्न मे ऐसी सीमाओ का निर्धारण करना पडा जो प्रशासनिक एव आर्थिक दृष्टियो से गर्हित थी। इस कीमत पर भी, अल्पसख्यक जातियो की बहुत बड़ी-बड़ी आबादिया विभाजक रेखा की गलत दिशाओं मे छूट गयी। लाखो भयग्रस्त शरणार्थी अपने घर और जायदाद को छोडकर भाग खड़े हुए। पलायन के इस भयानक मार्ग मे चलते हुए भी उन पर कटु हो उठे प्रतिपक्षियो-द्वारा अत्याचार किये गये। भागकर वे अनाथ-से एक ऐसे देश मे पहुचे जो उनके लिए अनजान था। वहा उन्हे फिर से एक नयी जिन्दगी शुरू करनी पड़ी। इससे भी भयानक बात यह हुई कि भारत एव पाकिस्तान की सीमा का एक भाग ऐसा था जहां कश्मीर पर कब्जा करने के लिए दोनो के बीच एक अघोषित युद्ध छिड गया। फिर भी १९५२ ई. तक, दिल्ली एव कराची दोनों मे, भारतीय राजमर्मज्ञों-द्वारा भारत को भयानक ओथमन मार्ग पर कटुतापूर्ण अन्त तक चलने से बचाने का प्रभावशाली प्रयास किया जाता रहा। इस प्रकार, इस ग्रन्थ के लिखने के समय तक अल्पकालीन राजनीतिक दृष्टि से भारतीय सभावनाए, सब मिलाकर, उत्साहवर्धक है। और यदि आधुनिक पश्चिम की टक्कर से हिन्दू जगत् को गभीर खतरे अब भी हो तो उन्हे जीवन की राजनीतिक सतह पर खोजना उतना सार्थक न होगा जितना उसके आर्थिक अधस्तल तथा आध्यात्मिक गहराइयो मे। किन्तु इसमे भी खतरनाक स्थिति उत्पन्न होने मे शायद कुछ समय लगेगा।

पश्चिमीकरण के स्पष्ट जोखिम, जिनसे हिन्दू-जगत् शकित था, दो थे। पहिली बात तो यह है कि हिन्दू एव पाश्चात्य सभ्यताओ की कोई उभयनिष्ठ सास्कृतिक पार्श्वभूमि नही थी, दूसरी बात यह कि जिन हिन्दुओ ने विजातीय आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति के बौद्धिक तत्त्वो पर अधिकार प्राप्त कर लिया था वे अज्ञान एव साधनहीन किसानो के विशाल समूह के कंधो पर लदे अत्यन्त लघु अल्पमत के रूप मे थे। यह कल्पना करने के लिए कोई आधार नही था कि पाश्चात्य सस्कृति का यह प्रवेश उसी स्तर पर रुक जायगा; बल्कि यह भविष्यवाणी करने के लिए प्रबल आधार थे कि जब वह अन्तस्तर के कृषक-समूह में परिवर्तन करना शुरू करेगा तो वहा कुछ नवीन एवं क्रांतिकारी प्रभाव भी उत्पन्न कर देगा।

हिन्दू समाज एव आधुनिक पश्चिम के बीच की सास्कृतिक खाई विभिन्नता मात्र नहीं थी, वह नितान्त विपरीतता थी, क्योकि आधुनिक पश्चिम ने अपने सास्कृतिक दाय का जो लौकिक संस्करण तैयार किया था, उससे धर्म को निकाल दिया गया था;

जब कि हिन्दू समाज अन्तरतम तक धार्मिक था और धार्मिक बना रहा—यहां तक कि उस पर धर्मपने या धार्मिक कट्टरता का आरोप लगाया जा सकता है, बशर्ते कि, जैसा भाव इस ह्रासात्मक शब्द से निकलता है, मनुष्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण खोज का आत्यन्तिक केन्द्रीकरण सचमुच संभव हो। जीवन-सम्बन्धी उत्कट धार्मिक और स्वेच्छा-पूर्वक गृहीत लौकिक दृष्टिकोणो की यह विपरीतता उस भिन्नता से कही ज्यादा गहरी है जो एक धर्म से दूसरे धर्म के बीच होती है। इस बिन्दु पर हिन्दू, इस्लामी और मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई संस्कृतिया उसकी अपेक्षा एक दूसरे के कही ज्यादा अनुकूल थी जितनी उनमें से कोई भी आधुनिक पश्चिम की लौकिक सस्कृति के अनुकूल है। इस सर्वनिष्ठ धार्मिकता के बल पर ही उस असहनीय आध्यात्मिक तनातनी का अनुभव किये बिना हिन्दुओ के लिए इस्लाम और रोमन कैथलिक ईसाई मत को ग्रहण करना सभव हुआ—जैसा कि पूर्वी बगाल के (हिन्दूधर्म छोडकर आये) मुसलमानो और गोवा के रोमन कैथलिकों मे स्पष्ट देखा जा सकता है।

धर्म-मार्ग-द्वारा विजातीय सास्कृतिक आधार तक पहुँचने मे हिन्दुओ की यह प्रमाणित क्षमता महत्त्वपूर्ण थी, क्योंकि यदि 'धर्मपना' उनकी सभ्यता का प्रधान लाक्षणिक चिह्न था तो उसके बाद का सबसे स्पष्ट अंग उसका एकाकीपन था। इसमे सन्देह नही कि यह एकाकीपन उन हिन्दुओ-द्वारा अपने आध्यात्मिक जीवन के बौद्धिक कक्ष में नियंत्रित कर लिया गया था जिन्होने लौकिक अधुनातन पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त की थी और इसके द्वारा आधुनिक पाश्चात्य आधार पर भारतीय जीवन के राजनीतिक एवं आर्थिक पक्षों के पुनर्गठन-कार्य में भाग लेने के योग्य बन चुके थे। किन्तु इस दुखी बुद्धिजीवी वर्ग के रंगरूट अपनी उपयोगी सेवाओ से अपनी आत्माओ मे ही विच्छेद पैदा कर रहे थे। ब्रिटिश राज मे सर्वाद्धित यह हिन्दू बुद्धिजीवीवर्ग अपने हृदयो मे उन पाश्चात्य मार्गों के प्रति एकाकी बना रहा जो उसके मस्तिष्क के लिए परिचित हो चुके थे। असामञ्जस्य ने एक ऐसी अन्तर्निविष्ट आध्यात्मिक व्याधि उत्पन्न की जो पाश्चात्य साचे पर गठित भारतीय राष्ट्रीय राज्य के स्वतंत्रता प्राप्त करने के राजनीतिक रामबाण (दवा) द्वारा अच्छी नही की जा सकती थी।

एक ओर पाश्चात्य शिक्षणप्राप्त हिन्दू मन का यह अनमनीय आध्यात्मिक एकाकीपन था तो दूसरी ओर उसकी जोड का उद्व्यक्त आध्यात्मिक एकाकीपन उनके उन पाश्चात्य शासको के प्राणो मे भी था जिनके साथ ब्रिटिश राज मे हिन्दू बुद्धिजीवीवर्ग को काम करना पडता था। १७८६ ई. में प्रशासन मे सुधार करने के समादेश के साथ कार्नवालिस ने गवर्नर-जेनरल का पद ग्रहण किया था तथा १८५८ ई. मे ब्रिटिश राजनीतिक सत्ता ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से पूर्णतः सम्राट के हाथ मे चली गयी। इस काल (१७८६-१८५८ ई.) में अपनी भारत में उत्पन्न सगी प्रजाओ के प्रति यूरोप में उत्पन्न ब्रिटिश शासक वर्ग के रुख में एक गहरा, और सब मिलाकर दुर्भाग्यपूर्ण, परिवर्तन हो गया था।

अठारहवीं शती मे भारत में अंग्रेज इस देश की प्रथाओं का अनुसरण करते थे—यहाँ तक कि अपनी सत्ता के दुरुपयोग की प्रथा का भी। इसलिए जिन भारतीयों

को वे प्रवंचित और उत्पीड़ित करते थे उनके साथ भी व्यक्तिगत सम्पर्क के कारण सुपरिचित थे। उन्नीसवी शती के बीच उन्होने एक उल्लेखनीय नैतिक स्वास्थ्य-लाभ किया। बंगाल के अंग्रेज शासकों की प्रथम पीढी को सहसा प्राप्त सत्ता के जिस नशे ने लांछित किया था वह नैतिक ईमानदारी के एक नये आदर्श के कारण सफलतापूर्वक नियंत्रित किया जा चुका था। इस नवीन आदर्श के अनुसार भारत में आने वाले अंग्रेज सिविल अधिकारियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे अपनी सत्ता को एक सार्वजनिक न्यास (पब्लिक ट्रस्ट) के रूप में ग्रहण करेंगे, न कि व्यक्तिगत लाभ के अवसर के रूप में। किन्तु ब्रिटिश शासन की इस नैतिक मुक्ति के साथ भारत मे रहने वाले अंग्रेजों और उनके भारतीय पड़ोसियो के बीच व्यक्तिगत समागम में कमी होती गयी—यहां तक कि उन पुराने बुरे दिनों वाला, मानवीय स्तर पर भारत के रंग मे डूबा अंग्रेज नवाब अपने काम या पेशे मे तो अनिंद्य किन्तु व्यक्तिगत रूप से पहुँच के बाहर उस ब्रिटिश सिविल सर्वेण्ट के रूप में बदल गया जिसने १९४७ ई० मे ऐसे भारत से विदा ली जिसे अपना घर बनाये बिना ही उसने अपना कार्यकारी जीवन समर्पित कर दिया था।

ऐसा क्यो हुआ कि पूर्ववर्ती स्वच्छन्द एवं सरल व्यक्तिगत सम्बन्धों का इस दुर्भाग्यपूर्ण ढंग पर एक ऐसे युग में अन्त हो गया जबकि उनके लाभकारी प्रभावों की हानि उठाने का सबसे कम अवसर था? निस्सन्देह इस परिवर्तन के मूल में अनेक कारण थे। पहिले तो इण्डियन सिविल सर्विस का उत्तरकालिक ब्रिटिश अधिकारी अपने पक्ष मे यह दलील देगा कि उसका यह अलगाव अपने कर्तव्यो के पालन मे नैतिक ईमानदारी वर्तने का अनिवार्य मूल्य था। अपने सामाजिक सम्बन्धो मे देवोपम एकाकीपन का पालन किये बिना कोई आदमी अपने पेशे मे देवता की भाति कार्य कैसे कर सकता है? इस परिवर्तन का दूसरा, यद्यपि इससे कम महत्त्व का, कारण विजयानुप्रेरित अहंकार था, क्योंकि १८४९ ई. तक बल्कि १८०३ ई. में ही, भारत मे अंग्रेजों की सैनिक एव राजनीतिक शक्ति अठारहवी शती की उनकी शक्ति से कही ज्यादा और आश्चर्यजनक रूप से प्रबल हो उठी थी। भारतीय-आंग्ल सामाजिक एव सांस्कृतिक सम्बन्धों के इतिहास के बीसवी शती के एक अंग्रेज विद्यार्थी ने इन दोनों कारणो के परिचालन का गंभीर विश्लेषण किया है—

> "ज्यों-ज्यों (अठारहवीं) शती की समाप्ति होने लगी, सामाजिक वातावरण में क्रमशः एक परिवर्तन आ गया। ·····पारस्परिक आमोद-प्रमोद' (Reciprocal entertainments) के अवसरों में कमी आ गयी, भारतीयों के साथ घनिष्ठ मैत्री का निर्माण बन्द हो गया।······शासन के उच्च पदों पर इंगलैंड से नियुक्त होकर आदमी आने लगे, शासन का रूप ज्यादा सामाजिक और उसका आचरण अधिक दृप्त एवं एकाकी हो गया। मुसलमान नवाबों तथा अंग्रेज सामन्तों, कूटनीतिक पंडितों एवं अंग्रेज विद्वानों ने जिस खाई को कुछ समय के लिए पाट दिया था वह दुःशकुन के रूप में फिर बढ़ने—चौड़ी होने लगी। ···एक श्रेष्ठता की भावना (सुपीरियारिटी काम्प्लेक्स) बन रही थी जो भारत को न केवल ऐसा देश मानती थी जिसकी प्रथाएं बुरी हैं और आदमी भ्रष्ट हैं बल्कि जो प्रकृत्या कभी सुधरने और अच्छा होने में असमर्थ हैं············

"भारत के भारतीय-यूरोपीय सम्बन्धों का यह दुर्भाग्य है कि शासन के भ्रष्टाचार के निराकरण के साथ ही जातिगत (रेशल) खाई चौड़ी हो गयी।"' ...भ्रष्ट कम्पनी अधिकारियों, कुकृतियों से प्राप्त वैभव, रैयत के उत्पीड़न, स्त्रियों पर अत्याचार एवं अवैध यौन-सम्बन्धों के दिन ऐसे भी थे जब अंग्रेज भारतीय संस्कृति में रुचि रखते थे, फारसी में कविताएं करते थे और सामाजिक समता एवं व्यक्तिगत मैत्री की भावना के साथ पंडितों, मौलवियों एवं नवाबों के साथ उठते-बैठते, मिलते-जुलते थे। कार्नवालिस का दुर्भाग्य यह था कि भ्रष्टाचार की स्वीकृत बुराइयों के निराकरण में उसने उस सामाजिक सन्तुलन को भी भंग कर दिया जिसके बिना पारस्परिक अवबोध (Understanding) असंभव था। ......कार्नवालिस ......ने उच्चतर सरकारी पदों से सब भारतीयों को अलग करके एक नवीन शासकीय वर्ग का निर्माण किया।......समता एवं सहयोग की कीमत चुकाकर भ्रष्टाचार का निर्मूलन किया गया।......उसके अपने मन में, तथा सामान्यतः स्वीकृत दृष्टिकोण में भी, दोनों बातों के बीच एक आवश्यक सम्बन्ध था। उसने कहा – "मेरा स्पष्ट विश्वास है कि हिन्दुस्तान का हर मूल निवासी भ्रष्ट है।"......उसने सोचा कि आंग्ल भ्रष्टाचार को उचित वेतन देकर दूर किया जा सकता है, और वह यह सोचने को नहीं ठहरा कि भारतीय शुभेच्छा के लाभ के लिए इसे भारतीय भ्रष्टता दूर करने में भी कम से कम आजमाया तो जा सकता है। उसने अकबर के मनसबदारों के नमूने पर ऐसी भारतीय सामाजिक नौकरशाही के निर्माण की बात ही नहीं सोची जिसे विशेष प्रशिक्षण, उचित वेतन, समान व्यवहार के प्रोत्साहन, पदोन्नति एवं उपाधियों-द्वारा सम्मानित करके कम्पनी के प्रति उसी प्रकार निष्ठावान् बनाया जा सकता था जैसे मुगल अधिकारी सम्राट के प्रति निष्ठावान् थे।"[1]

इस विच्छेद का एक तीसरा कारण भारत और इंगलैण्ड के बीच संचार-व्यवस्था में तेजी आ जाना था, जिसके कारण अंग्रेजों के लिए इधर-उधर यात्रा करते हुए भी इंगलैण्ड की भूमि पर अपने घरों का मानस-निवासी बने रहना संभव हो गया। किन्तु संभवतः एक चौथा भी कारण था जो अन्य सब कारणों से अधिक प्रबल एवं प्रभावशाली था, और भारत मे रहने वाला अंग्रेज जिसका शिकार, न कि उत्पन्नकर्ता, था। उत्तरकालिक अंग्रेज निवासी की ऐकान्तिकता के प्रति रोष प्रकट करने वाला भारतीय यदि यह स्मरण रखे कि अंग्रेजो के भारत में आने के तीन हजार वर्ष पहिले से ही यह महाद्वीप जाति-व्यवस्था से आक्रान्त था, और अपनी पूर्ववर्ती सिन्धु (Indic) सभ्यता से विरासत मे प्राप्त बुराई को हिन्दू समाज ने और बढा लिया था, और अंग्रेजों के विदा हो जाने के बाद, जैसा कि उनके आगमन के पहिले भी, भारत के निवासी अपनी ही पैदा की हुई सामाजिक बुराई से ग्रस्त हैं और थे, तो शायद वह इस अनधिकार-प्रवेशकर्त्ता के प्रति

[1] स्पियर, टी.जी.पी. 'दि नबाब्स : ए स्टडी आव दि सोशल लाइफ आव दि इंगलिश इन एट्टींथ सेंचुरी इंडिया', लंदन १६३२, मिल्फोर्ड, पृ. १३६, १३७, और १४५

कुछ अधिक उदार हो सकेगा। अपने १५० सालो के राज में अंग्रेजों ने जिस एकाकी-पन का विकास कर लिया था उसे भारतीय इतिहास के लम्बे संदर्श (perspective) में देखने पर भारतीय स्थानिक (endemic) व्याधि का एक हलका आक्रमण माना जा सकता है।

इस उत्तरकालिक अंग्रेज ऐकान्तिकता का वृद्धिगत प्रभाव ब्रिटिश राज का अन्त हो जाने से शमित हो सकता है किन्तु भारतीय कृषक-समाज की स्थिति एवं आशाओ के विषय मे ब्रिटिश शासन का सुधारकारी प्रभाव एक ऐसी ब्रिटिश विरासत है जो शायद ब्रिटिश सिविल सेवको के हिन्दू उत्तराधिकारियो के गले मे बंधी चक्की सिद्ध होगी।

ब्रिटिश शासन में इस उपमहाद्वीप के प्राकृतिक साधन अनेक रूपों मे बाहर निकले : रेलों के निर्माण से, सिंचाई से, और सबके ऊपर योग्य एवं कर्त्तव्यनिष्ठ प्रशासन से। अपने अंग्रेज शासको के विदा होने के समय तक भारतीय कृषक समाज संभवतः इतने पर्याप्त रूप से आधुनिक पाश्चात्य प्रौद्योगिकी की भौतिक सफलताओ तथा ईसाई-हृदया आधुनिक पाश्चात्य लोकतंत्र प्रणाली के प्रति जागरूक हो चुका था कि स्वयं अपनी पैतृक देन पर आपत्ति करने के न्याय एवं आवश्यकता दोनो का अनुभव करने लगा, किन्तु इसके साथ ही इन सपनों का देखना आरम्भ करने वाले भारतीय कृषक-समाज ने खुद ही उनकी पूर्ति के मार्ग मे निकृष्टतम अवरोध उपस्थित किया— किसी प्रकार जीवित रहने की सीमा तक वह संतति का उत्पादन करता गया, जिसका परिणाम यह हुआ कि ब्रिटिश प्रयास से भारत की खाद्यपूर्ति मे जो वृद्धि हुई थी वह कृषकों की व्यक्तिगत दशा सुधारने की जगह उनकी सख्या बढ़ाने का कारण बन गयी। अखण्ड भारत की जो आबादी १८७२ ई. मे २०६,०००,००० के लगभग थी, वह १६३१ मे बढ़कर ३३८,११६,१५४ तथा १६४१ मे ३८८,६६७,६५५ हो गयी। बाढ अब भी उसी वृद्धि पर है। अंग्रेजों के हिन्दू उत्तराधिकारी इस राजनीतिक रिक्थ (legacy) को, जिसने पहिले ही उस प्रशासन मे किसी प्रकार की अकुशलता का अवसर नही छोड़ा था, जिसकी पतवार उन्होंने अपने हाथ मे सभाल ली है, किस प्रकार निबाहेंगे ?

जनसंख्या की अतिशय वृद्धि की परम्परागत दवा थी अकाल, महामारी, असैनिक अशान्ति तथा युद्ध-द्वारा आबादी को घटाकर पुनः उस अक पर पहुंचा देना जिस पर बचे हुए लोग एक बार फिर अपने प्रथागत निम्न स्तर पर अपना परम्परागत जीवन बिताने योग्य हो सकें, भारतीय स्वतंत्रता के लिए अपनी लगन से भरी खोज मे महात्मा गाधी ने उसके लिए आवश्यक बर्बर साधनो की इच्छा किये बिना ही, उसी माल्थसी परिणाम की इच्छा की थी। वह देख सके थे कि यदि भारत पश्चिमी जगत् के आर्थिक तन्तुओ मे उलझकर रह गया तो केवल राजनीतिक स्वतंत्रता आभासिक मुक्ति बनकर रह जायगी। और मशीन-निर्मित वस्त्रो के व्यवहार का परित्याग करने का आन्दोलन चलाकर उन्होने इस आर्थिक वटवृक्ष की प्रौद्योगिक जड़ पर बिल्कुल ही सही अपनी कुल्हाडी रखी। उनके आन्दोलन की पूर्ण असफलता ने इस बात को प्रमाणित कर दिया कि इस समय तक भारत पाश्चात्य रंग में रंगे विश्व के आर्थिक जीवन मे बुरी तरह उलझ चुका था।

जब भारत की जनसंख्या-समस्या ऐसे संकट-बिन्दु पर पहुंच जायगी जिसकी राजनीतिज्ञ भी उपेक्षा न कर सकेंगे तब भारत के शासन के लिए उत्तरदायी हिन्दू राज-मर्मज्ञ पश्चिमी रंग मे रंगी दुनिया के नैतिक वातावरण से विवश होकर गांधी-माल्थसी समाधान की अपेक्षा मानवीय समाधान खोज निकालने के लिए विवश हो जायगे। यदि ऐसे पाश्चात्य विचार वाले हिन्दू राजमर्मज्ञों-द्वारा अनुसरण की गयी नीतियां असफल हुई तो फिर इसमे जरा भी सन्देह न रह जायगा कि भारत के राष्ट्रीय कार्यक्रम में प्रतिस्पर्द्धी रूसी रामबाण (दवा) अपने आप आ जायगा, क्योकि पश्चिमी रंग में रंगते हुए भारत की भाति ही साम्यवादी रूस ने भी अपने सांस्कृतिक अतीत से दमित कृषक-समाज की समस्या विरासत मे पायी थी और भारत के प्रतिकूल, वह अपने ढग पर इस चुनौती का उत्तर भी दे चुका था। हो सकता है कि यह साम्यवादी ढंग भारतीय कृषक-समाज अथवा भारतीय बुद्धिजीवीवर्ग को इतना अधिक क्रूर और क्रांतिकारी प्रतीत हो कि वे उत्साहपूर्वक उसका अनुसरण न करे किन्तु इस बात की संभावना है कि किसी बुरी घडी में जनसख्या मे कमी करने की उससे भी निष्ठुर प्राचीन शैली के विकल्प के रूप मे भारत-सरकार के कार्यक्रम मे साम्यवादी कार्यक्रम अपना स्थान बना ले।

४. आधुनिक पश्चिम तथा इस्लामी जगत्

पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक अध्याय के आरम्भ के समय, एक दूसरे की पीठ से जुड़े हुए दो सहजात इस्लामी समाजो ने पश्चिमी और रूसी समाज-क्षेत्रो से पुरानी दुनिया के दूसरे भागो में जाने के खुश्की रास्तो को रोक रखा था। पंद्रहवी शती के अन्त मे अरबी मुसलमानी सभ्यता अफ्रीका मे जिब्राल्टर जलसन्धि (Straits of Zibralter) से सेनेगाल तक अटलांटिक समुद्रतट को घेरे हुए थी। इस प्रकार पाश्चात्य ईसाई जगत् उष्ण कटिबन्धीय (tropical) अफ्रीकी भूमार्ग से कटकर अलग पड गया था; दूसरी ओर उस काले महाद्वीप (अफ्रीका) मे न केवल सहारा के बाहर सूडान की उत्तरी सीमाओ पर वर हिन्द महासागर के बाहर निकले उसके पूर्वी तट 'सावाहिल' तक अरब प्रभाव की तरंगे फैल रही थी। महासागर एक अरबी झील-सा बन चुका था जिसमे मिस्री दलालो के वेनिसी व्यापारिक साझेदार तो प्रवेश न कर पाते थे और अरब जहाज स्वेज से सोफाला तक अफ्रीकी समुद्रतट पर न केवल आते जाते थे वरं उन्होने इंडोनेशिया तक जाने का मार्ग निकाल लिया था। उन्होंने इस द्वीपपुज (Archip-elago=इन्दोनेशिया) को हिन्दू धर्म से इस्लाम के लिए छीन लिया और पूर्व की ओर और आगे बढ़कर दक्षिणी फिलीपाइन के व्रात्य मलय-निवासियो को भी अपने धर्म में परिवर्तित करके, पश्चिमी प्रशान्त महासागर मे भी अपना एक अड्डा बनाने की चेष्टा की थी।

इसी काल मे ईरानी मुस्लिम सभ्यता इससे भी अधिक शक्तिमान् युद्धनीतिक वा सैनिक स्थिति पर अधिकार किये हुए थी। उस्मानली साम्राज्य-निर्माताओ ने कुस्तुनतुनिया, मोरिया, कारमान और त्रेबिजोंद पर कब्जा कर लिया था और क्रीमिया मे जेनेवा के जो उपनिवेश थे उन्हें छीन लेकर काला सागर को एक ओथमन झील के रूप मे परिवर्तित कर दिया था। अन्य तुर्कीभाषी मुस्लिम देशो ने इस्लाम का

अधिकार-क्षेत्र काला सागर से बढ़ाकर वोल्गा की मध्यधारा तक पहुंचा दिया था; और इस पाश्चात्य सीमाग्र के पीछे ईरानी जगत् दक्षिण-पूर्व की ओर कंमू एवं शेंसी के उत्तर-पश्चिमी चीनी प्रान्तों तथा ईरान एवं हिन्दुस्तान के ऊपर बंगाल और दक्षिण भारत तक फैल गया था।

यह महत् इस्लामी राहबन्दी एक ऐसी चुनौती थी जिसका दो अवरुद्ध ईसाई समाजो की प्रमुख जातियो ने वैसा ही ऊर्जस्वी उत्तर भी दिया।

पाश्चात्य ईसाई जगत् मे अटलांटिक तटवर्ती क्षेत्र के लोगो ने पंद्रहवी शती में एक नये ढंग के, समुद्र-संतरण-कुशल ऐसे जहाज का आविष्कार किया जो किसी बन्दरगाह में आश्रय लिये बिना महीनो समुद्र पर रह सकता था। पुर्तगाली नाविको ने, जो १४२० ई. के लगभग मदीरा तथा १४३२ ई मे अजोर्स की खोज करके, गहरे सागर पर जहाजरानी करने की कला मे निपुण हो चुके थे, १४४५ ई मे वर्दी अन्तरीप का चक्कर लगाकर अटलांटिक के अरबी समुद्रतट के बाजू से होकर आगे निकल जाने मे सफलता प्राप्त की। वे १४७१ ई. में इक्वेडर पहुच गये, १४८७-८८ मे उत्तमाशा अन्तरीप का चक्कर लगाने मे सफल हुए और १४९८ ई मे भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित कालीकट मे जा उतरे; १५११ ई. मे मलक्का की जलसन्धि पर अधिकार कर लिया; पश्चिमी प्रशान्त महासागर मे आगे बढते हुए १५१६ ई मे अपना झण्डा कैण्टन मे गाड दिया और १५४२-४३ मे जपान के समुद्रतट तक जा पहुंचे। पोर्च्युगीजों ने एक छपाके मे हिन्द महासागर का समुद्री शासन अरबो के हाथ से छीन लिया।

जब पूर्व-दिशागामी पोर्च्युगीज पथदर्शक इस प्रकार पाश्चात्य जगत् का आकस्मिक समुद्री विस्तार करते हुए दक्षिणवर्ती अरबी मुस्लिम दुनिया की बगल से रास्ता बनाते बढ़े जा रहे थे, तब पूर्वदिशागामी कज्जाक नव-नाविक भी उसी आकस्मिक ढंग पर, उत्तर की ईरानी मुस्लिम दुनिया की बगल मे निकलते हुए बडी तेजी मे रूसी जगत् की सीमाएं बढ़ाये चले जा रहे थे। जब मस्कोवी जार इवान चतुर्थ ने १५५२ ई में काजान जीत लिया तो उनके लिए रास्ता खुल गया, क्योंकि काजान ईरानी मुस्लिम दुनिया का पूर्वोत्तरी बुर्ज था और उसके पतन के बाद जंगल और तुषार के अलावा उनके मार्ग को रोकने वाली कोई चीज नही रह गयी। और ये जंगल और तुषार तो कज्जाको के परिचित मित्र थे। इसलिए रूसी परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् के ये अग्रगामी दस्ते यूराल को पार कर साइबेरिया के जलमार्गों से पूर्व की ओर बढते ही गये और १६३८ ई. में प्रशान्त महासागर के तट पर जाकर रुके। इसी प्रकार २४ मार्च १६५२ ई. को ये मचू साम्राज्य की पूर्वोत्तर सीमा पर जाकर रोके जा सके। इस प्रकार इन नवीन सीमाओं तक पहुचकर विस्तारशील रूसी जगत् न केवल ईरानी दुनिया बल्कि सम्पूर्ण यूरेशियन स्टेप्पी को बगल से काटकर आगे निकल गया।

इस प्रकार एक शताब्दी से कुछ अधिक समय के अन्दर ही ईरानी और अरबी समाजों के संयुक्त प्रयत्न से आगे बढ़ी इस्लामी दुनिया न केवल बगल से निकल जाने

वाले इन तत्त्वों द्वारा पिछाड दी गयी वरं पूर्णतः घिर भी गयी। सोलहवीं एवं सत्रहवीं शतियों के मोड़ पर पहुचते-पहुचते फन्दा शिकार के गले मे था। फिर भी जिस आकस्मिकता के साथ इस प्रबल पकड मे इस्लामी जगत् आ गया था वह उतना असाधारण नही था जितनी वह लम्बी समयावधि थी जिसके बीतने के बाद ही मुसलमानो के प्रतिद्वंद्वी या खुद मुसलमान ही परिस्थिति को समझकर तदनुकूल कार्रवाई करने को अग्रसर हुए—पाश्चात्य और रूसी पक्ष के लिए अपने स्पष्टतः असहाय शिकार पर टूट पड़ने की और मुस्लिम पक्ष मे अपने को उस निराशाजनक परिस्थिति से निकालने की कार्रवाई। १६५२ ई. में दारुलइस्लाम अपने मूल रूप मे ज्यो का त्यों था, केवल कुछ सुदूरवर्त्ती प्रान्त ही उसके हाथ से निकल पाये थे। मिस्र से अफगानिस्तान और तुर्की से यमन तक फैला मध्यक्षेत्र विदेशी राजनीतिक आधिपत्य किंवा नियंत्रण से भी मुक्त था। इस तिथि तक मिस्र, जोर्डन, लेबनान, सीरिया एवं ईराक सब के सब उस ब्रिटिश एव फरासीसी साम्राज्यवाद की बाढ के नीचे से बाहर निकल आये थे जिसने उन्हे क्रमशः १८८२ ई. एवं १९१४-१८ के महायुद्ध के मध्य डुबा दिया था। अब अरबी दुनिया के अन्तरंग को अवशिष्ट भय पाश्चात्य शक्तियो से नही, जाउनवादियो —यहूदियों—की ओर से हो रहा है।

पाश्चात्य प्रश्न के प्रति मुस्लिम जातियो के अवबोध (अण्डरस्टैण्डिग) के संकेत तीन परिस्थितियों मे पाये जाते है। जिस समय आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति की टक्कर उनके जीवन की प्रधान समस्या बन गयी थी, उस समय भी मुसलमान जातिया, उन रूमियो के समान, जो अपने इतिहास के ऐसे ही सकटकाल मे राजनीतिक दृष्टि से स्वतत्र थे, अपनी स्वामिनी स्वयं थी। इसी प्रकार इस विषय मे वे उन ओथमन परम्परा-निष्ठ ईसाइयों के विसदृश थी जो अपने इतिहास के सकट की घडी मे राजनीतिक दृष्टि से पराधीन थे। ये मुसलमान जातियां एक ऐसी महती सैनिक परम्परा की वारिस भी थी जो इस्लामी सभ्यता के बच्चों की आंखों मे उस सभ्यता के मूल्यवान् होने के अधिपत्र (warrant) की भांति थी। इसलिए युद्ध में पराजय के अप्रतिवाच्य तर्क से प्रमाणित अपने उत्तरकालिक सैनिक ह्रास का आकस्मिक प्रदर्शन उनके लिए जैसा आश्चर्यजनक था वैसा ही अपमानजनक भी था।

अपने ऐतिहासिक सैनिक पराक्रम के विषय मे मुसलमानो की आत्मतृप्ति उनके हृदय मे इतनी गहराई मे पैठी हुई थी कि १६८३ ई में वियेना के विरुद्ध अपनी असफलता और सैनिक ज्वार के उनके विरुद्ध पलट जाने पर भी उसमें निहित पाठ का तब भी उन पर कोई विशेष प्रभाव न पडा था जब लगभग सौ वर्ष बाद उसे मानने को विवश होने की स्थिति पैदा हो गयी थी। जब १७६८ ई मे ओथमन साम्राज्य एव रूस मे युद्ध छिड जाने के बाद, तुर्कों को बताया गया कि रूसी उनके विरुद्ध बाल्टिक मे निर्मित नौसेना का प्रयोग करने वाले हैं, तब वे बाल्टिक एवं भूमध्यसागर के मध्य सीधा कोई जलमार्ग भी है, यह मानने से तबतक इन्कार करते रहे जबतक कि वह समुद्री बेडा वहा पहुच नही गया। इसी प्रकार, तीस साल बाद, जब मामलूक सैनिक-अधिपति मुराद बे को वेनिस के एक व्यापारी ने यह चेतावनी दी कि नेपोलियन-द्वारा

माल्टा पर कब्जा उसके मिस्र में उतरने की भूमिका हो सकती है तो उस विचार के बेतुकेपन पर उसने कहकहा लगाया।

अठारहवीं एवं उन्नीसवीं शतियों के मोड़ पर, एक शती पूर्व के रूसी जगत् की भांति, ओथमन जगत् मे, ऊपर से नीचे की ओर चलने वाला पाश्चात्यकरण का आन्दोलन आधुनिक पाश्चात्य समर-यंत्र-द्वारा उसकी पराजय का ही परिणाम था। पाश्चात्यकरण का यह आन्दोलन सशस्त्र सेना के पुनर्गठन के साथ शुरू हुआ था। किन्तु उसमे प्रधान महत्त्व का कम से कम एक मुद्दा ऐसा था जिस पर ओथमन और पीटरी नीतियों में अन्तर था। पीटर महान ने, प्रतिभा की अन्तर्दृष्टि के साथ, यह देख लिया था कि पाश्चात्यकरण की नीति को सर्वस्व या फिर कुछ नहीं बनाना आवश्यक है। उसने देखा कि उसे सफल बनाने के लिए न केवल सेना पर बल्कि जीवन के प्रत्येक विभाग पर उसको लागू करना होगा; और यद्यपि, जैसा कि हम देख चुके हैं, रूस मे पीटरी शासनकाल जीवन के केवल शहरी बाह्यावरण को पाश्चात्य रंग मे ढालने से अधिक सफलता नही प्राप्त कर सका और ग्राम्य समाज को प्रभावित करने में असफल होने का दण्ड अन्त में उसे साम्यवाद के सामने घुटने टेककर देना पडा, किन्तु पीटर के सांस्कृतिक आक्रमण पर उसके लक्ष्य की पूर्ण सिद्धि के पूर्व ही जो आनुषगिक अवरोध आया उसका कारण उसकी दृष्टि की असफलता उतनी न थी जितना रूसी प्रशासन-यंत्र मे पर्याप्त प्रेरक शक्ति का अभाव था। दूसरी ओर तुर्की मे, १७६८ ई. के रूस-तुर्की युद्ध छिड़ने से लेकर १६१८ ई मे प्रथम विश्व-महायुद्ध के अन्त तक की डेढ़ शतियों मे, ओथमन सैनिक दलो के पाश्चात्यकरण की नीति, उनकी अनिच्छा के बावजूद भी, चलती रही—यद्यपि बार-बार इस छाया का आलिंगन करने की दु.खदायी भ्रमात्मकता का पर्दा फाश होता रहा कि एक विजातीय संस्कृति के तत्त्वों को ग्रहण करके मनोनुकूल वरण करना संभव है। उस्मानलियों ने उस काल में मुह बनाते हुए पाश्चात्यकरण की जो तदनुवर्ती खुराके अपने को पिलायी, उसका फटकार भरा फैसला है—'हर बार बहुत कम और विलम्ब से।' कहीं १६१६ मे जाकर मुस्तफा कमाल एव उनके साथियों के लिए, खुलकर और पूरे हृदय से, पीटरी ढग पर, पाश्चात्यकरण की नीति का प्रचलन करना संभव हो सका।

यह पुस्तक लिखने के समय तक, मुस्तफा कमाल-द्वारा निर्मित, पाश्चात्य रंग मे रंगा तुर्की राष्ट्रीय राज्य एक सफल उपलब्धि प्रतीत होता है। किन्तु इस्लामी दुनिया के दूसरे भागो मे अभी तक इसके जैसी दूसरी उपलब्धि नही हुई है। ईसाई संवत् की उन्नीसवी शती के द्वितीय चतुर्थांश मे मिस्र का जो पाश्चात्यकरण उस अल्बेनी दुस्साहसिक मुहम्मद अली द्वारा चलाया जा रहा था, वह यद्यपि उस शती मे तुर्की सुलतानों द्वारा अपनायी या उपलब्ध किसी भी बात की अपेक्षा कही अधिक परिपूर्ण था किन्तु वह उसके उत्तराधिकारियो के शासन-काल मे बिल्कुल निकम्मा साबित हुआ और परिणाम मे एक ऐसे पाश्चात्य-इस्लामी दोगले के रूप मे बदल गया जिसमें मूल एवं अनुकृत दोनों सभ्यताओं की निकृष्टतम बुराइया थी। अपने अर्ध-बर्बर राज्य के इससे कहीं ज्यादा दुर्दम क्षेत्र में अमानुल्ला ने मुस्तफा कमाल की जो नकल की वह

एक ऐसा प्रयोग था जिसे, अपने अपने झुकाव के अनुसार—सुखान्त या दुःखान्त घटना के रूप मे लिया जा सकता है किन्तु जो दोनो ही स्थितियो में असफल घोषित किये जाने से नही बच सकता।

ईसाई सवत् की बीसवी शती के मध्य मे ससार जो कुछ था उसमे अमानुल्ला-द्वारा किये गये प्रयोग के समान ग्राम्य-प्रयोगो की सफलता या असफलता से इस्लामी दुनिया के भविष्य का निर्णय नही हो सकता था। जो भी हो, निकट भविष्य मे इस्लामी दुनिया का भाग्य पश्चिम एवं रूसी जगत् के, जिन्होने अपने बीच उसे (इस्लामी दुनिया को) घेर रखा है, परस्पर शक्ति-परीक्षण पर निर्भर करेगा। इन प्रतिस्पर्द्धियो की दृष्टि मे, अन्तर्दहन इजिन के आविष्कार के बाद से मुख्य माल के स्रोत एव मुख्य संचार-मार्ग दोनों रूपों में, इस्लामी दुनिया का महत्त्व बढ़ गया है।

इस्लामी दुनिया पुरानी दुनिया की चार प्राथमिक सभ्यताओं मे से तीन की मातृभूमियों तक फैल गयी थी। इस समय विलुप्त उन समुदायो ने पहिले की दुर्दम्य घाटियों—निम्न नील घाटी, दजला-फुरात घाटी, और सिंधु घाटी—मे जो कृषिजनित सम्पत्ति किसी समय छीन ली थी, जल-नियत्रण की आधुनिक पाश्चात्य प्रणालियो से उसकी मिस्र और पंजाब मे वृद्धि की गयी और इराक मे उसे आशिक रूप से पुन: स्थापित किया गया। इस्लामी दुनिया के आर्थिक साधनो मे मुख्य वृद्धि उन क्षेत्रो मे भूमिखनिज, तैल-भण्डार की खोज एव उपयोग के कारण हुई जिनका कृषि-उपज की दृष्टि से कोई विशेष मूल्य नही था। अपने आप उफनने वाले जिन प्राकृतिक तैल-कूपो (natural gushers) को प्राक्-इस्लामी युग मे जरथुस्त्री धार्मिक वर्ग द्वारा धर्मस्थानो के रूप मे परिवर्तित कर दिया गया था और उन्हे अग्निदेव की पवित्रता के सम्मान मे एक शाश्वत ज्योति-शिखा जलाये रखने के काम मे लिया जाता था, १७२३ ई. मे पीटर महान ने उनकी प्रबल आर्थिक परिसपत्ति को देख लिया था और यद्यपि बाकू तैल-क्षेत्र के व्यापारिक उपयोग-द्वारा उस प्रतिभा की अन्तर्दृष्टि की पुष्टि के लिए अभी प्राय १५० वर्ष और बीतने थे किन्तु इसके अनन्तर तीव्र गति से होने वाली एक के बाद एक नयी खोजो ने प्रदर्शित कर दिया कि बाकू उस स्वर्णिम शृंखला मे एक कडी मात्र है जो इराकी कुर्दिस्तान और ईरानी बख्तियारिस्तान से होती हुई दक्षिण-पूर्व दिशा में अरब प्रायद्वीप के एक समय के मूल्यहीन क्षेत्रो तक फैली है। इसके कारण तल के लिए जो छीन झपट मची उसने एक क्षोभपूर्ण राजनीतिक स्थिति को जन्म दिया क्योंकि रूस का काकेशश-स्थित रोटी का टुकड़ा और पश्चिमी शक्तियो के फारस तथा अरब देशों मे स्थित टुकड़े एक दूसरे से सीधी मार की दूरी पर थे।

व्यापक संचार के शीर्षबिन्दु के रूप मे इस्लामी दुनिया का महत्त्व पुन: स्थापित हो जाने के कारण उत्तेजना बढ गयी। एक ओर रूस और अटलांटिक के इर्द-गिर्द के पाश्चात्य जगत् तथा दूसरी ओर भारत, दक्षिण-पूर्वी एशिया, चीन और जपान के बीच के निकटतम मार्ग सब के सब इस्लामी भूमि से सागर या हवा में से होकर जाते थे और मार्ग-मानचित्र में, जैसा कि नक्शे में भी, सोवियत सघ और पश्चिम खतरनाक रूप से एक-दूसरे के निकट थे।

५ आधुनिक पश्चिम एवं यहूदी

पाश्चात्य सभ्यता के इतिहास के आधुनिक अध्याय के सम्बन्ध में मानव जाति का अन्तिम अधिमत (Verdict) चाहे जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि आधुनिक पाश्चात्य मानव ने अमिट कलंक के दो अपराध करके अपने को दागी बना लिया है। पहिला अपराध है--नयी दुनिया के खेतो पर काम करने के लिए अफीका से हबशी गुलामो को जहाज-द्वारा भेजना और दूसरा पाश्चात्य स्वदेश मे ही एक यहूदी दायसपोरा (इतर जातियो के बीच यहूदियो की बस्ती) को विनष्ट कर देना। पाश्चात्य जगत् और यहूदी जाति के सघर्ष का दु खद काण्ड 'मूल पाप' (ओरिजिनल सिन) तथा सामाजिक परिस्थितियो के एक विशेष योग की परस्पर प्रतिक्रियाओ का परिणाम था।

जिस रूप मे यहूदी समाज की पाश्चात्य ईसाई जगत् के साथ टक्कर हुई, वह एक विशेष सामाजिक घटना है। वह एक ऐसी सभ्यता का जीवाश्मित या प्रस्तरीकृत अवशेष (Fossilised Relic) था जो और सब रूपों मे विलुप्त हो चुका था। जूडा का सीरियाई ग्राम्यराज्य, जिससे यहूदी समाज का उद्भव हुआ था, हिब्रू, फोनेशी, आर्मनी एव फिलिस्तीनी इत्यादि जातियो मे से एक था किन्तु जहा जूडा की और भगिनी जातिया अपने बैबिलोनी एव यूनानी पडोसियो के साथ एक के बाद एक होने वाले सघर्षो मे सीरियाई समुदाय को लगी साघातिक चोट के कारण अपना अस्तित्व एव अपना राजत्व खो चुकी थी वहा उन्ही चुनौतियों ने यहूदियो को अपने लिए सघटित जीवन की एक ऐसी नवीन विधि अपनाने को प्रेरित किया जिसके द्वारा एक विदेशी बहुमत एव विजातीय शासन के अन्दर रहकर भी दायसपोरा के रूप मे, अपनी पहिचान की रक्षा करने और इस प्रकार अपने राज्य और अपने देश की हानि के बाद भी जीवित रहने मे उन्होने सफलता प्राप्त की। किंतु इतने पर भी इस अत्यधिक सफल यहूदी प्रतिक्रिया को अप्रतिम नही कहा जा सकता, क्योकि इस्लामी और ईसाई जगत् के बीच स्थित यहूदी दायसपोरा का एक दूसरा ऐतिहासिक प्रतिरूप भारत मे स्थित पारसी दायसपोरा के रूप मे भी प्राप्त था, वह भी उसी सीरियाई समाज का दूसरा प्रस्तरीकृत अवशेष था।

पारसी, सीरियाई सभ्यता के ईरानी धर्मान्तरित लोगो के वे उत्तरजीवी (Survivors) या बचे लोग थे जिन्होने उस समाज को एकेमीनियाई साम्राज्य के रूप मे उसका सार्वभौम राज्य प्रदान किया था। यहूदी की भांति पारसी जाति भी राज्य एव स्वदेश की क्षति के बाद भी जीवित रहने की विजयिनी इच्छा का कीर्त्तिस्तम्भ थी; और पारसियो ने भी सीरियाई जगत् और पडोसी समुदायो के बीच के उत्तरोत्तर सघर्षो के फलस्वरूप ही यह क्षति उठायी थी। जैसे यहूदियो ने १३५ ई. मे समाप्त होने वाली तीन शतियो मे उत्सर्ग किया था वैसे ही पारसियो के जरथुस्त्री पूर्वजो ने आक्रामक यूनानीवाद को निकालने के असफल प्रयत्नो मे अपना बलिदान कर दिया। जैसे रोमन साम्राज्य ने यहूदियों पर असफलता का दण्ड थोपा था वैसे ही ईसाई सवत् की सातवी शती मे आदिकालिक मुस्लिम अरब आक्रमणकर्त्ताओं ने जरथुस्त्री ईरानियों को असफलता का दण्ड दिया। अपने इतिहास के इन समान संकटों मे यहूदियो और

पारसियों ने नयी सस्थाओ का निर्माण करके और नये कार्य-कलाप मे दक्षता प्राप्त करके अपना अस्तित्व एवं ऐक्य कायम रखा। अपने धार्मिक यमों—कानूनो के विस्तरण मे उन्होने एक नया सामाजिक सयोजक तत्त्व (सीमेंट) प्राप्त किया था। पहिले अपने देश में वे कृषि-कार्य करते थे किन्तु जब अपने पूर्वजो की भूमि से निकाल दिये गये तो उन भूमिहीन निर्वासितो ने इसके दारुण आर्थिक परिणामो से कृषि का काम करने मे असमर्थ हो जाने के बाद, उसकी जगह व्यापार और दूसरे प्रकार के शहरी कामो मे एक विशेष दक्षता प्राप्त करके अपनी रक्षा की।

फिर ये यहूदी और पारसी दायसपोरा लुप्त सीरियाई समाज-द्वारा पीछे छोड़े एकमात्र जीवाश्म (Fossils) नही थे। ईसाई मत की स्थापना और इस्लाम की स्थापना के बीच के युग के ईसाई अपधर्मों (Christian heresies) ने भी नेस्तोरी (नेस्तोरियन) और मोनोफाइसाइट (Monophysite=ईसा की केवल एक प्रवृत्ति को मानने वाला, एकधर्मी ईसाई) चर्चो के रूप मे जीवाश्म पैदा किये थे। इसके अलावा सीरियाई ही एकमात्र ऐसा समाज नही था जिससे ऐसी जातिया निकली हो जिन्होने अपना राजत्व खोने और अपनी भूमि से निर्मूल कर दिये जान के बाद धार्मिक अनुशासन एव व्यापारिक साहस दोनो के सम्मिश्रण-द्वारा अपनी रक्षा करने मे सफलता प्राप्त की थी। एक विजातीय ओथमन शासन के नीचे पराभूत यूनानी परपरानिष्ठ ईसाई समाज भी धरती से अशत. निर्मूल कर दिया गया था। तब उसने भी अपने सामाजिक गठन तथा आर्थिक कार्य-कलाप मे ऐसे परिवर्तन कर लिये थे जिनके द्वारा उपर्युक्त प्रकार के दायसपोरा बनने के मार्ग पर वह आगे बढ़ सका था।

निश्चय ही, ओथमन साम्राज्य की मिल्लत (Millet) प्रणाली, समाज के साम्प्रदायिक ढाचे का केवल एक ऐसा सघटित सस्करण थी जो सीरियाई राज्यप्रथा के धूल मे मिल जाने तथा असीरी (असीरियन) सैनिकवाद के आक्रमणो-द्वारा सीरियाई जातियों के अनुन्मोचनीय रूप मे अन्तर्मिश्रित हो जाने के बाद सीरियाई जगत् मे स्वत. उदित हो गया था। इसके फलस्वरूप भौगोलिक दृष्टि से अन्तर्मिश्रित जातियो के जाल के रूप मे समाज का जो पुन मधिकरण या सयोजन हो गया वह सीरियाई समाज से उसके ईरानी एव अरब मुस्लिम उत्तराधिकारियो को प्राप्त हुआ था तथा जिसे बाद मे एक अवसन्न परपरानिष्ठ ईसाई जगत् पर उस्मानली ईरानी मुस्लिम साम्राज्य-निर्माताओ ने थोप दिया था।

इस ऐतिहासिक सदर्भ मे स्पष्ट है कि पाश्चात्य ईसाई जगत् से जिस यहूदी दायसपोरा की मुठभेड़ हुई वह कोई अनुपम मामाजिक घटना नही थी। इसके विरुद्ध वह एक ऐसे समुदाय-प्रकार का उदाहरण थी जो समस्त इस्लामी जगत्, बल्कि पाश्चात्य ईसाई जगत् के अन्दर, जिसमे यहूदी दायसपोरा फैल गया था, एक मानक-प्रकार (स्टैंडर्ड टाइप) बन गया था। इसलिए आसानी से यह पूछा जा सकता है कि क्या यहूदी समुदाय और पाश्चात्य ईसाई जगत् के बीच के इस दुःखद संघर्ष के निराले सामाजिक परिवेश के अन्दर पाश्चात्य कक्ष मे भी उतनी ही विशिष्टताए नही है जितनी यहूदी पक्ष मे पायी जाती हैं? और जब हम यह सवाल करते है तब हम देख सकते हैं कि पाश्चात्य इतिहास

की धारा तीन ऐसे प्रसंगों में निश्चय ही निराली थी जिनका यहूदी पाश्चात्य सम्बन्धों के इतिहास के लिए औचित्य है। पहिली बात तो यह है कि पाश्चात्य समाज ने स्वयं ही अपने को भौगोलिक दृष्टि से विच्छिन्न ग्राम्य-राज्यों के रूप मे ग्रन्थिल बना लिया। दूसरी बात यह कि उसने अपने को धीरे-धीरे कृषकों एव जमीदारो के अति-ग्राम्य समाज से कारीगरों एव बुर्जुवाओ (पूंजीजीवी वर्गों) के अति-नगरी या (ultra-urban) समाज मे रूपान्तरित कर लिया। तीसरी बात यह हुई कि यह राष्ट्रवादी और मध्य-वर्गीय मानस वाला उत्तरकालीन पाश्चात्य समाज अपने मध्यकालिक अध्याय की आपेक्षिक धूमिलता से निकला और तेजी से आकर समस्त शेष जगत पर छा गया।

सामी विरोधवाद (अरबों और यहूदियों का विरोध) और एक विशेष क्षेत्र के समस्त अधिवासियो को अपने अंक मे लेने वाले सजातीय समाज के ईसाई आदर्श के बीच जो आन्तरिक सम्बन्ध था वही आइबेरी (आइबेरियन) प्रायद्वीप के यहूदी दायसपोरा के इतिहास मे अपने को व्यक्त करता है।

ज्योंही रोमी और विजीगाथी (Visigothic=पश्चिमी गाथिक) समाजो के बीच की खाई (५८७ ई मे) दूसरे के एरियन से कैथलिक ईसाई मत स्वीकार कर लेन के कारण भर गयी त्योंही विजीगाथिया मे संयुक्त ईसाई समाज तथा परिणामत: अधिक स्पष्टता मे व्यक्त निराली यहूदी मिल्लत के बीच खिंचाव पैदा होने लगा। यह क्षोभ-वृद्धि यहूदी-विरोधी अनेक कानूनो मे प्रकट हुई और जब इसके विरुद्ध गुलामों की उनके स्वामियो से रक्षा करने के लिए विजीगाथी कानून मे साथ-साथ बढ़ती हुई मानवीय भावना को देखते हैं तो दु ख होता है। परन्तु एक ओर नैतिक रूप से ऊपर उठती और दूसरी ओर नैतिक रूप मे नीचे गिरती कानून-मालिकाए राज्य पर चर्च के प्रभाव की द्योतक है। ऐसी परिस्थिति में यहूदियो ने अन्तत. उत्तरी अफ्रीका के अपने सहधर्मियो से मुस्लिम अरबो का हस्तक्षेप प्राप्त करने के लिए साठ-गाठ की। इसमे कोई सन्देह नही था कि इस निमन्त्रण के बिना भी अरब तो आते ही। जो भी हो, वे आये। प्रायद्वीप मे पाच सौ वर्षों के मुस्लिम शासन (७११-१२१२ ई) का आरम्भ हुआ। इस शासन के अधीन स्वायत्त यहूदी दायसपोरा कोई निराला समुदाय नही था।

आइबेरी (आइबेरियन) प्रायद्वीप के अरबों-द्वारा विजय कर लेने का सामाजिक प्रभाव यह हुआ कि अपने सीरियाई जगत् से विजेता (अरब) समाज का क्षैतिज रूप से ग्रन्थिल (horizontally articulated) जो ढाचा लाये थे उसके पुन:स्थापन-द्वारा यहूदी समाज शान्ति से रहने लगा। किन्तु मुस्लिम शक्ति के पतन के बाद प्रायद्वीप मे यहूदी दायसपोरा के कल्याण का अन्त हो गया क्योंकि जिन मध्यकालीन कैथलिक ईसाई बर्बर विजेताओ ने अन्दुलेशिया के उम्मायद खलीफाओ के राज्यक्षेत्र पर अधिकार कर लिया वे एक सजातीय ईसाई राष्ट्रमण्डल (कामनवेल्थ) के आदर्श के प्रति निवेदित थे, और १३९१ ई. तथा १४९७ ई. के बीच यहूदियों को या तो निर्वासन स्वीकार करना पड़ा या फिर विवशत: अपना धर्म बदलकर ईसाई हो जाना पड़ा।

सामुदायिक सजातीयता का आदर्श, जो अपने बीच रहने वाले यहूदी विदेशियों के प्रति पाश्चात्य ईसाई समुदाय की निराली असत्कारशीलता का राजनीतिक प्रयोजन था, आगे समय के साथ होने वाली आर्थिक एवं सामाजिक घटनाओं से दृढ़ ही होता गया।

पाश्चात्य समाज का जन्मस्थान यूनानी जगत् का एक ऐसा दूरवर्ती क्षेत्र था जहा यूनानीवाद की नागरी सस्कृति अपनी जड जमाने मे असफल हो चुकी थी। रोमन साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तो मे आदिकालिक कृषि की नींव पर नगरी जीवन का जो अधिनिर्माण खड़ा किया गया था वह प्रेरणादायी होने के स्थान पर उलटे एक दुःस्वप्न सिद्ध हुआ, और जब यह विजातीय रोमन-निर्मित ढाचा अपने ही भार से बैठ गया तो पश्चिम फिर उसी निम्न आर्थिक स्तर पर जा गिरा जिस पर यूनानीवाद-द्वारा अपने को अप्पेनाइन के परे या ताइरीन सागर के उस पार फैलाने के प्रयत्न के पूर्व पडा था। इस निराली आर्थिक बाधा के दो परिणाम हुए। पहिली अवस्था मे पाश्चात्य ईसाई जगत् में एक ऐसे यहूदी दायसपोरा का प्रवेश हो गया जिसने वहा के ग्रामीण समाज को न्यूनतम व्यापारिक अनुभव तथा संगठन का लाभ देकर पश्चिम मे अपने जीवन-निर्वाह का उपाय निकाल लिया था। ऐसे न्यूनतम व्यापारिक अनुभव तथा सगठन के बिना रूरीतेनिया (ग्राम्यसमाज) भी नही जी सकती थी और अब तक वह अपने साधनो से उसे प्रस्तुत करने मे असमर्थ थी। द्वितीयावस्था मे पाश्चात्य ईसाई मूर्तिपूजक (Gentiles) लाभदायक यहूदी कलाओं मे दक्षता प्राप्त करके अपने ही यहूदी बन जाने की महत्त्वाकाक्षा से प्रेरित हो उठे।

युगो के प्रवाह मे इस यहूदी आर्थिक प्रयोजन पर पाश्चात्य मूर्तिपूजको की इच्छाशक्ति के दानवी केन्द्रीकरण का सनसनीजनक पुरस्कार प्राप्त हुआ। ईसाई सवत् की बीसवी शती तक आर्थिक कुशलता के लक्ष्य की ओर अपनी लम्बी यात्रा मे चलते हुए पाश्चात्यो के कारवा के पूर्वी पृष्ठरक्षी भी एक ऐसे रूपान्तरण से गुजर रहे थे जो एक हजार साल पहिले ही उस आन्दोलन क उत्तरी इतालवी और फ्लेमी (फ्लेमिश) अग्रगामियो द्वारा सिद्ध किया जा चुका था और जिसे समान औचित्य के साथ या तो 'आधुनिकीकरण' या 'यहूदीकरण' कहा जा सकता है। पाश्चात्य इतिहास मे इस सामाजिक आधुनिकता की उपलब्धि का लक्षण एक ऐसे एन्तोनियो वर्ग का उद्‌भव था जो खुद ही शाइलाक का सारा काम करने के योग्य होने के कारण उसे निकाल बाहर करने को उत्सुक था।

यहूदियो एवं पाश्चात्य मूर्तिपूजको के बीच की इस आर्थिक लड़ाई का नाटक तीन अको तक चलता रहा। पहिले अक मे यहूदी उतने ही लोकप्रिय थे जितने कि अपरित्याज्य थे। किन्तु उनके प्रति किया जाने वाला दुर्व्यवहार इसलिए सीमित था कि उनके मूर्तिपूजक पीड़को का काम आर्थिक दृष्टि से बिना उनके चल नही पाता था। दूसरा अक एक के बाद दूसरे पाश्चात्य देशो मे तब खुलता है जबकि उदीयमान मूर्तिपूजक पूजीजीवी पर्याप्त अनुभव, कौशल एव पूजी प्राप्त करके इस योग्य हो जाता है कि स्थानीय यहूदी का स्थान छीन ले। तब उस स्थिति मे जिस पर इगलैण्ड तेरहवी,

स्पेन पन्द्रहवी और पोलैण्ड तथा हगरी बीसवी शती मे पहुचे—मूर्तिपूजक पूजीजीवी अपने यहूदी प्रतिस्पर्द्धियों के निष्कासन के लिए अपनी नवीनाजित शक्ति का प्रयोग करता है। तीसरे अक मे भलीभाति प्रतिष्ठित हो चुका मूर्तिपूजक पूजीजीवी यहूदी आर्थिक कलाओ मे इतना प्रवीण हो जाता है कि यहूदी प्रतिस्पर्द्धा मे गिर जाने का परपरागत भय उसे नही रह जाता और इसीलिए मूर्तिपूजक राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की सेवा मे यहूदी योग्यता की पुनर्नियुक्ति-द्वारा आर्थिक लाभ उठाने से अब वह विरत नही होता। इसी भावना से टस्कन सरकार ने स्पेन एवं पुर्तगाल से आने वाले प्रच्छन्न यहूदी (Crypto Jewish) शरणार्थियो को १५९३ ई. मे और उसक बाद लेगहार्न मे बसने की अनुमति दे दी, हालैण्ड ने तो १५७९ ई. मे ही अपने दरवाजे उनके लिए खोल दिये थे; और जिस इगलैण्ड ने १२९० ई. मे अपने यहां के यहूदियो को निकाल बाहर करने की दृढ़ता अपनायी थी उसने १६५५ ई मे पुन उनको प्रवेश की इजाजत दे दी।

पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक युग मे यहूदियो को इस प्रकार आर्थिक मताधिकार मिल जाने के बाद उन्हे बडी तेजी के साथ सामाजिक एव राजनीतिक मताधिकार भी प्राप्त हो गया, जो पाश्चात्य ईसाई जगत् मे समकालीन धार्मिक और वैचारिक क्रान्ति होने का परिणाम था। प्रोटेस्टेण्ट रिफार्मेशन ने सयुक्त कैथलिक चर्च के विरोधी मोर्चे को तोड दिया और सत्रहवी शती के इगलैण्ड एवं हालैण्ड मे शरणार्थी यहूदियो का इन प्रोटेस्टेण्ट देशो के रोमन कैथलिक शत्रुओ द्वारा पीडित लोगो के रूप म स्वागत किया गया। तदनन्तर सभी यहूदियो को कैथलिक एव प्रोटेस्टेण्ट देशो मे सहिष्णुता का उदय होने का लाभ प्राप्त हुआ। १९१४ ई तक मानव-कार्य-कलाप के सभी क्षत्रो मे यहूदियो की सरकारी तौर पर मुक्ति बहुत पहिले ही घटित एक तथ्य बन चुकी थी। और यह बात इस समय लुप्त पोलैण्ड-लिथवेनिया के सयुक्त राज्य (United Kingdom) के उन क्षेत्रो को छोडकर जो छीनकर रूसी साम्राज्य मे मिला लिये गये थे, आधुनिक पाश्चात्य जगत् के सम्पूर्ण प्रान्तो के लिए सत्य थी। इस स्थिति मे ऐसा लग रहा था कि यहूदी एव ईसाई समुदायो के परस्पर-मिश्रण और स्वेच्छापूर्ण एकीकरण से यहूदी समस्या हल हो जायगी। किन्तु ये आशाए मिथ्या सिद्ध हुई। अभी तक जो तीन अंक का सुखान्त नाटक लग रहा था उसका शीघ्र ही चौथा अक आरम्भ हो गया जो उसके पहिले के सब दृश्यो से भयानक था। तब क्या गलती हो गयी ?

एक विक्षेप तो यह था कि यद्यपि पाश्चात्य मूर्तिपूजको और यहूदियों के बीच की कानूनी दीवार सरकारी तौर पर हटा दी गयी थी किन्तु उनके बीच की मनोवैज्ञानिक बाड बनी रही। अब भी एक अदृश्य मुहल्ला (ghetto) ऐसा था जिसके अन्दर पाश्चात्य मूर्तिपूजक यहूदी को बन्द रखे हुए था और खुद यहूदी भी इस पाश्चात्य मूर्तिपूजक से अपने को अलग रखे जा रहा था। सरकारी तौर पर तो समाज सयुक्त था किन्तु इस सयुक्त समाज के अन्दर यहूदी अपने को अनेक सूक्ष्म रूपो मे एक बहिष्कृत व्यक्ति पाता था, दूसरी ओर मूर्तिपूजक भी फ्रीमैसनरी यहूदी को अपना प्रतिस्पर्द्धी पाता था—फ्रीमैसनरी यहूदी जो खुद तो उस सब लाभ को उठाने को उत्सुक

था किन्तु दूसरों को देने को रजामन्द न था जो एक सयुक्त समाज के सभी सदस्यो को मिलना चाहिए था। दोनो दल दो प्रकार का आचरण करते रहे—अपनी जाति के लोगों के साथ व्यवहार करने मे उच्चतर मानक का, और कल्पना-जगत् मे टूट गयी सामाजिक बाड़ के उस पार के नाम के नागरिक बन्धुओं के साथ भिन्न मानक का। और अनीति के पुराने पाप पर पाखण्ड के इस आवरण ने प्रत्येक पक्ष की दृष्टि में दूसरे पक्ष को और हेय, पर पहिले से कम भयजनक, बना दिया। इससे परिस्थिति दोनो दलो के लिए और उत्तेजक, किन्तु कम कष्टकर हो गयी।

जहा कही भी स्थानीय आबादी मे मूर्तिपूजक के साथ यहूदी तत्त्व के अनुपात मे ज्यादा तेजी से वृद्धि हुई वही सामी विरोधवाद (ऐण्टी-सेमिटिज्म) के पुन. प्रकोप-द्वारा दोनों समुदायो के बीच के सम्बन्ध की अनिष्टकरता प्रकट हो गयी। रूसी उत्पीडन के दबाब के कारण १८८१ ई. से ही रूसी साम्राज्य के पूर्व पोलिश-लिथवेनियन क्षेत्रो से यहूदी प्रवासी लन्दन एव न्यूयार्क मे आने लगे थे इसलिए इन दोनो नगरों मे १९१४ ई तक यह प्रवृत्ति दिखलायी पडने लगी। और प्रथम विश्व महायुद्ध के जमाने मे गैलीशिया, 'काग्रेस पोलैण्ड' और सीमा या बाडे (The Pale) के पूर्वी प्रान्तो से यहूदी देशान्तरवासियो की सख्या मे वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप १९१८ ई. के बाद जर्मन आस्ट्रिया तथा जर्मन रीख मे वह प्रवृत्ति और विषाक्त हो गयी। किन्तु जिन शक्तियो ने जर्मन राष्ट्रीय समाजवादियो (German National Socialists) को सत्ता तक पहुचाया उसमे यह जर्मन सामी-विरोध सबसे सक्षम था। बाद मे जर्मन राष्ट्रीय समाजवादियो-द्वारा किये गये यहूदियो के 'नर-सहार' (Genocide) पर यहा विस्तार से लिखने की आवश्यकता नही है। तथ्य उतने ही विख्यात है जितने भयावह है और राष्ट्रीय पैमाने पर ऐसे दौर्जन्य का प्रदर्शन करते है जिसका आज तक के इतिहास मे दूसरा उदाहरण नही है।

आधुनिक पाश्चात्य राष्ट्रवाद ने पाश्चात्य जगत् के यहूदी दायसपोरा पर दो बाजुओ से एक साथ हमला किया एक ओर तो उसने पाश्चात्य यहूदियो को ठीक उसी समय अपने आकर्षण मे खीचा जब कि वह दूसरी ओर उन्हे अपने दबाव से अपनी एक अलग राष्ट्रीयता आविष्कृत करने को प्रेरित करता रहा—जिसे हम उन्नीसवी शती के उदारतावाद के पहिले के युग से सम्बद्ध और यहूदियो के लिए सुरक्षित पाश्चात्यकरण के व्यक्तिगत रूप के विपरीत पाश्चात्यकरण का सामूहिक रूप कह सकते हैं। व्यक्ति यहूदी को यहूदी धर्म मानने वाले पाश्चात्य पूजीजोवी के रूप में परिवर्तित करने के पाश्चात्यकरण के आदर्श की भाति किसी ग्राम्य राष्ट्र-राज्य (nation state) में एक मात्र तथा सजातीय यहूदी आबादी वाले यहूदी दायसपोरा को केन्द्रित करने का यह दूसरा आदर्श, अथवा उसका कोई अश, इस बात का प्रमाण था कि पाश्चात्य यहूदी समुदाय की मुक्ति पर्याप्त रूप मे इतनी यथार्थ तो थी ही कि प्रचलित पाश्चात्य आदर्शों के प्रभाव की ओर उन्हे प्रेरित कर सके। किन्तु इसके साथ ही, अपने ही प्रवर्त्तक थियोडोर हर्जल के शब्द-प्रमाण (testimony) के अनुसार जियनवाद (Zionism=नवयहूदीवाद) इस चिन्ता का भी प्रमाण था कि कही व्यक्तिगत स्वीकरण (assimilation) का मार्ग

पाश्चात्य मूर्तिपूजको मे उदारतावाद के स्थान पर तेजी से बढ़ते हुए राष्ट्रवाद-द्वारा उनके लिए फिर न बन्द कर दिया जाय। १९१८ के पहिले के आस्ट्रियन साम्राज्य के जर्मन-भाषी प्रदेशों वाले एक ही भौगोलिक क्षेत्र मे यहूदी जियनवाद और जर्मन नव-सामी विरोधवाद (Neo-Antisemetism) का एक के बाद एक उठ खड़ा होना शायद कोई आकस्मिक घटना नही है।

इतिहास की समस्त काली प्रवचनाओ मे कोई मानव स्वभाव पर उससे ज्यादा अशुभ प्रकाश नही डालती जितना यह तथ्य डालता है कि अपनी जाति के भयकर अन्यायो की पीडा सहन कर लेने के अनन्तर तुरन्त ही नयी शैली के राष्ट्रवादी यहूदियो ने उस अपराध से दूर रहने की जगह, जिसके वह खुद शिकार रह चुके थे, अपनी बारी अपने से दुर्बल जाति पर ठीक वही अत्याचार—अपराध करना शुरू कर दिया। उन्होने फिलिस्तीन (पैलेस्टाइन) के अरबो पर वही अत्याचार शुरू कर दिये। उन अरबो का एकमात्र अपराध यही था कि फिलिस्तीन उनके पूर्वजो का घर था, नाजियो के हाथ यहूदियो को जिस प्रकार की पीडाए सहनी पड़ी थी उनसे उन्होने कोई सबक नही लिया बल्कि वही सब खुद भी करने लगे। हा, इसरायली यहूदियो ने इतना जरूर नही किया कि नाजियो की भाति फिलिस्तीनी अरबो को निर्मूल करके बन्दी शिविरो एव गैस-चैम्बरो म डाल देते। किन्तु उन्होंने अधिकाश से, पाच लाख से अधिक अरबो स, उनकी वे जमीनें छीन ली जिन्हें वे और उनके बाप-दादे पीढियो से अपने कब्जे मे रखते और जोतते आये थे। उन्होने उनकी वह सब सम्पत्ति ले ली जो वे बेचारे भागते हुए अपने साथ ल जाने मे असमर्थ थे और इस प्रकार उन्हे विस्थापित व्यक्तियो के रूप मे, भयंकर दैन्य मे डाल दिया।

जियोनी प्रयोग के फलस्वरूप, इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे व्यक्त यह दृष्टिबिन्दु प्रमाणित हो गया कि पाश्चात्य मूर्तिपूजको ने अपने मध्य रहने वाल यहूदियो के विषय मे अरसे से जिस 'यहूदी' स्वभाव की धारणा बना रखी थी वह उत्तराधिकार मे प्राप्त उनका कोई विशिष्ट जातिगत दान नही था वर पाश्चात्य जगत् के बीच यहूदी दायसपोरा की विचित्र परिस्थिति का परिणाम था। जियोनवाद का विरोधाभास यह था कि एक विशुद्ध यहूदी समुदाय का निर्माण करने के अपने दानवी यत्न के साथ ही वह पाश्चात्य मूर्तिपूजको की दुनिया मे भी यहूदियो के मिश्रण या स्वीकरण के लिए उतना ही प्रभावकारी प्रयत्न कर रहा था जितना कि वह यहूदी व्यक्ति करता था जो यहूदी धर्म वाला पाश्चात्य पूजीजीवी या एक पाश्चात्य पूजीजीवी नास्तिक (Agnostic) बनना पसन्द करता था। ऐतिहासिक यहूदी समाज दायसपोरा के रूप मे था और उनकी निजी यहूदी विशिष्टताएँ और परपराए—मूसाई कानूनो के प्रति सूक्ष्म निष्ठा तथा व्यापार एव वित्त मे पक्की कलाप्रवीणता—वे थी जिन्हे दायसपोरा ने, युगो के प्रवाह मे, एक ऐसे सामाजिक कवच का रूप दे दिया था जिसके कारण भौगोलिक रूप से विच्छिन्न इस समुदाय मे अतिजीविता (survival) की जादुई क्षमता उत्पन्न हो गयी थी। उदार एव जियोनी दोनो विचारो के उत्तरकालीन यहूदी पाश्चात्यकारक (Westernizers) एक समान ऐतिहासिक अतीत से विच्छिन्न होते जा रहे थे, और जियोनवाद

का अलगाव इन दोनो से कही ज्यादा कठोर था। उन आधुनिक पाश्चात्य प्रोटेस्टेण्ट ईसाई अग्रगामियों की भांति जिन्होने संयुक्त राज्य (अमेरिका), दक्षिण अफ्रीका यूनियन तथा आस्ट्रेलिया राष्ट्रमंडल (कामनवेल्थ) का निर्माण किया था, किसी भूमि पर स्थिर रूप से बसकर एक नवीन राष्ट्र का निर्माण करने के लिए सामूहिक रूप से दायसपोरा का त्याग करने में जियोनवादी उसी मूर्तिपूजको वाले सामाजिक वातावरण मे निमग्न हो रहे थे। और जहा तक उनके अपने धर्मग्रन्थों से प्रेरणा लेने की बात है, यह प्रेरणा न तो उन्हें मूसाई कानून से, न नबियों से वर 'बुक्स आव एक्जोडस' (बहिर्गमन पुस्तक) के आख्यानों तथा जोशुआ से प्राप्त हुई थी।

इस भावना से उद्धतता और उत्साह के साथ उन्होंने अपने को दिमागी काम करने वालो की जगह शरीर-श्रमिको मे, नगरवासी की जगह ग्रामीणो मे, मध्यस्थो की जगह उत्पादको मे, धनपति की जगह कृषको में, दुकानदारों की जगह योद्धाओ तथा शहीदो की जगह आतकवादियो मे बदलना शुरू कर दिया। अपनी पुरानी भूमिकाओ की भांति ही, इस नयी भूमिका मे भी, उन्होने चीमडपन और लोच का परिचय दिया। किन्तु इसराइलियो, जैसा कि फिलिस्तीनी यहूदी अपने को कहते है, के लिए भविष्य के गर्भ मे क्या है, इसे भविष्य ही बता सकता है। इर्द-गिर्द की अरब जातिया अनाहूत आगन्तुक या अतिक्रमी (intruder) को अपने बीच से बाहर निकालने पर तुल-सी गयी, और 'उत्पादक अर्द्धचन्द्र' (The Fertile Crescent) की ये अरब जातिया इसराइलियों से सख्या मे बहुत ज्यादा थी, फिर भी, फिलहाल, संख्या मे उनकी श्रेष्ठता ऊर्जा एवं कुशलता में उनकी हीनता के नीचे दब गयी।

फिर बात यह भी है कि अब सारे सवाल विश्व के सवाल बन गये है। सोवियत सघ और संयुक्त राज्य (अमेरिका) के मध्यपूर्वीय स्वार्थ किस पक्ष मे होगे? यह है सवाल। जहा तक सोवियत सघ का सम्बन्ध है, किसी भी उत्तर की भविष्यवाणी करना कठिन है। जहां तक संयुक्त राज्य (अमेरिका) का सम्बन्ध है, आज तक उसकी फिलिस्तीनी नीति का निर्णायक तत्त्व रहा है- -सख्या, सम्पत्ति और प्रभाव मे आबादी के यहूदी और अरब तत्त्वो के बीच की विषमता। अमेरिकी यहूदियो की तुलना मे अमेरिकी अरबो की सख्या लगभग नगण्य है, भले ही उनमे लेबनानी ईसाई उद्गम के लोगो को भी शरीक कर लिया जाय। अमेरिका के नागरिक जीवन मे यहूदीदल जो शक्ति रखता है वह उसकी सख्या के अनुपात मे कम नही है, क्योंकि वे न्यूयार्क नगर मे ही केन्द्रित है, और अमेरिका की स्थानीय राजनीति मे वोटो के लिए जो प्रतियोगिता है उसकी दृष्टि से वह एक प्रमुख राज्य का प्रमुख नगर है। किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के अन्त के बाद के नाजुक वर्षों में सयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने इसराइल को जो दूरव्यापी सहायता दी वह विद्वेषी मूर्तिपूजक अमेरिकी राजनीतिज्ञों के अनुमानो के आधार पर नही वरं अनासक्त एव आदर्शवादी, यद्यपि संभवतः कुसूचित, लोकभावना का ही प्रतिबिम्ब है। अमेरिकी लोगो ने नाजियो के हाथ यूरोप मे पीड़ित यहूदियो की पीडा के अन्दर प्रवेश किया और समझा क्योंकि दूसरे बहुतेरे यहूदी उनके नित्य के जीवन की परिचित मूर्तियो मे थे, जबकि फिलिस्तीनी अरबो की पीड़ाओ को उन तक पहुंचाने

वाले परिचित अरबों का वहां अभाव था और अनुपस्थित व्यक्ति सदा गलत होते हैं।

६. आधुनिक पश्चिम तथा सुदूरपूर्वीय एवं देशज अमेरिकी सभ्यताएं

अब तक हम आधुनिक पश्चिम के साथ जिन जीवित सभ्यताओं के सघर्षों का सर्वेक्षण करते रहे है उन सब मे पश्चिमी समाज की आधुनिक अवस्था के सघात के कारण जो परिवर्तन का आरम्भ हुआ उसके पहिले ही उनको पश्चिम के इस समाज का अनुभव हो चुका था। यह बात हिन्दू समाज तक के सम्बन्ध में भी सत्य है, यद्यपि पश्चिम से उसका ससर्ग बहुत ही क्षीण रहा था। इसके प्रतिकूल अमेरिका के देशों मे पश्चिम के अस्तित्व का ज्ञान ही न था। इसी प्रकार चीन और जपान को भी उनका उस क्षण तक कोई ज्ञान न था जबतक कि आधुनिक पाश्चात्य अग्रगामी नाविक उनके तटों पर नही पहुच गये। इसका परिणाम यह हुआ कि पश्चिम के दूतों का आरम्भ मे बिना किसी सन्देह के स्वागत किया गया, वे लोग जो कुछ अपने साथ ले गये थे उनमें नवीनता का आकर्षण भी था। किन्तु बाद मे दोनों कहानियों ने तेजी से एक दूसरे के प्रतिकूल मोड़ ले लिया। एक कठिन स्थिति को सुलझाने में सुदूरपूर्वीय सभ्यताएं जितनी ही सफल हुईं अमेरिकी सभ्यताएं उतनी ही असफल हो गयी।

मध्य अमेरिकी एव एंदियाई (एडियन) दुनियाओं के स्पेनी विजेताओं ने शस्त्र-बल मे अपने अल्प साधन वाले सशयहीन आखेटों पर तुरन्त अधिकार कर लिया। उन्होंने आबादी के उन तत्त्वो को लगभग निर्मल कर दिया जो देशी संस्कृति के पुज थे, उन्होंने उनके स्थान पर अपने को एक विजातीय प्रभुत्वशील अल्पमत के रूप मे स्थापित कर लिया और देहाती आबादी को पाश्चात्य ईसाई समाज के अन्त -श्रमजीवियो की हैसियत मे लाकर छोड दिया। इसके लिए उन्होने उनके श्रम को इस शर्त पर स्पेनी धर्मार्थिक (Economico-Religious) ठेकेदारो (entrepreneurs) के सुपुर्द कर दिया कि ये कृषक-मिशनरी अपने उन श्रमिको को रोमन कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय मे धर्मान्तरित करना भी अपने ही कर्त्तव्य का अग बना लेगे। इतना होने पर भी, इस पुस्तक के लिखने के समय तक, यह निश्चित नही माना जा सकता कि जिस प्रकार हजार वर्षों की यूनानी परतन्त्रता के बाद सीरियाई समाज पुनः सामने आ गया और अपने को पुनर्गठित कर लिया उसी प्रकार अन्ततोगत्वा देशी संस्कृतिया किसी न किसी रूप मे फिर अवतीर्ण न हो उठेंगी।

दूसरी ओर अपने प्रारंभिक अज्ञान के कारण चीन और जपान के दो सुदूर-पूर्वीय समाज जिस साघातिक संकट में पड गये थे उसको वे पार कर गये। उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता को तराजू पर तौला, उसे न्यून पाया, उसे निकाल फेंकने का निश्चय किया और उससे सम्पर्क न रखने की एक निर्दिष्ट नीति को कार्यान्वित करने के लिए आवश्यक शक्ति का संग्रह करने की व्यवस्था की। किन्तु, जैसा कि बाद मे मालूम हुआ, कहानी का अन्त इस प्रकार नही हुआ। जिस रूप में पश्चिम ने अपने को पहिले उनके सामने रखा था उस रूप मे पश्चिम से अपने सम्बन्ध तोड लेने के बाद चीनियो और जपानियों ने अपनी पाश्चात्य समस्या को सदा के लिए छोड़ नही दिया। तिरस्कृत पश्चिम ने बाद में अपने को रूपान्तरित कर लिया और उसने अपने को पूर्वी एशियाई

हृदय-पट पर पुनः पेश किया—इस बार वह प्रधान उपहार के रूप मे अपना धर्म लेकर नही वर अपनी प्रौद्योगिकी को लेकर उपस्थित हुआ। अब सुदूरपूर्वीय समाजों के सामने यह समस्या आ गयी कि या तो वे इस नवनिर्मित पाश्चात्य प्रौद्योगिकी पर अधिकार स्थापित करे या फिर उसके हाथ मे अपने को समर्पित कर दे।

इस सुदूरपूर्वीय नाटक मे चीनियो और जपानियो, दोनों, ने कुछ बातों मे एक समान और कुछ बातो मे विभिन्न ढगों पर आचरण किया। सदृशता का एक महत्त्वपूर्ण बिन्दु यह था कि द्वितीय अक मे धर्म-निरपेक्ष आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति का स्वागत-कार्य चीन एव जपान दोनों मे नीचे से ऊपर की ओर आरम्भ हुआ। रूस की पीटरी जारशाही के प्रतिकूल चीन के मचू साम्राज्य एव जपान के तोकूगावा शोगुन शासन दोनो एक समान पहल करने मे असफल रहे। परन्तु इस अक के अगले दृश्य मे, चीन के विपरीत, जपान ने पीटरी प्रणाली को स्वीकार कर लिया, जबकि प्रथम अंक मे अर्थात् सोलहवी शती के संघर्षों मे दोनो सुदूरपूर्वीय समुदायो ने शुरू मे ही विभिन्न मार्ग अंगीकार किये थे। उन्होंने अपने सोहलवी-सत्रहवी शती के धार्मिक रूप मे आने वाली आधुनिक पाश्चात्य सस्कृति का जो अस्थायी स्वागत और फिर तिरस्कार किया था उसमे हम देखते हैं कि चीन मे आरम्भ से अन्त तक पहल ऊपर से नीचे की ओर हुई, जबकि जपान मे वह नीचे से ऊपर की ओर हुई थी।

यदि हम आधुनिक पश्चिम के प्रति दोनों सुदूरपूर्वीय समाजो की पिछली चार शतियो मे होने वाली प्रतिक्रियाओ को ग्राफ के रूप मे बनाये तो हम देखेंगे कि चीनी की अपेक्षा जपानी वक्ररेखा काफी तीव्र है। दोनों अवसरो पर पाश्चात्य सस्कृति के प्रति आत्मसमर्पण करने मे अथवा वैदेशिक जुगुप्सा के मध्यान्तर काल मे अपने को सरोधित (insulated) करने मे कभी चीनी उतनी दूर तक नही गये जितनी दूर तक जपानी गये।

सोलहवी-सत्रहवी शतियो के मोड पर आते-आते जपान, जिसका राजनीतिक एकीकरण तब भी अपूर्ण था, के सामने विजातीय स्पेनी विजेताओ (Conquistadores) के निर्दय हाथों सागर के पार से, उस पर राजनीतिक एकता थोपे जाने का सकट आ उपस्थित हुआ। १५६५-७१ में स्पेनियों-द्वारा फिलीपाईंस और १६२४ ई मे डचों-द्वारा फारमोसा पर प्रभुत्व उस भाग्य के पदार्थ-पाठ के समान था जो जपान के हिस्से मे घटित होने वाला था। इसके प्रतिकूल चीन के विशाल उपमहाद्वीप को उस युग के समुद्री डाकुओ के आगमन मे विशेष भय का कोई कारण नही था क्योकि ऐसे यत्रसुविधा-रहित समुद्री लुटेरे चाहे जितनी भी परेशानी पैदा करने वाले हो किन्तु वे कोई प्रभविष्णु विजेता नही थे। उस समय की चीनी सम्राट-सरकार के लिए गभीर चिन्ता का कारण पैदा करने वाला खतरा तो यूरेशीय स्टेप्पी से जमीन के रास्ते पैदा होने वाला आक्रमण था, और जब सत्रहवी शती के बीच मिंग राजकुल की जगह तेजस्वी अर्द्ध-बर्बर मचुओ ने ले ली तो अगले दो सौ वर्षों तक महाद्वीप के अन्दर मे फिर कोई खतरा चीन पर नहीं आ सका।

चीन और जपान की भौगोलिकीय राजनीतिक परिस्थितियो मे यह जो अन्तर

है उसी मे यह बात बहुत दूर तक स्पष्ट हो जाती है कि क्यों चीन में रोमन-कैथलिक ईसाई धर्म का निपीडन सत्रहवी शती के अन्त तक स्थगित रहा और जब वह आरम्भ भी हुआ तो किसी राजनीतिक भीति एव शंका का नहीं, वर एक धार्मिक विवाद का परिणाम था। इसके प्रतिकूल जपान मे रोमन-कैथलिक ईसाई सम्प्रदाय का निपीडन बडी फुर्ती और निर्दयता के साथ शुरू हुआ और उसने अन्त मे जपान तथा पाश्चात्य जगत् के बीच सम्पर्क के लिए केवल एक मात्र डच सूत्र को छोड और सब सम्पर्क-साधन काट दिये। नवस्थापित केन्द्रीय जपानी शासन ने एक के बाद एक जो मुष्टिका-प्रहार किये उनका आरम्भ हिदेयोशी-द्वारा १५८७ ई. में प्रचारित अध्यादेश (ordinance) से ही हो गया था। इस अध्यादेश-द्वारा समस्त पाश्चात्य ईसाई धर्मप्रचारकों को निर्वासित कर देने की आज्ञा दी गयी थी। इसकी परिणति १६३६-३९ के उस अध्यादेश में हुई जिसके द्वारा जपानी प्रजा को समुद्र के बाहर विदेश जाने तथा पोर्च्युगीजों के जपान मे रहने पर रोक लगा दी गयी थी।

चीन की भांति जपान मे भी पृथक्करण या असम्पर्कत्व की नीति का विसर्जन नीचे से ऊपर की ओर हुआ। इसके मूल में आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिक ज्ञान का फल चखने की भूख थी। १८५३ मे तथा रक्षित जपान के द्वारोद्घाटन के कुछ ही पूर्व, १८४०-५० के अभिनिषेध (proscription) से प्रौद्योगिकी में अपने विश्वास के कारण आन्दोलन के अनेक अग्रजो को शहीद होना पडा। जपान में आन्दोलन बिल्कुल धर्म-निरपेक्ष था। उसके प्रतिकूल चीन का उन्नीसवी शती का समानुवर्त्ती आन्दोलन उन प्रोटेस्टेण्ट ईसाई मिशनरियों की क्रियाशीलता से पूर्ण था जो ब्रिटिश एव अमरीकी विक्रेताओ के साथ वहा आते थे, ठीक वैसे ही जैसे उनके पोर्च्युगीज अग्रजो के साथ जपान मे रोमनकैथलिक धर्मप्रचारक आते रहे थे। परन्तु चीन मे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्म-प्रचारकों का यह प्रभाव आगे भी चलता रहा। काउ-मिन-ताग के संस्थापक सन-यात-सेन स्वय प्रोटेस्टेण्ट ईसाई धर्म मे नवदीक्षित पिता के पुत्र थे। मदाम सन-यात-सेन, उनकी बहिन मदाम च्याग-काई-शेक, और उनके भाई टी वी मुग इत्यादि के रूप मे एक दूसरे प्रोटेस्टेण्ट ईसाई चीनी परिवार ने काउ-मिन-तांग के बाद के इतिहास में बड़ा प्रधान अभिनय किया है।

पाश्चात्यकरण के जपानी एव चीनी दोनों आन्दोलनो को एक सुस्थापित देशी सर्वव्याप्त शासन नष्ट करके उसका स्थान लेने के विराट कार्य की पूर्ति करनी पड़ी किन्तु जपानी पाश्चात्यकारी चीनियों की अपेक्षा ज्यादा सावधान क्षिप्र एव कुशल थे। १८५३ ई मे जपानी क्षेत्रिक सागर (territorial waters) मे कमाडोर पेरी के स्क्वाडरन ने प्रवेश किया था। इसके पन्द्रह वर्ष के अन्दर ही उन्होने न केवल उस तोकूगावा शासन को उखाड फेंका जो समय के उपयुक्त अपने को ऊपर नहीं उठा सका था, बल्कि उससे कही ज्यादा कठिन एक दूसरा कार्य भी पूरा कर लिया। यह काम था पुराने शासन के स्थान पर एक ऐसे सक्षम एवं कुशल शासन की स्थापना, जो ऊपर से नीचे की ओर एक व्यापक पाश्चात्यकरण आन्दोलन का संचालन कर सके। चीनियों ने इसी कार्य के निषेधात्मक अर्द्धांश की पूर्ति में ११८ वर्ष लगा दिये · १७९३ ई. में

पेकिंग में लार्ड मैकार्टनी के दूतमण्डल का आगमन, पश्चिम की वृद्धिगत शक्ति का उससे कुछ कम महत्त्वपूर्ण प्रदर्शन नही था जितना ६० वर्ष बाद ईदो खाडी में कमाडोर पेरी का आगमन था। तिस पर भी चीन में प्राचीन शासन का उच्छेद १९११ के पूर्व सम्भव न हो सका और उसके बाद भी जो हुकूमत स्थापित हुई वह कोई प्रभावशील पाश्चात्यकारिणी नवव्यवस्था न थी बल्कि एक ऐसी अराजकता थी जिसे काउमिन-ताग चौथाई शती (१९२३-४८ ई.) मे नियंत्रित नही कर सका--यद्यपि यह सारा समय भावी उदार पाश्चात्यकारी आन्दोलन के लिए ही समर्पित था।

१८९४-९५ ई[1] मे चीन-जपान युद्ध छिडने से लेकर ५० वर्ष तक चीन पर जपान की सैनिक शक्ति की श्रेष्ठता के अनुपात मे ही इस भेद का माप किया जा सकता है। उस अर्द्धशती के बीच चीन सैनिक दृष्टि से जपान की दया पर निर्भर था, और यद्यपि इस सघर्ष की अन्तिम अवस्था में सम्पूर्ण चीन पर प्रभावकारी आधिपत्य स्थापित कर लेना जपान की शक्ति के बाहर की बात सिद्ध हुई किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट हो गया कि यदि जपानी युद्ध-यंत्र सयुक्त राज्य अमेरिका-द्वारा तोड न दिया जाता तो बिना दूसरों की सहायता के चीनी कभी जपानियो से अपने उन छीने हुए बन्दरगाहो, औद्योगिक क्षेत्रो तथा रेलो को पुन: न ले पाते जो चीन के पाश्चात्यकरण की कुजी रूप थे।

परन्तु जो भी हो, बीसवी शती के द्वितीयार्द्ध के आरम्भ मे जपानी खरगोश और चीनी कछुवा साथ-साथ लगभग एक ही सकटापन्न लक्ष्य पर पहुच गये। जपान सबसे महती पाश्चात्य शक्ति की सैनिक प्रभुता के चरणो मे निष्क्रिय-सा पडा हुआ था और चीन, क्रान्ति के मार्ग से अराजकता से निकलकर एक साम्यवादी शासन के लौह नियन्त्रण रूपी उसकी विलोम स्थिति में पहुच गया। हम उसे चाहे पाश्चात्य समझे या पाश्चात्य-विरोधी (इस अध्ययन मे इस विषय पर पहिले ही विचार किया जा चुका है) परन्तु हर हालत मे, सुदूरपूर्वीय संस्कृति की दृष्टि से यह एक विजातीय विचार-धारा थी।

इन दो सुदूरपूर्वीय समाजो और आधुनिक पश्चिम के बीच जो दूसरी टक्कर हुई उसकी प्रथमावस्था का ऐसा एक समान अनर्थपूर्ण अन्त होने का स्पष्टीकरण क्या है ? चीन और जपान दोनों में इस अनर्थ की जड उस बिना हल की हुई समस्या मे थी जो एशिया एव पूर्वी यूरोप के लिए उभयनिष्ठ थी और जिसका विचार हम हिन्दू जगत् पर पश्चिम के सघात के विवेचन मे पहिले ही कर चुके हैं। उस आदिकालिक कृषक जनसख्या पर पाश्चात्य सभ्यता के सघात का क्या प्रभाव पडने वाला था जो युगो से इतनी अधिक सन्तान का उत्पादन करने की अभ्यस्त थी कि किसी तरह उन्हे जीवित भर रखा जा सकता था, और जिसमें अब एक नवीन असन्तोष अन्तर्निविष्ट किया

[1] इस युद्ध के सम्बन्ध में 'पंच' में 'जप, दि जायण्ट किलर' (जपान, एक विराट मारक) नामक एक व्यंग्य-चित्र निकला था जिसमें उस समय की अंग्रेज जनता के सौहार्द-पूर्ण छिछोरे आचरण का चित्रण किया गया था।

आ रहा था पर जिसने अब तक इस तथ्य का सामना करना शुरू नहीं किया था कि आर्थिक समृद्धि की सभावनाएं एक आर्थिक, एक सामाजिक और सबके ऊपर एक मनोवैज्ञानिक क्रान्ति के मूल्य पर ही सिद्ध की जा सकती हैं ? लक्ष्मी की कृपा एवं आशीर्वाद का लाभ उठाने के लिए इन बद्धगति कृषकों को भूमि-उपयोग एवं भूमि के पट्टे की अपनी पारपरिक परिपाटी में क्रान्तिकारी परिवर्तन करने होंगे और सन्तानोत्पादन की गति को भी नियंत्रित करना होगा।

तोकूगावा सोगुन शासन के अन्तर्गत जपान के राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में स्थिरता लाना संभव हो सका था क्योंकि उसका समर्थन करने वाला, जन्म-मृत्यु-संख्या-सम्बन्धी स्थिरता का, एक आधार था। विविध उपायों से, जिनमें गर्भपात एव बालघात तक शामिल थे, जनसख्या को तीन करोड पर स्थिर कर दिया गया था। जब इस शासनकाल का उच्छेद कर दिया गया तो उसमे अप्राकृतिक रूप से जम गया एक जपानी सामाजिक निकाय द्रवित होने लगा, और जनसंख्या तेजी से फुदककर बढने लगी। राजनीतिक एवं आर्थिक स्तर पर होने वाले परिवर्तनो के विपरीत *अनियंत्रित सन्तानोत्पादन का फिर से आरम्भ पाश्चात्य प्रभाव के कारण नहीं था बल्कि* यह एक ऐसे कृषक-समाज की परंपरागत आदतों की ओर प्रत्यागमन मात्र था जो तोकूगावा युग के तुषारघटित वातावरण में, एक मनोवैज्ञानिक कौशल-द्वारा नियंत्रित किया गया था। जो भी हो, मृत्यु का अनुपात कम करके आदिमकालिक आदतो पर गिर जाने के इस जन्ममरण-सख्या-सम्बन्धी प्रभाव को समकालिक पाश्चात्यकरण ने और बढ़ा दिया।

इन परिस्थितियो में जपान के सामने दो ही विकल्प थे—या तो वह अपना प्रसार करे या फिर विस्फोट से नष्ट हो जाय। फिर प्रसार के व्यावहारिक रूप तो यही हो सकते थे कि या तो वह शेष विश्व को अपने साथ व्यापार करने पर राजी करे या फिर ऐसे दुर्बल देशों से अपने लिए अतिरिक्त प्रदेश, साधन और बाजार शस्त्र-बल के भरोसे जीत ले जो सैनिक दृष्टि से इतने अशक्त थे कि सैनिक शक्ति-सम्पन्न पाश्चात्य रूप धारण करने वाले जपान के आक्रमण से अपनी सम्पत्ति की रक्षा न कर सकते थे। १८६८ से १६३१ तक की जपानी वैदेशिक नीति का इतिहास इन्ही दो विकल्पो के बीच फिरते रहने का इतिहास है। जपानी राष्ट्र के ऊपर सैनिक विकल्प ग्रहण करने पर आर्थिक राष्ट्रवाद की विश्वव्यापी वृद्धि का जो क्रमिक प्रभाव पड रहा था वह उस आर्थिक तुषारझंझा (blizzard) के भयावह अनुभव से रुक गया जो १६२६ के पतझड़ में वाल स्ट्रीट पर आ पडा था और जिसने शेष विश्व को भी अपने अक में समेट लिया था। बिल्कुल दो साल बाद १८-१६ सितम्बर १६३१ की रात को जपान ने आक्रमण का अपना वह महत् अभियान शुरू किया जिसका अन्त १६४५ ई. के वी. जी. दिवस के रूप मे हुआ।

चूंकि चीनी अपेक्षाकृत लघु द्वीपसमूहों मे केन्द्रित नही थे बल्कि एक अत्यन्त विस्तृत उपमहाद्वीप में फैले हुए थे इसलिए उनके यहा जनसंख्या की समस्या उतनी शीघ्रता के साथ सामने नहीं आयी, न जपान की भांति इतनी निष्ठुरता के साथ उसके समा-

धान की चेष्टा ही की गयी। किन्तु दूर दृष्टि से देखने पर वह भी उतनी ही गभीर थी और उसको सुलझाने का भार अब चीनी साम्यवादी अधिनायकों या तानाशाहो पर आ पडा। साम्यवाद द्वारा चीन पर यह वैचारिक विजय सुदूरपूर्वीय समाज के मुख्यांग पर उस रूसी आक्रमण का सबसे ताजा प्रयत्न था जो तीन सौ वर्षों से किसी न किसी रूप मे बढता गया था। यहा हम उसकी प्रारंभिक अवस्थाओं की चर्चा न करेंगे। उन्नीसवी शती के उस काल मे, जब जपान को गभीरतापूर्वक अपना प्रतिद्वन्द्वी नही समझा जाता था, जपान एवं पश्चिमी शक्तिया प्रतिद्वन्द्वी आक्रान्ताओ के रूप में आयी और मृतप्राय चीनी साम्राज्य की लोथ पर हाथ साफ करने लगी। इस स्थिति मे प्रश्न यह रह गया कि क्या हांगकांग और शघाई चीन मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के लिए उसी प्रकार वृद्धिकारी बिन्दु साबित होंगे जिस प्रकार भारत मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की अभिवृद्धि के लिए बम्बई एव कलकत्ता सिद्ध हुए थे? दूसरी ओर रूस ने १८३० ई. मे ही ब्लादिवोस्तोक पर अपनी प्रभुसत्ता (सावरेनटी) स्थापित कर ली थी और वह १८९७ मे उससे कही अधिक केन्द्रीय तथा महत्त्वपूर्ण बन्दरगाह पोर्ट आर्थर को भी पटटे पर ले चुका था। जपान ने ही १९०४-५ के युगपरिवर्तनकारी रूस-जपान युद्ध मे रूस के इस प्रयत्न को आरम्भ में ही खत्म कर दिया। फिर प्रथम विश्व महायुद्ध (१९१४-१८) के अन्त में पुन रूस अराजकता से विच्छिन्न हो उठा जब कि विजयी पाश्चात्य मित्र-मण्डल का न्यूनाधिक एक निष्क्रिय भागीदार होने के कारण जपान ने खूब लाभ उठाया। जो भी हो, जहा रूसी जारशाही असफल हो गयी थी वहा रूसी साम्यवाद सफल हुआ। उसकी सफलता के कारणो का किसी न किसी रूप मे हम इस अध्ययन मे कितनी ही बार उल्लेख कर चुके हैं—कारण, जिन्हे हम कापियो मे पायी जाने वाली सूक्ति के समान थोथे विरोधाभासो के रूप मे प्रकट कर सकते है—'कलम तलवार से अधिक शक्तिशाली है।' मार्क्स के धर्मबाह्य साम्यवादी सिद्धान्त ने रूस को एक ऐसी मनो-वैज्ञानिक अपील—प्रेरणा दी जो नगी जारशाही न दे सकी थी। इसलिए सोवियत सघ, अन्यत्र की भाति, चीन में भी एक विराट पांचवे दस्ते का आदेश दे सकता था। यदि आज साम्यवादी रूस साधन जुटा देगा तो उसके चीनी प्रशसक उसका काम विश्वसनीय रूप से कर सकेंगे।[1]

७. आधुनिक पश्चिम और उसके समकालिकों के बीच सघर्ष की प्रकृति

हम जिन मुठभेड़ों का वर्णन कर चुके हैं उनकी तुलना करने पर सबसे महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि 'आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता' शब्द मे जो आधुनिक शब्द है यदि उसका अर्थ मध्यवर्ग किया जाय तो उसे एक अधिक निश्चित एव ठोस अर्थबोध से दीक्षित किया जा सकता है। ज्योंही पाश्चात्य जातियों ने एक ऐसे मध्यवित्त या बुर्जुवा वर्ग का निर्माण किया जो समाज में प्रधानता प्राप्त करने मे

[1] पिछले ३-४ वर्षों में रूस-चीन के बीच साम्यवाद की व्याख्या और उसके प्रयोग को लेकर जो मतभेद उत्पन्न हो गया है उसने लेखक के इस निष्कर्ष पर एक प्रश्न-चिह्न लगा दिया है।—अनु०

समर्थ था त्योंही वे आधुनिक बन गयी । पन्द्रहवी शती के अन्त मे पाश्चात्य इतिहास का जो नया अध्याय खुला उसे हम आधुनिक समझते हैं क्योंकि इसी जमाने में अधिक उन्नत पाश्चात्य जातियो मे मध्यवर्ग नियन्त्रण अपने हाथ मे लेने लगा । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक युग के जारी रहने विदेशियो को पाश्चात्य रग-ढग अपनाने की योग्यता उनके मध्यवर्गीय पाश्चात्य जीवन-पद्धति में प्रवेश करने की उनकी सामर्थ्य पर निर्भर करती थी । जब हम नीचे से ऊपर की ओर के पाश्चात्यकरण के पूर्ववर्णित उदाहरणो की परीक्षा करते हैं तो देखते है कि यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई, चीनी एवं जपानी जीवन के पूर्वस्थित सामाजिक गठन मे पहिले ही ऐसे मध्यवर्गीय तत्त्व थे जिनके द्वारा पाश्चात्यकरण का प्रभाव काम करता रहा । इसके विरुद्ध जिन मामलों मे पाश्चात्यकरण की प्रक्रिया ऊपर मे नीचे की ओर चली वहां स्वेच्छाचारी शासको ने अपनी प्रजा को हुक्म के बल पर पाश्चात्य रग मे रगना शुरू कर दिया और वहा वे बिना जबर्दस्ती वाले उस विकास-क्रम के लिए प्रतीक्षा न कर सके जो उन्हे देशी स्रोत वाला प्रामाणिक मध्यवर्गीय अभिकर्त्ता--एजेण्ट--प्रस्तुत कर सकता । उनकी जगह उन्होने अपने लिए एक बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण करके देशी उपज के मध्यवर्ग के स्थान पर उसका एक कृत्रिम विकल्प बना लिया ।

इस प्रकार रूस एव मुसलमानी तथा हिन्दू जगत् मे जो बुद्धिजीवी वर्ग अस्तित्व मे आया उसमे उनके निर्माताओ ने सफलतापूर्वक पाश्चात्य मध्यवर्ग की विशेषताओ का वास्तविक रग भर दिया । किन्तु रूसी उदाहरण मे मालूम पडता है कि यह रंग क्षणजीवी सिद्ध हो सकता है । क्योकि रूस को मध्यवर्गीय पाश्चात्य सम्प्रदाय मे लाने के लिए मूलत: पीटरी जारशाही ने जिस रूसी बुद्धिजीवी वर्ग का निर्माण किया था वह अपने हृदय मे जारशाही एव पाश्चात्य बुर्जुवा आदर्श दोनो के प्रति विद्रोह लिये आया--१९१७ ई. के क्रान्तिकारी विस्फोट के बहुत पहिले यह घटित हो चुका था । और रूस मे जो कुछ हुआ वह दूसरे बुद्धिजीवियो के साथ अन्यत्र भी घटित हो सकता है ।

इस बुर्जुवा-विरोधी मोड के प्रकाश में, जिसे रूसी बुद्धिजीवी वर्ग पहिले ही ग्रहण कर चुका था, यह देखना उचित ही होगा कि उस अ-पश्चिमी बुद्धिवादी वर्ग मे पाश्चात्य मध्यम वर्ग से क्या समानताए है और क्या विभेद है जिसे एक गैरपश्चिमी वातावरण में पाश्चात्य मध्यम वर्ग का ही कार्य करने को निर्देशित किया गया था ।

उनके इतिहासो मे एक सर्वनिष्ठ बात तो यह थी कि दोनो उन समाजों की परिधि के बाहर से आये थे जिनमे उन्होने अपने को प्रस्थापित कर लिया था । हमने यह देख ही लिया है कि जब पाश्चात्य समाज पहिले अन्धकार युग से बाहर आया तब वह एक कृषक समाज था और उसके जीवन के लिए नागरिक कार्य-कलाप इतने विजातीय थे कि उनमे से कुछ का आचरण मूलत: एक विजातीय यहूदी डायसपोरा-द्वारा तबतक होता रहा था जबतक कि मूर्तिपूजको के अपने यहूदी आप बन जाने की आकाक्षा से एक मूर्तिपूजक मध्यम वर्ग अस्तित्व मे न आ गया ।

एक दूसरा अनुभव जो आधुनिक पाश्चात्य मध्यवर्ग और समकालिक बुद्धिजीवी

वर्ग के लिए सर्वनिष्ठ या सामान्य था, यह था कि दोनो ने अपनी परिणामगत प्रधानता अपने मूल मालिकों से विद्रोह करके ही प्राप्त की थी। ग्रेट ब्रिटेन, हालैण्ड, फ्रांस तथा अन्य पाश्चात्य देशों में, मध्यवर्ग ने उन उन बादशाहतों का स्थान ले लिया जिनके सरक्षण ने असावधानी में उस (मध्यम वर्ग) का भाग्य निर्माण किया था।[1] इसी प्रकार उत्तर-आधुनिक युग की अ-पाश्चात्य शासन-पद्धतियों में बुद्धिजीवी वर्ग ने उन पाश्चात्यकारी तानाशाहों के विरुद्ध सफल विद्रोह करके शक्ति प्राप्त की थी जिन्होंने जान-बूझकर उसका निर्माण किया था। यदि हम पीटरी रूस, उत्तरकालीन ओथमन साम्राज्य एवं भारतीय ब्रिटिश राज्य के इतिहासों में प्राप्त इस सामान्य दृश्य का एक संक्षिप्त अवलोकन प्रस्तुत करें तो हम देखेंगे कि बुद्धिजीवी वर्ग का यह विद्रोह न केवल तीनों उदाहरणो मे घटित हुआ बल्कि लगभग समान समयावधि के बीतने पर हर मामले में उसने उत्कट रूप धारण किया। रूस में १८२५ में जो निष्फल दिसम्बर क्रान्ति हुई और पीटरी परिपाटी के प्रति रूसी बुद्धिजीवी वर्ग ने जो युद्ध-घोषणा की, वह १६८९ मे पीटर के प्रभुत्व के प्रभावशाली आरम्भ के १३६ वर्षों बाद घटित हुई। भारत में राजनीतिक 'अशान्ति' ने उन्नीसवी शती के अन्तिम भाग में अपने को व्यक्त करना शुरू किया था—अर्थात् बंगाल मे ब्रिटिश राज्य की स्थापना के बाद १४० साल से भी कम समय में। ओथमन साम्राज्य मे 'ऐक्य एव प्रगति समिति' (दि कमिटी आव यूनियन ऐण्ड प्राग्रेस) ने १९०८ में सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को हटा दिया। यह घटना भी १७६८-७४ के रूसी-तुर्की युद्ध में पराजय के आघात से विवश होकर पर्याप्त संख्या मे मुस्लिम प्रजाओ के आधुनिक पाश्चात्य युद्ध-कला में प्रशिक्षण आरम्भ करने के १३४ साल बाद हुई।

किन्तु समानता के इन बिन्दुओ के साथ कम से कम एक महत्त्वपूर्ण विभेद भी मिलता है। आधुनिक पाश्चात्य मध्यमवर्ग उस समाज में, जिस पर वह प्रभुत्व जमाने आया था, एक देशज तत्त्व था; एक मनोवैज्ञानिक अर्थ मे वह वहा मानो अपने ही घर मे था। इसके प्रतिकूल बुद्धिजीवी वर्गों को दो प्रकार की कठिनाइयां झेलनी पड़ी—एक तो नवीन दुग्धपायी प्राणी (Novi Homines) होने के कारण, दूसरे विजातीय होने के कारण। वे किसी प्राकृतिक विकास के उत्पादन एवं लक्षण नही थे वर एक विजातीय आधुनिक पश्चिम के साथ सघर्षशील अपने ही समाज के पराभव-स्वरूप थे। वे शक्ति के नहीं, दुर्बलता के प्रतीक थे। बुद्धिजीवी स्वयं इस द्वेषजन्य विभेद से भली-भांति परिचित थे। वे जिस सामाजिक सेवा की पूर्ति के लिए उत्पन्न किये गये थे उसने उसी समाज मे उन्हें विजातीय बना दिया जिसके लिए वे उसे कर रहे थे। अपने कर्तव्य की धन्यवादहीनता के सम्बन्ध में उनके अन्तर्ज्ञान (intuition) के साथ उनकी सामाजिक स्थिति के सहज आकुंचनों से उत्पन्न निर्दय स्नायविक भार

[1] उदाहरणार्थ यह अंग्रेजी इतिहास का एक बड़ा ही सामान्य तथ्य है कि ट्यूडरों ने कामंस को जो अधिकार दिये थे उन्हें उन्होंने स्टुअर्ट लोगों के विरुद्ध प्रयुक्त किया।

ने मिलकर उस पाश्चात्य मध्यवर्ग के प्रति उनमे एक ज्वालामयी घृणा पैदा कर दी जो उनका जनक भी था और सकट भी; उनका ध्रुवतारा भी था और उनका हौआ भी। और इस लुटेरे सूर्य के प्रति, जिसके मुग्ध ग्रह वे थे, उनका यत्रणामय विसयुज व्यवहार कटूलस के शोकगीत वाले निम्न पद्य मे बड़ी ही तीव्रता के साथ व्यक्त हुआ है—

Odi et amo : quare id faciam, fartasse requiris
Nescio, sed fieri sentio et excrucior.

["मै तुम्हे घृणा करता हू और मैं तुम्हे प्यार करता हू : शायद तुम पूछोगे कि क्यां ? मैं नही जानता, किन्तु अनुभव मैं कुछ इसी प्रकार करता हूं, और यह मुझे उत्पीड़ित कर देता है।"]

पाश्चात्य मध्यमवर्ग के प्रति एक विजातीय बुद्धिजीवी वर्ग की घृणा की गहराई ने पाश्चात्य मध्यमवर्गीय सफलताओ का अनुकरण करने की अपनी अक्षमता की भविष्यवाणी कर दी। इसका एक महत् उदाहरण, जिसमे इस कटुताकारी पूर्वबोध का औचित्य सिद्ध हुआ था, १९१७ की प्रथम दो रूसी क्रान्तियो के बाद, रूसी बुद्धिजीवी वर्ग की पीटरी जारशाही के विध्वस को उन्नीसवी शती की पाश्चात्य परिपाटी की एक विधानसभात्मक सरकार (पार्लमेंटरी गवर्नमेंट) मे रूपान्तरित कर देने की अपनी बड़ी-बड़ी बातो की पूर्ति की अनर्थकारी असफलता थी। केरेंस्की शासन इसलिए असफल हो गया कि उस पर बिना मिट्टी-गारे के ही ईंटें बनाने का कार्य आ गया था एक ठोस, योग्य, सवृद्धिकारी एव अनुभवी मध्यमवर्ग, जहा से वह समर्थ आदमी ले सकता, के बिना ही विधानात्मक सरकार बनाने का कार्य। इसके विपरीत लेनिन इसलिए सफल हुए कि उन्होने कुछ ऐसी चीज निर्मित करने का प्रयत्न किया जिससे स्थिति का सामना किया जा सकता था। निश्चय ही उनका 'सर्वसघ-व्यापी साम्यवादी दल' (आल-यूनियन कम्यूनिस्ट पार्टी) कोई ऐसा पदार्थ नही था जो बिना पूर्वोदाहरण के हो। ईरानी मुस्लिम इतिहास मे इसका उदाहरण पहिले से ही मौजूद था, ओयमन बादशाह के गुलाम हरम मे, सफाविओ की काजिलबाश भक्त-बिरादरी मे, उसका दृष्टान्त मिलता है। सिखो ने अपने अखाड़े से मुगल प्रभुत्व को चुनौती देने के अपने निश्चय से जिस सिख खालसा की सृष्टि की उसमे भी इसे देखा जा सकता है। इन मुसलमानी एव हिन्दू बिरादरियो मे रूसी साम्यवादी दल की विशिष्ट प्रवृत्ति निश्चित रूप से विद्यमान थी। लेनिन का जो मौलिकता का दावा है वह इतना ही है कि उन्होंने अपने लिए इस विराट राजनीतिक यंत्र का निर्माण किया; वह इस बात मे भी है कि पश्चिम की प्रचलित परंपरानिष्ठ विचारधारा का निराकरण करते हुए भी पाश्चात्य प्रौद्योगिकी के अद्यतन साधनो पर अधिकार स्थापित करके एक अन्य पश्चिमी समाज मे उस राजनीतिक यंत्र के प्रयोग को उन्होने वरीयता दी।

लेनिन ने जिस एकदलीय अधिनायकतत्र की स्थापना की उसकी सफलता इसी एक बात से साबित हो जाती है कि बहुत बडी संख्या मे उसकी नकल की गयी। हम इन अनुसरणकर्ताओ पर, जो साम्यवाद में आस्था प्रकट करते और अपने को साम्यवादी

कहते है, विचार न करके अत्यन्त सफलता के साथ तुर्की का पुनर्जागरण करने वाले मुस्तफा कमाल अतातुर्क के शासन की ओर, इटली मे मुसोलिनी के फासिस्त शासन की ओर, और जर्मनी मे हिटलर के राष्ट्रीय समाजवादी शासन की ओर इगित करते हैं। इन तीनों गैर-साम्यवादी एकदलीय शासनो मे तुर्की का नवशासन सबसे ज्यादा अभूतपूर्व था क्योकि उसने संकट न पैदा करके शान्तिपूर्ण संक्रान्ति द्वारा अपने को उदार पाश्चात्य प्रणाली के द्विदलीय शासन मे परिवर्तित कर लिया।

(ख) मध्यकालिक पाश्चात्य ईसाई जगत् से टक्कर

१. क्रूसेडों (जिहादों) का ज्वार-भाटा

'क्रूसेड' शब्द सामान्यत. उन पाश्चात्य सैनिक अभियानो के लिए सीमित है जो पोप के प्रोत्साहन एव आशीर्वाद मे एक ईसाई राज्य विजय करने, उसकी सहायता करने या यरूशलेम मे पुन एक ईसाई राज्य जीतने की दृष्टि से किये जाते थे। परन्तु यहा हम इस शब्द का प्रयोग बडे विशद अर्थ मे कर रहे हैं जिसमे पाश्चात्य ईसाई जगत् के उन सब युद्धों का समावेश हो जाता है जो उसके इतिहास के मध्ययुगीन अध्याय मे उसकी सीमाओ पर, स्पेन एव सीरिया मे इस्लाम के विरुद्ध, या अपने पूर्वी रोम साम्राज्य के प्रतिद्वन्द्वी ईसाई धर्मराज्य के विरुद्ध तथा पूर्वोत्तर सीमा के व्रात्य बर्बरो के विरुद्ध हुए थे। इन सब युद्धो को एक शब्द मे जिहाद या क्रूसेडिंग कहा जा सकता है क्योकि योद्धाओं ने बिल्कुल पाखण्डपूर्वक ही नही बल्कि चैतन्यपूर्वक अपने बारे मे यह समझ लिया था कि वे ईसाई धर्मजगत् (क्रिश्चियेनडम) की सीमाओ को या तो बढ़ा रहे हैं या उसकी रक्षा कर रहे हैं। हम कल्पना करते हैं कि चासर इस विस्तृत अर्थ मे शब्द के प्रयोग पर राजी होगा। 'कैंटरबरी टेल्स' के अपने आमुख (Prolog) मे जो शब्द-चित्रों की गैलरी —चित्रशाला है, उसमे सामन्त (Knight) का चित्र प्रथम ही है। वह एक ऐसा योद्धा था जिसने अपने यौवनकाल मे शायद क्रेसी एवं प्वातियर्स मे युद्ध किया होगा किन्तु उसके स्रष्टा को कभी यह खयाल नही आया कि स्थानीय पाश्चात्य राज्यो के बीच होने वाले ऐसे पारिवारिक झगडो से उसे सम्बद्ध करे। इसकी जगह उसे ऐसे रूप मे चित्रित किया गया है मानो वह 'गर्नेद' (ग्रेनादा) से 'प्रूस' और 'लेत्तोव' (रूस, प्रशा एव लिथुवेनिया) तक पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् की सम्पूर्ण सीमाओ पर लडता रहा हो और यद्यपि चासर ने उसे वस्तुत क्रूसेडर (जिहादी) के नाम से अभिहित नही किया है किन्तु स्पष्टत· वह उसे एक ऐसा योद्धा समझता है जो विशिष्ट ईसाई युद्धो मे लगा रहा। अन्य सम्बद्ध सम्यताओ पर आक्रामक पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् की टक्कर से पड़े प्रभाव का विवेचन करने के पूर्व, फिलहाल, हमारी चिन्ता यह है कि प्रसार के लिए किये जाने वाले इन मध्ययुगीन युद्धों की सामान्य धारा के बारे मे कुछ विचार दे दें।

ईसाई संवत् की ग्यारहवीं शती में पाश्चात्य समाज का मध्ययुगीन विप्लव आश्चर्यजनक रूप से उतना ही आकस्मिक था जितना पन्द्रहवी एव सोलहवीं शतियों के मोड पर हुआ आधुनिक विप्लव था। और मध्ययुगीन पाश्चात्य दुस्साहस का

आनुषगिक विनाश भी उतनी ही शीघ्रता के साथ सामने आया जितनी शीघ्रता के साथ उसकी आरभिक सफलता सामने आयी थी। मान लीजिए कि चीन से आने वाले एक बुद्धिमान् पर्यवेक्षक ने ईसाई सवत् की तेरहवी शती के मध्यवर्षो मे अपने यहा से पुरानी दुनिया के दूसरे छोर तक पर्यटन किया हो तो वह भी पहिले से यह देख सकने मे समर्थ नही हो सकता था कि पाश्चात्य प्रवेशकर्त्ता इस जमाने मे दारुल-इस्लाम और 'रामानिया' (प्राच्य रोम-साम्राज्य के परपरानिष्ठ ईसाई राज्यक्षेत्र) से निकाले ही जाने वाले है। इसी प्रकार मान लो कि वह दृश्य-पट पर तीन सौ वर्ष पूर्व अवतीर्ण होता तो भी वह यह न देख सकता कि वही दोनो विश्व उस सभ्य आगन्तुक के विश्वव्यापी (Oikoumene) पश्चिमी सीमान्त के अब तक स्पष्टत· पिछड़े हुए एव असभ्य देशवासियो द्वारा बस आक्रान्त एवं पददलित होने वाले ही है। ज्योही वह दोनो यूनानी ईसाई समाजो को एक दूसरे से अलग करके पहिचानना सीख लेता तथा ज्योही वह उन्हे उस सीरियाई समाज से अलग करके पहिचानना जान चुकता जो इस्लाम के ईसाई अपधर्म (Christian heresy) के अतिरिक्त और सब धर्मो को ग्रहण कर लेने के उपक्रम मे था, त्योही सभवत वह इस निष्कर्ष पर पहुंच जाता कि भूमध्य जलद्रोणी तथा उसके अन्तर्देशो (hinterlands) के नियंत्रण के इन तीन प्रति-द्वन्द्वियो मे परपरानिष्ठ ईसाई धर्मजगत् के पक्ष मे सर्वोत्तम और पाश्चात्य ईसाई जगत् के लिए सबसे कम सभावनाए हैं।

सम्पत्ति, शिक्षा, प्रशासकीय कुशलता तथा सामरिक सफलता की तुलनात्मक स्थिति की विविध परीक्षाओ की दृष्टि से परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् निश्चय ही मध्य दशम शताब्दी के पर्यवेक्षक की सूची मे शीर्ष स्थान पर और पाश्चात्य ईसाई जगत् सबसे नीचे होता। उस समय पाश्चात्य ईसाई जगत् एक ऐसा कृषक-समाज था जिसमे नागरिक जीवन विजातीय या बाहरी था तथा मुद्रा एक दुर्लभ करेंसी थी, जब कि समकालिक परपरानिष्ठ ईसाई जगत् मे समृद्धिशील व्यवसाय एव उद्योग पर आश्रित एक मुद्रा अर्थव्यवस्था (money economy) प्रचलित थी। पाश्चात्य ईसाई जगत् मे केवल पादरी लोग साक्षर थे जबकि परपरानिष्ठ ईसाई जगत् मे उसी आठवी शती मे लिओ साइरस ने जो नवीन रोमी साम्राज्य निर्मित किया था वह तब भी फूल-फल रहा था और उन भूभागो को फिर से जीतना भी उसने शुरू कर दिया था जिन्हे मूल रोमी साम्राज्य ने सातवी शती मे आदिकालिक मुस्लिम अरब विजेताओ के हाथ खो दिया था।

जब मुस्लिम विजय की धारा भूमि पर से हटने लगी तब भी उसके बहुत समय बाद तक सागर मे आगे बढ़ना उसने जारी रखा, और दोनो ईसाई दुनियाओ के साथ नवी शताब्दी मे मगरिबी[1] मुस्लिम जलदस्युओ ने बड़ा बुरा व्यवहार किया

[1] मगरिब का अर्थ अरबी में पश्चिम होता है। यह अफ्रीका के उस पश्चिमोत्तर स्कन्ध का अरबी नाम है जिसमें उत्तरकाल के ट्यूनीशिया, अल्जीरिया एवं मोरक्को शामिल हैं। यह अफ्रीका माइनर (लघु अफ्रीका) वस्तुतः एक द्वीप है,

किन्तु परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् ने उनकी चुनौती का जवाब उनसे क्रीट छीन लेकर दिया, जबकि पाश्चात्य ईसाई जगत् के द्वारा इस प्रकार का जवाब दिये जाने का कही कोई उल्लेख नही है। बल्कि, इसके प्रतिकूल मुस्लिम लुटेरे खुश्की के रास्ते भी उन्हें रिवेरा से धकेलते जा रहे थे और आल्प्स के दर्रों में घुस गये थे।

अपने काल्पनिक चीनी पर्यवेक्षक से हम जिस सूक्ष्म दृष्टि की आशा कर सकते है उससे अधिक गहरी दृष्टि से देखने पर निश्चय ही कुछ आधारभूत तथ्य सामने आ सकते है। ध्यान देने पर उसने देखा होता कि परपरानिष्ठ ईसाई जगत् ने, जिसने भूमध्य (मेडीट्रेनियन) में ऐसा तुच्छ प्रदर्शन किया था, दूसरे क्षेत्रों में अपने स्कैन्देनेवियाई एवं मगयार बर्बर आक्रमणकारियों के विरुद्ध वीरतापूर्ण सघर्ष किया। मुसलमानों के विरुद्ध भी पाश्चात्य ईसाई जगत् की सीमाओं ने आइबेरियाई प्रायद्वीप मे अपनी लम्बी धीमी यात्रा शुरू कर दी थी और आगे बढ़ने लगी थी। अपने प्रतिद्वन्द्वियों में से प्रत्येक के प्रतिकूल, दसवी शती की पाश्चात्य ईसाई दुनिया एक ऐसी सभ्यता थी जो विकास की अवस्था में थी। उसका आध्यात्मिक गढ़ वैराग्यवाद (Monosticism) था तथा वैरागी जीवन के बेनेडिक्टाई (बेनेडिक्टाइन) मार्ग का दसवी शती का क्लूनियाई (Cluniac) कायाकल्प बाद के समस्त धार्मिक वा लौकिक पाश्चात्य सामाजिक सुधारो का मूलादर्श था।

फिर भी दसवीं शती के पाश्चात्य ईसाई जगत् मे जीवन के ये लक्षण ग्यारहवी शताब्दी मे उसके अन्दर दीख पड़ने वाली पाश्चात्य ऊर्जा के आश्चर्यजनक विस्फोट पर पर्याप्त प्रकाश डालने में असमर्थ हैं—एक ऐसा विस्फोट जिसमे दो पडोसी समाजो के विरुद्ध आक्रमण का आरम्भ उसकी अपेक्षा कम सर्जनात्मक एवं कम प्रशसनीय कार्रवाइयो मे से एक था। पाश्चात्य ईसाइयो ने नार्मण्डी एवं डेनला की स्कैन्देनेवियाई बस्तियो के लोगो का धर्म-परिवर्तन करके अपना चमत्कारिक क्रम जारी रखा। यही नही, उन्होने स्कैन्देनेवियाई युद्ध-पिपासु दलो को, उनके मूल रूप मे ही, अपने धर्मसप्रदाय मे लाने में सफलता प्राप्त की। इमी प्रकार हंगरी और पोलैण्ड के बर्बरो को भी उन्होंने अपने धर्म मे मिला लिया। वैरागी जीवन के क्लूनियाई सुधार ने पोप के नेतृत्व मे सम्पूर्ण ईसाई पौरोहित्य प्रथा को हिल्डरब्रैडी (हिल्डरब्रैंडाइन) सुधार की ओर अग्रसर किया। आइबेरी प्रायद्वीप मे प्रगति की वृद्धि के ही समानान्तर दक्षिण इटली मे प्राच्य रोमी साम्राज्य के उपनिवेशों को विजय कर लेने की भी घटना है। उसने सिसली के मुस्लिम आधिपत्य को भी चुनौती दी। इसी प्रकार एड्रियाटिक को पार कर प्राच्य रोमी साम्राज्य के हृदयस्थल की ओर भी अभियान किया—यद्यपि वह निष्फल हुआ। प्रथम क्रूसेड या जिहाद (१०९५-९ ई.) के साथ एक ऐसा परमोत्कर्ष आया जिसने इस्लाम की कीमत पर, एन्तिओक एवं एदेसा (फ़ुरात के पार) से लेकर

क्योंकि सहारा मरुस्थल इसे उष्णकटिबंधीय अफ्रीका (अफ्रीका प्रापर—मुख्य अफ्रीका) से उससे कहीं ज्यादा प्रभावशाली रूप में अलग करता है जितना भूमध्य सागर उसे यूरोप से अलग करता है

यरूशलेम एवं आजला (अकाबा खाड़ी के मुहाने पर जो लाल सागर मे खुलता है) तक सीरिया में पाश्चात्य ईसाई सामन्ती राज्यों की एक शृंखला-सी कायम कर दी।

भूमध्य जलद्रोणी में इस मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई प्राधान्य का अनुवर्त्ती पतन भी हमारे सुदूरपूर्वीय पर्यवेक्षक को कुछ कम आश्चर्यजनक न लगता यदि वह प्रथम क्रूसेड के डेढ़ सौ वर्ष बाद इस दृश्य का पुनरावलोकन कर सकता। उस समय तक पाश्चात्य आक्रमणकारियो ने सीरिया-स्थित अपनी सम्पूर्ण अरक्षणीय चौकियों को खो दिया था। दूसरी ओर आइबेरी प्रायद्वीप में मुस्लिम राज्य क्षीण होकर ग्रेनाडा के इर्दगिर्द एक घेर (Enclave) मात्र रह गया और पाश्चात्यो ने सीरिया में हुई अपनी क्षतियो के बदले प्राच्य रोमी साम्राज्य के यूरोपीय उपनिवेशों को आक्रान्त एवं विजय करके अपने को सन्तोष दे लिया। कुस्तुनतुनिया के रोमी सम्राट के नाम और पद पर एक फ्रैंकी राजकुमार दखल किये जा रहा था। बहुत दूर पूर्व मे एक महान मगोली साम्राज्य उठ खड़ा हुआ था और पाश्चात्य ईसाई स्वप्नद्रष्टा यह स्वप्न देख रहे थे कि इस नवीन विश्वशक्ति के शासकों को ईसाई धर्म की पाश्चात्य शाखा मे धर्म-परिवर्तित करके इस्लाम को पीछे से धर पकड़े। पोप-द्वारा भेजे गये मिशनरियों ने कराकोरम तक की लम्बी यात्राए कीं। मार्कोपोलो भी शीघ्र ही कुबला खा के दरबार मे पहुचने के लिए चल पड़ा।

परन्तु इस साहस का कुछ भी परिणाम न हुआ, और अपने काल्पनिक चीनी पर्यवेक्षक को हमने जो तिथि प्रदान की है उसके बाद शीघ्र ही कुस्तुनतुनिया के लातीनी साम्राज्य का हिलता हुआ महल ढह गया (१२६१ ई.)। यूनानी परपरानिष्ठ ईसाई साम्राज्य पुन. कायम हुआ, यद्यपि वहा भी भविष्य यूनानियों के हाथ नही बल्कि ओथमन तुर्कों के हाथ मे जाने वाला था। अब पाश्चात्य ईसाई जगत् ने अपनी आक्रामक शक्तिया अपनी पूर्वोत्तर सीमा की ओर फेरी। टीटानी (Titanic) सामन्त सीरिया से भाग खड़े हुए और व्रात्य प्रशन, लेत एव इस्ट लोगो की कीमत पर विस्चुला तट पर अपनी किस्मत आजमाने पहुच गये। केवल आइबेरी प्रायद्वीप, दक्षिण इटली एव सिसली मे मध्य युग के आरम्भ मे हुई प्रगति को उसके अन्तिम दिनो तक बढ़ाया एव रक्षित रखा जा सका। मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् का दक्षिण एव पूर्व की ओर अपनी सीमाए बढाने और उन सब भूखण्डो को ले लेने का प्रयत्न करना, जो कभी उसके यूनानी पूर्वजो के अधिकार मे थे, असफल हो चुका था। यदि कोई धन, जनसंख्या एव बुद्धिमत्ता मे मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् के भौतिक साधनो पर विचार करे तो दूसरे किसी परिणाम की आशा भी तो नही की जा सकती थी।

(२) मध्यकालीन पश्चिम और सीरियाई जगत्

जब ईसाई संवत् की ग्यारहवी शती मे मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाइयो ने सीरियाई जगत् पर अपना धावा शुरू किया तो उन्हे मालूम हुआ कि उसके निवासी दो मजहबों की निष्ठा में विभाजित हैं—एक ओर इस्लाम है, दूसरी ओर ईसाई अपधर्म के वे विविध रूप—मोनोफाइसाइटवाद, नेस्तोरीवाद एव अन्य—है जिन्हे सीरियाइयो-द्वारा ईसाई धर्म को अ-यूनानी रूप देने का प्रयत्न कहा जा सकता है। अरबों-द्वारा

विजय के बाद प्रथम युग मे, इन विजेता बर्बरों का विशिष्ट धर्म इस्लाम ही था—ठीक वैसे जैसे रोम साम्राज्य के विविध प्रान्तो के टीटानी विजेताओं में से अधिकाश का धर्म एरियन (Arianism) था। आठवी शती की मुसलमानी विजय एव ग्यारहवी शती के अन्त में होने वाले प्रथम क्रूसेड —जिहाद के बीच के काल मे, अनेक कारणों से, इन दास जातियो में बराबर इस्लाम ग्रहण करने की प्रवृत्ति बढती गयी, किन्तु इस युग के अन्त मे भी वह पूर्णता को नही पहुंच पायी थी। जिहादों का प्रभाव यह पडा कि वह बहाव एकदम भूभ्रंश मे बदल गया। अरबी एवं ईरानी नवोत्पन्न इस्लामी समाज मृत सीरियाई जगत् के विध्वंस से उदित हुए।

इसका विचार करते हुए कि मुसलमान एव ईसाई, आधिकारिक तौर पर, एक दूसरे की दृष्टि मे 'नास्तिक' (unbelievers) थे और ये दोनो कट्टर अपवर्जनकारी मनोवृत्तिप्रधान (exclusive minded) जूडाई (Judiac) धर्म कालक्रमानुसार एक दूसरे के प्रति युद्धरत थे, हमे यह देखकर आश्चर्य होता है कि इनके सैनिको मे एक-दूसरे के लिए इतने सम्मान का भाव कैसे आ गया था। इसी प्रकार उस सास्कृतिक पोषण का परिणाम एव महत्त्व देखकर भी हमे आश्चर्य होता है जिसे मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् ने एक ऐसे सीरियाई स्रोत मे ग्रहण किया था जिसके द्वारा अरबी काव्य की प्राणभावना एव रचना-प्रक्रिया उनके पास तक रोमाक भाषा मे पहुची थी—यह कार्य तद्युगीन फरासीसी (प्रावेंकी) चारणों-द्वारा सभव हुआ था। इसके अलावा यूनानी दर्शन के विचार मुसलमान विद्वानो-द्वारा अरबी भाषा मे लाये गये थे।

तलवार की दुनिया मे दोनो विरोधी दलो के वीरो के बीच जो सहानुभूति की भावना थी उसका उदय अप्रत्याशित बन्धुता के आविष्कार से हुआ। एदुलेशिया के समरक्षेत्र मे अदेलूशी मुसलमान तथा सीमान्त के उस पार के आइबेरी ईसाई बर्बर तब एक दूसरे के प्रति उससे कही ज्यादा घनिष्ठ भ्रातृत्व का अनुभव करते थे जितना आईबेरी ईसाई पाइरेनीज के उस पार के अपने सहधर्मियो के प्रति अथवा आइबेरी मुसलमान अपने उत्तरी अफीका के सहधर्मियो के प्रति अनुभव करते थे। जिन तुर्की बर्बरों ने खलीफा के राज्य को पददलित करने के कार्य मे इस्लाम धर्म स्वीकार कर लिया था वे सीरिया के समरक्षेत्रो मे अपने उन शत्रु समकालीन ईसाई सामतो के प्रति सहानुभूतिशून्य न थे, जो रोमन साम्राज्य को दलित करते समय ईसाई बने अपने बर्बर पूर्वजो से सभ्यता के क्रम मे कुछ ऊचे न थे। जो नार्मन फ्रैंकी आक्रमण के अगुआ थे वे भी सैलजूको की भाति ही बर्बरो से हाल में धर्म-परिवर्तन करके आये थे।

कलम की दुनिया मे जिहादियो (क्रूसेडरो) ने सीरिया मे जो अस्थायी विजय प्राप्त की थी उससे तथा उससे भी ज्यादा सिसली एव एंदुलेशिया मे दारुलइस्लाम की कीमत पर प्राप्त उनकी विजयो ने ऐसे (विद्या) प्रसारक केन्द्रो का रूप ग्रहण कर लिया जिनके द्वारा म्रियमाण सीरियाई जगत् के आध्यात्मिक कोष मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् तक पहुंच पाये। धार्मिक सहिष्णुता एवं बौद्धिक जिज्ञासा के अनुकूल वातावरण ने इस कारण पालर्मो एव टोलेडो के पाश्चात्य ईसाई विजेताओ को कुछ समय के लिए

मुग्ध कर लिया था कि यह बात खुद उनकी परपरागत धर्मान्धता के प्रतिकूल थी; वह प्रारंभिक इस्लाम का एक सहज गुण था। किन्तु इस अनुकूल वातावरण मे पाश्चात्यो ने अगली दो शतियों तक मुसलमानो एवं यहूदियों के हाथो से जो सांस्कृतिक सम्पदा ग्रहण की उसका मूल स्रोत यूनानी और सीरियाई दोनो था। सीरियाई समुदाय अरस्तू की प्रामाणिक और सन्दिग्ध कृतियां का स्रष्टा न था बल्कि केवल वाहक था। अरस्तू की ये रचनाए बारहवी शती के पाश्चात्य छात्रो के सामने अरबी से ही लैटिन मे अनूदित होकर पहुची थी।

गणित, ज्योतिष एव औषधविज्ञान मे यूनानियो के सीरियाई भाषा बोलने वाल नेस्तोरी ईसाई तथा नेस्तोरियो के अरबी-भाषी मुसलमान शिष्यो ने न केवल अपने यूनानी अग्रजो की उपलब्धियो पर अधिकार स्थापित किया और उनको सुरक्षित रखा वरं इन विषयो मे भारतीय शाखा मे भी ज्ञान प्राप्त किया तथा स्वय मौलिक कार्य भी किया। इन विषयो मे मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई जगत् ने अपने समकालिक मुसलमान वैज्ञानिकों से मुस्लिम शोध का फल ग्रहण कर लिया, इसके साथ ही उसने गणित-लेखन की उस तथाकथित अरबी-प्रणाली को भी ले लिया जो मुसलमानो ने भारत से ग्रहण की थी। जब हम बौद्धिक क्षेत्र से काव्य-क्षत्र की ओर आख उठाते हैं तो देखते है कि मरणशील सीरियाई सस्कृति के ऐंद्रुलेशी मुसलमान प्रतिनिधियो से जो कोष ग्रहण किया गया था वह एक ऐसी देशी अरबी सफलता थी जिसने काव्य की पाश्चात्य विचारधारा की बाद की सब सफलताओ को, पाश्चात्य सभ्यता के आधुनिक युग के अन्त तक, प्रोत्साहन दिया। यह इसलिए कि इस पाश्चात्य स्कूल के प्रावेकी चारण अग्रेजों ने काव्य के क्षेत्र मे अपने विचार एव आदर्श, तथा पद्य-रचना एव तुकबन्दी भी, ऐंद्रुलेशी मुस्लिम स्रोतों से ही सीखी।

आधुनिक पश्चिम विज्ञान के क्षेत्र मे अपनी मुस्लिम विरासत से बहुत आगे निकल गया फिर भी मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् की तरुणाईभरी प्रभावशील कल्पना पर सीरियाई सभ्यता के संसर्ग की चाक्षुष घोषणा, स्थापत्य के क्षेत्र मे, आज तक उन गाथिक (यह वाहियात नाम उन्हे अठारहवी शती के पुरातत्त्ववादियो ने गलती से दे दिया) यवनो द्वारा की जा रही है जिनके चेहरो पर स्पष्ट यह प्रमाणपत्र लगा हुआ है कि वे आर्मनी गिरजाघरो एव सैलजूक कारवा सरायो के अब भी प्राप्त ध्वंसावशेषो के नमूने पर बनाये गये है। बीसवी शती मे पश्चिमी यूरोप के नगरो पर अबतक उन गाथिक गिरजाघरो का प्राधान्य है जो सीरियाई जगत् के सम्पर्क से उत्पन्न मध्यकालिक पश्चिमी स्थापत्य कला-गत क्रान्ति के कारण अपने रोमनस्क पूर्वगामियो पर छा गये थे।

(३) मध्ययुगीन पश्चिम एवं यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाई जगत्

इन दोनों ईसाई जगतो को अपने मुस्लिम पडोसियो मे समझौता करने मे उतनी कठिनाई नही हुई जितनी आपस मे एक दूसरे से समझौता करने मे हुई। यह विरोध भाव इस ऐतिहासिक तथ्य का परिणाम था कि यूनानी सभ्यता ने दो समाज-कन्याओं को जन्म दिया था। ईसाई सवत् की सातवी शती के अन्त मे (११८२ से

१२०४ के[1] दुःखद वर्षों में उनके बीच अन्तिम व्यवधान निर्मित होने के लगभग पांच सौ वर्ष पहिले) साथ-साथ अवतीर्ण होने के बाद से ही प्रकृति-वैभिन्न्य एवं हित-विरोध के कारण वे दोनों एक दूसरे से दूर होती गयी। फिर दक्षिण-पूर्वी यूरोप और दक्षिण इटली मे प्राधान्य के लिए जो संघर्ष शुरू हुआ उसमें यह हित-विरोध पराकाष्ठा पर पहुंच गया। इस संघर्ष में दोनो मे से प्रत्येक यह दावा करती थी कि वही ईसाई सार्वदेशिक चर्च, रोम साम्राज्य एव यूनानी सभ्यता की एकमात्र उत्तराधिकारिणी है।

यह राजनीतिक सघर्ष, ईसाई धर्म-सम्बन्धी विवादों के आवरण में छिपकर आया। उदाहरणार्थ, जब आठवीं शताब्दी में रोमी धर्ममण्डल (Roman See) ने प्राच्य परपरानिष्ठ ईसाई जगत् में मूर्तिपूजा पर उठे विवाद में प्राच्य रोमी साम्राज्य-सरकार की मूर्तिभंजक नीति के विरुद्ध पक्ष ग्रहण किया तो यह मध्य इटली-स्थित प्राच्य रोमी साम्राज्य के अवशिष्ट खण्डों के लोगों की ओर से एक राजनीतिक निर्णय भी घोषित करने के ही समान था—यह घोषणा कि आल्पस के उस पार शार्लमेन के दादा और बाद मे उसके पिता से लम्बार्डो के विरुद्ध उस सैनिक सहायता की आशा करना उचित है जिसे वह कुस्तुनतुनिया से प्राप्त करने मे असफल रहा। ग्यारहवी शताब्दी के आधे मार्ग पर जब रोम और कुस्तुनतुनिया से सचालित कर्मकाण्डीय एकरूपता के परस्पर-विरोधी आन्दोलन आपस में भिड गये तब जिस झगड़े के कारण बाद मे १०५४ ई का विच्छेद हुआ वह दक्षिण इटली में स्थित पोप की उन धर्मयाजक प्रजाओ की निष्ठा प्राप्त करने की राजनीतिक प्रतियोगिता ही थी जो प्राच्य रोम साम्राज्य की राजनीतिक प्रजाएं थीं। किन्तु इनमे से किसी भी अवसर पर दोनों समाजो के बीच की खाई बिल्कुल अलंघ्य नही हुई।

इन दो धार्मिक-राजनीतिक सघर्षों मे से दूसरे के चालीस वर्ष बाद प्रथम क्रूसेड (जिहाद) के समय, प्राच्य रोमी सम्राट 'एलेक्जियस प्रथम कामनेनस' सिहासन पर था। उसके राज्य में से होकर ही जिहादियो का रास्ता था। इससे उसे अत्यधिक राजनीतिक चिन्ता और शारीरिक असुविधा भोगनी पडी। उसकी कन्या इतिहासलेखिका अन्ना कामनेना के लेख से ज्ञात होता है कि उसने अपनी सेनाओं को साथी ईसाइयो का रक्त बहाने की आज्ञा देने से इन्कार किया। उसने प्राच्य रोमी सेना की टुकडिया इन जिहादियों को अनातोलिया के पार पहुचाने के लिए भेजी। एलेक्सिस की इस नीति का एक अभिप्राय, अन्ना की राय मे, उनके प्रति उसकी वह चिन्ता थी कि कहीं वे तुर्की-द्वारा काट न डाले जायं। जिहादियों के प्रति एलेक्सिस (राज्यकाल १०८१ ई से १११८ ई. तक) ने जिस वक्रतुण्डी उदारता का आचरण किया वही उसके पौत्र सम्राट

[1] जिन तीन नृशंस कार्यों ने खाई को अपूरणीय बना दिया, वे थे—११८२ में प्राच्य रोमन साम्राज्य में फ्रैंकी निवासियों का कत्ले आम, ११८५ में एक प्रतिहिंसक आक्रामक दल-द्वारा सैलोनिका का लुण्ठन एवं विध्वंस, तथा १२०४ ई. (चतुर्थ क्रूसेड) में फ्रैंक-वेनिसी (Franco-Venetian) आक्रामक दल-द्वारा कुस्तुनतुनिया की लूट

मैन्युएल प्रथम (राज्यकाल ११४५-८० ई.) के व्यवहार में फ्रैंकी साथियों एव प्रथाओं के प्रति एक निश्चित भावावेग के रूप में बदल गया। दोनों पक्षो में ऐसे गिर्जाध्यक्ष (Prelates) थे, और प्राच्य रोमी पक्ष में तो ऐसे लौकिक राजमर्मज्ञ भी थे, जो दोनों ईसाई दुनियाओं में फूट दूर करने के लिए चिन्तित थे।

तब क्या कारण है कि दोनों ईसाई दुनियाओं के बीच ११८२-१२०४ के वर्षों में फूट पड ही गयी और उसके बाद तबतक बढती गयी जबतक कि पन्द्रहवी शताब्दी में, प्राच्य परंपरानिष्ठ ईसाइयों ने पाश्चात्य ईसाई पोप की धार्मिक प्रभुता को स्वीकार करने की जगह तुर्की की राजनीतिक दासता स्वीकार करने को वरीयता (Preference) नहीं दी ? निःसन्देह उस अवसर पर रोमी शर्तें ज्यादा सख्त थीं किन्तु इस अनर्थ का अन्तिम कारण शायद दोनों संस्कृतियो के बढते हुए उस विभेद में प्राप्त किया जा सकता है जो सात सौ, बल्कि एक हजार, वर्षों पहिले से ही दिखायी पड़ने लगा था। इस विभेद को बढ़ाने वाली एक स्थिति यह पैदा हो गयी कि ग्यारहवी शती में दोनों ईसाई समुदायों की आनुपातिक शक्ति एवं संभावनाओं मे आकस्मिक, अप्रत्याशित तथा सनसनी पैदा करने वाला उलट-फेर हो गया, जिसके बारे मे हम इस अध्याय के पूर्ववर्ती भाग में ध्यान दिला चुके हैं।

भाग्य के इस राजनीतिक एवं आर्थिक विपर्यय का एक परिणाम तो यह हुआ कि आगे से प्रत्येक दल ने एक दूसरे को अपनी आंखो दाम्भिक रूप में देखा। प्राच्य परंपरानिष्ठ ईसाइयों की निगाह मे फ्रैंक ऐसे नये बने रईस थे जो अन्धे भाग्य द्वारा प्राप्त पशुबल को दौरात्म्यपूर्वक प्रयुक्त करते थे; दूसरी ओर फ्रैंकों की निगाह में बैजन्ताइन लोग ऐसे चीनी गुड्डे (मैंदारिन) थे जिनके आत्मश्लाघापूर्ण दावे न तो योग्यता की दृष्टि से उचित थे, न शक्ति-द्वारा समर्थित थे। यूनानियों के लिए लैटिन (लातीनी) लोग जंगली थे; लातीनियों के लिए यूनानी बदमाश थे।

ऐसा यूनानी और लातीनी-साहित्य बहुत बड़े परिमाण मे मिलता है जिसमें फ्रैंकों और बैजन्ताइनों की पारस्परिक अप्रीति के दर्शन होते है। इनमे से हम प्रत्येक पक्ष से केवल एक-एक प्रातिनिधिक वक्ता के चन्द वाक्य यहां देते हैं। बैजन्ताइनो के प्रति फ्रैंकों मे जो द्वेषभाव था उसके साक्ष्य-स्वरूप हम क्रियोना के लोम्बार्ड बिशप ल्यूतप्रैंद की एक रिपोर्ट उद्धृत कर सकते हैं। यह बिशप ९६८-६९ मे पश्चिमी रोमन सम्राट ओतो द्वितीय की ओर से प्राच्य रोमन सम्राट के दरबार में एक मिशन पर गया था। इसी प्रकार फ्रैंकों के विरुद्ध बैजंताइन विद्वेष के प्रमाण रूप में हम उस यूनानी राजकुमारी इतिहास-लेखिका अन्ना कामनेना को उद्धृत कर सकते हैं जो प्रथम क्रूसेड या जिहाद के पहिले और मध्य में फ्रैंकों से अप्रीतिकर रूप मे सुपरिचित हो चुकी थी।

बिशप ल्यूतप्रैंद को जो कठिन राजनयिक कार्य सौंपा गया था उसमे उसे जो पद-सम्बन्धी चिन्ताओं का भार वहन करना पड़ा वह उसके समय के परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् में प्राप्त दैनिक जीवन के घटनामूलक ब्यौरों से बहुत बढ़ गया। जो महल उसे रहने के लिए दिया गया वह या तो बहुत ज्यादा गर्म था, या फिर बहुत अधिक ठंडा था, और इन गर्हित कक्षों में उसे और उसके पार्षदों को रक्षक पुलिस के पहरे के कारण

ऐकान्तिक जीवन बिताना पड़ा। व्यापारियों ने उसे खूब लूटा। मदिरा अपेय थी और भोजन अखाद्य था। दैन्यपीडित यूनानी बिशप समान रूप से असत्कारशील थे। शय्याए पत्थर की भाति कठोर थी और उन पर न तो दरिया थी, न तकिये थे। विदा होते समय उसने अपने आतिथेयों से स्कूली लड़कों की भांति बदला लिया और महल की दीवारो और टेबुल पर लातीनी भाषा मे गाली-गलौज से भरी षटपदियों की लम्बी इबारतें खिचवा दी जिनमे उसने इस बात पर बडा हर्ष प्रकट किया कि वह अन्तिम बार 'उस कभी के समृद्ध एव विकासशील परन्तु इस समय अकाल-पीडित, शपथ-भजक, मिथ्याभाषी, प्रवचक, लुण्ठनकारी, लोभी, कृपण, रिक्तमुण्डक नगर' को देख रहा है।

ल्युतप्रैद की जो बातचीत सम्राट निकीफोरस और उसके मंत्रियों से हुई उसमे दोनो ओर से तिरस्कारात्मक व्यग्यो की बौछार की गयी। बिशप की सबसे मार्मिक चोट यह थी—"यूनानी ही है जो अपधर्म की सृष्टि करते हैं; पाश्चात्य लोग उनका नाश कर देते हैं।" इसमे कोई शक नहीं कि बात सच है, क्योंकि यूनानी बौद्धिक जीव थे और धर्मविद्या की महत्त्वहीन विवेचनाओ में मदियो से अपने मस्तिष्क का प्रयोग भयावह परिणामो के साथ करते आ रहे थे, जब कि लातीनी (लैटिन) कानूनी प्राणी थे और उनमे ऐसी बेतुकी बातो के लिए धैर्य नही था। ७ जून ९६८ के एक राजकीय भोज मे ज्वलनशील शब्द रोमन ने, जिसका दावा दोनो साम्राज्य करते थे, दोनो ईसाई दुनियाओ के प्रतिनिधियों के बीच सदा धुधुवाते हुए असन्तोष को एक ज्वाला के रूप मे प्रज्वलित कर दिया है—

> "निकी फोरोज ने मुझे अपना जवाब देने का अवसर देने से इन्कार कर दिया और अपमानपूर्वक कहा -'तुम लोग रोमन नहीं हो, लोम्बार्ड हो।' वह आगे भी कुछ कहना चाहता था और मुझे उसने चुप रहने का सकेत किया, किन्तु अब मैं अपना धीरज खो बैठा और मैदान में उतर आया। मैंने घोषित किया -'यह एक कुख्यात ऐतिहासिक तथ्य है कि जिस रोमुलस के नाम पर रोमन पुकारे जाते हैं, वह भ्रातृहन्ता तथा एक वारांगना का पुत्र था - मेरा अर्थ है कि वह वैध विवाह से पैदा हुआ था—और उसने ऋण न चुकाने वाले ऋणियों, रोमन भगोड़े दासों, खूनियों तथा अन्य सांघातिक अपराध करने वालों के लिए एक अलसेशिया (Alsatia) का निर्माण किया था। वह इन अपराधियों को आश्रय देता, उनकी भीड़ की भीड़ एकत्र करता और उन्हें रोमन नाम से पुकारता था। यही वह श्रेष्ठ आभिजात्य है जिससे तुम्हारे सम्राटगण उत्पन्न होते हैं। किन्तु हम—और हमसे मेरा मतलब है लोम्बार्ड, सैक्सन, फरासीसी, लौरेनर, बवेरियन, स्वेवियन तथा बर्गंडियन—लोग रोमनों से इतनी ज्यादा घृणा करते हैं कि अपने शत्रुओं के साथ धैर्य खो बैठते हैं—हम केवल एक शब्द बोलते हैं—रोमन! क्योंकि हमारी बोली में यह अकेला ही दुर्नाम, नीचता, कायरता, लोभ, पतन, असत्य-वादिता तथा अन्य सब पापों के सम्पूर्ण समूह को अपने में समेट लेता है।"[1]

[1] ल्यूतप्रैंदी रिलेशियो द लिगेशन कान्स्तैंतिनोपोलिताना, अध्याय १२

ल्यूतप्रैंद को अपना धीरज खो देने के लिए सम्राट ने जो उत्तेजना दी उसने उसके लैटिन अतिथि को इस तरह डँस लिया कि उसको टीटानी भाषाभाषी संगी पाश्चात्यों के साथ एकता की घोषणा करते हुए सम्पूर्ण रोमनो के प्रति सर्वनिष्ठ विरोध को व्यक्त करना पड़ा। एक तदनुवर्त्ती एव अधिक अनुकूल वार्त्तालाप मे निकी फोगेज ने लैटिन एवं टीटन दोनों को शामिल करते हुए फ्रैंक शब्द का प्रयोग किया और यह प्रयोग ल्यूतप्रैद के अभिव्यक्तिमय उद्गार से उचित प्रमाणित हुआ। यद्यपि ल्यूतप्रैद प्राचीन शास्त्रीय यूनानी साहित्य के लैटिन संस्करण से पूर्णतया परिचित होने के कारण, अपनी बौद्धिक सस्कृति मे लातीनियो मे लातीनी (लैटिनो मे लैटिन) था किन्तु एक उभयनिष्ठ यूनानी सास्कृतिक पार्श्वभूमि ने उसके हृदय मे उस सस्कृति के समकालिक यूनानी उत्तराधिकारियो के प्रति कोई समगोत्रता का भाव नही जगाया था। दसवी शती के इटालवी और दसवी शती के इन यूनानियो के बीच एक चौडी खाई पहिले से ही बन चुकी थी जबकि ल्यूतप्रैंद एव उसके सैक्सन स्वामियों के बीच इस प्रकार की कोई खाई न थी।

ऊपर हमने जो कुछ उद्धृत किया है वह निश्चय ही ल्यूतप्रैद के व्यक्तित्व पर उतना ही प्रकाश डालता है जितना किसी और ज्यादा महत्त्वपूर्ण वस्तु पर, और सम्राट की उपस्थिति पर उसका भद्दा, परिहासपूर्ण चित्रण और भी प्रकाश डालता है। लोम्बार्ड बिशप घटिया तन्तु का आदमी था, और यदि उसके सामने फेंके हुए मोती, केवल इमीटेशन (कृत्रिम) मोती थे तो इस तथ्य की स्थापना करने मे उसने अपने पर भी निश्चय रूप से यथार्थ शूकर होने की छाप डाली है। समसामयिक फ्रैंको पर बैजन्ताइन समाज की श्रेष्ठता की माप उस वैषम्य से की जा सकती है जो ल्यूतप्रैंद के 'रिलेशियो' और अन्ना कामनेना के वस्तुपरक एव विवेक-सम्पन्न चित्र के बीच दिखायी पडता है। अन्ना कामनेना का यह चित्र नार्मन दुस्साहसी बोहेमुण्ड का है जो स्वर्णकेशी गौर रग वाला पशु था और जिसकी कलह-प्रियता, दगाबाजी एव महत्त्वाकाक्षा ने उसके सम्राट पिता को उससे कही ज्यादा कष्ट दिया था जितना सम्राट निकी फोरोज न कभी ल्यूतप्रैद एव उसके सैक्सन राजकीय मालिको को दिया होगा। नार्डिक मानव, जिसका निर्माण पोलीक्लीटस के आचरण-नियम के अनुपात की रचना करता था - के इस सुन्दर नमूने की शरीरसम्पत्ति के सूक्ष्म वर्णन की भूमिका अन्ना ने बडी उदार स्तुति के साथ लिखी है—

"उसके-जैसा दूसरा कोई रोमानिया में दिखायी न पडता था। कोई बर्बर या यूनानी ऐसा नहीं जो उसकी समता कर सके। वह केवल दर्शनीय चमत्कार ही न था; वह एक पौराणिक व्यक्ति था जिसके केवल वर्णन से आपकी सांस रुक जायगी।"

नारी-धाम्मिता के इस विस्फोट का दंश उसके पुच्छ भाग मे है-

"उसके हृदय में जो महती भावना उबल रही थी उसके निष्क्रमण का मार्ग प्रकृति ने उसकी बीरभावपूर्ण नासिका को बना रखा था--क्योंकि इसे तो निश्चित रूप से स्वीकार कर लेना चाहिए कि इस मनुष्य की मुखाकृति में कोई

आकर्षक वस्तु अवश्य है—यद्यपि इसके प्रभाव में उस त्रासकारी छाप से बाधा ही पड़ती है जिसे समस्त गठन व्यक्त करने को उतावला हो। एक हिंस्र पशु की निष्ठुरता सारे मनुष्य के ऊपर स्पष्ट अक्षरों में लिखी हुई है···उसकी दृष्टि में कुछ ऐसा है जिससे यह प्रकट हो जाता है। उसकी हँसी से, जो दूसरे आदमियों के कानों में शेर की दहाड़ के समान चुभती है, भी यह प्रकट होता है। उसका आध्यात्मिक एवं शारीरिक वर्ण ऐसा है मानो भयानकता एवं कामलिप्सा सर्वेव के लिए उसमें निरंकुश हो गयी हों तथा ये दोनों मारोद्वेग सनातन रूप में अपनी अभिव्यक्ति खोजते हों।''

अन्ना के समय के इस प्रमुख फ्रैंक के इस मनोरम चित्र के ही समान सजीव फ्रैंक समाज का एक सामूहिक चित्र हमें और मिलता है। इसमें अन्ना ने परंपरानिष्ठ ईसाई जगत् पर प्रथम क्रूसेड के अवतरण की भूमिका दी है—

''असंख्य फ्रैंक सेनाओं के बढ़ते आने के समाचार ने सम्राट एलेक्जियस को अत्यधिक चिन्ता में डाल दिया। वह फ्रैंकों की अप्रतिबन्ध्य जल्दबाजी, दिमागी फितूर एवं संकेत-ग्राह्यता तथा पश्चिमी बर्बरों की प्राथमिक एवं गौण, अन्य दुर्दम विशेषताओं से भली भांति परिचित थे। इसी प्रकार वह इन बर्बरों के कभी तृप्त न होने वाले उस लोभ से भी परिचित थे जिसने इन बर्बरों को इस बात के लिए बदनाम कर दिया था कि किस लापरवाही के साथ वे सन्धिपत्रों को फाड़ फेंकने के लिए बहाने ढूंढ लेते हैं। यह थी फ्रैंकों की स्थायी ख्याति, और उनके कार्य इसे पूर्णतः सिद्ध करते थे··· ··यह घटना तो उससे और भी ज्यादा अपशकुनकारी और भयानक सिद्ध हुई जितनी अपेक्षा की जाती थी। मालूम यह हुआ कि एड्रियाटिक के पश्चिम तट एवं जिब्राल्टर जलडमरूमध्य के बीच रहने वाले बर्बरों के सब कबीलों-सहित समस्त पश्चिम ने एक सामूहिक प्रवास आरम्भ कर दिया है और सामान-सहित यूरोप के मध्यवर्ती भागों से होते हुए एशिया की ओर यात्रा पर चल पड़े हैं।''

इस प्रथम क्रूसेड के इधर से निकलने के कारण सब से ज्यादा मुसीबत जो सम्राट एलेक्जियस को भोगनी पड़ी, यह थी कि इन अनचाहे, मूढ एवं भावशून्य आगन्तुकों ने एक व्यस्त प्रशासक के मूल्यवान् समय पर, बार-बार भेंट के लिए आ-आकर अत्यधिक बोझ डाला।

''एलेक्जियस ने नियम-सा बना लिया है कि वह उषा के आगमन के साथ, या कम से कम सूर्योदय के समय से, ही राजसिंहासन पर बैठ जाते हैं और यह घोषित करा देते हैं कि कोई भी पाश्चात्य बर्बर, उनसे मिलना चाहे, सप्ताह में हर रोज, बिना किसी प्रतिबन्ध के उनके हुजूर में उपस्थित हो सकता है। उनका उद्देश्य यह था कि उन लोगों को अपने निवेदन सामने रखने का अवसर दिया जाय; बाह्य उद्देश्य य‹ था कि उनके साथ वार्तालाप के कारण जो विविध अवसर मिलते हैं उनके द्वारा वह उन्हें अपनी नीति के पक्ष में प्रभावित कर सकेंगे। इन पाश्चात्य बर्बर सामंतों के कुछ कदर्य राष्ट्रीय स्वभाव हैं—जिस

वासना का भूत उन पर सवार हो जाय उसकी पूर्ति में एक अविनयशीलता, एक जल्दबाजी, एक प्रलुब्धता तथा आत्मानुशासन का अभाव—जिनमें वे संसार में सबसे आगे हैं। इसीलिए उन्होंने सम्राट की सुलभता का दुरुपयोग करने में स्वभावतः अनुशासनहीनता का परिचय दिया।

"प्रत्येक सामंत, सम्राट के सामने जाते समय, अपने साथ मनचाही संख्या में पार्षद ले जाता; दूसरा पहिले का और तीसरा दूसरे का पदानुसरण करता—यहाँ तक कि लम्बी पंक्ति-सी बन जाती थी। इससे भी बुरा यह था कि जब वे सम्राट के सामने जाते तो अपनी बात के लिए समय की कोई सीमा नहीं निर्धारित करते थे—जैसा कि ऐटिक वक्ता अपने बारे में करते थे। कोई भी ऐरा-गैरा नत्थू-खैरा सम्राट से अपनी बातचीत के लिए जितना भी चाहे समय लेता था। जैसे कि वे थे—अपनी असामान्य रूप से बुलबुलाती जिह्वा और सम्राट के प्रति अपनी सम्मान-हीनता, समय के प्रति लापरवाही, उपस्थित अधिकारियों के असन्तोष के प्रति भावना का अभाव—के कारण अपनी पंक्ति में खड़े दूसरे लोगों के लिए भी समय छोड़ने का मानों कोई विचार ही नहीं करता था; वे केवल बात करते जाते थे और अनवरत मांगे पेश करते जाते थे।

"पाश्चात्य बर्बरों के वार्तालाप का वाक्चांचल्य, लोभपरायणता तथा तुच्छता निश्चय ही राष्ट्रीय चरित्र के समस्त छात्रों को ज्ञात हैं, किन्तु जिन लोगों को उक्त अवसरों पर उपस्थित रहने का दुर्भाग्य सहन करना पड़ा है उन्हें प्रत्यक्ष अनुभव ने पाश्चात्य बर्बरों के चरित्र के विषय में और भी विशद ज्ञान प्रदान किया है। जब कार्यक्रम पर संध्या का पर्दा गिर पड़ता तब अभागे सम्राट—जिन्होंने अपना अनशन तोड़े बिना सारे दिन श्रम किया है—अपने सिंहासन से उठते और अपने निजी कक्षों की दिशा में गमन करने का संकेत करते, किन्तु यह विशद संकेत भी बर्बरों से तंग किये जाने से उन्हें मुक्ति न दे पाता। वे एक दूसरे पर वरीयता प्राप्त करने के लिए मक्कारी करते जाते—और यह सब सिर्फ उन लोगों के द्वारा ही नहीं किया जाता था जो पंक्ति में भेंट करने से बच जाते थे बल्कि जो दिन के समय भेंट कर चुके होते थे वे फिर लौटकर आ जाते और सम्राट से पुन बातचीत करने के लिए एक पर एक बहाने ढूढ़ लेते थे; उधर उस गरीब (सम्राट) को अपने पांव पर खड़े-खड़े चारों ओर फैली बर्बरों की भीड़ के कोलाहल को सहन करना पड़ता था। यह कर्त्तव्यनिष्ठ आखेट जिस सहिष्णुता एवं प्रसन्नता से भीड़ के प्रश्नों का जवाब देता, वह एक देखने योग्य दृश्य होता था; फिर भी इस अनवसरिक वार्तालाप का कोई अन्त न होता था क्योंकि जब भी कोई राजप्रतिहारी बर्बरों को चुप कराने की चेष्टा करता तो उलटे वही सम्राट-द्वारा चुप कर दिया जाता था, क्योंकि सम्राट फ्रैंकों के झट बिगड़ जाने वाले स्वभाव से परिचित थे और वह डरते थे कि कहीं कोई छोटी सी उत्तेजना एक ऐसा विस्फोट न पैदा कर दे जिससे रोम साम्राज्य को गंभीरतम क्षति पहुँचे।"

जहां दोनों ओर इस प्रकार की गंभीर घृणा का भाव था वहा एक-दूसरे से सांस्कृतिक प्रभाव ग्रहण करने की क्या संभावना हो सकती थी ? इतने पर भी फरासीसी बैंजंताइन भूखण्डों में क्रूसेड के कुछ न कुछ फल तो निकले ही; इसी प्रकार उसके कारण सांस्कृतिक पदार्थों में फ्रैंकों और मुसलमानों के बीच भी विनिमय चलता रहा।

यूनानी साहित्य-भाण्डार से अरबी में जो अनुवाद हुए थे उनका मुसलमानों से दार्शनिक एवं वैज्ञानिक सारांश प्राप्त कर मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाइयो ने अपनी मूल भाषाओं में सुरक्षित सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य (क्लासिक्स) से अपना यूनानी पुस्तकालय पूरा कर लिया। पश्चिम पर पूर्व का सांस्कृतिक ऋण और भी अप्रत्याशित परिपाटी का था। तेरहवी शती में जिन फ्रैंको (फ्रैंकिश विजेताओं) ने कुस्तुनतुनिया और मोरिया पर विजय प्राप्त की थी उन्होंने अपनी यूनानी प्रजाओं के प्रति वैसी ही अनिच्छुक किन्तु उल्लेखनीय साहित्य-सेवा की, जो अपने अज्ञान मे चीन के समसामयिक मंगोल विजेताओं ने चीनियों के प्रति की थी। चीन में कनफ्यूशशी शास्त्र का जो अस्थायी पराभव हुआ उसने जीवित देशी भाषाओं के डूबे हुए लोकप्रिय साहित्य को, चीनी सामाजिक जीवन की उस सतह तक उठने का एक विलम्बित अवसर प्रदान किया जिस तक पहुंचने और अपनी जीवनी शक्ति का ऐसा चुटीला प्रदर्शन करने का मौका उसे कनफ्यूशशी भावना वाले सिविल अधिकारियो के सांस्कृतिक दमनपूर्ण शासन में कभी नही मिला था। बात यह थी कि ये कनफ्यूशशी भावना वाले अधिकारी गण प्राचीन सिनाई क्लासिक के अचिकित्स्य रूप से निष्ठावान् दास थे। बर्बर-व्याप्त परपरानिष्ठ ईसाई जगत् में भी उसी कारण ने लोकप्रिय गीतिकाव्य एवं महाकाव्य की विकास-प्रक्रिया मे कुछ छोटे पैमाने पर वही प्रभाव पैदा किया। 'दि क्रानिकल्स आव दी मोरिया' के मोरियाती फ्रैंकी (Moreot Frankish) ग्रन्थकार ने अपने को देशी यूनानी अक्षरबल-युक्त छन्दो मे व्यक्त किया। यह क्लासिकी शृखलाओ से सर्वथा मुक्त था तथा प्रारम्भिक उन्नीसवी शती के यूनानी पद्य की एक झलक देता था।

मध्ययुगीन पाश्चात्य ईसाई जगत् तथा समसामयिक प्राच्य परपरानिष्ठ ईसाई जगत् के बीच जिन उपहारों का परस्पर आदान-प्रदान हुआ उनमे सबसे महत्त्वपूर्ण प्राच्य रोमी साम्राज्य में सन्निविष्ट सर्वसत्तापूर्ण राज्य की वह राजनीतिक संस्था थी जो पाश्चात्य उत्तराधिकारी राज्य में एक जीवित सस्था की तरह पश्चिम को संप्रेषित की गयी। यह वही उत्तराधिकारी राज्य था जो ग्यारहवीं शती मे नार्मन तलवारों से निर्मित किया गया था और जिसमे प्राच्य रोम-साम्राज्य के अपूलिया एवं सिसली-स्थित पहिले वाले प्रदेश थे। फ्रेडरिक द्वितीय होहेनस्टाफेन के व्यक्तित्व मे समाहित यह राज सम्पूर्ण पाश्चात्य आंखो के लिए ज्योतिरथ-सा बन गया—फिर चाहे वे उसके प्रति प्रशंसा से भरी हों या घृणा से। इस चक्रवर्ती (फ्रेडरिक द्वितीय) ने अपनी नार्मन माता के कारण सिसली का राज्य तो प्राप्त किया ही था- वह पाश्चात्य रोमी सम्राट भी बन गया। फिर वह प्रतिभाशाली भी था। इस विशाल निरंकुशतावाद की

उत्तरकालिक सफलताओं तथा ईसाई संवत् की बीसवीं शती तक उसकी सर्वसत्तात्मक अभिव्यक्तियों के विषय में हम इस अध्ययन में पहिले ही लिख चुके हैं।

(ग) प्रथम दो पीढ़ियों की सभ्यताओं के बीच टक्करें

१. सिकन्दरोत्तर यूनानी सभ्यता के साथ टक्करें

यूनानी इतिहास की सिकन्दरोत्तर यूनानी विचारदृष्टि में सिकन्दर की पीढ़ी के साथ अतीत से नाता टूटा और एक नया युग उतनी ही तेजी से आया जितनी तेजी से वह आधुनिक पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक पाश्चात्य विचार में आया;—'मध्यकालिक' युग से 'आधुनिक' का यह परिवर्तन पन्द्रहवीं-सोलहवीं शतियों के मोड पर हुई महत्त्वपूर्ण नयी प्रवृत्तियो के पुंज के कारण उल्लेखनीय है। इतिहास के इन दोनो नये अध्यायों में वर्त्तमान की तुलना में अतीत के मूल्य-ह्रास का सबसे स्पष्ट कारण आकस्मिक शक्ति-वृद्धि की चेतना थी। इस शक्ति-वृद्धि मे सैनिक विजयों-द्वारा व्यक्त दूसरे मानव प्राणियों पर प्रभुत्व तथा भौगोलिक खोजों एवं वैज्ञानिक आविष्कारों-द्वारा व्यक्त भौतिक प्रकृति पर प्रभुत्व, दोनों, सम्मिलित हैं। एकेमीनियाई को पराजित करने का मैसिडोनी चमत्कार उतना ही आह्लादकारी था जितना इकाओ को उखाड फेंकने का स्पेनी चमत्कार था। किन्तु इतना ही सब कुछ न था। यदि तीसरी शती ईसा-पूर्व एक यूनानी या ईसाई संवत् की सोलहवीं शती को पछाही (वेस्टर्नर) से उस संवेदन (sensation) का वर्णन करने को कहा जाता जिसके द्वारा एक नवीन युग-सम्बन्धी उसकी चेतना जीवित रही तो शायद वह अपने समाज के मानसिक क्षितिज के विस्तार की भावना की अपेक्षा अपने समाज की भौतिक शक्ति-वृद्धि की भावना को कम महत्त्व देता। अभी तक के औपाख्यानिक भारत की खोज के बाद मैसीडोनियों ने एक महाद्वीप का उद्घाटन करते हुए उसकी ओर रास्ता बनाया तथा पोर्च्युगीजो ने समुद्र पर आधिपत्य करके उधर प्रस्थान किया। भारत की खोज के इस सवेदन मे शक्ति की भावना इसलिए और बढ गयी कि इन दोनों अवसरों पर एक चमत्कारिक विदेशी दुनिया के आविर्भाव के कारण यूनानी जगत् मे, तथा यूनानी सस्कृति के रिनैसा (युगान्तरकारी परिवर्त्तन) के कारण पाश्चात्य जगत् मे जो सवेदन उत्पन्न हुआ उसमे भी नवीन ज्ञान-जनित शक्ति की भावना इसी प्रकार एक बेबसी की अनुभूति के कारण धूमिल पड गयी। बेबसी की यह अनुभूति मानव के आपेक्षिक अज्ञान के उस स्मरण से उत्पन्न हुई थी जिसका आना जगत् के सम्बन्ध मे मानव की प्रत्येक ज्ञानवृद्धि के साथ अवश्यभावी है।

इन दो युगों की तुलना और आगे जा सकती है। हम जानते हैं कि आधुनिक पश्चिम का संघात विश्व-व्यापक रहा है और हम बिना विचारे यह मान ले सकते है कि इस विषय मे सिकन्दरोत्तर यूनानी सभ्यता अपेक्षाकृत गरीब-सी दीखती है। किन्तु बात वैसी नही है। सिकन्दरोत्तर यूनानी सभ्यता का अन्तिम संघर्ष सीरियाई, हित्ती (हिट्टाइट), मिस्री, बैबिलोनी, इंडिक एव सिनाई (चीन) समाजों के साथ हुआ,—मतलब सभ्यता के क्रम में बढते जाने वाले और पुरानी दुनिया में उस समय फैले हुए प्रत्येक समाज के साथ।

किन्तु यहां आकर हमें एक महत्त्वपूर्ण विभेद पर भी ध्यान देना है। अपने समकालिको पर आधुनिक पश्चिम के संघात का अध्ययन करने में, ऐसे अवसर आये है जब हमें प्रारंभिक आधुनिक युग, जिसमे पश्चिम अपने धर्म-सहित अपनी सम्पूर्ण संस्कृति को प्रकाशित कर रहा था, और उस उत्तरकालिक आधुनिक युग मे भेद करना पड़ा है, जिसमें पश्चिम ने अपनी उस संस्कृति के लौकिक तत्त्व को प्रकाशित किया जिसमे से धार्मिक अंश अलग कर दिया गया था। यूनानी संस्कृति के विकिरण के सिकन्दरोत्तर इतिहास के अध्यायो का वैसा कोई विभाजन नही है, क्योकि पश्चिम की तुलना मे यूनानी सभ्यता बौद्धिक दृष्टि से अकालपक्व थी। वह —यूनानी सभ्यता —धर्म के क्षेत्र मे बहुत छोटे धर्मस्व (endowment), बहुत छोटी पूंजी को लेकर चली थी और सिकन्दरी युग के एक पूरी शती पहिले अपने धार्मिक कीट-कोश से बाहर निकल आयी थी।

आध्यात्मिक मुक्ति के इस यूनानी सकट में ओलिम्पस के बर्बर पन्थ की छिछोरी अनैतिकता पर घृणा, तथा आध्यात्मिक रूप से अधिक गहरे किन्तु कालिमामय उस धार्मिक जीवनस्तर से जुगुप्सा, जिसे रक्त और धरती के अधोलौकिक (Chthonic) संप्रदायो-द्वारा थपकी दी जा रही थी, शीघ्र ही आध्यात्मिक भोजन की अतृप्त बुभुक्षा से दब गयी। जब अपनी सैनिक एव बौद्धिक विजयो की प्रगति के सिलसिले मे सिकन्दरोत्तर यूनानी जोशीले गैरयूनानी धर्मों के ससर्ग मे आये तो यूनानी हृदयो मे उसके कारण जो मनोभाव उत्पन्न हुआ उसमे वचक पौरोहित्य के ठगो के प्रति अवज्ञा की अपेक्षा बहुमूल्य मोती के सुविधाप्राप्त मालिको के प्रति चिन्तापूर्ण ईर्ष्या ही अधिक थी। यूनानी जगत् को कष्टपूर्वक इस तथ्य का ज्ञान हुआ कि वह एक धार्मिक रिक्तता से पीड़ित है। यूनानी सभ्यता ने जिन समाजो को बौद्धिक एव नैतिक स्तर पर बन्दी बना लिया था उनके धर्मों के प्रति सिकन्दरोत्तर यूनानी विजेताओं की यह ग्रहणशील वृत्ति छ: अन्य समाजो पर एक आक्रामक यूनानी सघात के महत्त्वपूर्ण धार्मिक परिणामों का एक कारण थी। यदि हम सिकन्दरोत्तर यूनानी सभ्यता के धार्मिक परिणामो को उनके ऐतिहासिक परिवेश मे देखना चाहते है तो हमे उस सभ्यता के ज्वारभाटे का माप लेना ही चाहिए।

मैसीडोनी एवं रोमी सैनिक आक्रान्ताओं का प्रथम लक्ष्य अपने शिकारो का आर्थिक शोषण था; फिर भी वे यूनानी संस्कृति का प्रसार करने के श्रेष्ठतर लक्ष्य की जो बात करते थे वह कुछ मिथ्या न थी। इस बात से सिद्ध है कि उन्होने अपने शब्दों को कितनी दूर तक कार्यरूप में परिणत कर दिखाया। यूनानी विजेताओं ने यूनानी संस्कृति की आध्यात्मिक सम्पत्ति के दान का जो आश्वासन दिया उसकी पूर्ति का प्रमुख साधन उन नगरराज्यो की गैरकानूनी भूमि में निहित था जिनसे लेकर ही यूनानी नागरिक औपनिवेशिकों ने यूनानी सभ्यता की ज्योति जलायी। यह नीति खुद सिकन्दर ने भी बहुत बड़े पैमाने पर आरम्भ की थी और बाद मे साढ़े चार सौ वर्षों तक—सम्राट हदेरियन के जमाने तक—उसके मैसिडोनी एवं रोमी उत्तराधिकारियों ने उसका अनुसरण किया।

फिर भी यूनानी विजेताओं-द्वारा यूनानी संस्कृति का यह न्यूनाधिक उदार

प्रसार उतना महत्त्वपूर्ण नही है जितना गैरयूनानियो-द्वारा उसका स्वप्रसूत अनुकरण है और इसी का परिणाम यह हुआ कि सिकन्दरोत्तर यूनानी संस्कृति ने उस जमीन पर भी शान्तिपूर्ण विजय प्राप्त की जिस पर यूनानी सेनाए कभी अधिकार नही कर पायी थीं; अथवा यदि कर भी पायी थी तो सिकन्दर की मृत्यु के बाद सिकन्दरी धारा मे जो भाटा आ गया उसके कारण उन्होने उसको शीघ्रता के साथ छोड दिया था। अन्तिम शती ईसा-पूर्व तथा प्रथम शती ईसानन्तर हिन्दूकुश के आर-पार बैक्ट्रियाई (बैक्ट्रियन) यूनानी साम्राज्य का जो कुशाण उत्तराधिकारी राज्य स्थापित हुआ था उसमे यूनानी कला की और सैल्यूसीद यूनानी साम्राज्य के सासानी (सासानियन) एवं अब्बासाई उत्तराधिकारी राज्य मे यूनानी विज्ञान एव दर्शन की खेती तबतक अपनी फसल काटने के लिए रुकी रही जबतक यूनानी सैनिक विजय के अनुभव न केवल आये बल्कि आकर चले भी गये। इसी प्रकार सीरियाई जगत् ने यूनानी विज्ञान एव दर्शन मे सहजात रुचि लेना तबतक आरम्भ नही किया जबतक कि नेस्तोरी एवं मोनोफाइसाइट अपधर्मों के रूप मे ईसाई धर्म का एक अपना ही संस्करण तैयार करके एव सीरियाई भाषा के रूप मे अपना एक साहित्यिक माध्यम निर्मित कर यूनानी दासता से उसने अपने को छुड़ा नहीं लिया।

यूनानी विजेताओ ने जिन भूखण्डों पर कभी पग नही रखा था वहा भी यूनानी सस्कृति का शान्तिपूर्ण प्रवेश वही शिक्षा देता है जो यूनानी सभ्यता की मरणोत्तर कलापक्षीय एव बौद्धिक सफलताए उसके सैनिक उपनिवेश के पतन के बाद देती हैं; और यह यूनानी पाठ समकालिक सभ्यताओ के बीच हुई टक्करों के सामान्य अध्ययन के लिए एक प्रकाश देता है। इस अध्ययन के लेखक की पीढी मे, इतिहास के छात्रों को यह प्रकाश इसलिए दिखायी पडा कि उनके सामने उसकी सारी कहानी थी—जबकि इसके प्रतिकूल आधुनिक पश्चिम के साथ होने वाली वर्तमान टक्करों के विषय मे उनके ज्ञान की स्थिति ऐसी नही थी, बात यह है कि यूनानी इतिहास के थोडे से अवशिष्ट आलेखो के अनुपात से बहुत ज्यादा ब्यौरेवार ज्ञान उसके सम्बन्ध मे उपलब्ध होने पर भी सारी कहानी यहा सामने नही है; भावी पर मानव अज्ञान का जो फौलादी पर्दा पडा हुआ है उसने कहानी को सहसा बीच मे ही काट दिया है।

जिस प्रकार सिकन्दरोत्तर यूनानी इतिहास से यह सिद्ध हो गया कि समकालिको मे सास्कृतिक आदान-प्रदान के क्षेत्र मे शस्त्रबल निरर्थक है उसी प्रकार वह आधुनिक पाश्चात्य इतिहास से भी एक दिन सिद्ध होगा कि नही, इस प्रश्न का अबतक, १९५२ ई. तक, कोई उत्तर नही दिया जा सका है। और यह रहस्यमय प्रश्नबोधक चिह्न छात्र को स्मरण दिलाता है कि जो ऐतिहासिक घटनाए उसके लिए सब से कम दूर हैं, जिनके सम्बन्ध मे सर्वाधिक कागज-पत्र मौजूद है और जो उसके निकट सब से ज्यादा परिचित हैं, वे ही मानवीय विषयो की प्रकृति एवं सामान्य पथ-विषयक उसकी जांच के कार्य मे सबसे कम प्रकाश डालने वाली हैं। यूनानी समाज के साथ हुई टक्करो का बहुत दूर का और अपेक्षाकृत कम आलेखो से पूर्ण इतिहास, इस सम्बन्ध में उसे कही ज्यादा सिखाने का आश्वासन देता है—विशेषत धार्मिक स्तर पर सभ्यताओ की

टक्करों के परिणाम के विषय मे वह ज्यादा बतला सकता है ।

बीसवी शती के पाश्चात्य इतिहासकार के सामने यह स्पष्ट था कि पाँचवी शती के सिनाई (चीनी) जगत् मे यूनानी कला तथा नवीं शती के सीरियाई विश्व मे यूनानी विज्ञान एवं दर्शन को जो स्वतःप्रेरित स्वीकृति मिली थी, वह भी उसके समय तक, उसी प्रकार लुप्त हो गयी जिस प्रकार मैसीडोनी एवं रोमी सेनाओं की चमत्कारपूर्ण सफलताएं लुप्त हो गयी थी । सिकन्दरोत्तर यूनानी सभ्यता एवं उसके समकालिकों के बीच, सैनिक एव राजनीतिक की नाईं जो कला-सम्बन्धी तथा बौद्धिक व्यापार हुए थे उनका हिसाब-किताब इस समय तक बन्द हो चुका था । दूसरी ओर बीसवी शती की मानवजाति के जीवन पर इन टक्करो के परिणाम का जो संघात जारी था उसकी घोषणा मानव जाति की जीवित पीढी के अत्यधिक बहुमत ने चार धर्मों,—ख्रीष्टीय, इस्लाम, महायान तथा हिन्दूधर्म—मे से किसी न किसी के प्रति निष्ठा के रूप मे की । इन धर्मों की ऐतिहासिक अवतरण-तिथियां इस समय विलुप्त प्राच्य सभ्यताओं के साथ यूनानी सभ्यता की टक्करों के उपाख्यानो मे खोजी जा सकती हैं । और यदि मानवीय घटनाओं की भावी धारा ने इस सहज प्रेरणा को सिद्ध कर दिया कि श्रेष्ठतर धर्मों को अपने मे निहित करने वाले सार्वदेशिक चर्च, मानवकर्म के लक्ष्य की ओर की अपनी तीर्थयात्रा में मानव प्राणियो के लिए सभ्यताओ की अपेक्षा सहायता देने वाले अधिक अच्छे वाहन हो सकते हैं तो इससे प्रकट हो जायगा कि सिकन्दरोत्तर यूनानीवाद की टक्करो ने इतिहास के किसी सामान्य अध्ययन के मुख्य प्रतिपाद्य बिन्दु पर जो प्रकाश डाला है वह आधुनिक पश्चिम की टक्करो ने नही डाला ।

२. प्राक्-सिकन्दरी यूनानी सभ्यता के साथ टक्करें

जिस नाटक मे प्राक्-सिकन्दरी यूनानी समाज नायक था, वह भी उसी भूमध्यसागरी नाट्यशाला में अभिनीत हुआ जो लगभग अठारह सौ वर्षों बाद एक ऐसे नाटक का दृश्यस्थल बनने वाला था जिसमे मध्यकालिक पाश्चात्य ईसाई जगत् को मुख्य भूमिका ग्रहण करनी थी और दो प्रतिद्वन्द्वी थे—एक थी उसकी भगिनी-तुल्य सीरियाई जाति और दूसरा था उस अकाल-भग्न हित्ताई समाज का प्रस्तरीकृत अवशेष जिसने तारस के दुर्गों मे अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखा था । भूमध्य जलद्रोणी पर अधिकार करने के लिए इन दोनो दलो के बीच जो प्रतियोगिता हुई उसमें सीरियाई समाज का प्रतिनिधित्व फोनीशियनो ने किया तथा हित्ताई का प्रतिनिधित्व उन समुद्रयात्रापटु लोगों ने किया जो अपने समुद्र पार के क्षेत्रो मे (जिनमें उनके पांव जम चुके थे) अपने यूनानी प्रतिद्वन्द्वियों के बीच यूनानी भाषा मे 'तायरहीनियन' एवं लैटिन में 'इत्रस्कन' शब्द से परिचित थे ।

इस त्रिकोणात्मक प्रतियोगिता मे, जो आठवी शती ईसापूर्व मे उद्घाटित हुई, पुरस्कार थे पाश्चात्य भूमध्यसागर के वे तट जिनके सांस्कृतिक दृष्टि से पिछड़े निवासी अनधिकार-प्रवेश करनेवाले तीनों प्रतिद्वन्द्वी समाजों में से एक की भी जोड़ के न थे; यूरेशियाई स्टेप्पी की महती पाश्चात्य खाड़ी (Great Western Bay) में खुलने वाले काले सागर के तट, जिनके द्वारा यूरेशियाई स्टेप्पी से होते हुए उसके पश्चिमोत्तर

छोर पर काली मिट्टी के उपजाऊ भूक्षेत्र तक पहुंचा जा सकता था; एक और पुरस्कार था—बहुत दिनों से जुतती आ रही मिस्र की भूमि, जिसकी सभ्यता बुढ़ापे के उस बिन्दु तक पहुंच चुकी थी जिससे वह किसी दूसरे विदेशी पडोसी की सहायता के बिना एक भी विदेशी पड़ोसी को दूर रखने मे समर्थ न थी।

इन पुरस्कारों के लिए जो संघर्ष था उसमें यूनानियो को अपने अन्य दोनो प्रतिद्वन्द्वियों की अपेक्षा कई सुविधाएं थी।

उनकी सबसे स्पष्ट सुविधा तो भौगोलिक थी। एजियन मे उनका जो युद्ध का अड्डा था वह पाश्चात्य भूमध्य के निकट था; वह काला सागर के भी उससे कही ज्यादा निकट था जितना भूमध्यसागर के पूर्व छोर पर स्थित इत्रस्कन एवं फोनेशियाई अड्डे उक्त दोनो लक्ष्यो से थे। फिर यूनानियों को आबादी की दृष्टि से भी ज्यादा फायदा था क्योंकि यूनानी इतिहास के पूर्ववर्ती अध्याय मे हाईलैंड्स (उच्च भूमि) पर लोलैंड्स (नीची भूमि) की विजय के फलस्वरूप उसमे काफी वृद्धि हो चुकी थी। हेलास या यूनानी जगत् में जीविका की वस्तुओ पर जब बढ़ी हुई आबादी का भार बढ़ गया तथा यूनानियो की विस्तार-भावना को मानों एक विस्फोटक शक्ति प्राप्त हो गयी और इस स्थिति ने उन्हे समुद्रपार के देशों मे व्यापार के नाके स्थापित करने को प्रोत्साहित किया, तब उन्होने तेजी के साथ यूनानी किसानो की बड़ी-बड़ी घनी बस्तिया बसाकर उस नयी दुनिया को 'बृहत्तर यूनान' (Magna Greecia) बना दिया। हमे जो थोड़ा-सा साक्ष्य प्राप्त है उससे यह आभास मिलता है कि न तो इत्रस्कनो और न फोनेशियाइयो के पास इतना मानव-बल था कि वे उस युग मे उसका इस प्रकार उपयोग कर सकते। कम से कम इतना तो स्पष्ट है ही कि दोनो मे किसी ने नयी दुनिया मे अपनी बस्ती बसाकर उसे अपना बना लेने के यूनानी उदाहरण का अनुसरण नही किया।

यूनानियो की तीसरी सुविधा, प्रथम सुविधा की भांति ही उनकी भौगोलिक स्थिति का परिणाम थी। बात यह थी कि इन तीनो प्रतियोगियों के बीच भूमध्य की इस प्रतियोगिता के शुरू होने की तिथि असीरियाई सैनिकवाद की अन्तिम और निकृष्टतम शक्तिपरीक्षा (bout) के समय ही आ पड़ी। एशियाई मुख्य भूमि पर होने के कारण फोनीशियाइयों एवं इत्रस्कनों को इससे खतरा था जब कि यूनानी सुदूर पश्चिम मे रहने के कारण इस भय से मुक्त थे।[1]

इन कठिनाइयों पर विचार करते हुए यह उल्लेखनीय है कि उस परिस्थिति ने फोनीशियाई एवं इत्रस्कन उतना भी कर सके जितना उन्होने किया। काला सागर के लिए जो दौड हुई उसमें वे, जैसी कि कोई आशा करेगा, पूरी तरह हार गये। काला

[1] इसी प्रकार ईसाई संवत् की सत्रहवीं शती में भी द्वीपवासी अंग्रेज अपने प्रतियोगी महाद्वीपीय डचों से महासागर-पार के व्यापार के विषय में इस तथ्य के कारण लाभ में थे कि डच लोग हैप्सबर्ग एवं बोर्बन-जैसे यूरोपीय साम्राज्य-निर्माताओं की सैनिक मार के खतरे में थे जब कि अंग्रेज नहीं थे।

सागर के यूनानी मालिकों एवं यूरेशियाई स्टेप्पी की महती पाश्चात्य खाड़ी के सीथियन स्वामियों ने एक लाभदायक व्यापारिक साझेदारी कर ली। साझेदारी यह थी कि काली धरती से सीथियनों की निरुद्योगी प्रजाएं जो खाद्यान्न पैदा करेंगी उसे एजियन जलद्रोणी में बसी यूनानी नागरिक आबादियों को खिलाने के लिए समुद्र पार निर्यात कर दिया जायगा और उसके बदले राजकीय सीथियनों की रुचि के अनुकूल यूनानी विलास-सामग्री वहां से भेज दी जायगी।

पश्चिमी भूमध्य में संघर्ष ज्यादा अर्से तक चलता रहा; उसमें कितने ही उतार-चढ़ाव भी हुए पर वहां भी उसका अन्त यूनानी विजय में ही हुआ।

इससे छोटी जो दौड़ मिस्र के लिए हुई और जो तीन उद्देश्यों में एक थी तथा जिसमें यूनानियों को भौगोलिक निकटता का लाभ नहीं प्राप्त था, उसमें भी सातवीं शती ने यूनानियों को पुरस्कार मार ले जाते देखा। इस बार यूनानियों ने उद्धारक फैरो सैमेतीखुश (Psammeti Chush) प्रथम को 'समुद्र से आये निर्लज्ज आदमियों' अर्थात् आयोनियाई (आयोनियन) एवं केरियाई (केरियन) लोगों का उपहार देकर काम चला लिया। इन आदमियों को फैरो ने ६५८-६५१ ईसा-पूर्व के वर्षों में निम्न नील घाटी में असीरियाई गैरीजनों को निकाल बाहर करने के कार्य के लिए भरती किया था।

छठी शती ईसा-पूर्व के मध्य लगभग ऐसा मालूम पड़ा जैसे यूनानियों ने न केवल भूमध्य जलद्रोणी के लिए होने वाली सामूहिक प्रतियोगिता में विजय प्राप्त कर ली बल्कि दक्षिण-पश्चिम एशिया में असीरियाई साम्राज्य की विरासत पाने में भी बहुत कुछ सफलता पा ली। सैमेतीखुश के यूनानियों से प्राप्त भाड़े के टट्टुओं-द्वारा असीरियाइयों को मिस्र से निकाल बाहर करने के लगभग आधी शती पूर्व ही इन खामखा टांग अड़ाने वाले यूनानी समुद्र से आये निर्लज्ज आदमियों द्वारा अपने राज्य के क्लीशियाई तट पर धृष्ट विद्रोह करने पर सेनाशेरीब (Sennacherib) क्रुद्ध हो उठा था। यदि हम यह मान लें कि किस्मत आजमाने वाले अन्य यूनानी सैनिक उस लेस्बियाई (लेस्बियन) एंटीमेनीदास के साथ नेबुचदनेजर के अंगरक्षकों में थे जिसका नाम एवं आलेख शून्य के गर्त्त में निमग्न हो जाने से इसलिए बच गया कि वह घटना-वश कवि अलकेइयस का भाई था, तो ऐसा मालूम पड़ता है जैसे असीरियाई साम्राज्य के नव-बैबिलोनियाई उत्तराधिकारी राज्य ने भी यूनानी भाड़े के टट्टुओं को भाड़े पर रखने में मिस्र के उदाहरण का ही अनुसरण किया हो। सिकन्दर-द्वारा एकेमीनियाई साम्राज्य विजय किये जाने के पूर्व ही एकेमीनियाइयों ने इन यूनानी भाड़े के टट्टुओं को सामूहिक रूप से अपने यहां काम पर लगा लिया था। ऐसा लगता रहा होगा मानो एक सिकन्दर इतिहास के मंच पर अपनी वास्तविक तिथि से दो सौ वर्ष पहिले ही आ गया हो। किन्तु सत्य यह है कि मंच सिकन्दर के किसी प्रेत अग्रगामी के लिए नहीं वर एक यथार्थ साइरस के लिए निर्मित किया गया था।

साइरस ने लगभग ५४७ ईसापूर्व लीडियाई साम्राज्य पर और उसके उत्तराधिकारी कैंबीसस ने ५२५ ईसापूर्व मिस्र पर विजय प्राप्त की। इसके प्राय. बीस साल के अन्दर ही मिस्र एवं दक्षिण-पश्चिम एशिया में छठी शती के यूनानियों-द्वारा विजय

की जो सभावनाएं थी उनका अन्त हो गया। साइरस की जिस चोट ने अनातोलिया के पश्चिमी समुद्री तटवर्ती यूनानी नगर-राज्यो पर एक विदेशी फारसी राज्य के आधिपत्य की स्थापना की वह दोनों से ज्यादा तेज और आश्चर्यजनक थी, किन्तु कैंबीसस की मिस्र-विजय ने यूनानियो पर आगे और दोहरा आघात किया। उसने एक ओर तो निर्लज्ज मनुष्यो की सैनिक मर्यादा को नीचा कर दिया; दूसरी ओर मिस्रस्थित यूनानी हितों को फारसियो की सदिच्छा और कृपा पर छोड दिया। फिर फारसी साम्राज्य-निर्माताओ ने सीरियाई फोनेशियाइयो (Syro-Phoenicians) को जो महत् एव आकस्मिक लाभ प्रदान किया उसके कारण ये यूनानी हारें और भी गहरी हो उठी।

जिस एकेमीनियाई नीति ने यहूदियो को उनकी बैबिलोनियाई कैद से लौटने और अपने पूर्वजो के नगर यरूशलेम के इर्द-गिर्द, राजनीतिक दृष्टि से अपदार्थ मन्दिर-राज्य का निर्माण करने का अवसर दिया उसी ने समुद्री सीरियाई-फोनेशियाई (साइरो-फोनेशियन) नगरों को न केवल स्वायत्त शासन बल्कि एकेमीनियाई आधिपत्य के नीचे, परन्तु अन्य सीरियाई जातियो के ऊपर, प्रभुता करने वाला एक उपनिवेश भी प्रदान किया। इससे वे यूनानी जगत् के सबसे शक्तिमान् नगर-राज्यो के समकक्ष हो गये। आर्थिक दृष्टि से तो उनकी उपलब्धिया और भी ज्यादा आकर्षक थी; उन्होंने अपने को एक ऐसे राष्ट्रमडल के भागीदार के रूप मे पाया जो भूमि पर भूमध्य के उनके सीरियाई तट से महत् यूरेशियाई स्टेप्पी के सोगदियाई शुष्क तट पर स्थित, खेतिहर मानवो (Homo Agricola, होमो एग्रिकोला) की अत्यन्त दूरस्थ पूर्वोत्तर चौकियों तक फैला हुआ था।

इस बीच पश्चिम मे एक फोनीशियाई बस्ती का उदय हो चुका था जो सम्पत्ति एव शक्ति मे उस सीरियाई नगर से भी आगे बढ गयी थी जिससे उसका जन्म हुआ था—ठीक वैसे ही जैसे ईसाई सवत् की बीसवी शती मे आधुनिक पश्चिम की प्रमुख अतलान्तोत्तर (ट्रास-एटलाण्टिक) बस्ती उन यूरोपीय राज्यो से आगे बढ गयी जिनसे निकलकर उसके नागरिक आये थे। फोनीशियाई प्रत्याक्रमण मे कार्थेज ने नेतृत्व किया, जिसे यूनानी दृष्टिकोण से प्रथम प्यूनिक युद्ध की सज्ञा दी जा सकती है परन्तु जिसे इसी रस्साकशी के नाटक के बहुत बाद के अक ने छीन लिया है। परिणाम निर्णायक नही निकला, किन्तु इतना तो कहा जा सकता है कि छठी शती ईसापूर्व की समाप्ति होने के पहिले ही, प्रतियोगी समाजों के भीत सदस्यो के समुच्चय-द्वारा यूनानी जगत् का विस्तार, प्रत्येक दिशा मे रोक दिया गया। यह आशा की जा सकती थी कि इसके बाद सीरियाई जगत् और यूनानी जगत् के बीच के अबतक सचल प्राच्य एव पाश्चात्य सीमान्त अब उस सीमा-रेखा पर स्थिर हो जायगे जिसे एकेमीनियाई एव कार्थेजी साम्राज्य-निर्माताओ ने निश्चित किया था।

किन्तु पाचवी शती ईसापूर्व का आरम्भ होने के साथ ही यह सन्तुलन भी विच्छिन्न हो गया. अब हम इतिहास के एक अत्यन्त प्रसिद्ध युद्ध की दहलीज पर आ पहुंचे है। इतिहासकार इस अत्यन्त आश्चर्यजनक रूपवाली दुःखदायी परिणति का क्या

बता सकता है ? मानव-विषयों का एक यूनानी विद्यार्थी इस संकट का कारण किसी अनैतिक उच्छृंखलता (hybris) मे, पतन के पूर्व पैदा होने वाले अहकार मे या उस उन्माद में ढूंढ़ लेता जिससे देवगण उस आदमी को आच्छन्न कर देते हैं जिसे नष्ट करना चाहते हैं। और मानवीय स्तर पर अपनी जांच जारी रखते हुए भी एक आधुनिक पाश्चात्य शोधक शायद इस अधिप्राकृतिक स्पष्टीकरण का खण्डन करने से रुक जाता।

इस सघर्ष के फिर से चल पड़ने का मानवीय कारण एकेमीनियाई राजमर्मज्ञता की एक त्रुटि थी; यह वही भ्रान्त गणना, भ्रान्त अनुमान की त्रुटि थी जिसे साम्राज्य-निर्माता उस स्थिति मे अकसर कर गुजरते हैं जब वे पहिले के हृदयभेदी अनुभवो के कारण हताश आबादियों पर दूर-दूर तक और तीव्र गति से विजय प्राप्त कर चुके होते है। ऐसी परिस्थितियों मे साम्राज्य-निर्माता भ्रम-वश अपनी सफलता का कारण केवल अपने विक्रम को समझ बैठते है और अपने उन अग्रगामियों के ऋण को भूल जाते हैं जिन्होने साम्राज्य-निर्माता के मौके पर पहुचने और आसानी से फसल काट लेने के पहिले हल चलाकर धरती जोतने और मिट्टी तोड़ने का काम किया था। और अपनी अपराजेयता की इस मिथ्या भावना के कारण जो आत्मश्लाघा-युक्त आत्मविश्वास उनमे भर जाता है वह उन्हे अबतक दृढ एव अखण्डित लोगो पर भी बिना सोचे-समझे आक्रमण कर देने को बाध्य कर देता है। तब उन अखण्डित लोगो का सामना करने की भावना एवं सामर्थ्य देखकर आश्चर्यचकित रह जाना पड़ता है। १८३८-४२ ई मे अफगानिस्तान मे भारत के टूटते हुए मुगल राज के परित्यक्त देशो के ब्रिटिश विजेताओ को जो दुर्दशा भोगनी पडी उसकी भी कुछ ऐसी ही कहानी है। अग्रेजो ने बड़े हलकेपन से यह मान लिया था कि पूर्वी ईरान के निष्कलक हाईलैण्डर उसी आसानी के साथ, उसी पालतूपन के साथ हथियार डाल देंगे जिस आसानी के साथ उपमहाद्वीप की उस घायल आबादी ने डाल दिये थे जिसका विदेशी शासन की पाच शतियो का उत्साहभगकारी अनुभव अराजकता की एक शती की पीड़ा मे बदल गया था।

जब साइरस ने पहिले जमाने मे लीडिया के अधिराजत्व को स्वीकार करने वाली एशियाई यूनानी जातियो को पराजित करके लीडियाई राज्यों की अपनी विजय को पूरा कर लिया तब सभवत. उसने कल्पना की थी कि वह अपने उत्तराधिकारियो के लिए एक निश्चित पश्चिमोत्तर सीमान्त छोड़े जा रहा है। फिर भी लीडिया-नरेश क्रोशश के प्रति अपोलो की यह चेतावनी कि यदि वह हालीज नद को पार करेगा तो एक महती शक्ति को नष्ट कर देगा, क्रोशश के विजेता साइरस को उस समय दी जानी चाहिए थी जब वह उसी नद के दूसरे तट पर, दूरागत दृश्यो का उतना ही पूर्वबोध रखता हुआ ठहरा था, क्योंकि लीडियाई साम्राज्य को विजय करने मे साइरस, अनजाने ही, अपने उत्तराधिकारियों के लिए यूनानी जगत् से टकराने की एक ऐसी स्थिति छोड़े जा रहा था जो अन्त में एकेमीनियाई साम्राज्य की मृत्यु का कारण बनी।

पराजित लीडिया पर से होते हुए अनातोलिया के तटो तक अपने प्रभुत्व का विस्तार कर लीडिया (हालीज नद) की असन्तोषजनक नव-सीमा से साइरस मुक्त हो गया था; दारा (डैरियस) ने सोचा कि एक स्वतंत्र यूनानी अवशेष के साथ जो

असन्तोषजनक समुद्री सीमा है उससे छुटकारा पाने के लिए उसे सारे यूनानी जगत् को अपने चक्रवर्तित्व के अन्दर कर लेना ठीक होगा। जब ४९३ ईसापूर्व एशिया मे यूनानी विद्रोह की अन्तिम लपटें बुझायी जा चुकी तो उसने तुरन्त ही यूरोप-स्थित यूनानियो के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई शुरू कर दी। परिणाम मे उसे प्राप्त हुई ऐतिहासिक पराजयो की एक मालिका—मराथोन, सलामीज, प्लेटिया एव माइकेल नामक स्थानो पर। इन पराजयो को यूनानियों के बीसवी शती वाले पाश्चात्य उत्तराधिकारी अपनी ऐतिहासिक विजयो के रूप में आज भी याद करते है।

जब एशिया मे दारा की यूनानी प्रजाओ ने विद्रोह किया तो उसका उत्तर उसने यूरोप मे उनके गोतियो और सहायकों को विजय करने के निश्चय के रूप मे दिया। किन्तु ऐसा करके उसने एक सप्तवर्षीय विद्रोह (४९९-४९३ ईसापूर्व) को इक्यावन वर्ष लबे युद्ध (४९९-४४९ ई. पूर्व) मे बदल दिया, जिसके अन्त मे एकेमीनियाइयो को पश्चिमी अनातोलियाई समुद्रतट की हानि उठाकर चुप रह जाना पड़ा। इसी युग मे सिसली के यूनानियो (हेलेनो) पर कार्थेजियों ने आक्रमण कर दिया, जो आक्रामक के लिए और भी भारी सकट के रूप मे समाप्त हुआ, और पश्चिम में भूमि पर यूनानियो की इस विजय के बाद ही एक दूसरी समुद्री विजय भी उनके हाथ लगी। विजय की यह घटना तब हुई जब इटली के पश्चिमी तट पर नेपुल्स से कुछ पश्चिम की ओर क्यूमाथ मे स्थित यूनानी जगत् की कैंपेनियन चौकी पर इत्रस्कनो ने हमला कर दिया।

४३१ ईसापूर्व की मारक तिथि पर यह स्थिति थी, जब यूनानियो से यूनानियो का भ्रातृघाती युद्ध—एथेनो-पेलोपोनेशियाई युद्ध—शुरू हुआ। यूनानी समाज की छाती पर ही जो यह युद्ध आरम्भ हुआ उसने उसका विनाश कर दिया, क्योकि बीच-बीच की अल्पकालिक सन्धियो के साथ यह तबतक चलता रहा जबतक कि ३३८ ईसापूर्व मैसीडोन के सम्राट फिलिप ने बलात् एक समाधान नही करा दिया। जब यूनानियो का गृह-युद्ध चल रहा था तब कार्थेजियो और एकेमीनियाइयो दोनो को यह अदम्य प्रलोभन हुआ कि अपने यूनानी प्रतिद्वन्द्वियो के आत्मघाती उन्माद का लाभ उठा ले। इस प्रलोभन के आगे झुककर कार्थेजियो को कुछ विशेष लाभ नही हुआ किन्तु फारसियो ने बहुत अधिक सफलता प्राप्त की; हां, अपनी सफलता का लाभ वे बहुत दिनो तक न उठा सके, क्योकि यूनानी जगत् मे भ्रातृघाती युद्ध का परिणाम यह हुआ कि यूनानी या हेलेन लोग युद्धकला के सिद्ध आचार्य हो गये; और ज्योंही मैसिडोनी और रोमी युद्धाधिकारियो ने यूनानी जगत् के पुरतैनी दुश्मनो के विरुद्ध नवीन यूनानी आयुधो का प्रयोग शुरू किया, एकेमीनियाई एव कार्थेजी साम्राज्य उनकी बाढ़ मे बह गये।

इस प्रकार अपने पड़ोसियो के विरुद्ध यूनानी समाज के सैनिक एव राजनीतिक आक्रमण ने विशद क्षेत्र मे प्रवेश किया—जिसका सर्वेक्षण पूर्व अध्याय मे किया जा चुका है। किन्तु इसके साथ ही कार्य की एक सांस्कृतिक योजना भी थी जिसने सिकन्दर महान् के पहिले और बाद मे भी स्थायी एवं शान्तिपूर्ण विजयें प्राप्त की।

सिसली-निवासी, जिन्होने शस्त्रबल के सहारे यूनानियों के अभियान का सामना करने मे कुछ उठा न रखा था, उसी के साथ स्वेच्छा से अपने यूनानी आक्रमणकारियों की भाषा, धर्म एव कला को ग्रहण करते गये। यहां तक कि कार्थेजियों के काष्ठावरण के पीछे जो प्रतिबन्धित क्षेत्र था और जिसके अन्दर कोई भी यूनानी सौदागर प्रवेश नही करने पाता था, उसमे भी कार्थेजी ऐसी यूनानी वस्तुओं का आयात करते रहते थे जो उनके द्वारा निर्मित वस्तुओ से अधिक आकर्षक होती थी। यह बात कुछ उसी तरह की थी जैसे एक ओर तो नैपोलियनी फ्रास की सरकार अपने बर्लिन राज्यादेश-द्वारा ब्रिटिश माल के बहिष्कार का तमाशा करती रही और दूसरी ओर चुपके-चुपके नैपोलियनी सेना के उपयोग के लिए ब्रिटिश बूट और कोट का आयात करती रही।

एकेमीनियाई साम्राज्य के पश्चिमी प्रान्तो के निवासियो का यूनानीकरण साम्राज्य के अस्तित्व मे आने के बहुत पहिले ही आरम्भ हो चुका था। यह कार्य लीडिया राज्य के द्वारा एशियाई यूनानी नगरो से विकीर्ण यूनानी सस्कृति के प्रकाश से हो रहा था। हेरोडोटस के पृष्ठों मे क्रोशश एक उत्साही यूनानीकरणकारी के रूप मे आया है। किन्तु प्राक्-सिकन्दरी यूनानीवाद की सर्वाधिक सफल सास्कृतिक विजये इत्रस्कनों तथा इटली के पश्चिमी तट के अन्य गैर-यूनानी लोगो के मध्य सपादित हुई। इत्रस्कन स्वेच्छा से यूनानी बन गये थे और यह उनके उन रोमी-साम्राज्य-निर्माताओ की अधीनता मे आने के पहिले ही हो चुका था जिन्होने अपनी ही यूनानी सभ्यता का अधिकाश अपने इत्रस्कन पड़ोसियों से ग्रहण किया था।

यूनानियो ने इतिहास की किसी भी स्थिति में सबसे महत्त्वपूर्ण जो सास्कृतिक विजय प्राप्त की वह थी रोम के यूनानीकरण की, क्योकि रोमनो की उत्पत्ति चाहे जिनसे भी हुई हो, उन्होंने एक ऐसा काम अपने जिम्मे ले लिया था जो उनके उत्तर की ओर, पश्चिमी इटालवी तट पर बसे यूनानी उपनिवेशो तथा रोन (Rhone) डेल्टा के निकट बसे यूनानी सभ्यता के मसीलियाई (Massilian) अग्रगामियो के बूते के बाहर था। जब इटालवी यूनानी (Italiot Greeks), आस्की (आस्कन) और इत्रस्कन केल्टी (केल्टिक) बर्बर प्रत्याक्रमणो के आगे परास्त हो गये तब रोमन यूनानी सभ्यता के लातीनी सस्करण (Latinized Hellenism) को एपेनाइन, पो एव आल्प्स के ऊपर पहुंचाने का काम तबतक करते ही गये जबतक कि उन्होंने महाद्वीपीय यूरोपियन अन्तर्देश (Continental European Hinterland) के उस पार, डैन्यूबी डेल्टा से लेकर राइन के मुहाने तक और डोवर के जलडमरूमध्य के पार ब्रिटेन तक में उसकी जड नही जमा दी।

३. घास और गेहूं

समकालिक सभ्यताओ की मुठभेड़ो[1] के हमारे सर्वेक्षण ने हमे इस तथ्य मे

[1] सीरियाई समाज के साथ हुई एवं 'लेट किंगडम' के युग में मिस्री समाज के साथ हुई मुठभेड़ों के अंश इस संक्षिप्त संस्करण से निकाल दिये गये हैं।

परिचित कर दिया है कि इन मुठभेड़ों के एकमात्र फलप्रद परिणाम शान्ति के कार्य है। हम अत्यन्त शोकपूर्वक यह भी जानते हैं कि जब दो या अधिक विभिन्न संस्कृतियां एक दूसरे से उलझती हैं तो उनके कारण मूर्खतापूर्ण एवं विनाशकारी जो संघर्ष होते है उनकी तुलना में सर्जनात्मक रूप से शान्तिमय आदान-प्रदान बड़े दुर्लभ है।

यदि हम इस क्षेत्र का एक बार फिर पर्यवेक्षण करे तो हम देखेंगे कि इंडिक एवं सिनाई (चीनी) सभ्यताओं के समागम के बीच शान्तिपूर्ण आदान-प्रदान का एक उदाहरण ऐसा है जो प्रथम दृष्टि में हिंसा के कलंक से उतना ही मुक्त प्रतीत होता है जितना कि फलप्रद दीखता है। महायान भारतीय जगत् से सिनाई (चीनी) दुनिया मे प्रसरित हुआ और ऐसा दोनो समाजों मे बिना किसी युद्ध के संभव हुआ। इस आदान-प्रदान की शान्तिमयता, जिसने इस ऐतिहासिक प्रभाव की सृष्टि की, का विज्ञापन भारत से चीन को जाने वाले बौद्ध धर्मप्रचारकों तथा चीन से भारत को आने वाले बौद्ध तीर्थयात्रियों ने किया। और ये धर्मप्रचारक तथा तीर्थयात्री समुद्र के रास्ते मलक्का के जलडमरूमध्य से होकर तथा जमीन के रास्ते तारिम जलद्रोणी से होकर ईसाई संवत् की चौथी से सातवी शती तक आते-जाते रहे। जैसा भी हो किन्तु जब हम इन दोनो मार्गों मे से अधिक प्रचलित जमीन के रास्ते पर गौर करते हैं तो हमे मालूम होता है कि इस रास्ते का उद्घाटन भारतीय अथवा चीनी शान्तियात्रियो-द्वारा नही हुआ बल्कि अनधिकार-प्रवेशक हेलेनी समाज के बैक्टीरियाई (बैक्ट्रियन) यूनानी अग्रगामियो तथा इन यूनानियों के कुशाण बर्बर उत्तराधिकारियो-द्वारा हुआ था और उसे सैनिक आक्रमण के लिए ही इन युद्ध-पिपासु मानवो ने बनाया था—यूनानियो ने भारतीय मौर्य-साम्राज्य के विरुद्ध और कुशाणो ने चीनी हान साम्राज्य के विरुद्ध।

यदि हम समकालिक सभ्यताओ के बीच हुई आध्यात्मिक दृष्टि से फलप्रद किसी ऐसी मुठभेड या समागम की खोज मे हैं जिसमे किसी प्रकार के संबद्ध सैनिक संघर्ष की छाया न हो तो हमें द्वितीय पीढी की सभ्यताओ के काल के बहुत पहिले उस काल की ओर दृष्टि डालनी होगी जब हाइकसोस के आक्रमण के आघात से मिस्री सभ्यता की अपनी आयु की पूर्णता के बाद अप्राकृतिक जीवन-वृद्धि नही हुई थी। उसी पूर्ववर्ती युग मे बाईसवी और इक्कीसवी शती ईसा-पूर्व के मोड से लेकर अठारहवी-सत्रहवी शती ईसापूर्व के मोड तक हम मध्य राज्य (मिडिल किंगडम) के रूप मे एक मिस्री सार्वभौम राज्य तथा सुमेर एवं अक्काद साम्राज्य के रूप मे एक सुमेरी सार्वभौम राज्य को साथ-साथ जीवित और आपस मे बारी-बारी मे सीरियाई भूमि-सेतु (लैण्ड ब्रिज) का नियंत्रण करते देखते है और जहां तक मालूम है, इस बात को लेकर उनमे कभी शस्त्रो की झनकार नही सुनायी पड़ी। किन्तु यह बाह्यत शान्तिमय समागम भी अनुर्वर ही निकला। तब हम जो कुछ खोज रहे हैं उसके लिए और पीछे जाना होगा।

सभ्यता के इतिहास के इतने आरंभिक अध्याय की खोज करते समय आधुनिक पुरातात्त्विक अनुसन्धान के होते हुए भी, बीसवी शती के इतिहासकार को ऐतिहासिक झुटपुटे मे ही उलझकर रह जाना पडता है, फिर भी इस सावधानी के बावजूद भी, हम अपनी अस्थायी उपलब्धि का स्मरण कर सकते है कि ईसिस एवं ओसिरिस की

जिस उपासना ने मिस्री आध्यात्मिक जीवन में इतना उन्मेषकारी भाग लिया, वह उस विघटनशील सुमेरु जगत् का ही एक उपहार थी, जहां 'शोकमग्ना पत्नी' (sorrowing wife) या माता एवं उसके 'पीड़ित पति' (sorrowing husband) या पुत्र की हृदयविदारिणी एवं हृदय-सान्त्वनाकारिणी मूर्तियों ने ईश्वर एवं तम्मुज का नाम धारण कर सर्वप्रथम अवतार लिया था। यदि यह सत्य हो कि एक ऐसी उपासना, जो अन्य सब श्रेष्ठतर धर्मों की अग्रदूत या सन्देशवाहक थी, अपने को जन्म देने वाले समाज से एक समकालीन सभ्यता के बच्चो में बिना किसी झगड़े या रक्तपात के प्रसारित की जा सकी—उस रक्तपात के बिना जिससे बाद की भी समकालिक सभ्यताओ के कितने ही समागम दूषित हैं, तो मानना होगा कि हमने उन सभ्यताओं के समागम के इतिहासो पर छाये बादलों के बीच इन्द्रधनुष की एक झलक पा ली है जिनमे मास से मास का युद्ध हुआ है।

३२

समकालिकों के मध्य संघर्ष का नाटक

(१) संघर्ष की शृंखलाए (Cancatenations)[1]

यह खोज कि समकालिक समाजों के बीच होने वाले संघर्ष अकेले नही बल्कि अपने को शृखला या कारणानुबन्ध रूप मे उपस्थित करते हैं, पांचवी शती ईसापूर्व हेरोडोटस ने उस समय की थी जब उसने महाद्वीपिक यूरोपीय यूनान के स्वतंत्र यूनानी नगरराज्यो तथा एकेमीनियाई साम्राज्य के बीच होने वाले ताजे संघर्ष का विवरण लिखना आरम्भ किया था। वह ताड गया कि अपनी कथा को समझने लायक बनाने के लिए उसे उसके ऐतिहासिक पूर्ववृत्तों (antecedents) के विन्यास (setting) मे रखना ही होगा; और इस दृष्टिकोण से देखते हुए उसे धारणा हुई कि यूनानी-फारसी संघर्ष समप्रकृति संघातो या टक्करो की कार्य-कारण-शृखला की अन्तिम कडी भर है। किसी आक्रमण का असामी केवल अपनी रक्षा करके ही सन्तुष्ट नहीं हो जाता, यदि उसका रक्षण-कार्य सफल हो जाता है तो वह प्रत्याक्रमण भी आरम्भ कर देता है। इसमें सन्देह नही कि कुतर्की आधुनिक पाठक को हेरोडोटीय नाटक के आरम्भिक अंक ज्ञानवर्द्धक की अपेक्षा मनोरंजक अधिक मालूम पडते है, क्योंकि उनकी विषय-वस्तु एक के बाद एक अत्यन्त मनोरम तरुणियो के अपहरण पर आधारित है। (जैसी कि कथा के यूनानी संस्करण मे आशा की जाती है) फोनीशियाई (फोनीशियन) लोग यूनानी 'आयो' (IO) का अपहरण कर झगड़ा आरम्भ करते हैं, यूनानी लोग फोनेशियाई 'यूरोपा' का अपहरण कर उसका बदला ले लेते हैं। तब यूनानी कोल्चियन 'मीडिया' को भगा ले जाते हैं, फिर ट्राजन लोग यूनानी 'हेलेन' का अपहरण कर लेते हैं; ट्राय पर घेरा डालकर यूनानी इसका बदला लेते हैं। यह सब बडा ही मूर्खतापूर्ण था 'क्योंकि यह बात साफ थी कि ये औरतें अपने को अपहृत होने नहीं देती यदि उनकी वैसी इच्छा भी न

[1] 'कैनकॅटेनेशन' शब्द का प्रयोग प्रायः बड़े शिथिल रूप में होता है, इसलिए जो पाठक लैटिन नहीं जानते उन्हें यह बता देना लाभप्रद होगा कि 'कैटेना' का अर्थ है एक कड़ी या शृंखला। इसलिए घटनाओं का कैनकॅटेनेशन या कारणानुबन्ध एक घटना-मालिका या शृंखला-सा है जिसमें एक घटना से दूसरी घटना निःसृत होती जाती है।

होती।' और हर हालत मे पेरिस अपनी नायिका को लौटा लाने में असमर्थ था; क्योंकि यह भी स्पष्ट था कि यदि ट्राजन लोग उसे वापिस करने की स्थिति मे होते तो दस वर्ष तक घेरे मे रहने की जगह उसे अवश्य वापिस कर देते। कम से कम ये पुराणकथाए बौद्धिकता के अवगाहन से, जो हेरोडोटस की अनेक प्रियकरी विशेषताओं मे से एक है, इसी रूप मे प्रकट होती हैं। जो हो, यूनानियो-द्वारा ट्राजन युद्ध आरम्भ करने पर प्रधान देवता के रूप मे एफ्रोडाइट का स्थान ऐरेस ले लेता है; और हम लेण अपहरणो की इस लम्बी शृंखला के प्रति चाहे जितने भी अविश्वासी हों, इतना तो मानना ही पड़ेगा कि यूनानी-फोनेशियाई मुठभेड को उस कारणानुबन्ध या शृंखला का एक आरम्भिक अक मानने मे हेरोडोटस ने गहरी अन्तर्दृष्टि का परिचय दिया है जिसमें यूनानी-फारसी युद्ध सम्मिलित है।

फारसी युद्धो तक जाने वाले इस कारणानुबन्ध (शृंखला) विशेष के विषय मे हमे अपने विचार दोहराने की आवश्यकता नही है; इसकी जगह हम तुरन्त उन आक्रमणो तथा प्रत्याक्रमणो की शृंखला ढूढने का कार्य आरम्भ करेंगे जो आगे हेरोडोटसोत्तर काल तक जाती है और देखेंगे कि हमारी खोज हमे कहां ले जाती है।[1]

यूनान के फारसी आक्रमणों में जो सनसनी पैदा करने वाली पराजय हुई वह तो उस हरजाने की प्रथम किश्त मात्र थी जो इस आक्रमण ने उसके कर्ताओं के सिर पर थोपी थी। अन्तिम प्रतिशोध तो था—एकेमीनियाई साम्राज्य को जीतकर नक्शा ही बदल देने वाला मैसीडोन के फिलिप का निर्णय और उस सिकन्दर महान् ने, जिसको अपने पिता के राजनीतिक इच्छापत्र या वसीयतनामे को कार्यान्वित करने मे उतनी ही सनसनीखेज सफलता मिली जितनी जरक्सीज को अपने पिता दारा की वसीयत को पूर्ण करने मे असफलता मिली थी, इस नवीन नाटक के प्रथम अंक का उद्घाटन किया। सिकन्दर-द्वारा चतुर्थ शती ईसापूर्व एकेमीनियाई साम्राज्य तथा रोम-द्वारा तीसरी शती ईसापूर्व कार्थेजी साम्राज्य के विध्वंस ने अपने पडोसियो पर यूनानी समाज का आधिपत्य स्थापित कर दिया। यह आधिपत्य छठी शती के उन यूनानी दुस्साहसियो के महत्त्वाकांक्षापूर्ण स्वप्नो के बहुत आगे निकल गया जो व्यापारी के रूप मे टार्टेसस की ओर जलमार्ग से रवाना हुए थे, या जिन्होंने मिस्र या बेबिलोन में भाड़े के सैनिको के रूप मे काम किया था। किन्तु सिकन्दरोत्तर यूनानी आक्रमण के इस अनर्थकारी चलन ने अपने पूर्वी शिकार मे भी प्रतिक्रिया उत्पन्न की, और इस प्रतिक्रिया की आनुषंगिक सफलता ने बहुत दिनो मे विच्छिन्न सन्तुलन को विलम्बपूर्वक उस समय पुनः स्थापित कर दिया जब दर्रा दानियाल—डार्डेनेल्स मे सिकन्दर के गुजरने के हजार साल बाद उसके किये कार्यों का अन्त हो गया। समाप्ति के इस कार्य की पूर्ति उन आदिम मुसलमान अरबों ने की जिन्होने विद्युतगति से धावे कर एक जमाने मे सम्पूर्ण सीरियाई क्षेत्र को, जिसमे सीरिया से स्पेन तक का भूभाग सम्मिलित था और जो ईसाई सवत् की सातवी

[1] हेरोडोटस-सिद्धान्त पर कुछ और विचार इस भाग के अन्त में दी गयी टिप्पणियों में प्राप्त होंगे।

शती के आरम्भ तक भी रोमन साम्राज्य अथवा उसके विजीगोथिक उत्तराधिकारी राज्य के नियन्त्रण में था, मुक्त कर दिया था।

जो अरब खिलाफत एकेमीनियाई तथा कार्थेजी साम्राज्यों के पूर्व रणक्षेत्रों तक फैली हुई थी, उसके रूप में एक सीरियाई सार्वभौम राज्य की पुनःप्रतिष्ठा ने तो मुठभेड़ों की इस श्रृंखला का अन्त ही कर दिया होता। दुर्भाग्य-वश यूनानी आक्रमण का शिकार हो चुके सीरियाई समाज के अरब प्रतिशोधकर्त्ता आक्रमणकारी को उस क्षेत्र से निकाल बाहर कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए जिसमें उसने अनधिकृत प्रवेश कर लिया था; उन्होंने एक अरक्षणीय सीमा पर अपने को उपस्थित देखने की दारा की वही गलती दोहराई जिसमें पीछे न हटने देने के लिए सीमा को निरन्तर आगे बढ़ाते जाना पड़ता था। ६७३-७७ तथा पुनः ७१७ ई. में कुस्तुनतुनिया को घेरने के लिए अरबों ने तारस की प्राकृतिक सीमा-रेखा पार की; उन्होंने ७३२ ई. में फ्रांस पर हमला करने के लिए पाइरेनीज की प्राकृतिक सीमा का अतिक्रमण किया तथा अगली शती में क्रीट, सिसली एवं एपूलिया को विजित करने तथा रोम से गैरिगलियानो तक विस्तृत पाश्चात्य ईसाई राज्य के भूमध्यसागरीय तट पर मोर्चा स्थापित करने के लिए समुद्र की प्राकृतिक सीमा पार कर ली। समय आने पर, इन अन्यायपूर्ण आक्रमणों का प्रतिशोध भी सामने आया।

जिस मध्यकालिक पाश्चात्य ईसाई राजक्षेत्र की प्रच्छन्न शक्तियों को ईसवी संवत् की आठवीं-नवीं शतियों के मुस्लिम आक्रमणों ने उभार दिया था उसकी विस्फोटक प्रतिक्रिया क्रूसेडों के रूप में प्रकट हुई और फिर उस प्रतिक्रिया की प्रतिक्रिया हुई जिसकी उनके असामियों से आशा की जा सकती थी। सलादीन और उसके पहिले एवं बाद के इस्लाम के वीरों ने फ्रैंकी जिहादियों को सीरिया से निकाल बाहर किया और उस्मानलियों ने उन्हें रोमानिया से भी निकाल बाहर करने के यूनानी परंपरानिष्ठ ईसाइयों के अपूर्ण कार्य को पूरा कर दिया। जब विजेता उपाधिधारी ओथमन सम्राट मुहम्मद द्वितीय ने (राज्यकाल १४५१-८१ ई.) विघटित होते हुए यूनानी परंपरानिष्ठ राजक्षेत्र को एक मुस्लिम सार्वभौम राज्य प्रदान करने का अपना जीवन-कार्य पूरा कर दिया, तब सन्तुलन के बिन्दु पर संघर्ष तोड़ने के लिए दूसरा अवसर भी उपस्थित हुआ किन्तु उसे भी अस्वीकार कर दिया गया। जैसे आठवीं और नवीं शती के अरबी मुसलमानों ने आठवीं-नवीं शती में पाश्चात्य ईसाई राजक्षेत्र के फ्रांस, इटली तथा अन्य ऐसे स्थानों में अनधिकार-प्रवेश किया था जहां होने की उन्हें जरूरत न थी, और जैसे उनके इस कार्य ने क्रूसेडों (धर्मयुद्धों) के रूप में एक शक्तिमान् किन्तु अन्त में असफल मध्ययुगीन पाश्चात्य प्रत्याक्रमण को जन्म दिया था वैसे ही सोलहवीं-सत्रहवीं शतियों में भी तुर्की मुसलमानों ने उन स्थानों में अनधिकार-प्रवेश किया जहां होने की उन्हें जरूरत न थी और डैन्यूब को पश्चिम की गृहभूमियों तक धकियाते चले गये। इस बार पाश्चात्य प्रतिक्रिया और ज्यादा मौलिक एवं शकुनकारी रूप में प्रकट हुई।

ओथमन बालचंद्र-द्वारा पाश्चात्य ईसाई राजक्षेत्र का घेरा, पाश्चात्यों को इस बात के लिए समझाकर तैयार करने में बहुत-कुछ सफलता प्राप्त करते-करते रह गया

कि वे भूमध्यसागरीय बन्द गलियारे (Cul-de-Sac) की अपनी हानियों को कम कर ले और अपनी शक्तियो को सागर-विजय में लगाये जिसके द्वारा उन्हे संसार का स्वामी होना था, और पाश्चात्य-द्वारा इस कार्य का जो परमाश्चर्यकारी सफल उत्तर दिया गया वह ईसाई संवत् की बीसवीं शती के मध्यभाग मे अवस्थित पर्यवेक्षक को ऐसा लगा मानो एक अनुक्रिया (रिसपौंस), एक प्रत्युत्तर अथवा अनेक प्रत्युत्तरों का निर्माण किया जा रहा हो। अब हम 'आयो' एवं 'यूरोपा' के अपहरणो से बहुत दूर चले आये हैं, पर अब भी अन्त नही हुआ है।

(२) अनुक्रिया (रिसपौंस) की विविधताए

संघर्षों का, मुठभेडो का हमारा सर्वेक्षण, और शायद इससे भी स्पष्ट कहें तो, सघर्षों का सर्वेक्षण, जिसे हमने उस मालिका के प्रकार के एक चित्र या उदाहरण के रूप मे ग्रहण किया है, सूचित करता है कि प्रत्येक मुठभेड मे एक पक्ष मे कोई आक्रमण-कारी और दूसरे पक्ष में उस आक्रमण का शिकार है। जो भी हो, चूंकि इन शब्दों मे एक नैतिक फैसले का भाव निहित है, इसलिए उनकी जगह नैतिक दृष्टि से निरपेक्ष अभिकर्ता एवं प्रत्यभिकर्ता (एजेण्ट एव रीएजेण्ट) शब्दों का प्रयोग करना ज्यादा अच्छा होगा; या फिर ऐसे शब्दों का प्रयोग करना उचित होगा जिनसे इस अध्ययन के किसी पूर्ववर्ती भाग में हम परिचित हो चुके है अर्थात् चुनौती देने वाला पक्ष और चुनौती का उत्तर देने वाला पक्ष। अब हम उस प्रतिक्रिया या उत्तर—अनुक्रिया—पर विचार करेंगे और उनका वर्गीकरण करेंगे जो इस प्रकार चुनौती प्राप्त करने वाले समाजो में उत्पन्न हुए हैं।

निश्चय ही इस बात की कल्पना की जा सकती है कि मूल अभिकर्त्ता (एजेण्ट) का प्रहार इतना जबर्दस्त हो सकता है कि प्रहारग्रस्त पक्ष बिना कोई प्रभावशाली प्रतिरोध किये ही अधीन हो जाय; उसका नाम-निशान भी मिट सकता है। निस्सन्देह उन अनेक आदिम समाजों के भाग्य मे यह घटित हो चुका है जिनको दुर्भाग्यवश सभ्यताओ से प्रतिरोध करना पड़ा था। वे उसी प्रकार नष्ट हो गये जैसे मारिशस में आधुनिक पाश्चात्य मानव के प्रवेश पर डोडो पक्षी गायब हो गया था। दूसरे, जो न्यूनाधिक, डोडो से भाग्यवान् थे, अपना क्षुद्र अस्तित्व लिये हुए किसी तरह मानवी जन्तुशालाओ या सुरक्षित स्थानो मे घिसटते रहे और मानवविज्ञानियो की दिलचस्पी की सामग्री बन गये। किन्तु हमारा सम्बन्ध सभ्यताओं से है और हम पहिले ही यह सन्देह करने का कारण प्राप्त कर चुके है कि क्या कोई भी सभ्यता, यहा तक कि नाजुक और असमाधेय रूप से खण्डित मध्य एव ऐण्डियन अमेरिका की सभ्यताओं मे से भी कोई, इस प्रकार के भाग्य से पीडित हो चुकी हैं। हो सकता है कि एक लम्बी जीवन-मे-मृत्यु के बाद फिर उनका उत्थान हो, जैसे सीरियाई समाज ने यूनानी समाज के दुःस्वप्न के अधीन विलीन होने के हजार वर्ष बाद पुनः अपनी जीवन-यात्रा शुरू की थी।

किसी आक्रान्त सभ्यता के अन्दर विविध प्रकार की जो प्रतिक्रियाए होती हैं उनका सर्वेक्षण करने में हम आरम्भ उनके साथ करेंगे जो प्रकार में उस कारंवाई के

मुहतोड़ जवाब के रूप में हैं जिससे उनकी उद्भावना हुई है। और मुँहतोड़ जवाब का सबसे प्रधान रूप है—सैनिक बल का जवाब सैनिक बल से देना। उदाहरणार्थ, आक्रामक ईरानी मुस्लिम सैनिकवाद के हिन्दू एवं परम्परानिष्ठ ईसाई पीड़ितों ने स्वयं भी सैनिक दृष्टि से उग्र होकर उसका तुर्की-बतुर्की जवाब दिया। सिखों एवं मराठों ने मुगलों को तथा यूनानियों एवं सर्ब राष्ट्रवादियों ने उस्मानलियों को ऐसा ही जवाब दिया था। इतिहास ऐसे दृष्टान्तों से भरा पड़ा है जिनमें सैनिक दृष्टि से दुर्बल किसी पक्ष ने अपने आक्रामकों के सैनिक कौशल में कुशलता प्राप्त करके उनका जवाब दिया है। स्वीडेन के चार्ल्स द्वादश के हाथों नार्वा में अपनी सेना की अपमान-कारक पराजय पर रूसी जार पीटर महान ने कहा था— 'यह आदमी खुद ही बता देगा कि उसे कैसे हराया जा सकता है ?'' महत्त्व इस बात का नहीं है कि उसने सचमुच ये शब्द कहे या नहीं क्योंकि तथ्य स्वयं ही अपनी कथा कह देते हैं और तथ्य ये हैं कि चार्ल्स ने सिखाया था और पीटर ने सीखा था, और चार्ल्स हार गया।

पीटरी शासन के साम्यवादी उत्तराधिकारी पीटर से भी एक कदम आगे बढ़ गये। जर्मनी और संयुक्त राज्य, जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद रूस के क्रमागत शत्रु बन गये थे, की औद्योगिक एवं सैनिक प्रविधियों में कुशलता प्राप्त करने तक पर सन्तोष न करके रूसी साम्यवादियों ने युद्ध के एक नये ही रूप की रचना की जिसमें शरीर-बल से लड़ने की पुरानी फैशन वाली प्रणाली का स्थान एक आध्यात्मिक संघर्ष ने ले लिया। इस आध्यात्मिक संघर्ष में प्रधान अस्त्र था 'वैचारिक' प्रचार। लौकिक शक्ति की राजनीति के क्षेत्र में एक नये अस्त्र के रूप में साम्यवादियों ने जिस प्रचार-साधन से काम लिया वह उसके प्रयोक्ताओं-द्वारा कोई शून्य में से नहीं निर्मित किया गया था। उसे प्रथम रूप देने वाले महत्तर धर्मों के प्रचारक थे, उसके बाद विक्रयकला के लिए आधुनिक पाश्चात्य समाज ने उसे अपनाया और इस्तेमाल किया था।

समकालिक पाश्चात्य व्यावसायिक विज्ञापन-कला ने अपनी सजावट में जो प्राचुर्य और 'बाजार-सम्बन्धी शोध' (मार्केट-रिसर्च) में जो उद्यमशीलता प्रदर्शित की उससे आगे तो साम्यवादी प्रचार नहीं जा सका किन्तु उसने ऐसे परिणामों पर ध्यान केन्द्रित किया और उनमें सफलता भी प्राप्त की जो इनसे न केवल भिन्न थे वर अधिक महत्त्वपूर्ण भी थे। उसने अपने बारे में सिद्ध कर दिया कि जो पाश्चात्य प्राणी आध्यात्मिक रूप से बुभुक्षा-पीड़ित थे उनके एक लम्बे युग से मूर्छित उत्साह को फिर से जमाने की योग्यता उसमें है। जिसके बिना आदमी जी नहीं सकता उस रोटी के लिए ये पाश्चात्य लोग इतने भूखे थे कि बिना यह पूछे कि ये शब्द ईश्वर के हैं या नास्तिक के, साम्यवाद ने उन्हें जो कुछ दिया उसे वे निगल गये। साम्यवाद ने ईसाई धर्मोत्तर मानव का आवाहन किया कि वह 'उचित रूप से तिरस्कृत' परलोकवाद के स्वर्ग की 'बालसुलभ' गृहस्मृति से अपने को मुक्त कर ले और एक 'अस्तित्वहीन' ईश्वर के प्रति उसकी जो निष्ठा है उसे वह अपने सामने उपस्थित मानवजाति के प्रति हस्तान्तरित कर दे तथा पृथिवी पर ही स्वर्ग प्राप्त करने के कार्य में अपनी सारी शक्तियां लगा दे। वस्तुतः शीतयुद्ध भौतिक शस्त्रों के क्षेत्र में उठ खड़ी चुनौती का

प्रचार के स्तर पर एक उत्तर था। और पुराने ढग की सैनिक चुनौती ने असैनिक स्तर पर उत्तर की जो प्रेरणा की, उसमें यह कोई पहिला ही उत्तर न था।

किन्तु जब पश्चिमवासी ने अपने को याद दिलाया—यदि उसे याद दिलाने की जरूरत थी—कि यह वैचारिक प्रचार एक ऐसी साम्राज्यवादी शक्ति के शस्त्रागार का गौण अस्त्र मात्र है जिसने सैनिक बल मे पहिले से ही अपने को पूरी तरह सज्जित कर लिया है तो साम्यवादी रूस के प्रति आध्यात्मिक अनुक्रिया (रेसपौंस) आध्यात्मिक रूप मे उतनी आकर्षक नही रह गयी। अब हम ऐसे दृष्टान्तो को लेंगे जिनमे शरीर-बल के जवाब के रूप में शरीर-बल का पूर्णतः बहिष्कार किया गया। किन्तु उनमें किसी नैतिक श्रेष्ठता की कल्पना करना गलत होगा। ऐसे दृष्टान्तो मे आम तौर से यह दिखायी पड़ता है कि या तो शरीर-बल का पर्याप्त प्रयोग सम्भव न था या पहिले उसके प्रयोग में असफलता प्राप्त हो चुकी थी।

सैनिक चुनौती के शान्तिमय उत्तर का एक महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त एकेमीनियाई युग में सीरियाई समाज-द्वारा बैबिलोनी जगत् के घेरे मे मिल जाता है। यह उन ईरानी बर्बरों के सांस्कृतिक धर्मपरिवर्तन का परिणाम था जो एक सार्वभौम राज्य के शासक हो गये थे। इस प्रकार अपने बैबिलोनी विजेताओं को सीरियाई सस्कृति के जिन मिशनरियों या धर्मप्रचारकों ने पराजित कर दिया था वे न तो सैनिक और न व्याव-सायिक दुस्साहसी ही थे : वे 'अपनी भूमि से उजड़े हुए लोग थे' जिन्हे असीरियाई या बैबिलोनियाई समर-सामन्तों ने इस उद्देश्य से निर्वासित कर दिया था कि उनके द्वारा उनके प्रियतम इसराइल या जूडा की सैनिक एव राजनीतिक शक्ति का पुन: स्थापन सदा-सदा के लिए असम्भव हो जाय; और जहा तक इस विषय का सम्बन्ध है उनके विजेताओं का हिसाब-किताब ठीक निकला। जिस प्रतिक्रिया से बैबिलोनियाई सैनिक-वादियों के सीरियाई पीड़ितों ने अपने उत्पीड़को के हाथ से पहल (इनीशियेटिव) अपने हाथ में छीन ली उसकी कल्पना भी उत्पीड़को ने नही की थी। उत्पीडक सांस्कृतिक स्तर पर कोई उत्तर देने की सम्भावना की कल्पना तक करने में इस पूर्णता के साथ असफल रहे कि अपने ही हाथों उन्होंने अपने पीड़ितो को सास्कृतिक प्रचार-क्षेत्र मे स्थापित कर दिया। यदि उन्हें उनकी इच्छा के विरुद्ध बलात् वहा नियुक्त न किया गया होता तो वे हर्गिज वहां की यात्रा न करते।

इस प्रकार उन गैर-यहूदियों—जेटाइलो में सांस्कृतिक प्रभाव की छाप डालने के प्रयत्न मे, जिनके बीच विदेश में वह फैल गया था, सीरियाई दायसपोरा अपना साम्प्रदायिक अस्तित्व सुरक्षित रखने की चिन्ता से ही प्रेरित हुआ था। यहूदी तथा दूसरे जड़ से विस्थापितों के इतिहासों में यही चिन्ता अपने को अलग और विच्छिन्न कर लेने की प्रतिकूल नीति के रूप में भी व्यक्त हुई। और उत्पीडन के उत्तर मे यह आत्मविच्छेद उस प्रतिक्रिया के प्रकार का एक दूसरा रूप है जो कार्रवाई के एक दूसरे ही स्तर पर कार्य करती है—उस कार्रवाई के जिसका कि वह उत्तर है। 'पृथक्तावाद' की यह नीति तब अपने सरलतम रूप में व्यक्त होती है जब ऐसे समाज-द्वारा उसका आचरण किया जाता है जिसका निवास भौतिक गढ़ में होता है। द्वीपवासी अपानी

समाज की जब प्राक्-औद्योगिक पश्चिम से पहिली मुठभेड़ हुई तब उसने अपने पुर्तगाली अनधिकार-प्रवेशकों के प्रति ऐसा ही रुख अपनाया था; प्रायः इसी युग में इन्हीं अनधिकार-प्रवेशकों को अपने पर्वतीय दुर्गों के बीच अबीसीनिया-वासियों ने भी ऐसा ही उत्तर दिया था। लुप्त भारतीय समाज के तन्त्रवादी महायान जीवाश्म के लिए तिब्बत का पठार ऐसा ही एक अगम्य गढ़ था। किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से भौगोलिक तथ्यों से रक्षित दैहिक पृथक्करण के ऐसे किसी चमत्कार की तुलना उस मनोवैज्ञानिक पृथक्तावाद से नही की जा सकती जो अपने अस्तित्व के प्रति संकट उपस्थित होने पर दायसपोरा ने उत्तर रूप मे ग्रहण किया था। क्योंकि इस दायसपोरा को इस संकट का सामना उन भौगोलिक परिस्थितियों मे करना पड़ा था जिन्होंने उसको कोई सहायता पहुंचाने की जगह उसे उलटे अपने पड़ोसियो की दया पर छोड़ दिया था।

ऐसा पृथकतावाद एक निपट निषेधात्मक कार्रवाई है और जहां भी इसे किसी मात्रा मे भी कोई सफलता प्राप्त हुई है वहा वहा उसके साथ सामान्यतः और अधिक निश्चयात्मक प्रतिक्रियाएं भी साथ लगी पायी जाती रही है। एक दायसपोरा के जीवन मे उसका मनोवैज्ञानिक आत्मविच्छेद असम्भव ही सिद्ध होगा यदि उसका आचरण करने वाले लोग उसके साथ-साथ आर्थिक स्तर पर प्राप्य आर्थिक सुविधाओं का लाभ उठाने मे विशेष कुशलता प्राप्त करके न दिखला देंगे। अलभ्य सीमाओ या सैनिक पराक्रम के कृत्रिम विकल्प से अपने को सज्जित करने के लिए दायसपोरा के दो मुख्य साधन होते है—१. आर्थिक विशेषज्ञता के लिए एक अप्राकृत कुशलता तथा २. परम्परागत विधि (कानून) की छोटी से छोटी बातो का निष्ठापूर्वक पालन।

सांस्कृतिक स्तर पर सैनिक बल का उत्तर देने का उपाय भी उन समाजो-द्वारा प्रयुक्त होता रहा है जो किसी विदेशी शक्ति-द्वारा यद्यपि दायसपोरा की असहाय स्थिति मे नही पहुंचाये गये किन्तु उसकी टक्कर का तीव्र आघात जिन्हे प्राप्त हुआ है। उस्मानलियो की परम्परानिष्ठ ईसाई रिआया और मुगलों की हिन्दू रिआया दोनो ने ही इन तलवारबाजो का तख्ता अपनी कलम से उलट दिया। भारत और परम्परानिष्ठ ईसाई जगत् के मुस्लिम विजेता अपनी अतीत सैनिक विजयो की मृग-मरीचिका के कारण इतिहास के उस आगामी अध्याय की यथार्थताओ के प्रति अन्धे हो गये जिसमे उनका राज्य विभाजित होकर फ्रैंको के हाथ मे चला गया। रिआया ने पश्चिम की आगामी विजय का आभास पा लिया और अपने को नयी व्यवस्था के अनुकूल ढाल लिया।

किन्तु सैनिक बल की चुनौती के जिन सब अहिंसक उत्तरों का अबतक पर्य-वेक्षण किया गया है, महत्तर धर्म का निर्माण करने का अत्यन्त शान्तिपूर्ण पर साथ ही आत्यन्तिक रूप से विध्यात्मक—रचनात्मक—उत्तर उन सबको लांघ गया है। अपने प्राच्य समकालीनो पर यूनानी समाज के संघात का उत्तर साइबील पूजा, आइसिस पूजा, मिथ्रवाद, ईसाई धर्म एवं महायान के अवतरण-द्वारा इसी प्रकार दिया गया था। इसी प्रकार सीरियाइयों पर बैबिलोनी समाज का सैनिक संघात जूडाधर्म और जर-थुस्त्रीय धर्म के अवतार का कारण हुआ। किन्तु यह बात अवश्य है कि उत्तर का यह धार्मिक प्रकार हमारी वर्तमान जिज्ञासा की सीमा के बाहर चला जाता है। वह हमें

ऐसे विविध मार्गों पर ले जाकर खड़ा कर देता है जो एक सभ्यता की चुनौती का दूसरी सभ्यता-द्वारा उत्तर देने से निर्मित हुए है, क्योंकि जब दो सभ्यताओं के बीच होने वाली टक्कर के कारण एक उच्चतर धर्म का उदय होता है तो उस नवीन अभिनेता का प्रांगण मे प्रवेश एक नवीन अभिनेता-मण्डली एवं विषय-वस्तु वाले नवीन नाटक की सूचना देता है ।

33

समकालिकों के बीच संघर्ष के परिणाम

(१) असफल आक्रमणों का परिणाम

समकालीन सभ्यताओं के बीच होने वाले किसी संघर्ष का परिणाम निश्चित रूप से दोनों पक्षों के लिए विघ्नकारी होता है। यह बात अत्यन्त अनुकूल परिस्थितियों में भी घटित होती है, जैसे उस समय भी जब कोई सभ्यता अपनी विकासमान अवस्था में होने के कारण सफलतापूर्वक आक्रमण का निराकरण कर देती है। इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उदाहरण तब देखने को मिलता है जब एकेमीनियाई साम्राज्य-द्वारा किये गये आक्रमण का यूनानी समाज-द्वारा निराकरण कर दिये जाने के बाद भी उस पर पड़े प्रभाव की ओर हम दृष्टि डालते हैं।

इस सैनिक विजय का प्रथम व्यक्त सामाजिक परिणाम यह हुआ कि हेलेनवाद या हेलेन संस्कृति को एक ऐसी स्फूर्ति प्राप्त हुई कि वह प्रत्येक कार्यक्षेत्र में पुष्पित हो उठी। फिर भी ५० वर्ष के अन्दर ही इसी संघर्ष का राजनीतिक परिणाम यह हुआ कि घोर संकट आया जिसे यूनानी पहिले तो दूर करने में असमर्थ रहे, फिर उसकी क्षतिपूर्ति करने में भी उन्हें असफलता ही प्राप्त हुई। उसके इस सलामीनियनोत्तर (Post-Salaminian) राजनीतिक संकट का मूल वही एथेंस का आकस्मिक रूप से गौरवपूर्ण प्रवेश था जो सलामीनियनोत्तर यूनानी सांस्कृतिक सफलताओं का भी मूल कारण रह चुका था।

हमने अन्यत्र इस अध्ययन में लक्ष्य किया है कि पूर्ववर्ती फारसी महायुद्ध के काल में हेलास (यूनान) ने एक ऐसी आर्थिक क्रान्ति में सफलता प्राप्त की थी जिसके द्वारा उसने राजक्षेत्र में वृद्धि न होने पर भी वृद्धिशील जनसंख्या का भार वहन किया था। पुरानी आर्थिक व्यवस्था में प्रत्येक यूनानी नगर-राज्य आर्थिक रूप में एक स्वतन्त्र घटक था; उसकी जगह उन्होंने जो नयी अर्थव्यवस्था स्थापित की, विशेषज्ञता तथा अन्तर्निर्भरता उसकी प्रमुख विशेषताएं थीं। इस आर्थिक क्रान्ति में एथेंस ने निर्णायक भाग लिया था, किन्तु इस नयी अर्थव्यवस्था की रक्षा तबतक सम्भव न थी जबतक कि उसी प्रकार की राजनीतिक शासन-व्यवस्था के ढांचे में उसे समाहित न कर दिया जाता। छठी शती ईसापूर्व की समाप्ति होने के पहिले ही राजनीतिक एकीकरण का कोई न कोई रूप यूनानी जगत् की सबसे अनिवार्य सामाजिक आवश्यकता था, और

ऐसा मालूम होता था कि उसका समाधान सोलन एवं पीसीस्ट्रैटस के एथेंस-द्वारा नही वरं शिलोन एवं क्लियोमीस के स्पार्टा-द्वारा प्राप्त होगा।

किन्तु दुःख की बात यह थी कि दारा ने यूरोपीय एवं एशियाई हेलास (यूनान) को एकेमीनियाई शासन के अन्तर्गत लाने का जो दुर्भाग्यपूर्ण निश्चय कर लिया और उसके कारण हेलास के सामने जो सकट आ गया उसमे प्रधान भूमिका का अभिनय स्पार्टा ने एथेंस के ऊपर छोड़ दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जिस हेलास के एकीकरण-द्वारा मुक्ति लाभ करने की आवश्यकता थी उसके अन्दर लगभग समान शक्ति वाले दो प्रतियोगी उद्धारकों की उपस्थिति का संकट पैदा हो गया। इस स्थिति का विस्फोट हुआ एथेंस एवं पेलोपोनेशिया के बीच युद्ध तथा उस युद्ध से निर्गत परिणामों में।

राजनीतिक ध्रुवण (Polarization) या खतरे के केन्द्रीकरण का यह संकट ही वह अदृष्ट था जिससे यूनानी जगत् के उत्तराधिकारी परम्परानिष्ठ प्राच्य ईसाई जगत् (Orthodox Eastern Christendom) का, अपने जन्मकाल में ही, एक ऐसे सीरियाई समाज पर और भी आश्चर्यजनक विजय के अनन्तर ही, पाला पड गया जो अरब खिलाफत के रूप में पुन.प्रतिष्ठित हो गया था। ६७३-७७ मे कुस्तुनतुनिया पर अधिकार कर लेने का जो प्रयत्न अरबो ने किया उसके बाद ही परम्परानिष्ठ ईसाई राज्य आत्मघात करते-करते रह गया। यह घटना उस समय हुई जब अनातोलियाई और आर्मीनियाई सैनिक दलों में श्रेष्ठता के लिए भ्रातृघाती (fratricidal) संघर्ष होने का खतरा पैदा हो गया। खैर, किसी तरह सम्राट लियो तृतीय एव उसके पुत्र कास्टै-टाइन पचम की प्रतिभा के कारण स्थिति से रक्षा हो गयी। इन दोनो सम्राटो ने प्रतियोगी सैनिक दलो को समझाकर इस बात पर राजी कर लिया कि वे दोनो एक एकात्मक प्राच्य रोम-साम्राज्य मे अपने को विलीन कर अपने झगड़ो को खत्म कर दे। यह बात दोनो दलों की निष्ठा को अपील कर गयी क्योकि इसमे मृत रोम के पुनरुदय की भावना थी। किन्तु किसी प्रेत (ghost) का उत्थान मुक्ति का कोई ऐसा साधन नही है जिसे बिना हानि उठाये ग्रहण किया जा सके, फिर एक बाल परपरा-निष्ठ ईसाई राज्य को निरंकुश सत्तावादी राज्य के दु:स्वप्न से बोझिल करके लियो-साइरस ने इस समाज के राजनीतिक विकास को दुर्भाग्यपूर्ण, और कालान्तर मे साघातिक, मोड प्रदान किया।

यदि हम इतिहास के असफल आक्रमणो के परिणामों के उदाहरण लें—विजयी प्रत्यर्थियो के आक्रमणो के नही बल्कि असफल कर दिये गये आक्रमणकारियों के आक्रमणो के, तो हम देखेंगे कि परिणामकारी चुनौती कठोर एवं निर्णायक सिद्ध हुई है।

उदाहरण-स्वरूप, हित्ताइतो ने चौदहवीं एवं तेरहवीं शती ईसापूर्व मिस्र के एशियाई राजक्षेत्रो को विजय कर लेने की जो असफल चेष्टा की उसके कारण वे अति प्रयास से इस बुरी तरह दुर्बल हो गये कि मिनोत्तर (Post-Minoan) देशत्याग (वोल-कर-वान-डर-उंग, Volkerwanderung) की तरंगों में विलीन ही हो गये और उसके बाद केवल तारस के बगल-बगल प्रस्तरीकृत जातियों (Fossil Communities)

के झुरमुट के रूप में रह गये। इसी प्रकार अपने फोनीशियाई एवं इत्रस्कन प्रतियोगियों के विरुद्ध सिसिलियोत यूनानियों (Siceliot Greeks) ने जो असफल आक्रमण किया उसने एक राजनीतिक पक्षाघात का अपेक्षाकृत हलका रूप ग्रहण किया जिसके कारण उनकी कला-सम्बन्धी एवं बौद्धिक कर्मशीलता का अन्त नहीं हुआ।

(२) सफल आक्रमणों के परिणाम

(क) समाज-सस्था पर प्रभाव

इस अध्ययन के किसी पूर्व भाग मे हम यह विचार प्रकट कर चुके है कि समकालीनो के बीच होने वाले जिन सघर्षों मे आक्रामक के सघात का परिणाम आक्रामक के सास्कृतिक विकिरण-द्वारा आक्रान्त शरीर मे सफलतापूर्वक प्रवेश करने के रूप मे होता है उनमे मुठभेड करने वाले दोनो पक्ष यह सिद्ध कर देते हैं कि वहा पहिले से ही विघटन की प्रक्रिया चल रही थी। हम यह भी बता चुके हैं कि विघटन की एक कसौटी समाज-सस्था का एक और ऐसे अल्पमत के रूप में विभाजित हो जाना है जो सर्जनशील होने की जगह केवल प्रभविष्णु हो उठता है, और दूसरी ओर ऐसे श्रमजीवी वर्ग के रूप में विभक्त होना है जो नैतिक दृष्टि से अपने पूर्ववर्त्ती नेताओं से विच्छिन्न हो गया है —उन नेताओ से जो केवल मालिक बनकर रह गये है। इस तरह का सामाजिक विभेद प्राय ऐसे समुदाय के समाज-शरीर मे पहिले से ही हो जाता है जिसका सास्कृतिक विकिरण अपने पडोसी के समाज-निकाय (बाडी सोशल) मे सफलतापूर्वक प्रवेश कर रहा हो। इस सदा ही दुर्भाग्यपूर्ण एवं प्राय ही अवाछित सफलता के सर्वप्रमुख परिणामस्वरूप सामाजिक रोगलक्षण समस्या को और जटिल बना देता है। आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग का विजातीयकरण सदा ही ऐसे सकट उत्पन्न करता है।

श्रमजीवी वर्ग आन्तरिक रूप से ही समाज मे एक कदाकार तत्त्व होता है। जब उसका शुद्ध देशज निर्माण होता है तब भी यह तथ्य ऐसा रहता है, किन्तु जब उसकी सख्या बढ जाती है और उसका सास्कृतिक साचा विजातीय आबादी को ग्रहण कर लेने के कारण विविधतामय हो जाता है तब इस कदाकारता मे तीव्र गति से वृद्धि हो जाती है। इतिहास ऐसे साम्राज्यो के आकर्षक उदाहरण प्रस्तुत करता है जो अपने विजातीय श्रमजीवी वर्ग को बढाकर अपने लिए नयी समस्याए खडी करने के अनिच्छुक रहे है। रोमी सम्राट आगस्टस ने जान-बूझकर अपनी सेनाओ को यूफ्रेटस के आगे अपनी सीमाएं बढ़ाने से मना कर दिया था। इसी प्रकार अठारहवी शती मे, और बाद मे प्रथम विश्व-महायुद्ध के पूर्वार्द्ध की जर्मन विजयों के युग में आस्ट्रियन हैप्सबर्ग साम्राज्य ने अपनी सीमाएं दक्षिण-पूर्व की ओर बढाने और अपनी पहिले से ही बढ़ी विविधतापूर्ण आबादी में स्लाव तत्त्वों की वृद्धि करने मे अनिच्छा प्रकट की। इसी महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् सयुक्त राज्य अमेरिका ने बिलकुल दूसरे साधनो से अर्थात् १९२१ एवं १९२४ ई. के कानूनों-द्वारा विदेशो से आने वाले उन भावी आप्रवासियों (इम्मीग्रेंट्स) की संख्या को बहुत घटाकर यही लक्ष्य सिद्ध किया। उन्नीसवी शती में संयुक्त राज्य की सरकार ने उस आशावादितापूर्ण सिद्धान्त पर चलने का प्रयास

किया था जिसे यहूदी उपन्यासकार इस्राइल जैंगविल ने 'द्रवणशील पात्र' (मेल्टिंग पाट) का व्यग्यपूर्ण नाम दिया है। उस समय यह मान लिया गया था कि सब आप्रवासी, या कम से कम यूरोप से आने वाले सब आप्रवासी आसानी से 'ऊन में रंगे' (dyed in the wool) देशभक्त अमेरिकनो के रूप मे बदल जायेंगे और इसीलिए कि यूनियन के विस्तृत क्षेत्र औद्योगिक दृष्टि से बहुत कम आबादी वाले थे। प्रजातन्त्र 'जितने ही ज्यादा उतने ही खुश' वाले सिद्धान्त के अनुसार सबका स्वागत करने को अच्छा समझता था। प्रथम विश्व-महायुद्ध के बाद इससे अधिक उल्लासहीन दृष्टिकोण का प्रसार हुआ। यह अनुभव किया गया कि 'द्रवणशील पात्र' पर बहुत ज्यादा बोझ बढ़ जाने का खतरा आ गया है। दूसरा प्रश्न यह आ खड़ा हुआ कि क्या विजातीय श्रमिकवर्गीय भौतिक सस्थाओ के बहिष्करण से विजातीय श्रमिकवर्गीय आध्यात्मिक विचारो—अपानी शब्दावली मे 'खतरनाक विचार'—का भी निराकरण हो जायगा? इसका उत्तर 'नहीं' मे प्राप्त हुआ।

किसी सफल आक्रामक सभ्यता को सामाजिक मूल्य चुकाना पड़ता है, वह है उसके विजातीय असामी की विदेशी संस्कृति का आक्रामक समाज के आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग की जीवन-धारा मे क्षरण और उस नैतिक खाई का आनुपातिक फैलाव जो इस विदेशीकृत श्रमजीवी वर्ग और भावी प्रभविष्णु अल्पमत के बीच पहिले से मुह बाये हुए खड़ी रहती है। रोमी व्यग्यकार जुवेनाल ने ईसाई सवत् की दूसरी शती मे लिखा था कि सीरियाई ओरोनतीज टाइबर मे बह रहा है। जिस आधुनिक पाश्चात्य समाज ने वासयोग्य सारी पृथिवी पर अपने प्रभाव की किरणें फैला रखी है उसमे तो न केवल लघु ओरोनतीज वरं महती गगा एव महती यागत्सी भी टेम्स और हडसन नदियो मे बहकर मिलती दिखायी पड़ती है। इसके विरुद्ध डैन्यूब ने अपनी दिशा बदल दी है और पहिले से ही आकण्ठ भरे वियेना-स्थित द्रवणपात्र मे रूमन, सर्ब, बलगार एवं यूनानी धर्मान्तरितो की सांस्कृतिक जलोढ़ मिट्टी (Cultural alluvium) लाकर सचित कर दी है।

आक्रान्त पक्ष की समाज-सस्था पर सफल आक्रमण का प्रभाव कम घातक हुए बिना भी अधिक जटिल होता है। एक ओर तो हम देखेगे कि समाज-संस्था मे जो सस्कृति-तत्त्व सहज-स्वाभाविक होकर निर्दोष या कल्याणकारी हो चुका है वही एक विदेशी निकाय मे बलात् प्रवेश करके नया एव ध्वंसक प्रभाव पैदा करता है। इसी नियम या कानून को एक लोकोक्ति मे सक्षिप्त करके कहा गया है—'एक मनुष्य का भोजन दूसरे के लिए विष है।' दूसरी ओर हम यह भी देखते हैं कि कभी का विच्छिन्न संस्कृति-तत्त्व जब आक्रान्त समाज के जीवन मे एक बार बलात् प्रवेश पा लेने मे सफल हो जाता है तो अपने पीछे वह उसी उद्गमस्थल से निकले दूसरे तत्त्वो को भी खीच ले जाता है।

विजातीय सामाजिक वातावरण पर आक्रमण करने वाले एक निर्वासित संस्कृतितत्त्व के इस ध्वसकारी अभिनय के उदाहरण पहिले ही हमारे ध्यान मे आ चुके है। जैसे उदाहरणस्वरूप, हम कुछ ऐसी दुर्घटनाए देख चुके हैं जो विविध अ-पाश्चात्य

समाजों पर पाश्चात्य जगत् की अद्भुत राजनीतिक संस्था के संघात के कारण घटित हुई है। पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का आवश्यक लक्षण रहा है—अपने राजनीतिक ससर्ग के सिद्धान्त के आवश्यक तत्त्व के रूप में भौगोलिक सगोत्रता (propinquity) की भौतिक घटना का ग्रहण। पाश्चात्य ईसाई समाज के जन्म पर विजीगोथिया में हमने इस आदर्श का उदय होते देखा जिसने स्थानीय यहूदी डायसपोरा का जीवन असहनीय बना दिया। विजीगोथिया मे जो विनाश हुआ उसने पाश्चात्य ईसाई राजक्षेत्र की मातृभूमि के बाहर की दुनिया को भी क्लेशित करना आरम्भ कर दिया। यह बात तब हुई जब आधुनिक पाश्चात्य सांस्कृतिक प्रभाव की एक अत्यन्त शक्तिमान् तरंग विश्व के एक के बाद दूसरे भाग मे प्रवाहित होती अपने साथ यह विचित्र पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा लेती गयी—यह विचार-धारा जो ग्राम्य राज्यो मे निहित प्रादेशिक प्रभुसत्ता की पुरातन सस्था पर लोकतन्त्र की नवीन भावना के सघात से ऊर्जस्वित हो उठी थी।

हमने देखा है कि १८१८ ई. के साथ समाप्त होने वाले सौ वर्षों के बीच किस प्रकार भाषाई राष्ट्रवाद ने डैन्यूबीय हैप्सवर्ग राजतन्त्र को विच्छिन्न कर दिया। राजनीतिक मानचित्र के इस क्रान्तिकारी पुन:शोधन ने पोलैण्ड-लिथवेनिया के एक पूर्ववर्ती सयुक्त राज्य की विलीन प्रजाओ पर क्षणभगुर राजनीतिक मुक्ति के सन्देहास्पद आशीर्वाद की वर्षा भी की। पोलैण्ड-लिथवेनिया का यह सयुक्त राज्य अठारहवी शती के अन्त के लगभग हैप्सबर्ग, होहेजोलर्न एव रोमनोव साम्राज्य के बीच विभाजित हो गया था। १९१८ ई. मे तीनो विभाजक साम्राज्यो के पतन के बाद पोलैण्ड मे यह महत्त्वोन्मादी (megalo-maniac) आकाक्षा जग उठी कि सुविधाप्राप्त पोलिश राष्ट्र के वासस्थान (Lebensraum) के लिए उपवन-प्राचीर (Park walls) के रूप मे १७७२ ई की सीमाओ को पुन स्थापित किया जाय। उसके इस महत्त्वोन्माद का उन लिथुवेनियनो एवं यूक्रेनियनो ने बड़ा ही उद्वेगपूर्ण विरोध किया जो पहिले १५६९ ई मे बने राष्ट्रोपरि वा अधिराष्ट्रीय राजमण्डल (Supra-National Commonwealth) मे पोलो की प्रजा नही वर उनके भागीदार रह चुके थे। आगामी वर्षों मे भाषाई राष्ट्रवाद की दुर्भावना से प्रेरित इन तीनो राष्ट्रो की साघातिक लड़ाइयो ने पहिले १९३९ मे नवीन रूस-जर्मन विभाजन के लिए और अन्त मे, अत्यधिक वेदनाए सहन करने के बाद, १९४५ मे स्थापित रूसी साम्यवादी अत्याचार के लिए रास्ता तैयार किया।

पारम्परिक पाश्चात्य सस्था (ट्रेडीशनल वेस्टर्न इन्स्टिट्यूशन) के आधुनिक पाश्चात्य परिष्कार (माडर्न वेस्टर्न रिफाइनमेंट) ने पाश्चात्य जगत् के प्राच्य-यूरोपीय प्रयाणो (ईस्ट यूरोपियन मार्चेज) मे जो ताण्डव किया वह भी इतना दु:खदायी और करुण नही था जैसा कि राष्ट्रवाद के उसी संक्रामक विष का वर्तमान राजनिकाय या समाज पर पडा प्रभाव था, क्योंकि न तो अठारहवी शती वाले पोलैण्ड-लिथुवेनिया की अव्यावहारिक अराजकता और न तो आस्ट्रियन हैप्सबर्ग का आवेशजनक रूप से प्रबुद्ध राजतन्त्र भौगोलिक मिश्रण वाली ऐसी जातियों के लिए एक आचरणीय राजनीतिक विधान खोज निकालने की सामान्य समस्या के वैकल्पिक समाधान के रूप मे,

ओथमन मिल्लत प्रणाली के मूल्य से तुलना में, ठहर सकता था, जो पाश्चात्य यूरोप की क्षेत्रशः अलग जातियों के साथ समानता रखने की अपेक्षा व्यापार एवं पेशों में ज्यादा समानता रखती थी। जिन हिंसक उपायों से ओथमन मिल्लतों को मरोड़कर तथा खण्ड-खण्ड करके, सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्रीय राज्यों के विदेशी साचे मे ढाला गया उनकी चर्चा इस भाग के किसी पूर्व पृष्ठ मे की जा चुकी है और उन्हे यहां दोहराने की आवश्यकता नही है। यहा हमे इतना ही कहना है कि ब्रिटिश भारतीय साम्राज्य का जब परस्पर-विरोधी भारत एवं पाकिस्तान नामक 'राष्ट्रीय' राज्यो के रूप में विभाजन हुआ या जब ब्रिटेन-सरक्षित फिलस्तीन का परस्पर-विरोधी इस्राइल एव जोर्डन राज्यों में विभाजन हुआ तो उनके साथ जो लोमहर्षक निर्दयताए हुई, वे इस बात का उदाहरण हैं कि एक ऐसी सामाजिक परिस्थिति में विकीर्ण राष्ट्रवादिनी पाश्चात्य विचारधारा ने कैसा घातक प्रभाव डाला है जहां मिल्लत में संघटित जातिया पहिले भौगोलिक रूप मे मिश्रित होकर एक साथ रहती आयी थी।

जब संस्कृति-तत्त्व अपने उचित चौखटे से विच्छिन्न किये जाकर किसी विजातीय सामाजिक वातावरण में प्रविष्ट किये जाते हैं तब उनसे जो विनाशात्मक क्षमताए प्रकट होती है वे आर्थिक स्तर पर भी उदाहरणो-द्वारा चित्रित की जा सकती है। उदाहरणस्वरूप, बाहर से लाये हुए पाश्चात्य उद्योगवाद का अनैतिक प्रभाव दक्षिण-पूर्व एशिया पर विशेष रूप से पडा देखा जा सकता है—उस दक्षिण-पूर्व एशिया पर जहा हठवादितापूर्ण पाश्चात्य आर्थिक कर्मशीलता-द्वारा गतिप्राप्त विजातीय औद्योगिक क्रान्ति ने अपनी आर्थिक भट्ठी के लिए मानवीय इंधन जुटाने के सिलसिले मे सामाजिक रूप से अब भी परस्पर-कटु एवं कठोर जातियो का एक भौगोलिक मिश्रण तैयार कर दिया।

'आधुनिक विश्व में हर जगह आर्थिक शक्तियों ने पूंजी एवं श्रम, उद्योग एवं कृषि, नगर एवं ग्राम के बीच के सम्बन्धों में तनाव उत्पन्न कर दिया है; किन्तु आधुनिक पूर्व में यह तनाव और भी ज्यादा है क्योंकि उनमें इसके साथ जातिगत दरार भी पड़ गयी है।..........विदेशी पूर्विया (foreign Oriental) **न केवल यूरोपीय और देशी या मूलवासी** (native) **के बीच एक मध्यवर्ती** (buffer) **बनकर रह गया है वरं वह देशज एवं आधुनिक विश्व के बीच एक बाड़ भी बन गया है। कुशलता के पथ ने प्राच्य धरती पर केवल एक स्मरणीय पाश्चात्य गगनचुम्बी अट्टालिका निर्मित कर दी जिसमें देशजों ने नींव या तलगृह का स्थान ग्रहण किया। सब एक ही देश में निवास करते थे परन्तु भवन एक दूसरी ही दुनिया का, आधुनिक दुनिया का था, जिसमें देशज का प्रवेश निषिद्ध था। इस एकाधिक अर्थप्रणाली में प्रतियोगिता उससे कहीं ज्यादा तीक्ष्ण है जितनी वह पाश्चात्य जगत् में है। "यहां भौतिकवाद, तर्कनावाद** (Rationalism), **व्यक्तिवाद तथा आर्थिक लक्ष्य पर केन्द्रीकरण उससे कहीं अधिक पूर्ण एवं निरपेक्ष** (Absolute) **है जितना वह सजातीय पाश्चात्य देशों में है; विनिमय और बाजार में पूर्ण अवशोषण** (Absorption), **एक पूंजीवादी विश्व जिसमें व्यवसाय-संस्था दासी है, पूंजीवाद का उससे कहीं**

अधिक प्रतिरूप जितना कि कोई तथाकथित पूंजीवादी देशों के विषय में सोच सकता है—उन पूंजीवादी देशों के विषय में जो अतीत से धीरे-धीरे निकलकर विकसित हुए हैं और अब भी अपनी संकड़ों जड़-मूलों सहित उससे जुड़े हुए हैं।"[1]······इस प्रकार, यद्यपि ये कतिपय पराधीन देश सूरत-शक्ल में पाश्चात्य रेखाओं पर पुनर्गठित हुए हैं किन्तु वस्तुतः अर्थ-प्रणालियों के रूप में उत्पादन के लिए न कि सामाजिक जीवन के लिए उनका पुनर्गठन हुआ है। मध्ययुगीन राज्य, बिलकुल आकस्मिक ढग पर अत्यन्त तेजी के साथ आधुनिक कारखाने के रूप में परिवर्तित कर दिये गये हैं।'[2]

सांस्कृतिक विकिरण एव ग्रहण का हमारा दूसरा 'कानून' है संस्कृति के उस फर्मे (Pattern) की प्रवृत्ति, जिसने विकिरणकारी समाज-निकाय मे अपने को स्थापित कर लिया है और उन अगभूत संस्कृति-तत्त्वो के पुन:सकलन एवं पुर्नमिलन के द्वारा ग्रहणशील समाज-निकाय मे भी अपनी प्रभुता जमा ली है जो सचार-प्रक्रिया मे एक दूसरे से विच्छिन्न हो गये थे। इस प्रवृत्ति को आक्रान्त समाज की प्रतिरोध करने वाली विरोधी प्रवृत्ति का सामना करना पडता है किन्तु इस प्रकार के प्रतिरोध से सिवाय इसके और कुछ नही होता कि वह प्रक्रिया कुछ धीमी पड जाती है। जब हम अन्तर्भरण या रिसने (infiltration) की इस यत्नबहुल प्रक्रिया को देखते है जो धीरे-धीरे रास्ता बनाती हुई उसे उस दुःखदायी अन्तिम बिन्दु तक ले जाती है जहाँ घेरा डालने वाला सम्पूर्ण मीडियन दल घिरी हुई इस्राइल की रक्षा-पक्ति मे प्रवेश कर जाता है, तब स्पष्ट हो जाता है कि इस यन्त्रणादायक चमत्कार का आश्चर्यकारी पक्ष सुई की बाधाकारिता नही है वरं ऊंट की जिद है। बलात् प्रवेश करने वाले संस्कृति-तत्त्व इतनी आसानी से अलग नही किये जा सकते जितनी आसानी की कल्पना की जाती है, और फिर 'एक चीज दूसरे को रास्ता दिखाती है।'

निश्चय ही आक्रान्त समुदाय सदा उन परिणामो के प्रति अन्धे नही होते जो ऊपर से देखने में बहुत साधारण एव अहानिकर विजातीय संस्कृति-तत्त्व को भी प्रवेश की स्वीकृति देने पर पैदा हो सकते हैं। हम पहिले ही चन्द ऐसे ऐतिहासिक सघर्षों का उल्लेख कर चुके हैं जिनमें आक्रान्त समुदाय ने आक्रामक के आक्रमण को मार भगाने में सफलता प्राप्त की है, यहाँ तक कि उसे अस्थायी रूप मे भी टिकने का मौका नहीं दिया है, और आत्म-विसंवाहन (Self-insulation) की अनमनीय नीति का, जिसने ये दुर्लभ विजयें प्राप्त कीं, दूसरे ऐसे मामलो मे भी प्रयोग किया जा चुका है जहाँ वह असफल सिद्ध हुई है। हमने इस नीति को 'जीलाटवाद' (Zealotism) कहा

[1] **डा. जे. एच. बोयके** : 'De Economiche Theorie der Dualistische Samenleving in De Economist 1935, p. 78

[2] **फर्निवाल, जे. एस. : 'प्राग्रेस एण्ड वेलफेयर इन साउथईस्ट एशिया', (न्यूयार्क १६४१, सेक्रेटरियट इन्स्टीट्यूट आफ पैसिफिक रिलेशंस) पृष्ठ ४२-४४। उसी पुस्तक के पृष्ठ ६१-६३ में इस उद्धरण की विस्तृत व्याख्या की गयी है।**

है, यह उस यहूदी दल के नाम पर से ग्रहण किया गया है जिसने पवित्र भूमि (Holy land) से यूनानी सस्कृति को सम्पूर्णतः अस्वीकृत एव बहिष्कृत करने का प्रयत्न किया था। जीलाटो का सहज-स्वाभाविक वैशिष्ट्य भावात्मक एव अन्तःप्राज्ञ (Emotional and intuitive) है किन्तु इस नीति का अनुगमन शान्त बौद्धिक स्तर पर भी किया जा सकता है। इस दूसरी प्रेरणा का एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण है—जपान एव पाश्चात्य जगत् के सम्बन्धो का विच्छेद, जो बड़े गम्भीर विचार के बाद, हिदेयोशी तथा उनके तोकूगवन उत्तराधिकारियों-द्वारा, १६३८ मे समाप्त होने वाले ५१ बर्षों के बीच धीरे-धीरे अग्रसर किया गया। किन्तु जब हम देखते हैं कि बलात् प्रवेश करने वाले विदेशी सस्कृति-साँचे के विविध तत्त्वो में जो प्रच्छन्न अन्तर्निर्भरता है उसके प्रति इसी प्रकार की तर्कना से इसी प्रकार के निष्कर्ष पर, एक एकान्त एव पिछड़े देश का अरब शासक भी पहुचा था, तो अधिक आश्चर्य होता है।

तर्कनावादी जीलाट की मनोदशा का एक सरस चित्र उस वार्तालाप मे प्राप्त होता है जो १६२० ई. मे साना के जैदी इमाम यहिया और एक ब्रिटिश दूत के बीच हुआ था। दूत को इस कार्य के लिए भेजा गया था कि अदन के जिस ब्रिटिश सरक्षित प्रदेश पर १६१४-१८ के महायुद्ध में इमाम ने कब्जा कर लिया था उसे शान्तिपूर्वक वापिस कर दे। जब दूतमण्डली को मालूम हो गया कि उसके आगमन का उद्देश्य सफल नही होगा तो अन्तिम साक्षात्कार मे वार्तालाप को दूसरा मोड देने की इच्छा से ब्रिटिश दूत ने इमाम को उसकी नवीन सेना के सैनिक गठन पर बधाई दी। यह देखकर कि इमाम ने उसे सौजन्य एव प्रसन्नता के साथ ग्रहण किया उसने आगे कहा—

"मेरा खयाल है कि आप दूसरी पाश्चात्य सस्थाए भी जारी करेंगे।"

"मैं तो ऐसा नही सोचता।" इमाम ने मुस्कुराते हुए कहा।

"सचमुच ! इससे मेरी दिलचस्पी बढ गयी। क्या मैं श्रीमान् से इसके कारण पूछने की धृष्टता कर सकता हू ?"

"ओह ! मैं नही समझता कि मुझे दूसरी पाश्चात्य सस्थाए पसन्द करनी चाहिए।" इमाम ने कहा।

"जरूर ! उदाहरणार्थ कौन सी संस्थाए ?"

"अरे जैसे कि पार्लमेण्ट है। मैं स्वय सरकार बने रहना पसन्द करता हूं। मुझे पार्लमेण्ट श्रान्तकारी लग सकती है।" इमाम ने कहा।

"वहां तक क्यों जाते हैं ! मैं आपको विश्वास दिलाता हू कि उत्तरदायी प्रतिनिधि-सत्तात्मक शासन हमारी पाश्चात्य सभ्यता का कोई अनिवार्य अग नही है। इटली को देखिए। उसने उस शासन-पद्धति का त्याग कर दिया है, फिर भी वह महती पाश्चात्य शक्तियो मे से एक है।" दूत ने कहा।

"ओह, पर मदिरा तो रह जाती है।" इमाम ने कहा—"मैं अपने देश में उसे फैलते नही देखना चाहता। यहां अभी तक वह प्राय अज्ञात है।"

"बिलकुल स्वाभाविक है। किन्तु बात यदि वहा तक पहुंचती है तो मैं आपको

विश्वास दिला सकता हू कि मदिरा भी पाश्चात्य सभ्यता का कोई अनिवार्य भाग नही है । अमेरिका को देखिए । उसने उसे छोड दिया है, और वह भी महती पाश्चात्य शक्तियों मे से एक है ।" अंग्रेज ने कहा ।

"जो हो, मैं पार्लमेंटो को पसन्द नही करता, शराब और उस तरह की चीजों को भी ।" इमाम ने ऐसी मुस्कान के साथ कहा जो कहती थी कि वार्तालाप को अब समाप्त समझना चाहिए ।

कथा से शिक्षा यह मिलती है कि अपनी अन्तर्दृष्टि की कुशाग्रता व्यक्त करने मे इमाम ने निश्चित रूप से अपने अभिप्राय की दुर्बलता पर आरोप किया । अपनी सेना के लिए पाश्चात्य प्रविधि या तकनीक को अपनाकर उसने पच्चड की पतली धार का आरम्भ पहिले से ही कर दिया था, उसने एक ऐसी सास्कृतिक क्रान्ति शुरू कर दी थी जो अन्त में यमन-वासियों के सामने इसके सिवाय कोई विकल्प नही छोड़ती थी कि पाश्चात्य वस्त्रों की पूरी रेडीमेड—सिली-सिलाई—पोशाक से अपनी नग्नता को ढकें ।

यदि इमाम की भेंट अपने हिन्दू समकालिक महात्मा गांधी से हुई होती तो हिन्दू राजमर्मज्ञ संत से उसे यही बात सुनने को मिली होती । अपने साथी हिन्दुओं को अपनी कपास हाथ से कातने और बुनने की पुरानी परिपाटी की ओर लौटने को कहकर गांधी उन्हे पाश्चात्य आर्थिक मकडे के जालसदृश दीखने वाले फन्दे से निकालने का एक मार्ग दिखा रहे थे, किन्तु यह गांधीनीति दो कल्पनाओं या मान्यताओ पर आश्रित थी जो उनकी नीति के अपने लक्ष्य मे सफल होने के लिए मुनासिब साबित होनी चाहिए थीं । पहिली परिकल्पना या मान्यता तो यह थी कि इस नीति के कारण हिन्दुओं को जो आर्थिक बलिदान करने पडेंगे उनके लिए वे तैयार हो जायगे, और निश्चय ही वे इसके लिए तैयार नही थे । किन्तु अपने देशवासियो की आर्थिक अनासक्ति के मामले में गांधी को यदि निराशा न होती तो भी उनकी दूसरी अन्तर्हित मान्यता के मिथ्या होने के कारण उनकी नीति असफल हो गयी होती । बात यह है कि यह मान्यता आहूत आगन्तुक संस्कृति के आध्यात्मिक गुण के विषय मे मिथ्याबोध या गलतफहमी के कारण थी । गाधी ने पिछली आधुनिक सभ्यता मे उस लौकिक सामाजिक ढांचे के सिवा अपने को कुछ देखने न दिया जिसमे धर्म का स्थान प्रौद्योगिकी ने ले लिया था । स्पष्टत: उन्हें यह नही अनुभव हुआ कि राजनीतिक संघटन, प्रकाशन और प्रचार के जिन समकालिक साधनों के कुशल प्रयोग के वह आचार्य हैं वे भी उतने ही पाश्चात्य हैं जितने वे पुतलीघर (कपड़े की मिलें) हैं जिन्हे झुकाने पर वह तुले हुए हैं । किन्तु हम तो इससे भी आगे जाकर कह सकते हैं, क्योंकि गाधी स्वय ही पश्चिम से आये सांस्कृतिक विकिरण की एक उपज थे । जिस आध्यात्मिक घटना ने गांधी के आत्मबल (Soul Force) को मुक्त किया, वह आत्मा के मन्दिर मे हिन्दू धर्म-भावना एवं सोसाइटी आफ फ्रेंड्स (मित्र-समाज) के जीवन में निहित ईसाई धर्मोपदेश की भावना के बीच का संघर्ष था । संतोपम महात्मा और लडाकू इमाम दोनो ही एक और समान नाव में थे ।

सभ्यताओं में जो टक्कर होती है उसके सम्बन्ध मे सामान्य शब्दावली में कहना चाहे तो कह सकते हैं कि जब आक्रान्त पक्ष आक्रामक रूप से विघटनात्मक या रेडियो-धर्मी (Radioactive) संस्कृति द्वारा अपने समाज-निकाय मे उसके एक भी संस्कृति-तत्त्व को प्रवेश करने मे रोक नही पाता तो उसके जीवित रहने का केवल एक ही संयोग रह जाता है—मनोवैज्ञानिक क्रान्ति करना। जीलाट वाला रुख छोड देने और उसके प्रतिकूल हेरोडियन वाला रुख अपनाने अर्थात् आक्रमणकारी के ही अस्त्रों से लडने की कला सीख लेने से वह उस अवस्था में भी अपने को बचा सकता है। पिछले आधुनिक पश्चिम से उस्मानलियों का जो संघर्ष हुआ उसे हम उदाहरण-रूप में ले सकते हैं। सुलतान अब्दुलहमीद द्वितीय पाश्चात्यकरण से चिढता था, उसकी नीति असफल हो गयी किन्तु वहीं मुस्तफा कमाल अतातुर्क की पूर्ण पाश्चात्यकरण की नीति ने मुक्ति का एक व्यावहारिक मार्ग खोज निकाला। यह कल्पना करना वाहियात है कि एक समाज अपनी सेना को तो पाश्चात्य ढग पर सघटित करे किन्तु और क्षेत्रों मे पहिले की भांति ही चलता रहे। ऐसी कल्पनाओ की निरर्थकता पीटरी रूस, उन्नीसवी शती के तुर्की और मुहम्मद अली के मिस्र मे पहिले ही सिद्ध हो चुकी है। केवल इतनी ही बात नही है कि एक पाश्चात्य प्रणाली पर सघटित सेना को पश्चिमी विज्ञान एव उद्योग, शिक्षा एवं चिकित्सा का अवलम्ब चाहिए। सेना के अफसर तो अपने पेशे के कौशल से असम्बद्ध पाश्चात्य धारणाएं स्वय ही ग्रहण कर लेते हैं—विशेषत· उस अवस्था मे जब वे सैनिक शिक्षण के लिए विदेश जाते हैं। उक्त तीनों देशो के इतिहास इस विरोधाभास को प्रकट करते हैं कि किस प्रकार सैनिक अफसरो के वर्गों ने उदार क्रान्तियों का नेतृत्व किया। १८२५ ई. की क्षणजीवी रूसी दिसम्बरी क्रान्ति मे, १८८१ ई के अरबी पाशा-द्वारा नियोजित मिस्री क्रान्ति मे तथा १६०८ ई की 'कमिटी आफ यूनियन ऐण्ड प्राग्रेस' (ऐक्य एवं प्रगति समिति) की तुर्की क्रान्ति मे, जो निष्फल न होने पर भी आरम्भ के दस वर्ष के अन्दर संकटग्रस्त हो गयी, ये दृश्य दिखायी पडते हैं।

(ख) आत्मा की अनुक्रियाए (रिसपासेज ऑव दि सोल)

१ अमानवीकरण

समकालीनों के बीच होने वाले संघर्षों के सामाजिक परिणामों मे मनोवैज्ञानिक परिणामों की ओर ध्यान फेरने में हमारे लिए यह सुविधाजनक होगा कि एजेण्ट एवं रीजेण्ट (अभिकर्त्ता एवं प्रतिकर्त्ता), आक्रामक एवं आक्रान्त की विपरीत भूमिकाएं करने वाले पक्षो पर पडते तत्सम्बन्धी प्रभावों की अलग-अलग विवेचना की जाय। और सबसे ज्यादा अच्छा यह होगा कि पहिले एजेण्ट (अभिकर्त्ता) पर पडने वाले प्रभाव की परीक्षा कर ली जाय क्योंकि वही है जिसने सघर्ष में पहल की है।

आक्रामक रूप से रेडियोधर्मी जो सभ्यता विजातीय समाज-निकाय मे प्रवेश करने मे सफल हो गयी है उसके प्रतिनिधि फैरिसीयों की नैतिक उच्छृखलता के आगे कन्धा डाल देते हैं। यह फैरिसी ईश्वर का धन्यवाद करता है कि वह दूसरे मनुष्यों की

तरह नहीं है। प्रभुताप्राप्त अल्पमत उन रंगरूटों के प्रति, जो पराजित एवं गुलाम विदेशी समाज-निकाय से आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग मे अनिवार्यत: भर्ती कर लिये जाते हैं, अधोमानव सेवकों की भांति दृष्टि रखने लगता है। नैतिक उच्छृंखलता की इस विशेष शिरा पर प्रतिशोध की जो वृत्ति छा जाती है वह अद्भुत रूप से व्यंग्यपूर्ण होती है। उस क्षण के लिए अपनी दया पर निर्भर साथी मानव-जीव के साथ, तिरस्कृत गुलामों की भांति आचरण करने मे मालिक अनजाने ही उस सत्य की पुष्टि कर रहा होता है जिसे मिथ्या सिद्ध करने की कामना रखता है। सत्य यह है कि सभी आत्माएं अपने सिरजनहार की दृष्टि मे बराबर हैं, और जो मनुष्य अपने साथियो से उनकी मनुष्यता को लूट लेने की चेष्टा करता है वह अपनी मनुष्यता भी खो देता है। किन्तु अमानवता की सभी अभिव्यक्तियां एक समान गर्हित नही है।

अमानवता के लघुतम अमानवी रूप का उस सफलतापूर्ण आक्रामक सभ्यता के प्रतिनिधि-द्वारा प्रदर्शन होना स्वाभाविक है जिसकी संस्कृति के सांचे मे धर्म एक अधिशासी और अनुस्थापक तत्त्व है। ऐसे समाज मे गुलाम या शोषित की मानवता की अस्वीकृति उसके धार्मिक वैफल्य या शून्यता का रूप ले लेगी। प्रभुताप्राप्त ईसाई राज्य उसे बपतिस्मारहित म्लेच्छ (Heathen) कहकर कलंकित करेगा, और प्रभुताशाली इस्लाम उसे सुन्नतहीन काफिर कहकर। साथ ही यह भी मान लिया जायगा कि दास की लघुता का इलाज धार्मिक मत-परिवर्तन-द्वारा हो सकता है और बहुतेरे मामलो मे प्रभुताशाली उच्चस्थ लोगो ने इस इलाज के लिए बडा श्रम किया है, शायद अपने हितों के विरुद्ध जाकर भी।

चर्च की शक्तिमती सार्वभौमिकता मध्यकालिक ईसाई धर्मजगत् की चाक्षुष कला (visual art) मे मूर्त हुई--उस समागम मे, जिसके द्वारा तीन मागियो (Magi) मे से एक को नीग्रो (हब्शी) के रूप मे चित्रित किया गया है। प्राथमिक अधुनातन पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् मे, जिसने सामुद्रिक नौ-परिवहन (Oceanic navigation) की कला मे नैपुण्य प्राप्त करके समस्त जीवित मानवीय समाजो पर अपनी उपस्थिति लाद दी थी, चर्च की सार्वभौमिकता की सच्चाई स्पेनी एवं पुर्तगाली विजेताओं (Conquistadores) की उस तैयारी में दृष्टिगत हुई जो उन्होने आगे बढकर 'रंग' की पर्वा न करते हुए त्रिदेवात्मक रोमन-कैथलिक ईसाई धर्म स्वीकार करने वालो को अपनाकर और उनके साथ सामाजिक सम्पर्क स्थापित करके, बल्कि विवाह करके भी, प्रकट की। पेरू और फिलीपाइस के स्पेनी विजेता अपनी भाषा की अपेक्षा अपने धर्म का प्रचार करने को इतने उत्सुक थे कि उन्होने पराजित जातियों की देशी भाषाओं को कैथलिक उपासना एवं साहित्य के प्रचार का साधन बनाकर उन्हें कैस्टीलियन भाषा का सामना करने की क्षमता प्रदान की।

इस प्रकार अपने धार्मिक विश्वास की सच्चाई प्रदर्शित करने में स्पेनी एवं पुर्तगाली साम्राज्य-निर्माताओं की अगुवाई उन मुसलमानों ने की जो आरम्भ से ही प्रजाति (race) का विचार किये बिना अपने धर्म की नयी दीक्षा लेने वालो के साथ अन्तर्जातीय विवाह-संबन्ध स्थापित करते आये थे। इतना ही नही, वे इससे भी आगे

गये । इस्लामी समाज को कुरान के पाठ मे निहित एक धर्मानुज्ञा विरासत में प्राप्त हुई थी, एक स्वीकृति कि ऐसे गैर-इस्लामी मजहब भी है जो अपर्याप्त होते हुए भी दैवी सत्य को प्रामाणिक परन्तु आंशिक रूप में प्रकट करते हैं । मूलत. यह बात यहूदियो एव ईसाइयों के लिए कही गयी थी किन्तु बाद में जरथुस्त्री (पारसी) और हिन्दुओं पर भी लागू हो गयी । पर अपने धर्मावलम्बी सुन्नी और शिया सम्प्रदायो के बीच इस प्रबुद्ध स्तर पर उठने मे मुसलमान बिलकुल असफल रहे । यहां उन्होंने अपने को उतने ही बुरे रूप मे व्यक्त किया जितना, इन्ही परिस्थितियों मे, ईसाइयों ने किया था— फिर चाहे वे प्रारम्भिक चर्च वाले रहे हों या सुधारवादी युग (रिफार्मेशन पीरियड) मे रहे हो ।

प्रभुताप्राप्त वर्ग-द्वारा दलित वर्ग की मानवता की अस्वीकृति का दूसरा कम से कम अनिष्टकर रूप है उस समाज में उसकी सांस्कृतिक अपदार्थता का दावा, जो परपरागत धार्मिक कोश-कीटावस्था को तोड़कर बाहर निकल आया हो और लौकिक क्षेत्र मे भी अपने मूल्यों को कार्यरूप में परिणत कर चुका हो । दूसरी पीढ़ी की सभ्यताओं के सास्कृतिक आक्रमण के इतिहास मे यूनानियो (हेलेनीज) और बर्बरो के बीच इसी प्रकार का भेदभाव था । बाद के आधुनिक पाश्चात्य जगत् मे मानव जाति के सास्कृतिक द्विधात्व (dischotomy) की अभिव्यक्ति अठारहवी शती मे उत्तरी अमेरिकी इडियनों के साथ तथा उन्नीसवी शती मे मगरिबियो एव बीतनामियो के साथ, और बीसवी शती में सहारा के दक्षिण-अफीकी हब्शियों के साथ फरासीसियों के सम्बन्ध मे हुई । डचों ने भी इन्दोनेशिया की अपनी मलय प्रजाओं के साथ यही व्यवहार किया; जब सेसिल रोड्स ने जबेसी के दक्षिण प्रत्येक सभ्य मानव के समानाधिकार का अपना नारा बुलन्द किया तो उसने डच एव अग्रेजी भाषा-भाषी दक्षिण अफीकियों के हृदयो मे वही सास्कृतिक आदर्श जगाने का यत्न किया था ।

१६१० ई. में यूनियन की स्थापना के बाद दक्षिण अफ्रीका में आदर्शवाद की यह चिनगारी सकुचित एव हिंसक अफीकेनेर डच राष्ट्रवाद के विस्फोट से बुझा दी गयी । इस संकुचित राष्ट्रीयता में दक्षिण अफीका के अपने स्वदेशवासी बण्टू, इन्दोनेशियाई तथा भारतीय गोत्र वाले बन्धुओं के ऊपर प्रभुत्व जमाने की प्रवृत्ति थी । यह श्रेष्ठता की भावना किसी संस्कृति या धर्म पर नहीं बल्कि जाति (रेस) पर निर्भर थी । दूसरी ओर फरासीसी अपनी सांस्कृतिक निष्ठाओं को राजनीतिक रूप देने मे काफी दूर तक आगे बढ गये । उदाहरणस्वरूप, अल्जीरिया में १८६५ ई. से पूर्ण नागरिकता इस्लाम-धर्मानुयायिनी मूलनिवासिनी प्रजाओं को इस शर्त पर प्राप्त थी कि वे फरासीसी दीवानी कानून (सिविल लॉ) के, जिसमें वैयक्तिक अधिनियम के नाम से प्रसिद्ध दीवानी कानून का महत्त्वपूर्ण विभाग भी सम्मिलित था, अधिकार-क्षेत्र को स्वीकार करेंगी ।

उत्तरकालिक आधुनिक पाश्चात्य संस्कृति के फरासीसी पाठ में सफलतापूर्वक दीक्षा प्राप्त करने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्पूर्ण राजनीतिक एव सामाजिक द्वार खोल देने के अपने आदर्श को कार्यरूप मे परिणत करने में फरासीसियों की सच्चाई

एक ऐसी घटना मे व्यक्त हो गयी, जिसका फरासीसियों की प्रतिष्ठा बनाये रखने के साथ ही द्वितीय विश्व-युद्ध के परिणाम पर भी प्रभाव पडा। जून १९४० ई में फ्रास के पतन के बाद, यह महत्त्वपूर्ण सवाल खड़ा हो गया कि विची सरकार और लडाकू फरासीसी आन्दोलन दोनों मे से कौन फरासीसी साम्राज्य के अफ्रीकी क्षेत्रो को अपने पक्ष मे लाने में सफल होता है। इस समय फरासीसी भूमध्य रेखान्तर्गत अफ्रीका (फ्रेंच इक्वेटोरियल अफ्रीका) के छद प्रान्त का गवर्नर नीग्रो अफ्रीकी जाति का एक फरासीसी नागरिक था, और सास्कृतिक रूप से फरासीसी बन गये इस नीग्रो ने अपने सरकारी दायित्व का प्रयोग करते हुए लडाकू फ्रेंच आन्दोलन के पक्ष मे अपनी राय दी। इस प्रकार अबतक पूर्णत. लन्दन पर आश्रित इस आन्दोलन को उसने पहिली बार फरासीसी साम्राज्य में खडे होने का स्थान प्रदान किया।

धार्मिक की भाति ही प्रभुताशाली वर्ग एव दलित वर्ग के बीच की विभाजक रेखा की सास्कृतिक कसौटी ऐसी है कि चाहे उस पर कितनी ही आपत्ति की जाय किन्तु वह मानव-कुटुम्ब को जिन दो भागों मे विभाजित करती है उनके बीच कोई रागातीत खाई नही पैदा करती। 'म्लेच्छ' (हीदेन) धर्मपरिवर्तन-द्वारा विभाजक रेखा को पार कर सकता है, 'बर्बर' परीक्षा पास करके रेखा का अतिक्रमण कर सकता है। प्रभुताशाली वर्ग के पतन की दिशा मे निश्चयात्मक अधोगामी पग तब आता है जब वह दलित पर 'म्लेच्छ' या 'बर्बर' का नही बल्कि 'देशज' या 'आदिवासी' (Native) का लेबिल लगा देता है। एक विदेशी समाज के सदस्यो को उन्ही के घर मे आदिवासी के रूप मे कलकित करके प्रभुताशाली या उच्च वर्ग उनके राजनीतिक एव आर्थिक अनस्तित्व की घोषणा करता और इस प्रकार उनकी मनुष्यता से इनकार करता है। आदिवासी का नाम देकर वह उन्हे एक ऐसी कुमारी नयी दुनिया के अमानवी जन्तु एव वनस्पति वर्ग मे विलीन कर देता है जो अपने मानवीय आविष्कारको की प्रतीक्षा करता रहा है कि वे उसके अन्दर प्रवेश करके अपने अधिकार मे ले ले। इन पूर्वोक्त तथ्यो के अनुसार जन्तु एव अपतृण मानकर उनका उन्मूलन करना होगा, या फिर उन्हे ऐसे प्राकृतिक साधन के रूप मे ग्रहण करना होगा जिनका रक्षण तथा दोहन किया जा सकता हो।

पूर्व सन्दर्भो मे हमने इस घृणित तत्त्वज्ञान के महत्त्वशाली अभ्यासियों को उन यूरेशियाई यायावर फिर्कों में अमल करते देखा है जिन्होने यदा-कदा पराजित आलसी आबादियों पर अपना शासन स्थापित करने मे सफलता प्राप्त की थी। अपने सगी मानवो के साथ ओथमन साम्राज्य-निर्माता वैसा ही व्यवहार करते थे जैसे वे कोई शिकार के जानवर या पशु हो; इस व्यवहार मे वे उतने ही निर्दयी एव भव्य रूप मे तार्किकतापूर्ण थे जितने कि फरासीसी साम्राज्य-निर्माता अपनी 'बर्बर' प्रजाओ के प्रति थे; और यद्यपि यह सत्य था कि बन्धनग्रस्त या अमुक्त फरासीसी प्रजाए ओथमन रिआया की अपेक्षा कही ज्यादा अच्छी स्थिति मे थी और साथ ही यह भी सत्य था कि जिस मानव-पारिवारिक पशु को उस्मानली चरवाहा सिखा-पढाकर मानव-लघु-श्वान (Sheep Dog) के रूप में परिवर्तित कर देता था उसके लिए विद्वान होने या फरासीसी

अधिकारी बन जाने की अवस्था में अफ्रीकी विकासप्राप्त लोगो से भी ऊंचे एवं प्रकाश-मान पेशे का क्षेत्र खुला हुआ था।

उत्तरकालीन आधुनिक युग मे पाश्चात्य समाज के वैदेशिक विस्तार के अंग्रेजी भाषा-भाषी प्रोटेस्टेण्ट पाश्चात्य यूरोपीय पथदर्शक यायावर साम्राज्य-निर्माताओं का यह पापाचार करने मे सबसे बुरे अपराधी थे, जिसके अनुसार मनुष्य 'आदिवासी' बन जाते थे; और एक पुराने अपराध के बार-बार दोहराये जाने मे सबसे भयानक बात अधोगामी सीढी के सिरे तक जाने और आधिवासियों को निम्न जातियो के अंडे-बच्चे के नाम से तिरस्कृत कर उनकी राजनीतिक एव आर्थिक अपदार्थता के अपने दृढ वक्तव्य से चिपटे रहने की प्रवृत्ति थी।

जिन चार कलंकों से दलित वर्ग को उच्च वर्ग ने कलंकित कर रखा था उनमें से प्रजातीय हीनता (Racial inferiority) का यह कलक सबसे अधिक विषालु (malignant) था। इसके तीन कारण थे। पहिली बात तो यह कि यह बिना किसी गुण वाले मानव प्राणी के रूप मे दलित की अपदार्थता की घोषणा थी, जबकि 'म्लेच्छ' (हीदेन), 'बर्बर' (बार्बेरियन) तथा 'आदिवासी' (नेटिव) यद्यपि हानिकारक थे किन्तु उनमे इस या उस विशेष मानवगुण की अस्वीकृति मात्र थी या फिर तदनुकूल विशिष्ट मानवाधिकार प्रदान करने से इन्कार भर था। दूसरी बात यह कि मानव जाति का यह प्रजातीय द्विधात्व (Racial Dichotamy of Mankind) एक अगम्य खाई पैदा करने में, धार्मिक, सास्कृतिक एवं राजनीतिप्रधान आर्थिक द्विधाओं से भिन्न था। तीसरी बात यह कि यह प्रजातीय कलंक धार्मिक या सास्कृतिक (यद्यपि राजनीतिप्रधान आर्थिक नही) से इस बात में भिन्न था। वह अपनी कसौटी के लिए मानव प्रकृति के लिए मानव प्रकृति के अतिबाह्य, नगण्य एव महत्त्वहीन पहलुओं को चुनता था—चमडी के रंग अथवा नाक की गढ़न।

(२) कट्टरपंथ (जीलाटिज्म) एवं हेरोदियाई सम्प्रदाय (हेरोडियनिज्म)

जब हम आक्रान्त पक्ष की प्रतिक्रिया की परीक्षा करते हैं तो हमे मालूम पडता है कि उसे अपने आचरण की दो विपरीत रेखाओं मे से किसी एक को चुनने का विकल्प प्राप्त है। इन विपरीत आचरण-रेखाओ के लिए हम नाम 'नवीन धर्मादेश' (न्यू टेस्टामेण्ट) की गाथाओ से पहिले प्राप्त कर चुके है और इस अध्ययन के विविध खण्डों में उनका उपयोग भी करते आये हैं।

उस युग में हेलेनिज्म सामाजिक कर्म के प्रत्येक स्तर पर यहूदियों को दबा रहा था। कोई यहूदी हेलीन (यूनानी रंग-रंजित) बनने या न बनने के प्रश्न को न तो टाल सकता था, न उसकी उपेक्षा कर सकता था। ऐसा करने के लिए उसे कोई स्थान ही न था। कट्टरपन्थी गुट ऐसे लोगों मे से चुनकर बनाया गया था जिनका मनोभाव यह था कि आक्रामक को दूर भगाने या रोकने का यत्न किया जाय और स्वय अपनी यहूदी विरासत के आध्यात्मिक गढ़ में प्रत्यावर्त्तन कर लिया जाय। जिस धर्मनिष्ठा से वे ऊर्जस्वित हुए थे वह उनका यह विश्वास था कि यदि वे अपने पूर्वजों की परम्परा का पालन करेंगे, उसका पूर्णतया पालन करते हुए और कुछ न करेंगे तो उन्हे उनके

आध्यात्मिक जीवन के भली भांति सुरक्षित स्रोत से ऐसी अलौकिक शक्ति प्राप्त होगी जो आक्रामक को दूर भगाने मे समर्थ होगी। इसके विपरीत हेरोदियाई गुट एक ऐसे अवसरवादी राजमर्मज्ञ के समर्थकों-द्वारा निर्मित हुआ था जिसका ईदूमेइयन मूल होने और उसकी अपनी प्रतिभा के कारण भी, मक्केबियन राज्य के हाल मे ही बने एक जेटाइल प्रान्त की इस सन्तान के लिए इस समस्या का अपेक्षाकृत कम आसक्तिमय दृष्टिकोण रखना स्वाभाविक था। हीरोद महान् की नीति यह थी कि हेलेनवाद से उसकी वे सब विशिष्टताए एव सफलताए सीख लेना यहूदियों के लिए आवश्यक है जिनसे वे न्यायपूर्वक एव व्यवहार-पक्ष मे अपने पैरो पर खड़े हो सके और हेलेनवाद-द्वारा प्रभावित उस ससार मे न्यूनाधिक सुखमय जीवन व्यतीत कर सके जो उनका अपरिहार्य सामाजिक वातावरण बन गया था।

हीरोद के समय के बहुत पहिले भी यहूदी हीरोदियाई (Jewish Herodians) वर्तमान थे। सिकन्दरिया के आप्रवासी यहूदी समुदाय मे स्वेच्छापूर्वक यूनानी प्रभाव को ग्रहण करने का आरम्भ हम उस नगर के निर्माता की मृत्यु के बाद ही, मतलब इस द्रवणपात्रोपम नगर के शैशवकाल से ही देख सकते है। यहा तक कि जूडिया के पार्वत्य प्रदेश मे भी प्रधान धर्म-पुरोहित जोशुआ-जैसन को देखा जा सकता है जो हीरोदियाई राजमर्मज्ञता का एक प्रधान रूप हमारे सामने रखता है, और जो १६० वर्ष ईसापूर्व से भी पहिले अपने शैतानी कार्य (जैसा कि वह कट्टरपन्थियो को दिखायी पड़ता था) मे व्यस्त था। यह शैतानी कार्य था, अपने कनिष्ठ किशोर साथियो को मल्लशाला (Palaestra) मे अपने शरीरो का गन्दा प्रदर्शन करने की ओर प्रलुब्ध करना तथा विशेष प्रकार की यूनानी टोपी (Petasus) से भद्दे तरीके पर अपना सिर ढकना। इस उत्तेजना से उस काल के कट्टरपथियो में प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई, जिसका वर्णन मकाबियो की दो पुस्तको मे मिलता है। फिर ७० ई मे रोमनो-द्वारा यरूशलेम की लूटपाट के सकट मे भी यहूदी धर्मान्धता या कट्टरता का अस्तित्व समाप्त नही किया जा सका, न सन् १३५ ई० मे इस लूट के भयानक पुनरावर्त्तन से ही उसका अन्त हो सका क्योकि रब्बी जोहन बेनजक्काई ने इस चुनौती का उत्तर यहूदी समाज को एक ऐसे निश्चल कठोर सस्थानिक ढाचे एव निष्क्रिय हठपूर्ण मनोवैज्ञानिक गठन (habitus) मे कसकर दिया जिसने राजनीतिक दृष्टि से अक्षम दायसपोरा की दुर्बल मटियारी बस्ती के अन्दर अपना एक विशिष्ट सामूहिक जीवन बनाये रखने मे उसकी सहायता की।

हेलेनिज्म (हेलेनवाद या यूनानियत) की चुनौती के कारण हीरोदियाई एवं कट्टरपन्थी दो सम्प्रदायों में विभक्त हो जाने वाली सीरियाई जातियो मे केवल यहूदी ही नही थे। सिसली मे दूसरी शती ईसापूर्व बागानो के सीरियाई दासो द्वारा जो कट्टरपन्थी विद्रोह हुए वे आगामी सामाजिक युग मे, हेलेनवाद को नूतन धर्म के रूप मे अपना लेने वाले सीरियाई मुक्तदासो की धारा के हीरोदियाई आगमन द्वारा रोम मे सन्तुलित कर दिये गये। इसके विपरीत सीरियाई समाज के अधिक समृद्ध और भ्रान्त स्तर की हीरोदियाई प्रवृत्ति को, जिसे हेलेनी यूनानी प्रभुत्वशाली अल्पमत अपनी सामाजिक साझेदारी मे ले लेने को तैयार था, यहूदी मत के अतिरिक्त अन्य महान

सीरियाई धर्मों की अनिवार्य सेवा लेकर सन्तुलित कर दिया गया। यह अनिवार्य सेवा आध्यात्मिक दृष्टि से असंगत एवं भ्रष्टकारी कट्टरपन्थी श्रमदण्ड या फेटीग (जीलाट फेटीग ड्यूटी) के रूप मे होती थी और इसमें एक धर्मनिरपेक्ष सास्कृतिक युद्ध चलाने के लिए उसके अस्त्र रूप मे इसका प्रयोग किया जाता था। धर्म के सच्चे रास्ते से हट जाने की आध्यात्मिक रूप से विनाशकारी इस विपथगामिता मे जरथुस्त्री मत, नेस्तोरियाई मत (नेस्तोरियनिज्म), एकार्थी ईसाई मत (Monophysitisin) तथा इस्लाम सभी ने यहूदी मजहब के नेतृत्व का अनुसरण किया। फिर भी इन विकृत धार्मिक आन्दोलनों मे से अन्तिम तीन ने यूनानी दर्शन एव विज्ञान के शास्त्रीय ग्रन्थो को अपनी धर्मभाषाओ मे अनूदित करने के हीरोदियाई कार्य-द्वारा कट्टरपन्थी विपथ-गामिता का प्रायश्चित्त कर लिया।

अब यदि हम इससे आगे बढकर, मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् से टक्कर लेने वाले समाजों मे व्यक्त मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओ को देखें तो हमे उन पूर्वकालिक स्कैन्दीनेवियाई बर्बर आक्रामको में, इतिहास को अबतक ज्ञात हीरोदियाई मत के सबसे पूर्ण एव कुशल अभ्यासियों के दर्शन होगे जो एक प्राचीनतम एव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पाश्चात्य विजय के फलस्वरूप, पाश्चात्य ईसाई जीवन-पद्धति के नार्मन व्याख्याता एव प्रचारक रूप मे परिवर्तित हो गये थे। इन नार्मनो ने कैरोलिगयाई (कैरोलिगियन) साम्राज्य के गैलिक हृदय-देश मे अपने लिए स्वय ही जो उत्तराधिकारी राज्य कायम कर लिया उसके रोमास भाषाभाषी देशज निवासियो के न केवल धर्म को वरन् भाषा एव काव्य को भी उन्होंने अपनाना शुरू कर दिया। जब फरासीसी नामधारी नार्मन चारण तैलेफर ने हैस्टिंग्ज के युद्धक्षेत्र की ओर प्रस्थान करने वाले अपने साथी सामन्तो मे स्फूर्ति भरने के लिए अपनी आवाज उठायी तो उसने नार्स बोली में वीरगाथा (Volsungasaga) नही सुनायी, बल्कि फरासीसी भाषा मे उन्हे रोलैण्ड का गीत सुनाया, और जब इंगलैण्ड के विजेता विलियम ने तलवार के बल पर जीते उस पिछड़े एव एकान्त प्रान्त में नवजात पाश्चात्य ईसाई सभ्यता को जबर्दस्ती बढावा दिया, उसके पहिले अन्य नार्मन दुस्साहसियो ने एपूलिया, कैलेब्रिया एव सिसली मध्य परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म-जगत् एव दारुलइस्लाम की कीमत पर विरोधी क्षेत्रो मे पाश्चात्य ईसाई जगत् की सीमाओ को बढ़ाने का साहसपूर्ण कार्य किया था। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात तो थी, अपने ही देश की सीमा मे रहने वाले स्कैन्दीनेवियाइयों द्वारा पाश्चात्य ईसाई सस्कृति का हीरोदियाई आलम्बन।

विजातीय संस्कृतियो के प्रति उत्तरवासियो (Northmen) की यह सग्रहणशील अभिवृत्ति कुछ पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् तक ही सीमित न थी। सिसली के नार्मनो पर बैजेतियाई (बैजेंटाइन या पूर्वी रोम-साम्राज्य की राजधानी सिकन्दरिया की निकटवर्ती) और इस्लामी कला तथा संस्थाओ ने जो प्रभाव डाला उसमे भी हम इसे देखते है। इसी प्रकार हम उसे सुदूर पश्चिमी ईसाई केल्टिक संस्कृति के उस पुट मे भी देखते है जिसे आयरलैण्ड में ओस्टमैन लोगों तथा पश्चिमी द्वीपों के नार्स औपनिवेशिको ने ग्रहण कर लिया था। नीपर (Dnieper) तथा नेवा (Neva) की जलद्रोणी (बेसिन) मे स्लाव

बर्बरों के रूसी स्कैन्डीनेवियाई विजेताओं-द्वारा परम्परानिष्ठ ईसाई सस्कृति को स्वीकार करने में भी हम इसे देख सकते हैं।

और जिन समुदायो से मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् की टक्कर हुई उनमे हम हीरोदियाई तथा धर्मोन्मादी (जीलाट) मनोवेगो को ज्यादा अच्छी तरह सन्तुलित पाते हैं। उदाहरणार्थ, जिहाद या क्रूसेड के विरुद्ध दारुलइस्लाम की कट्टर धर्मान्ध प्रतिक्रिया कुछ दूर तक पाश्चात्य ईसाई जीवन-विधि को नया-नया ग्रहण करने वाले साइलेशियाई आर्मनी एकार्थी ईसाइयो के नार्मन वृत्तिशील हीरोदवाद ने उत्पन्न की थी।

परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म-जगत् (आर्थोडाक्स क्रिश्चियनडम) तथा हिन्दू जगत् की जो टक्करें ईरानी मुस्लिम सभ्यता के साथ हुई, उनके इतिहासो में भी परस्पर-प्रतिकूल युग्म मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाओ के दर्शन कर सकते हैं। ओथमन साम्राज्यान्तर्गत परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म-जगत् के मुख्याग मे यद्यपि बहुमत अपने पूर्वजो के धर्म से चिपटा रहा किन्तु इस धार्मिक स्वतंत्रता की रक्षा के लिए उसे विजातीय राजनीतिक शासन की अधीनता स्वीकार करनी पडी। इतने पर भी यह कट्टर धर्माभिमान, उस अल्पमत-द्वारा अशतः विच्छिन्न कर दिया गया जो सामाजिक अथवा राजनीतिक महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति के लिए मुस्लिम हो गया था। इससे भी अधिक संख्या मे लोगो ने अपने प्रभुओ की भाषा सीखने की प्रणाली और उनके वस्त्र-विन्यास की नकल करने मे हीरोदियाई प्रवृत्तियों को ग्रहण कर लिया। मुगल राज्य के प्रति हिन्दुओ की प्रति-क्रिया भी बहुत-कुछ इसी ढंग की हुई; किन्तु भारत मे विजेताओ के धर्म को ग्रहण करने की क्रिया ज्यादा विस्तृत परिमाण पर हुई, विशेषतः सामाजिक रूप मे दलित लोगो मे तथा पूर्व बगाल के कुछ ही समय पूर्व हिन्दू धर्म ग्रहण करने वाले व्रात्यो मे। बीसवी शती मे इन्ही की सन्तति से पाकिस्तान के विच्छिन्न पूर्वीय प्रान्त का निर्माण हुआ।

आधुनिक पश्चिम के साथ समकालिकों के जो सघर्ष हुए उनका वर्णन अध्ययन के इस भाग के किसी पिछले अध्याय मे किया जा चुका है। यदि हम अपने वर्तमान मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से उनका पुनःपरीक्षण करना चाहे तो हम देखेंगे कि उन सभी मे एक ओर धार्मिक कट्टरता (जीलाटिज्म) और दूसरी ओर हीरोदियाई मनोवृत्तियो की परस्पर-विपरीतता और कभी-कभी संघर्ष वर्तमान है। एक बहुत स्पष्ट उदाहरण के रूप में जपान के सुदूरपूर्वीय समाज की बात ली जा सकती है। शुरू-शुरू मे हीरोदियाई प्रवृत्तियो का स्वाद ले लेने के बाद, जब तोकूगावा शोगुन शासन ने जपान एवं पश्चिम के बीच के सम्बन्ध तोड दिये तो जपानियो ने एक कठोर एव सफलता-पूर्वक-संचालित कट्टरता की अवस्था में पदार्पण किया। फिर भी एक छोटा अल्पमत हीरोदियाई प्रवृत्तियो को ग्रहण किये ही रहा। यह अल्पमत उन प्रच्छन्न ईसाइयो (Crypto-Christians) का था जो गोपनीय रूप से दो सौ से भी अधिक वर्षों तक अपने प्रतिबन्धित विजातीय धर्म के प्रति निष्ठावान् बने रहे। १८६८ ई. की मीजी क्रान्ति के बाद कहीं आकर उनके लिए खुले आम अपने धर्म के अनुसार आचरण करना

सम्भव हुआ। उक्त तिथि के कुछ ही पूर्व उनको एक दूसरे जपानी हीरोदियाई आन्दोलन से बल मिला। एक दूसरे आन्दोलन ने बहुत से ऐसे प्रच्छन्न अन्वेषणकर्ताओ को बढावा दिया जो डच भाषा के माध्यम से धर्मनिरपेक्ष उत्तरकालीन आधुनिक पश्चिम के नवविज्ञान का गुप्त रूप से अध्ययन कर रहे थे। मीजी क्रान्ति के बाद तो इन नूतन हीरोदियाइयों ने जपानी शासन-नीति पर ही प्रभुत्व स्थापित कर लिया। आगे चलकर इसका जो परिणाम हुआ उससे तो स्वय पश्चिम तक भी चमत्कृत हो उठा।

किन्तु क्या यह अन्तिम अवस्था (फेज) पूर्णतः हीरोदियाई थी ? यहां हम अपनी तुलना की चुनी हुई शर्तों मे से एक, या शायद दोनो, मे निहित एक प्रकार की द्वैध वृत्ति (ambivalence) के सामने आ जाते हैं। धर्मान्धता (जीलाटिज्म) का एक लक्ष्य तो स्पष्ट है—यूनानियो के प्रबल दान या उपहार की अस्वीकृति। किन्तु उसके साधन अनेक हैं, जो मेकावियो की शैली मे खुले युद्ध की धनात्मक (पाजिटिव) प्रणाली से लेकर आत्मविच्छेद या आत्मैकान्तिकता (सेल्फ आसोलेशन) की ऋणात्मक (निगेटिव) प्रणाली तक फैले हुए है, फिर यह आत्मविच्छेद चाहे जपान की भांति सरकार-द्वारा सीमा बन्द करके किया जाय अथवा फिर बिखराव वाले यहूदियो की भांति व्यक्तिगत साहसिकता के साथ ऐसे व्यक्तियो की कार्यवाही मे प्रकट हो जो किसी विशिष्ट जाति की विशिष्टता को सुरक्षित रखने के लिए की जाती है। इसके विपरीत हीरोदियनिज्म मे साधन ज्यादा स्पष्ट होते है। उनको तो फैली भुजाओ से, हृदय से, यूनानियो के उपहार ग्रहण करना ही है—फिर चाहे वे धार्मिक हो या विद्युच्छक्ति-यन्त्रो के रूप मे हों। किन्तु लक्ष्य क्या है ? हीरोदियाइयो मे सबसे नीतिमान् स्कैन्दीनेवियाइयो, उत्तर-वासियो (नार्थमेन) या नार्मनो का लक्ष्य (भले अनजाने ही उसका अनुसरण किया गया हो पर जो प्रभावशाली रूप से उन्हे प्राप्त हुआ था) टकराने वाली सभ्यता के साथ पूर्ण विलयन है। मध्यकालीन पाश्चात्य इतिहास का यह एक बहुत सामान्य तथ्य है कि नार्मन लोग आश्चर्यजनक गति के साथ, एक के बाद एक नवदीक्षा, नेतृत्व तथा विलय की अवस्थाओ से गुजरे। इस अध्ययन के किसी पूर्व पृष्ठ पर हमने समकालिक पर्यवेक्षक एपूलिया के विलियम की निम्नलिखित पक्तिया उद्धृत की थी—

'Moribus et lingua, quoscumque Venire Videbant,
Informant propria, gens efficiatur ut una.'

अर्थात् "जो उनके झण्डे तले आ जाते हैं, उन्हे वे अपनी रीतियो और अपनी भाषा मे दीक्षित कर लेते है, जिसका परिणाम होता है—जातिगत विलयन।"

किन्तु क्या हीरोदियाई लक्ष्य सदा यही रहता है ? यदि हमने हीरोद महान् की नीति की ठीक-ठीक व्याख्या की है तो अपने सम्प्रदाय को अपने ही नाम से सुशोभित करने वाले (eponymons) हीरोदियनिज्म के इस नायक का यह विश्वास था ' यद्यपि विश्वास गलत था जैसा कि दूसरे उदाहरणो की परीक्षा करते समय हमने संकेत किया है—कि यूनानी सभ्यता अथवा हेलेनिज्म की एक होमियोपैथिक (सूक्ष्म) खूराक यहूदी समाज की अतिजीविता (Survival) का सर्वोत्तम साधन होगी; और जपान का आधुनिक हीरोदियनवाद निश्चय ही नार्मनो के आचरण की अपेक्षा उस नीति के

अधिक निकट है जिसको हमने हीरोद की नीति बताया है। आधुनिक जपानी राजमर्मज्ञो का मत था कि जपान को पाश्चात्य ढंग की महती शक्ति के रूप मे परिवर्तित कर देने वाली एक प्रौद्योगिक क्रान्ति के बिना जपानी समाज के लिए अपनी स्वतन्त्र एव भिन्न सत्ता को बनाये रखना सम्भव न हो सकेगा। यह हीरोदियाई साधन से धर्मान्ध या जीलाट साध्य तक पहुँचने का उपक्रम था। इस निदान की पुष्टि १८८२ ई. की उस डिगरी या आज्ञप्ति से होती है जिसके द्वारा प्रौद्योगिकीय रूप से अपना पाश्चात्यकरण करने वाली जपानी सरकार ने शिंटो राजधर्म की सरकारी सघटना की व्यवस्था की। इस राजधर्म मे, पुनर्जीवित प्राक्-बौद्ध ग्राम्यवाद का उपयोग जीवित जपानी राष्ट्र, जाति एव राज्य के दैवीकरण के वाहन या साधन के रूप मे, किया जाने वाला था। सम्राट-वंश के जीर्ण सम्प्रदाय की प्रतीकवादिता को, जिसमे उस वश के सूर्यदेव से प्रादुर्भूत होने का विश्वास चला आ रहा था, फिर से जगाकर इसे सिद्ध कर लिया गया। इस सम्प्रदाय ने, राज्य करने वाले सम्राट को देवता के शाश्वत अवतार के रूप मे ग्रहण कर, अपनी आनुवशिक समूहगत दिव्यता की पूजा के लिए पथ प्रशस्त कर दिया।

हमारे विकल्प-पदो के प्रयोग मे निहित कठिनाइया, जो आरम्भ मे एक बडा ही सरल द्विधात्व उपस्थित करती दिखायी देती थी, अब जहा भी हम जाते है, वही प्रकट हो जाती है। उदाहरण के लिए, बतलाइए हम जायनिस्ट (नव यहूदी) आन्दोलन का वर्गीकरण किस प्रकार करे? इसे कर्मकाण्डी परम्परा वाले पवित्रतावादी, स्पष्टत. जीलाट, ऐसे भक्तो या पुजारियो का विरोध सहना पडा, जिनकी दृष्टि मे जायनिस्ट लोग अधर्म का अपराध कर रहे थे, क्योकि 'प्रतिज्ञात देश' (प्रामिज्ड लैंड—पैलेस्टाइन या वर्तमान इसरायल) मे शारीरिक प्रत्यागमन को अपनी प्रेरणा से, बलात् पूरा करने का आन्दोलन छेडकर वे उस काम मे हस्तक्षेप कर रहे थे जो स्वय ईश्वर-द्वारा अपने उचित समय पर होना था। किन्तु जायनवादियो को केवल यही विरोध नही सहना पडा, उन्हे उन हीरोदियाई आत्मीकरणवादियो (असीमिलेशनिस्ट्स) के विरोध का भी सामना करना पडा जिन्हे इस अविवेकरहित विश्वास पर खेद था कि 'यहूदी कोई विशिष्ट जाति है' और जो इस उत्तरकालीन आधुनिक उदार स्थापना को मानते थे कि दूसरे धर्मों की भाति यहूदी धर्म भी एक कीटकोष है जो अपना प्रयोजन पूरा कर चुका है, अब उसकी आवश्यकता नही।

बीसवी शती के दो महत्तम व्यक्ति—लेनिन और गाधी—भी हमारे सामने, परेशान करने वाली एक पहेली के रूप मे आते हैं, क्योकि दोनो, रोमी देवता जेनस की भाँति, एक ही साथ दो दिशाओ मे मुह किये दिखायी पड़ते है। उनकी रचनाओ या लेखो से पश्चिम तथा उसके द्वारा किये गये सम्पूर्ण कार्यों के प्रति निन्दा की एक अनवरत संचयिका प्रस्तुत की जा सकती है, फिर भी उनकी शिक्षाओ मे पाश्चात्य परम्परा के तत्त्व समाविष्ट हैं। लेनिन की शिक्षा पर मार्क्स से निकला हुआ, भौतिक-वादी परम्परा का रंग है, गांधी की शिक्षा ज्यार्ज फाक्स के अनुयायिओ-द्वारा आचरित ईसाई परम्परा से प्रभावित है। जब गाधी हिन्दुओ की जाति-सस्था की निन्दा करते है

तो हिन्दू सम्प्रदाय-क्षेत्र मे, जो बहुत अभिनन्दनीय नही है, ऐसा पाश्चात्य धर्मोपदेश ही दे रहे होते हैं ।

एकाध सरल उदाहरणों को, जिनके साथ हमने यह चर्चा छेड़ी है, छोड़ दे तो आक्रान्त समुदायो के समाज-निकायो के सदस्यों के लिए खुली वैकल्पिक नीतियों के रूप में विचार करने पर, जीलाटिज्म (कट्टर धर्मवादिता) और हीरोडियनिज्म आत्म-विरोध के धुधलके में खोते से प्रतीत होते हैं । किन्तु हमे स्मरण रखना चाहिए कि हमने समाज-राजनीतिक—सोशियो पोलीटिकल— नीतियो के रूप मे नही वरन् व्यक्तिगत मानवो की अनुक्रियाओ के रूप में उन पर विचार-विमर्श आरम्भ किया था ! इस दृष्टि से उन्हे क्रमागत वा एकान्तर प्रतिक्रियाओं (अल्टरनेटिव रीऐक्शंस) के उदाहरण के रूप मे लिया जा सकता है । इन्ही को हमने पुराणवाद (Archaism) एव रूढ़िविरोधी भविष्यवाद (Futurism) के नाम से पुकारा है और इस अध्ययन के किसी पिछले भाग मे उस 'मानवात्मा के विच्छेद वा विभेद' (Schism in the Human Soul) पर विचार करते समय हम उनकी परीक्षा भी कर चुके हैं । जैसा कि हम लिख चुके हैं, यह मानवात्मा का विभेद अपने को उन सभ्यताओ मे व्यक्त करता है जो ध्वस्त हो चुकी हैं और जिनका विघटन हो चुका है । उस सन्दर्भ मे हमने पुराणवाद की परिभाषा करते हुए कहा था कि वह एक ऐसी आनन्दपूर्ण स्थिति मे लौट आने का प्रयत्न है जिसके लिए संकटकाल (टाइम्स आफ ट्रबुल्स) में अधिक तीक्ष्ण शोक प्रकट किया जाता है और वह पीछे जितनी ही दूर छूटती जाती है, और अधिक अनैतिहासिकता के साथ उसको उतना ही आदर्श मान लिया जाता है । यह परिभाषा जीलाटिज्म (धर्मान्धता) पर पूर्णत. लागू होती है । उसी सदर्भ मे हमने पुराणवाद के विषय मे निम्नलिखित विचार प्रकट किये थे—

> "असफलता का एक वातावरण, या जहां निश्चयात्मक असफलता नहीं है वहां व्यर्थता पुराणवाद के प्रायः उन सब उदाहरणों के चुतर्दिक् छायी रहती है जिनकी परीक्षा हम करते रहे हैं । और इसका कारण कहीं दूर खोजना नहीं है । पुराणवादी तो अपने साहसपूर्ण कार्य के कारण ही तिरस्कृत होता है क्योंकि वह सदा अतीत एवं वर्तमान का सामञ्जस्य करने की चेष्टा किया करता है। ·······यदि वह वर्तमान का विचार किये बिना अतीत को पुनःस्थापित करना चाहता है तो जीवन की गति, जो सदा आगे की ओर बढ़ती जाती है, उसकी अनम्य या बेलोच रचना के टुकड़े-टुकड़े कर देगी । इसके विपरीत यदि वह अतीत को पुनर्जीवित करने की अपनी सनक वर्तमान को कार्यक्षम बनाने के प्रयत्न के अधीन कर देता है तब उसका पुराणपन्थ एक प्रवंचना, एक पाखण्ड मात्र बनकर रह जायगा ।"[१]

उसी सन्दर्भ में 'भविष्यवाद' की परिभाषा करते हुए कहा गया था कि वह अज्ञात एव अविज्ञेय भविष्य में एक छलाग मारकर अरुचिकर वर्तमान से पलायन की चेष्टा

[१] इस संक्षेपीकरण की प्रथम पुस्तक का पृष्ठ ५१३ मूल देखिए

है; इस प्रयत्न में भी सकट का सामना करना पड़ता है। जहा तक हीरोदियनिज्म का प्रश्न है यह एक दूसरे समाज की संस्थाओ एव लोकाचारो (Ethos) की सैकेण्डहैंड अनुकृति मात्र है; अपने अच्छे से अच्छे रूप मे यह एक अत्युत्कृष्ट मौलिक वृत्ति की हास्यानुकृति या पैरोडी है; जब कि अपने बुरे से बुरे रूप मे यह बेमेल तत्वो का विसंवादी समथन मात्र है।

(३) इंजीलवाद (Evangelism)

क्या जीलाटिज्म (कट्टर धर्मवाद) एव हीरोदियनिज्म की समान आत्म-पराजय इन टक्करो के आध्यात्मिक परिणामो पर प्रकाश डालने का अनुरोध करने पर इतिहास के भविष्यवक्ता-द्वारा कहा जाने वाला अन्तिम शब्द था ? यदि यह अन्तिम शब्द होता तो मानव जाति की सम्भावनाए निश्चय ही भयावह हो जाती क्योंकि तब हम इस निष्कर्ष पर पहुंचने के लिए बाध्य होते कि सभ्यता का हमारा वर्तमान साहसिक उपक्रम अनारोहणीय शिखर को लाँघने का अव्यवहार्य प्रयत्न मात्र है।

तब हमे याद आता है कि यह साहसिक उपक्रम एक नवीन वैचारिक मोड के साथ शुरू किया गया था। इस मोड़ मे मानव प्रकृति की कल्पना, नि.शकता और सर्वतोमुखी प्रतिभा की शक्तियाँ उस दिशा-परिवर्तन मे पग-पग पर आने वाली कठिनाइयों से लोहा लेने मे समर्थ हुई जिसे मानव इतिहास की उस महत्त्वपूर्ण अवस्था मे मानव जाति सिद्ध कर सकी थी। जिस आदिम मानव (Primitive Man) की गति अपनी पश्चाद्गामिनी अनुकरणवृत्ति के इपिमेथियन निर्देशन (Epimethean Direction) द्वारा रुक गयी थी और अपने दलदल से चिपटे गुरुजनो तथा पूर्वजो की ओर अभिमुख थी, उसने उसी सामाजिक रूप से अपरिहार्य क्षमता को उन सर्जनात्मक व्यक्तित्वो की ओर पुन. मोड दिया जो पथान्वेषी अग्रगामियो के रूप मे उसके सामने आये और इस प्रकार अपनी प्रामीथियन स्फूर्ति (elan) को पुन मुक्त कर लिया। बाद के युग के एक अन्वेषक के मन मे यह प्रश्न उठना अनिवार्य था कि यह नया कदम इन आदिम सस्कृति-नायकों के वशजो को कहा तक ले जायगा ? और इस नवीन दिशा-परिवर्तन का वेग समाप्त हो जाने पर क्या वे उक्त सर्जनात्मक कृत्य का पुन सपादन करके मानसिक ऊर्जा के प्रच्छन्न भाण्डार से लाभ उठा सकेंगे ? यदि इस अन्तिम प्रश्न का उत्तर नकारात्मक हो तो सभ्यता की प्रक्रिया मे अर्द्धपक्व मानव के लिए बुरा ही दृश्य होगा।

जीलाट या धर्मान्ध ऐसा आदमी था जो पीछे की ओर देखता था, हीरोदियाई—हीरोदियन ऐसा व्यक्ति था जो सोचता था कि वह आगे की ओर देख रहा है किन्तु वस्तुत: वह अगल-बगल झाँकने वाला एव अपने पड़ोसियो की नकल करने वाला था। क्या यही कहानी का अन्त था ?

शायद सही जवाब यह था कि यदि सभ्यता के इतिहास मे सम्पूर्ण कहानी समाविष्ट होती तो वही उसका अन्त हो सकता था किन्तु उस अवस्था मे यह सम्भव न था जब सभ्यता के विषय मे मानव का प्रयत्न, मनुष्य एव ईश्वर के बीच के शाश्वत संघर्ष की कहानी का एक अध्याय मात्र था। बाइबिल के सृष्टि के आरम्भ वाले भाग (बुक आफ जेनेसिस) मे जलप्रलय की जो कथा है उसमे कहा गया है कि महाप्लावन

के परिणामस्वरूप आदम के अंडे-बच्चे सब कुछ अपने रुष्ट निर्माता द्वारा नष्ट कर दिये जाने के बाद, स्रष्टा ने नूह (नोआ) और उनके द्वारा बचाये गये नाविकों को आश्वासन दिया कि 'अब जल सम्पूर्ण मास के विनाश के लिए जलप्लावन का रूप नही धारण करेगा'; और निश्चय ही हम इसके पूर्व पुराणवाद एवं भविष्यवाद की असफलता का विवरण लिखते समय यह अन्वेषण कर चुके हैं कि एकती सरी सम्भावना भी है।

जब कोई नवीन गत्यात्मक शक्ति अथवा अन्दर से उठने वाला सर्जनात्मक आन्दोलन जीवन को चुनौती देता है, तब जीवित व्यक्ति या समाज उसके द्वारा घोर कलुष (जैसा कि किसी पूर्व प्रसग मे हमने उसे कहा है) को स्थायी करके विच्छिन्न होने तथा क्रान्ति के विस्फोटन द्वारा विखण्डित होने के बीच, किसी एक का निरर्थक चुनाव करने के लिए विवश नही किया जा सकता। उसके सामने मुक्ति का एक मध्य मार्ग भी फैला हुआ है जिसमे पुरातन व्यवस्था एव नवीन मोड के बीच पारस्परिक समायोजन (ऐडजस्टमेंट) द्वारा उच्चस्तर पर एक सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। सच पूछे तो ग्रन्थ के इस भाग मे हमने सभ्यताओ के विकास पर बहस करते हुए, इसी प्रक्रिया का विश्लेषण किया है।

इसी प्रकार जब जीवन को किसी ऐसे विच्छेद या विघटन-द्वारा चुनौती दी जाती है जो एक सिद्ध तथ्य के रूप मे परिणत हो चुका है तो नियति के हाथ से जीवन-युद्ध की पहल अपने हाथ मे फिर से छीन लेने का प्रयत्न करने वाले व्यक्ति अथवा समाज को विवश नही किया जा सकता कि वर्तमान को एक दम त्याग कर अतीत मे कूद जाने तथा एक अप्राप्त भविष्य मे पूर्णतः झपट पडने के बीच, किसी एक का निरर्थक चुनाव कर ले। उसके सामने एक मध्य मार्ग खुला हुआ है। यह मध्य मार्ग है अनासक्त गति-द्वारा निस्सृति और उसके बाद वह प्रत्यागमन जो अपने को (ईसा के) नवशरीर-ग्रहण (Transfiguration) मे व्यक्त करता है। यदि हम एक बार फिर ईसाई संवत् की प्रथम शती की ओर देखें और रोमन साम्राज्य के उस धुंधले होने पर नजर डाले जहा धर्मान्ध (जीलाट) तथा हीरोदियाई (हीरोदियन) लोग (जिनके दलगत नामो को हमने एक विशद अर्थ प्रदान करने की चेष्टा की है) अपनी बन्द गलियो को ढूंढते फिरते थे तथा यदि हम अब पन्थियो के इन वर्गों मे से किसी पर ध्यान न केन्द्रित कर उनके समकालीनो मे से एक पर अपना ध्यान केन्द्रित करे तो उपर्युक्त अमूर्त्त वा भावात्मक शब्दो को ठोस रूप दे सकते है।

पाल नास्तिक तारसुस में फैरिसी अथवा सास्कृतिक पृथक्तावादी के रूप मे पालित हुआ था और उसी काल एव स्थान मे उसने यूनानी शिक्षा ग्रहण की तथा अपने को रोमी नागरिक के रूप में प्राप्त किया। इस प्रकार उसके सामने जीलाट एव हीरोदियाई दोनो मार्ग खुले हुए थे और एक तरुण के रूप मे उसने जीलाटिज्म— धर्मान्धता का मार्ग चुना। किन्तु जब दमिश्क के मार्ग मे अपनी दिव्य दृष्टि के कारण वह दूषित आरम्भिक मार्ग से विरत कर दिया गया तब वह हीरोदियन तो नही बन गया। उसे ऐक एसे सर्जनात्मक मार्ग का उद्बोध हुआ जो इन दोनों मार्गों से परे जाता था।

वह रोमी साम्राज्य में परिव्रजन करने लगा और यात्रा करते हुए वह न तो यूनानी धर्म (हेलेनिज्म) के विरुद्ध यहूदी धर्म (जूडाइज्म) का उपदेश करता, न यहूदी धर्म के विरुद्ध यूनानी धर्म का उपदेश करता था। वह सबको जीवन के एक नूतन मार्ग का उपदेश करता था, जिसमें बिना किसी प्रकार की द्वेषवृत्ति के दोनों प्रतिस्पर्धिनी संस्कृतियों का लाभ उठा लिया जाता था। इसलिए इस धर्मोपदेश के मार्ग में कोई सांस्कृतिक सीमा नही ठहर सकी, क्योंकि ख्रीष्टीय चर्च उसी प्रजाति का कोई नूतन समुदाय मात्र नहीं था, जैसी कि वे सभ्यताए थी जिनके परस्पर संघर्ष का अन्वेषण हम अभी तक करते रहे हैं; वह एक भिन्न ही प्रजाति का समाज था।

टिप्पणी

'एशिया' एवं 'यूरोप' · तथ्य तथा कल्पनाएं

अपने इतिहास की भूमिका में हेरोडोटस उस प्रयोजन की फारसी व्याख्या उद्धृत करने की बात कहता है जिसने एकेमीनिदाई (Achaemenidae) को हेलेनों—यूनानियों के विरुद्ध आक्रमण करने को प्रेरित किया। उसके विवरण के अनुसार, फारसियो का विश्वास था कि रक्त (का बदला लेने) का कुल-वैर उन्हें विरासत मे मिला है। वे समझते थे कि ट्राय के घेरे, लूट एव ध्वस का बदला यूनानियो से लेने का कर्त्तव्य उन पर लदा हुआ है। इस प्रकार ट्रोजन एव फारसी दोनो महायुद्ध, यूरोप एव एशिया के बीच निरन्तर चल रहे ऐतिहासिक वैर की घटनाए है। कहने की आवश्यकता नही कि इतिहास के अनुसार, फारस वालों को इस प्रकार के दायित्व या बन्धन का बिल्कुल ज्ञान नही था; और यह कल्पना भी की जा सकती है कि होमर के विद्यार्थी न होने के कारण ट्रोजन युद्ध—यदि सचमुच ऐसी कोई ऐतिहासिक घटना हुई हो तो—उनके लिए अज्ञात ही रहा होगा। यह कहना भी फालतू-सा है कि हेरोडोटस का चित्रण इतिहास की दृष्टि से काल्पनिक है, क्योंकि वह यह मानकर चलता है कि ट्रोजनो एवं फारसियों के बीच साथी ऐशियाई होने के रूप मे अनुभूतियों की एकता थी। हम यूरोप एवं अमेरिका के बीच के ऐतिहासिक वर को बिल्कुल इसी प्रकार प्रस्तुत करने की कल्पना करके इस बात की निरर्थकता का चित्रण कर सकते है और कह सकते हैं कि मैक्सिको के विरुद्ध एगामेमनोन-कोर्ट्रोज के पूर्ववर्ती आक्रमण का बदला यूरोप मे लेने के लिए ही डेरियस-वाशिंगटन विवश हो गये थे।

फिर भी हेरोडोटस की पौराणिक गाथा मे दिलचस्पी और महत्त्व की इतनी बात अवश्य है कि उसने 'यूरोप' एवं 'एशिया' की प्रतिद्वन्द्वी एवं परस्पर-विरोधी सत्ताए होने की धारणा का प्रचार किया—सत्ताए, जो आज भी हमारे नक्शो पर अपने बीच की उस महाद्वीपीय सीमा के साथ जीवित है जो यूराल पर्वतमाला के नाम से विख्यात महत्त्वरहित पहाडियों के लंबे बिस्तार के साथ-साथ चली गयी है। यह धारणा हेरोडोटस की सृष्टि नहीं है, क्योंकि ४७२ वर्ष ईसापूर्व रचित एचीलस की 'पर्साई' (Persae) रचना में एशिया फारसी साम्राज्य का पर्याय बन चुका था। हा, 'यूरोप एवं एशिया के बीच परम्परागत वैर' हेरोडोटस के ग्रन्थ का प्रधान एवं एकीभूतकारी

विषय है और उसकी लेखन-कला की श्रेष्ठता ही इस पचम शती की यूनानी कल्पना के बाद मे इस प्रकार प्रचलित हो जाने का मुख्य कारण है।

जब किसी कल्पनाप्रधान यूनानी मस्तिष्क ने 'एशिया' एवं 'यूरोप' के दो परम्परागत यूनानी भौगोलिक नामों को नाविक के नक्शे से हटाकर विज्ञापक के राजनीतिक मानचित्र और इसी प्रकार समाजविज्ञानी के सस्कृतियो के आवास-आरेख (diagram of habitats) पर ले जाकर स्थापित कर दिया और इस प्रकार उनके अर्थ में क्रान्तिकारी परिवर्तन कर दिया तब इस काल्पनिक रचना का जन्म हुआ। समुद्री नाविक ने भूमध्य-सागर एव काला सागर के बीच के जलमार्गों की मालिका के विरुद्ध, तटो का जो भेद किया था वह उसके कार्य के लिए प्राकृतिक एव उपयोगी था किन्तु जलमार्गों की यह मालिका इतिहास के उष काल से लेकर इस ग्रन्थ के लिखने के समय तक राजनीतिक सीमान्त के साथ कभी समरूप नही रही, केवल ५४७-५१३ ई. पू. एव ३८६-३३४ ई पू की दो क्षुद्र अवधियो मे ही इसका अपवाद रहा है। जहा तक समुद्री नाविक के 'महाद्वीपों' एव विविध सस्कृतिक्षेत्रो के ऐक्य का सवाल है, इतिहासकार किसी भी ऐसे युग पर अपनी उगली नही रख सकता जब बास्फोरस और हेलीजपौट (जो हडसन नद से ज्यादा चौडे नही है, यहा तक कि अमेजन जितने चौडे भी नही) के निकटवर्ती विपरीत तटो के निवासियो के अतिरिक्त, अन्य एशियाई एव यूरोपीय अधिवासियो मे कोई उल्लेखनीय सास्कृतिक विभिन्नता पायी जाती रही हो।

यह कल्पना कि यूनानी समुद्री नाविक जब 'एशिया' शब्द का प्रयोग करता था तब उसका आशय उस महाद्वीप से होता था जिससे एजियन सागर मे उसके आवागमन की पूर्वी सीमा निर्धारित होती थी, केइस्टर नद की घाटी के एक दलदल के समकालिक स्थानीय नाम से निकली हुई जान पडती है; और हाल की पुरातात्त्विक खोज से यह प्रकट हो गया है कि यह नाम तेरहवी शती की एक पश्चिमी अनातोलियाई जागीर का था जिसका उल्लेख हित्तायनी सरकारी विवरणो मे प्राप्त है।

केवल एक 'एशिया' ही यूनानी शब्द-भण्डार में प्रवेश करने वाला हित्तायती नाम नही है। यह भी ख्याल किया जाता है कि बादशाह के लिए यूनानी मे जो गैर-यूनानी 'बैसिलियस' (basileus) शब्द है, वह भी हित्तायती बादशाह 'बियासीलिस' (Biyassilis) के वास्तविक नाम से निकलता है। यह बादशाह चौदहवी शती ईसापूर्व फुरात (यूफ्रेटीज) तट पर स्थित कार्कमिश मे प्राय: उसी जमाने मे राज करता था जब एकेइयन जलदस्यु पैम्फीलियाई तट से अपने प्रथम सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे। यदि यह व्युत्पत्ति ठीक है तो यह 'बैसिलियस' शब्द को उस 'क्राल' (Kral) शब्द के समकक्ष रखती है जो कतिपय 'स्लावोनी' (Slavonic) भाषाओं मे 'बादशाह' के लिए आता है। यह 'क्राल' शब्द कैरोलस मैग्नस उर्फ शार्लमेन के नाम से निकला है। 'यूरोप' शब्द का मूल इसकी अपेक्षा अधिक सन्देहास्पद है। हो सकता है कि यह फोनीशियाई शब्द 'एरब' (जो अरबी के 'गर्ब' से मिलता-जुलता है) से निकला यूनानी अपभ्रंश हो। इस फोनीशियाई शब्द का अर्थ वह तमसाच्छन्न प्रदेश है जिधर सूर्य पश्चिम में डूबता है। यदि यह फोनीशियाई समुद्री नाविकों से लिया हुआ प्राविधिक या

तकनीकी शब्द नही है और कोई देशज यूनानी शब्द है, तो फिर उसका आशय इन द्वीपों के विपरीत 'विशालमुखी' दृढ़भूमि (terra firma) निकलेगा, या फिर यह किसी गोजातीय (bovine) 'विशालमुखी' देवी का नाम हो।

जो भी बात हो, समुद्री नाविको की निगाह में मुख्य भूमि एवं द्वीप के बीच जो अन्तर था उसे ही ये दोनो (एशिया, यूरोप) नाम प्रकट करते थे। वह मुख्य भूमि के एशियाई अथवा यूरोपीय तट के साथ-साथ उत्तर दिशा की ओर अपना मार्ग टटोलता हुआ उत्तरोत्तर तीन जलसन्धियों—डार्डेनल्स या दर्रा दानियाल, बास्फोरस तथा कर्च—से गुजरता हुआ अपनी यात्रा करता था, किन्तु जब वह अन्तिम जलसंधि से अपना जलयान आगे बढा ले जाता एव एजोव सागर को पार कर लेता था और नदीकृत नौ-परिवहन के लिए डॉन नद मे आरोहण कर लेता था तब वह एक ऐसे स्थान पर पहुँचता था जहा विरोधी महाद्वीपों के भिन्न अस्तित्व का लोप हो जाता था, क्योकि काला सागर के उत्तर के भूमिवासियो के लिए, फिर चाहे वे यूरेशियाई स्टेप्पी के यायावर हों अथवा कार्पेथियंस की पूर्वी ढलानो से लेकर अल्ताई की पश्चिमी ढलानों तक फैली काली मिट्टी वाली भूमि के यूरेशियाई किसान हो, यूरोप एवं एशिया के बीच के विभेद का उसके लिए कोई समझने लायक अर्थ नही था।

यूनानी जगत् से आधुनिक पश्चिमत्व ने जो रिक्थ ग्रहण किया उसमें यूरोप एवं एशिया का द्विधात्व सबसे कम उपयोगी था। 'यूरोपान्तर्गत रूस' एव 'एशियान्तर्गत रूस' का स्कूली भेद सदा ही निरर्थक रहा किन्तु शायद उससे किसी की कोई हानि नही हुई। पर इसी के समानान्तर 'यूरोपान्तर्गत तुर्की' एवं 'एशियान्तर्गत तुर्की' के बीच का भेद अत्यधिक भ्रमात्मक विचारणा का स्रोत बन गया। सभ्यताओ की आवास-भूमियो के बीच की वास्तविक सीमाओं का ऐसी पुरातन कल्पनाओं से कोई सम्बन्ध नही है। जिसे हम यूरेशिया कहते हैं उसमे एक प्रश्नातीत यथार्थता है। यह इतना बडा है और इसकी गठन इतनी अनियमित है कि हम अपनी सुविधा के लिए, इसमें अनेक उपमहाद्वीपों को खंडित करके रख सकते हैं। इनमे से अत्यन्त तीखी रेखाओं से सीमांकित भारत है। इसके लिए इसको हिमालयी भूमि-सीमा का धन्यवाद करना चाहिए। निस्सन्देह यूरोप दूसरा खण्ड है, किन्तु यूरोप की भूमि-सीमा भारत की भांति नही है, और इसीलिए वह सदा ही 'मोर्चे' (Limes) की अपेक्षा एक 'देहली' (Limen) ही रही है और निश्चय ही वह यूराल पर्वतमाला के बहुत दूर पश्चिम की ओर स्थित है।

१०. कालान्तर्गत सभ्यताओं के बीच सम्पर्क

'रिनैसांओं' (नूतन विचारधाराओं के प्रवर्तन) का सर्वेक्षण

(१) प्रस्तावना--'रिनैसां'

फरासीसी लेखक ई जे देलाक्लूज (१७८१-१८६३ ई.) शायद प्रथम व्यक्ति है जिसने एक विशिष्ट युग एव स्थान, अर्थात् उत्तरमध्यकालिक उत्तरी एव मध्य इटली मे पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् पर मृत यूनानी सभ्यता के सघात का वर्णन करने के लिए पहिली बार 'ला रिनैसा'[१] (पुनर्जन्म) शब्द का प्रयोग किया था। मृत का जीवित पर यह सघात या प्रभाव इतिहास मे प्राप्त कोई एक ही उदाहरण नही है, इसलिए यहा हम इस शब्द का प्रयोग ऐसी सब घटनाओ के सामान्य नाम के लिए करते हुए उनका परीक्षण करेगे। ऐसा करते समय हमे इस बात की सावधानी रखनी पडेगी कि जितनी घटनाओ पर हम विचार करना चाहते है उनसे अधिक इसमे शामिल न हो जाय। जहा तक कला एव साहित्य (क्योकि अपने परम्परागत अर्थ मे यह शब्द इन्ही तक सीमित है) के क्षेत्रो मे इस यूनानी सस्कृति के इटली मे, बैजेतियाई (बैजेण्टाइन) विद्वानो के ससर्ग से, आने का प्रश्न है, यह कालान्तर्गत किसी मृत सभ्यता से टक्कर के रूप मे नही था, वह एक दूरस्थित जीवित सभ्यता के साथ की टक्कर थी। इसलिए उसका सम्बन्ध इस अध्याय के पिछले भाग मे विचारित विषयो के अन्तर्गत आता है। पुनः जब 'यूनान ने आल्पस पार किया' और इतालवी रिनैसा ने फ्रास तथा आल्पस के पार या आल्पसोत्तर (ट्रान्सअल्पाइन) के अन्य पाश्चात्य देशो की कला एवं साहित्य को प्रभावित किया तो यह प्रभाव, जहा तक यह 'प्राचीन' यूनान से सीधे न आकर समसामयिक इटली के द्वारा आया, विशुद्ध रूप मे रिनैसा नही था बल्कि एक समाज की अग्रगामी शाखा की उपलब्धियो का उसी समाज की दूसरी शाखाओं तक सचरण (transmission) मात्र था। इस दृष्टि से यह 'विकास' या 'समुदय' विषय के अन्तर्गत आता है और इसी सन्दर्भ मे उस पर इस अध्ययन के तृतीय भाग मे विचार किया जा चुका है। किन्तु ये तार्किक भेद बाल की खाल निकालने के समान है

[१] **ओ. ई. डी. में जो उदाहरण दिया गया है उससे पता चलता है कि अंग्रेजी में इस शब्द का प्रयोग सबसे पहिले १८४५ ई. मे हुआ। मैथ्यू आर्नल्ड ने इस शब्द का आंग्लीकरण करके (renascence) लिखने की प्रथा शुरू की।**

और समाचरण या अमल मे 'विशुद्ध रिनैसा' अर्थात् मृत समाज के साथ सीधी टक्कर और उपर्युक्त मिश्रित रिनैसा के बीच भेद करना कठिन पर आवश्यक जान पड़ता है।

रिनैसाओ की खोज मे डूबने के पूर्व हमे यह भी कह देना चाहिए कि इस प्रकार की घटनाओ को, वर्तमान एव अतीत के बीच होने वाली दो भिन्न प्रकार की टक्करो से भिन्न रूप मे ग्रहण करना होगा। इनमे मे एक तो है मरणोन्मुख वा मृत सभ्यता एव उसके भ्रूण अथवा शिशु उत्तराधिकारी के बीच उत्तराधिकार-एव-सम्बद्धता (Apparentation-and-Affiliation) का सम्बन्ध। यह ऐसा विषय है जिसके बारे मे हम पहिले ही विस्तारपूर्वक लिख चुके है और इसे एक सामान्य एव आवश्यक घटना के रूप मे लेना चाहिए, जैसा कि इस पर पितृत्व एव पुत्रत्व के उदाहरण के हमारे आरोपण मे सन्निहित है। इसके विपरीत रिनैसा तो एक विकसित सभ्यता एव उसके बहुत पूर्व मरे हुए जनक के 'प्रेत' (ghost) के बीच का सघात—टक्कर है। पर्याप्त रूप मे सामान्य होते हुए भी असामान्य के रूप मे उसका वर्णन होना चाहिए। परीक्षा करने पर प्राय वह अस्वास्थ्यकर निकलता है। वर्तमान एव अतीत के बीच दूसरा सघात, जिससे रिनैसाओ को भिन्न मानना चाहिए, वह घटना वा दृश्य-प्रपच (फिनामेनन) है जिसे हमने पुराणवाद (आर्केइज्म) के नाम से पुकारा है, और उसका प्रयोग समाज-विकास की उस प्रारभिक अवस्था मे लौट जाने का प्रयत्न करने के अर्थ मे किया है जिसमे पुराणवादी स्वय रह रहे होते है।

वर्तमान और अतीत के बीच होने वाले सघात के तीन प्रकारो मे एक और अन्तर की स्थापना करना अभी शेष है। उत्तराधिकार-एव-सम्बद्धता के सम्बन्ध या रिश्ते मे इतना तो स्पष्ट है कि जिन दो समाजो का सम्पर्क होता है वे विकास की बडी ही भिन्न, बल्कि विपरीत श्रेणियो मे होती हैं। अपनी जरावस्था (dotage) मे जनक तो विघटनशील समाज होता है, सन्तति एक नवजात शिशु। फिर एक पुरोन्मुख व्यक्ति मामलो की एक ऐसी स्थिति के मोह-पाश मे आबद्ध हो जाता है जो उसकी स्थिति से बहुत अधिक भिन्न होती है, नही तो पुराणोन्मुख क्यो हो ? इसके विपरीत रिनैसा में प्रवेश करने वाला समाज अपने जनक के 'प्रेत' (घोस्ट) को उस अवस्था वाला जनक मानकर पुकारता है जबकि जनक विकास की उस श्रेणी मे था जिसमें सन्तति अब पहुची है। यह वैसी ही बात है जैसे हैमलेट वैसा पैतृक प्रेत चुन ले जिसका उसे किले की दातेदार दीवार पर सामना करना हो। या तो वह ऐसा पिता हो जिसकी दाढी उत्तरध्रुवीय नेवले की भाति रजतवर्णी हो या फिर एक ऐसा पिता हो जो अपने पुत्र की ही आयु का हो।

(२) राजनीतिक विचारों एवं सस्थाओं वाले रिनैसां

यूनानी मत (हैलेनिज्म) के उत्तरमध्यकालिक इतालवी रिनैसा ने पाश्चात्य जीवन के राजनीतिक स्तर पर उससे कही अधिक स्थायी प्रभाव डाला जितना उसने साहित्य अथवा कला के स्तरों पर डाला था। इसके सिवा, राजनीतिक अभिव्यक्तियां

न केवल सौन्दर्यानुभूति-सम्बन्धी अभिव्यक्तियों की समाप्ति के बाद भी जीवित रही बल्कि पूर्वानुमान कर उनके पूर्व ही जम गयी । उनका आरम्भ तब हुआ जब लोम्बार्ड नगरों पर से उनके बिशपों का नियन्त्रण जाता रहा और वे उन पचायतों (Communes) के हाथ मे चले गये जिन पर नागरिको के प्रति उत्तरदायी मैजिस्ट्रेटो के बोर्डों (मण्डलो) का प्रशासन था । ग्यारहवी शती के इटली में नगर-राज्य (सिटी स्टेट्स) की यूनानी सस्था का यह पुनर्जीवीकरण, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् के आल्प्स के पार वाले (ट्रांसअल्पाइन) प्रान्तो मे इतालवी संस्कृति के विकिरण के फलस्वरूप ही गतिमान् हो सका । इतालवी सस्कृति के विकिरण का उद्देश्य पाश्चात्य सामन्ती राज्यो की जनता पर भी वैसा ही प्रभाव डालना था । अपने प्रारम्भिक एव सकुचिततर तथा अपने उत्तरकालिक एव विशद क्षेत्र मे इस यूनानी भूत-प्रेत (revenant) का प्रभाव एक समान था । उसका ऊपरी प्रभाव ऐसे सवैधानिक शासन-सम्प्रदाय का प्रचार करना था जो अन्ततोगत्वा अपने को ही डेमोक्रैसी (प्रजासत्तात्मक राज्य) की यूनानी उपाधि (हेलेनिक टाइटिल) प्रदान कर दे, किन्तु सविधानवाद की कठिनाइयो एव असफलताओ ने अन्यायी (टाइरेट) की वैसी ही यूनानी मूर्ति के लिए भी राह खोल दी । ऐसा उसने पहिले तो इतालवी नगर-राज्यों मे किन्तु बाद मे और व्यापक, फलत. और अधिक विनाशकारी पैमाने पर अन्यत्र किया ।

जब ८०० ई. मे क्रिसमस के दिन (बड़े दिन) पोप लियो तृतीय ने सेंट पीटर्स मे शार्लमेन को रोमनी सम्राट के रूप मे ताज पहिनाया तो मध्यकालिक मच पर दूसरा हेलेनी प्रेत सामने आ गया । इस संस्था के पीछे भी एक लम्बा इतिहास पड़ा था । इन प्रेत सम्राटो मे सबसे भक्तिपूर्णत दभी यूनानीकरणकारी (Hellenizer) सम्राट सैक्सन ओटो तृतीय (राज्यकाल ९८३ ई. से १००२ ई तक) था । इसने अपनी राजधानी रोम से ऐसे स्थान पर हस्तान्तरित कर दी जहाँ उस समय दोनो ईसाई धर्मराज्यो की सीमाए एक दूसरे पर चढी हुई थी । पहिले के इस साम्राजिक नगर (इम्पीरियल सिटी) में अपने को स्थापित करने मे, ओटो तृतीय ने आशा की थी कि इस प्रकार वह पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् द्वारा आतंकित साम्राज्य-शक्ति की जाली नकल को बलवान् बना पायेगा और बैजेतियाई टकसाल की एक सुदृढतर धातु के द्वारा उसको खूब मजबूत बना सकेगा । जैसा कि हम एक दूसरे प्रसंग मे देख चुके हैं, ओटो, तृतीय का प्रयोग, जो उसके शीघ्र ही काल-कवलित हो जाने के कारण, खत्म हो गया दो शतियो से अधिक समय के पश्चात्, पहिले से कही अनुकूल परिस्थितियो मे दोहराया गया । इस प्रयोग को दोहराने वाला एक प्रतिभावान् व्यक्ति था—फ्रेडरिक द्वितीय होहेनस्टाफेन और उसे कही ज्यादा आतककारी सलफता भी मिली ।

कई शताब्दियो पश्चात् रूसो ने हेलेनिज्म के प्लूटार्की (प्लूटार्कन) पाठ (वर्जन) को लोकप्रिय बनाया । फलत सोलन एवं लाईकर्गस की ओर इशारा करने से फरासीसी क्रान्तिवादी कभी न थकते थे और अपनी महिलाओं तथा निदेशको (डाइरेक्टरों) दोनों को ऐसे वस्त्रों से विभूषित करते थे जिन्हे 'क्लासिकल' (परिनिष्ठित) परिधान समझा

जाता था। उधर नेपोलियन प्रथम ने 'कौसल'[1] पद के ऊपर होने की इच्छा से स्वयं को 'सम्राट' कहना शुरू कर दिया और अपने पुत्र तथा उत्तराधिकारी को 'रोम के राजा' (किंग आफ रोम) की उपाधि दे दी। इससे अधिक स्वाभाविक बात और हो ही क्या सकती थी ? उपाधि पवित्र रोम साम्राज्य (होली रोमन इम्पायर) के मध्यकालिक पाश्चात्य पद के उम्मीदवारो को तब मिलती थी जब पोप-द्वारा रोम में उनका राज्याभिषेक होता था (उनमे से बहुत से इस पवित्रीकरण के सस्कार से वचित रह जाते थे)। जहा तक द्वितीय (पाखण्डी —Soi Disant—तृतीय) नेपोलियन का सवाल है, उसने जूलियस सीजर का जीवनचरित्र या तो सचमुच लिखा या फिर अपने नाम से प्रकाशित कराया। अन्त मे हिटलर ने बर्खटेसगेडन (Berchtesgaden) स्थित एक मुख्य बाबंरोसा की पवित्र गुफा के ऊपर झूलती हुई ढलुवा चट्टान पर अपना ग्राम्य-निवास बनाकर तथा हैप्सबर्ग म्यूजियम से चुराये हुए शार्लमेन के राजचिह्नों को धारण कर प्रेत के प्रेत को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की।

किन्तु पाश्चात्य खीष्टीय राजतत्र (वेस्टर्न क्रिश्चियन मोनार्की) सस्था के इर्द-गिर्द एक दूसरा और अधिक कृपालु प्रेत मडरा रहा है। जब पोप-द्वारा अभिषिक्त होने के कारण एक फ्रैंकी बादशाह को रोमी सम्राट बनाया गया और इस प्रकार ८०० ई मे क्रिसमस के दिन पश्चिम मे रोम साम्राज्य के औपचारिक पुन प्रवर्तन (फार्मल रिवाइवल) को धार्मिक अनुशास्ति प्रदान की गयी तो इसका हेलेनी अथवा यूनानी इतिहास मे कोई पूर्व उदाहरण प्राप्त नही था। फिर भी उस दिन रोम मे जो अनुष्ठान किया गया उसका एक औद्धत्यपूर्ण पूर्व उदाहरण ७५१ ई. मे स्वायसस (Soissans) स्थान पर किये गये उस अनुष्ठान मे प्राप्त था जिसमे आस्ट्रेशियाई (आस्ट्रेशियन) प्रधान गृहप्रबन्धक (Major Domo) पेपिन को, पोप जकरियास के प्रतिनिधि सेंट बोनीफेस द्वारा दीक्षित एव अभिषिक्त होने के कारण फ्रैंको का राजा बना दिया गया था। पौरोहितिक पवित्रीकरण की यह पाश्चात्य प्रथा—जो विजियोगाथिक अर्थात् पश्चिमी गाथिक स्पेन मे तबतक प्रचलित हो चुकी थी—नबी सैमुएल एव किग्स के ग्रन्थो (Books of Samuel and Kings) मे उल्लिखित एक इसराइली परम्परा का पुनःप्रचलन मात्र थी। पैगम्बर सैमुएल द्वारा किये गये राजा डेविड, तथा पुरोहित जादोक एव पैगम्बर नथान द्वारा किये गये राजा सालोमन के पवित्रीकरण सस्कार पाश्चात्य धर्मराज्य के राजाओ एव रानियो के सम्पूर्ण राज्याभिषेको के लिए पूर्वोदाहरण रूप है।

(३) विधि-प्रणालियो मे रिनैसां

हम पहिले ही देख चुके है कि रोमी कानून (रोमन ला), जो जस्टीनियन द्वारा उसके सहिताकरण (Codification) के साथ समाप्त होने वाली दस शतियो की लम्बी

[1] फरासीसी गणतंत्र के तीन प्रमुख अधिकरणिकों की उपाधि। इन तीन में भी नेपोलियन प्रथम कौंसल था।

अवधि के बीच, आरम्भ मे रोमन जनता एवं बाद में सम्पूर्ण हेलेनी समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए धीरे-धीरे और बडे श्रम से विस्तृत एव परिष्कृत होता गया, उस जीवन-प्रणाली के भंग हो जाने के बाद तेजी से सकटग्रस्त हो गया जिसे अनुशासित एव नियमित रखने के लिए उसका निर्माण हुआ था। यह बात न केवल हेलेनी जगत् के पाश्चात्य वर प्राच्यार्द्ध मे भी घटित हुई। क्षय के इन लक्षणो के बाद, राजनीति की भाँति विधि (कानून) के क्षेत्र मे भी नवजीवन के चिह्न प्रकट हुए। एक जीवित समाज के लिए जीवित विधि की व्यवस्था करने की प्रेरणा आरम्भ मे उस रोमी विधि को पुनर्जीवित करने के आन्दोलन के रूप मे नही प्रकट हुई जो ईसाई संवत् की आठवी शती मे अपने समय के मस्तिष्को के ऊपर उसी भाति प्रतिष्ठित हो गया था जैसे लुप्त हेलेनी सस्कृति के शक्तिमान् चैत्य या समाधि पर हजरत नूह की नौका हो। दोनो ईसाई समाजों, प्राच्य एव पाश्चात्य, मे से प्रत्येक ने भावी ईसाइयो के लिए पहिले एक ख्रीष्टीय विधि (क्रिश्चियन लॉ) के निर्माण द्वारा ख्रीष्टीय धर्म-विधान मे अपनी आस्था की सचाई का प्रदर्शन किया। किन्तु दोनो ईसाई धर्म-राज्यो मे इस नवीन मोड के बाद रिनैसा का आगमन हो गया। रिनैसा ने पहिले धर्म-ग्रन्थो मे निहित उस मूसाई विधि (Mosaic Law) को प्रभावित किया जिसे ईसाई धर्म-जगत् ने यहूदियो से उत्तराधिकारस्वरूप प्राप्त किया था, और फिर जस्टीनियन सहिता (Code of Justinian) मे अश्मीकृत (Petrified) रोमी विधि पर ध्यान दिया।

परम्परानिष्ठ ईसाई धर्म जगत् (प्राच्य) के अन्तर्गत इस नये मोड की घोषणा प्राच्य रोम-साम्राज्य के दो सीरियाई प्रतिष्ठापको, लियो तृतीय तथा उसके पुत्र कान्स्टेंटाइन पचम, के सयुक्त शासन मे हुई। ७४० ई. मे 'एक ख्रीष्टीय विधिग्रन्थ' के प्रख्यापन या ऐलान-द्वारा यह कार्य चरितार्थ हुआ। यह ग्रन्थ क्या था, 'ख्रीष्टीय सिद्धान्त लागू करके साम्राज्य की विधि-प्रणाली को बदलने का जान-बूझकर किया हुआ प्रयत्न'[१] था। जो भी हो, यह प्राय अनिवार्य था कि नवीन ख्रीष्टीय विधि के जन्म के बाद उस यहूदी विधि मे भी रिनैसा का आगमन होता जिसे ख्रीष्टीय धर्मसघ या चर्च ने शायद अविवेकपूर्वक और निश्चय ही पूर्ण प्रसन्नता के साथ तो नही ही, अपने पवित्र ग्रन्थो के धर्मसूत्रो या धर्मादेशो (Canons) मे स्वीकार करने पर बल दिया था। फिर चाहे मूसाई हो या ख्रीष्टीय, सीरियाई सम्राटों-द्वारा स्थापित विधि-प्रणाली बजेंतियाई समाज की बढ़ती हुई जटिलताओ का सामना करने मे अधिकाधिक असमर्थ होती जा रही थी, और ८७० ई. के बाद के वर्षों मे मैसीडोनियाई (मैसिडोनियन) राजवश के सस्थापक बेसिल प्रथम तथा उसके पुत्रो एव उत्तराधिकारियो ने स्पष्ट कर दिया कि उन्होने 'ईसारियाइयो (Isaurians) द्वारा प्रख्यापित मूढ़ताओ को पूर्णतः अस्वीकार एव परित्याग कर दिया है।' यहाँ ईसारियाइयो से अभिप्राय पूर्वोक्त

[१] जे. बी बरी, एडवर्ड गिबन के 'दि हिस्ट्री आफ डिक्लाइन ऐण्ड फाल आफ दि रोमन इंपायर', भाग ५ के अपने संस्करण में (लन्दन १९०१, मेथुएन) परिशिष्ट २, पृष्ठ ५२६

सीरियाई सम्राटो से ही है। अपने पूर्ववर्त्तियो की इस हार्दिक उपेक्षा के साथ ही मैसिडोनियाई सम्राटो ने जस्टीनियन सहिता में जीवन डालने का प्रयत्न किया । ऐसा करने में उन्होने कल्पना की कि वे यथार्थत: रोमन है—ठीक वैसे ही जैसे वास्तुकला के क्षेत्र मे उन्नीसवी शती के गॉथिक पुनरुद्धारवादियो (गॉथिक रिवाइवलिस्ट्स) ने अपने विषय मे कल्पना कर ली कि वे सच्चे गॉथिक हैं । किन्तु सभी पुनरावर्तनों (रिवाइवल्स) एव रिनैसाओ के विषय मे सकट तो यह होता है कि वे न तो प्रामाणिक पदार्थ होते है, न हो ही सकते है । वे प्रामाणिक पदार्थों से उसी प्रकार अत्यधिक भिन्न होते है, जैसे मदाम तुसाऊ (Madame Tussaud) की मोमी कलामूर्तिया घुमावदार पशुप्रतिषेधक द्वार (टर्नस्टाइल्स, रास्ते का वह ढाचा जिससे मनुष्य जा सके परन्तु पशु नही) से उनको देखने के लिए आने वाले आदमियो से भिन्न होती है ।

कानून नाटक की विषयवस्तु—प्लाट—को, जिसमे मूसा एव जस्टीनियन के क्रमानुसार उत्थापित प्रेतो-द्वारा नवीन ख्रीष्टीय परिवर्तन को दृढ किया गया, पाश्चात्य मच पर भी उसी प्रकार अपना स्थान बनाते देखा जा सकता है । इस (पाश्चात्य) मच पर लियो साइरस का अभिनय शार्लमैन द्वारा किया जाता है ।

"कैरोलिंगियाई विधि-निर्माण (लेजिस्लेशन) पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् मे नवीन सामाजिक चेतना के आगमन का सूचक है । इसके पूर्व तक पाश्चात्य राज्यो का विधि-निर्माण पुरातन बर्बर कबायली संहिताओं का ख्रीष्टीय परिशिष्ट मात्र था । अब, पहिली बार, अतीत से पूर्ण विच्छेद किया गया और ईसाई धर्म जगत् ने अपने कानून खुद बनाये । ये कानून चर्च एवं राज्य की सामाजिक कार्यशीलता से सम्पूर्ण क्षेत्र को आच्छादित करते थे और सब बातों पर ख्रीष्टीय लोकनीति (ethos) **के एक ही मान के सन्दर्भ में विचार सम्भव हुआ । इसकी प्रेरणा न तो जर्मन, न रोमी पूर्वोदाहरण से प्राप्त हुई थी ।"[1]**

फिर भी परम्परानिष्ठ प्राच्य की भाति ही, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् मे मूसा का प्रेत ईसाई धर्म-प्रचारको एव इजीलवादियो (Apostles and the Evangelists) का पीछा बराबर करता रहा—

"कैरोलिंगियाई सम्राटों ने पुरानी बाइबिल (ओल्ड टेस्टामेंट) के बादशाहो एवं विचारपतियों की स्पिरिट में समस्त ईसाई जनता को कानून प्रदान किया था । उन्होंने ईश्वर की प्रजा को ईश्वर का कानून दिया । चार्ल्स को उसके राज्यकाल के आरम्भ मे कैथाफ ने जो पत्र लिखा था उसमें लेखक बादशाह को पृथिवी पर ईश्वर का प्रतिनिधि बताता है और चार्ल्स को सलाह देता है कि वह 'दैवी विधि-पुस्तक' (दि बुक आफ डिवाइन लॉ) को अपने शासन की 'नियम-पुस्तिका' (मैन्युएल) मानकर चले और ड्यूटरोनोमी (इंजील की प्रथम पांच पुस्तकों) के २७,१८-२० वाले उन आदेशों का अनुसरण करे जिनमें कहा गया है कि बादशाह को पुरोहितो

[1] **डासन, क्रिस्टोफर : रिलीजन एण्ड दि राइज आफ वेस्टर्न कल्चर, (लन्दन १९५०, शीड ऐण्ड वार्ड) पृष्ठ ९०**

की पुस्तकों से कानून की एक प्रति तैयार करनी चाहिए, उसे सदा अपने साथ रखना चाहिए और बराबर पढ़ते रहना चाहिए जिससे वह प्रभु (लार्ड) से भय करना सीखे और उसके कानूनों का पालन करे, नहीं तो उसका हृदय गर्व से अपने बन्धुओं के ऊपर उठ जायगा और वह कभी दायें, कभी बायें घूम जायगा।"[1]

फिर भी परम्परानिष्ठ की भांति, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् मे भी पुनर्जीवित मूसा को पुनर्जीवित जस्टीनियन ने जा पकडा।

ईसाई सवत् की ग्यारहवी शती के बीच, १०४५ ई. मे, सरकार-द्वारा कुस्तुनतुनिया मे जो साम्राजिक विधि-विद्यालय (इम्पीरियल लॉ स्कूल) स्थापित हुआ उसका प्रतिरूप पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् के बोलोग्ना स्थान मे दिखायी पडा। वहा स्वय-स्फूर्त एक स्वायत्तशासी विश्वविद्यालय का जन्म हुआ। इस विश्वविद्यालय मे जस्टीनियन के 'न्यायविधान सग्रह' (Corpus Juris) का अध्ययन होता था, और यद्यपि पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् मे पुनरुज्जीवित रोमी विधि (रोमन लॉ) पुनरुज्जीवित रोम-साम्राज्य को सहारा देने के उद्देश्य मे अन्ततोगत्वा असफल हो गयी किन्तु वह पाश्चात्य भूमि पर एक सर्वप्रभुता-सम्पन्न स्वतत्र ग्राम्यराज्य (सावरेन इडिपेंडेट पैरोकियल स्टेट) नाम की उससे पहिले की हेलेनी (यूनानी) राजनीतिक सस्था को पुनरुज्जीवित करने के दूसरे विकल्प को पल्लवित करने मे भलीभाँति सफल हुई। जिन दीवानी वकीलो ने बोलोग्ना तथा उसकी दुहिता यूनिवर्सिटियो मे शिक्षण प्राप्त किया था वे प्रशासक हुए, निष्फल व अपक्व पाश्चात्य पवित्र रोम-साम्राज्य के नही वर क्षमताशाली पाश्चात्य सर्वप्रभुतासम्पन्न ग्राम्य-राज्यो के, और उनकी पेशेवर सेवाओ की कुशलता ही राजनीतिक सघटना के अन्य सब रूपो पर, जो पाश्चात्य ईसाई जगत् के मूल सामाजिक ढाचे मे प्रच्छन्न थे, इस सस्था की प्रगतिशील विजय का एक कारण थी।

जब बोलोग्ना के सिविलियन—असैनिक नागरिक—उत्तर एव मध्य इटली के नगरो को ऐसा प्रशासन दे रहे थे, जिसकी कुशलता के कारण कम्यून या पचायते अपने राजा बिशपो (प्रिस-बिशप्स) को उखाड फेकने और नागरिक स्वायत्त शासन की सेवा का पेशा आरम्भ करने मे समर्थ हुई, तब धर्मादेशवादी (कैननिस्ट) ग्रेटियन के 'डिक्रीटम' नामक महाग्रन्थ के प्रकाशन के बाद (११४०-५०) मे चर्च-सम्बन्धी कानून के भ्रातृ-सकाय (सिस्टर फैकल्टी) द्वारा दीवानी कानून की बोलोग्ना प्रणाली की अनुपूर्ति करने लगे थे। धर्मादेशवादियो ने ग्रामीण धर्म-निरपेक्ष राज्य के विकास मे भी योग दिया—यद्यपि उनकी दृष्टि विपरीत दिशा की ओर थी। उनकी वास्तविक सफलता, निश्चय ही इतिहास की दुःखदायी व्यंग्योक्तियो मे से एक थी।

यह कहा जा सकता है कि 'होली सी' (बड़े पादरियों के अधिकारक्षेत्र) ने धर्मादेशवादियो को पैपेसी (पोपतंत्र) के धर्मनिरपेक्ष प्रतिद्वन्द्वी 'पवित्र रोम-साम्राज्य'

[1] **डासन, क्रिस्टोफर : रिलीजन एण्ड दि राइज आफ वेस्टर्न कल्चर, (लन्दन १९५० शीड एण्ड वार्ड) पृष्ठ ९०-९१।**

के साथ अपने वाग्युद्ध के रूप मे अपनाया था; किन्तु इससे अधिक सही चित्र इस वक्तव्य मे मिलता है कि स्वय धर्मदिशवादियों ने 'होली सी' पर अधिकार कर लिया था। अलैक्जेण्डर तृतीय (११५९ ई से ११८१ ई.) ने फ्रेडरिक बार्बरोसा के विरुद्ध बराबर अपने पौरोहित्य के गढ को सुरक्षित रखा। उसने यह कार्य इन्नोसेंट तृतीय (११९८ ई० से १२१६ ई०) और इन्नोसेट चतुर्थ के द्वारा करवाया। यह इन्नोसेंट तृतीय वही था जिसने संसार को इस बात का स्वाद चखा दिया कि राजनीतिक क्षेत्र मे पोप के निर्बन्ध निरकुश शासन के क्या अर्थ हो सकते है। इन्नोसेट चतुर्थ (१२४३-१२५४ ई) वही था जिसने अपनी अनुपम निर्लज्जता के साथ महती 'लौकिक जडिमा' (Stupor Mundi) का निराकरण किया। इस अलेक्जेण्डर तृतीय से लेकर फ्रांस एव इग्लैण्ड के शक्तिमान राजतत्रो मे विनाशकारी टक्कर लेने वाले बोनीफेस अष्टम (१२९४-१३०३ ई०) तक जितने भी महान् पोप हुए वे सब, और इनके बीच की रिक्तता को भरने वाले अधिकाश कम महत्त्वपूर्ण पोप भी, धर्मतत्त्वज्ञ (थियोलाजियन) नही थे, वे धर्मविधिवादी या धर्मदिशवादी (कैननिस्ट) थे। इसका पहिला परिणाम था साम्राज्य का पतन; दूसरा था पोपतत्र (पेपेसी) का तबतक के लिए विनाश जबतक कि प्रोटेस्टेण्टो के विच्छेद के सकट के बाद (पहिले नही) वह एक नवीन जीवन मे ढाला नही गया, और जबतक कि वह अपनी विधिपरायणता (लीगलिज्म) से उत्पन्न नैतिक एव धार्मिक अप्रतिष्ठा से ऊपर नही उठ गया। साम्राज्य एव पेपैसी दोनो के पतन ने पश्चिम मे ग्राम्य राज्य की उन्नति का रास्ता खोल दिया।

(४) दार्शनिक विचारधाराओ के रिनैसा

इस क्षेत्र मे दो लगभग समकालिक रिनैसाओ का पता लगता है। वे दोनो यूरेशियाई महाद्वीप के विपरीत छोरों पर घटित हुए। पहिला तो प्राच्य एशियाई सभ्यता की सन्तति सुदूरपूर्वीय समाज मे, सिनाई जगत् के कनफ्यूशियाई दर्शन के पुनरुज्जीवन के रूप मे हुआ, और दूसरा पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् (वेस्टर्न क्रिश्चियनडम) मे हेलेनी जगत् वाले अरस्तू के दर्शन के पुनरुज्जीवन मे घटित हुआ।

हमने जो प्रथम उदाहरण दिया है उसे इस जमीन पर विचार से अलग किया जा सकता है कि यथार्थ मे अपने जन्म देने वाले समाज की मृत्यु के साथ कनफ्यूशियाई तत्त्वज्ञान की मृत्यु नही हुई बल्कि प्रतिकूल वातावरण के कारण वह एक अवधि तक निष्क्रिय या जडवत् पडा रहा और जो वस्तु मरी ही नही उसके एक 'प्रेत' के रूप मे पुनरुदय होने की बात विधानत. ही असगत है। हम इस आपत्ति का बल स्वीकार करते है किन्तु प्रार्थी हैं कि इसे नजरअन्दाज कर देना चाहिए। क्योकि ६२२ ई. में ताग सम्राट ताई-त्सु-संग का यह सरकारी आदेश कि साम्राजिक नागरिक सेवा (इम्पीरियल सिविल सर्विस) मे भरती के लिए कनफ्यूशियाई शास्त्रो (कनफ्यूशियन क्लासिक्स) मे उम्मीदवारो की परीक्षा ली जानी चाहिए, रिनैसा के आवश्यक तत्त्वों को ही हमारे सामने उपस्थित करता है। इसमे इस तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि जब चीनोत्तर (पोस्टसीनिक) राज्यान्तरकाल (इंटररेग्नम) मे

सार्वभौम राज्य के पतन के कारण कनफ्यूशियाइयों की प्रतिष्ठा क्षतिग्रस्त हो गयी थी (क्योंकि वे सार्वभौम राज्य के अंगरूप हो गये थे) तब ताव-धर्मियो एव बौद्धो को कनफ्यूशियाइयो की जगह लेने का एक अवसर हाथ आया था किन्तु उन्होने उस अवसर को हाथ से निकल जाने दिया।

बौद्ध महायान की इस राजनीतिक असफलता एव पश्चिमी यूरोप मे प्राप्त राजनीतिक सुअवसरो को पकडकर उनका लाभ उठा लेने मे खीष्टीय चर्च की सफलता के बीच जो वैषम्य है उससे यह तथ्य सामने आ जाता है कि ईसाई धर्म की तुलना मे महायान, राजनीतिक दृष्टि से, एक अयोग्य धर्म था। सयुक्त त्सिन (Tsin) साम्राज्य के पतन के बाद की तीन शतियो के अधिकाश भाग मे उसे उत्तरी चीन के ग्राम्य राजाओ से जो सरक्षण प्राप्त हुआ था उसका महायान के लिए ज्यादा मूल्य एव उपयोग नही था, जितना सम्राट कनिष्क का शक्तिमान् सरक्षण इसके किसी पूर्व युग मे रह चुका था। किन्तु सुदूरपूर्वीय भूमि मे होने वाला, महायान एव कनफ्यूशियाई सम्प्रदायों के बीच का यह सघर्ष ज्यो ही राजनीतिक क्षेत्र से उठकर आध्यात्मिक स्तर पर चला गया तो उनके बीच के प्राय रक्तहीन युद्ध का भाग्य एक दम पलट गया। इस विषय के एक आधुनिक चीनी विशेषज्ञ ने हमे बताया है कि "नव-कनफ्यूशियाई (Neo-Confucianists) ताव-मत एव बौद्ध धर्म के मौलिक विचारो का उसमे कही अधिक निष्ठापूर्वक पालन करते है जितना स्वय तावधर्मी एव बौद्ध करते है।"[1]

जब हम सुदूरपूर्वीय इतिहास मे सिनाई कनफ्यूशियन दर्शन के रिनैसा से निकलकर पाश्चात्य खीष्टीय इतिहास के यूनानी अरस्तू दर्शन के रिनैसा तक पहुँचते है तो नाटक की कथा-वस्तु को एक दूसरा ही मोड लेते देखते है। जहाँ नवकनफ्यूशियाई मत आध्यात्मिक रूप से महायान के सामने बैठ गया, वहाँ नव-अरस्तूवाद खीष्टीय चर्च के धर्मदर्शन (थियोलोजी) के ऊपर छा गया, मजा यह कि खीष्टीय चर्च की दृष्टि मे अरस्तू एक नास्तिक था। दोनो मे से प्रत्येक मामले मे सत्ताधारी दल एक ऐसे विरोधी-द्वारा पराजित हुआ जिसके पास अपनी आन्तरिक योग्यता के सिवा और कुछ न था। सुदूरपूर्वीय मामले मे एक दर्शनात्मक सिविल सर्विस विजातीय धर्म की भावना के आगे पराजित हो जाती है, पाश्चात्य उदाहरण मे एक स्थापित चर्च एक विजातीय दर्शन की भावना के आगे घुटने टेक देता है।

पाश्चात्य खीष्टीय धर्मजगत् मे अरस्तू के प्रेत ने वही आश्चर्यकारी बौद्धिक शक्तिमत्ता प्रदर्शित की जो जीवित महायान ने सुदूरपूर्वीय दुनिया मे दिखायी थी।

"यह बात नहीं है कि (रोमी परम्परा से) उस (पाश्चात्य) यूरोप ने आलोचनात्मक प्रज्ञा एवं वैज्ञानिक अन्वेषण की वह अस्थिर भावना ग्रहण की हो जिसने पाश्चात्य सभ्यता को यूनानियों का दायाद (heir) **एवं उत्तराधिकारी** (successor) **बना दिया है। सामान्यतः इस नवीन तत्त्व के आगमन का आरम्भ**

[1] **फुंग यू-लान : 'ए शार्ट हिस्ट्री आफ चाइनीज फिलासफी' (न्यूयार्क १९४८, मैकमिलन) पृष्ठ ३१८**

(इतालवी) रिनैसां से और यूनानी अध्ययन के पुनरुद्धार का आरम्भ पन्द्रहवीं शती से माना जाता है किन्तु वास्तविक परिवर्तन-बिन्दु को तीन शती और पहिले रखना होगा।…एबीलार्ड (Vivebat १०७९-११४२ ई) एवं जॉन आफ सैलिसबरी (Vivebat circa १११५-११८०) के समय पेरिस में द्वन्द्वात्मक पद्धति के लिए उत्साह एवं दार्शनिक चिन्तन की भावना पहिले से ही (पाश्चात्य) ईसाई धर्म-जगत के बौद्धिक वातावरण को रूपान्तरित करने लगी थी, और उस समय के आगे उच्चतर अध्ययन तार्किक विवेचन (the quaestio) तथा उस सार्वजनिक विवाद की तकनीक द्वारा नियंत्रित एवं शासित हो चला था जिसने मध्यकालीन (पाश्चात्य) दर्शन (यहाँ तक कि उसके महत्तम प्रतिनिधियों) की शैली का बहुत अंशों में निर्णय किया। सारबोन के राबर्ट का कथन है—"कोई भी ऐसी बात पूर्णतः ज्ञात नहीं है जो विवाद या हुज्जत के दांतों से चबाई न गयी हो," और बिलकुल स्पष्ट से लेकर बिलकुल अमूर्त या गूढ़ तक, प्रत्येक प्रश्न को इस चर्वणक्रम के हाथ सौंपने की प्रवृत्ति ने न केवल बुद्धि-कौशल की तत्परता तथा विचार की यथार्थता को उत्तेजन दिया बल्कि सब के ऊपर, आलोचना एवं विधियुक्त संशय की उस भावना को विकसित किया जिसका बहुत अधिक ऋण पाश्चात्य संस्कृति एवं आधुनिक विज्ञान पर है।"[1]

अरस्तू के जिस प्रेत ने पाश्चात्य विचार की भावना (स्पिरिट) तथा रूपाकृति (फार्म) पर स्थायी प्रभाव डाला वह उसके तत्त्वांश वा आशय (सब्सटैंस) पर भी एक क्षणिक प्रभाव डालता गया। और यद्यपि इस विषय मे उसकी छाप कम स्थायी थी, फिर भी वह इतनी गहराई तक तो प्रवेश कर ही गयी कि उसके अनुवर्ती निराकरण के मूल्य रूप मे मानसिक संघर्ष के एक नये एवं दुष्कर आन्दोलन की आवश्यकता पड़ी।

"ब्रह्माण्ड के सम्पूर्ण चित्र में (जैसा कि उसे मध्यकालीन पाश्चात्य आंखों ने देखा) खीष्ट धर्म को अपेक्षा अरस्तू का ही भाग अधिक है। यह अरस्तू और उसके उत्तराधिकारियों की ही क्षमता थी जो इस शिक्षा की उन विशेषताओं के लिए उत्तरदायी थी जिनके कारण हमें ऐसा लग सकता था मानो उनमें वर्ग-विषयक धर्म की भी गन्ध है—जैसे स्वर्गों का तारतम्य, परिक्रामी गोलक (Revolving Spheres), ग्रहों को गति देने वाली प्रज्ञाएँ, श्रेष्ठता के अनुसार तत्त्वों का क्रमनिर्धारण, और यह दृष्टिकोण कि खगोलीय पिण्ड एक अच्युत पंचम सार-तत्त्व से निर्मित हैं। निश्चय ही हम यह भी कह सकते है कि टालेमी (Ptolemy) की अपेक्षा यह अरस्तू ही था जिसे सोलहवीं शती में उखाड़ फेंकने की आवश्यकता हुई और यह अरस्तू ही था जिसने कोपर्निकन सिद्धान्त (Copernican Theory) के मार्ग में महत् अवरोध उपस्थित किया।"[2]

[1] डासन, क्रिस्टोफर : रिलीजन एण्ड राईज आफ वेस्टर्न कल्चर (लन्दन १९५० शीड, ऐण्ड वार्ड) पृ० २२९—२३०

[2] बटरफील्ड, एच. : 'दि ओरिजिंस आफ माडर्न साइंस, १३००-१८००।' (लन्दन १९४९, बेल) पृष्ठ २१-२२

खीष्टीय सवत् की सत्रहवीं शती तक, जब कि पश्चिम की देशी बौद्धिक प्रतिभा बेकन के पद-चिह्नों पर चलकर अर्थात् प्रकृति-जगत् का अन्वेषण एव आविष्कार करने मे लगकर पुनः अपनी मान्यता स्थापित कर रही थी, चर्च की धर्मविद्या अरस्तूवाद मे इतनी उलझ गयी थी कि उसके कारण गियार्देने ब्रूनो को अपने जीवन से हाथ धोना पडा और गैलीलियो को उन वैज्ञानिक अपसिद्धान्तो के लिए चर्च की निन्दा सहनी पडी जिनका नयी बाइबिल (न्यू टेस्टामेट) मे व्यक्त ईसाई धर्म से किसी प्रकार का सम्बन्ध नही था।

सत्रहवी शती के पूर्व, आल्प्सोत्तर—ट्रासअल्पाइन—पाश्चात्य वैज्ञानिको एवं दार्शनिकों ने पाठशालाइयो (स्कूलमेन) पर इसलिए आक्रमण किया था कि वे अरस्तू के गुलाम बन गये थे। बेकन ने अरस्तू को उनका तानाशाह या डिक्टेटर ही कहा था, जबकि पन्द्रहवी शती के इतालवी मानववादियो ने उन पर यह कहकर आक्रमण किया था कि उनकी लैटिन भद्दी है। किन्तु अरस्तू धर्म-दर्शन शास्त्रीय (क्लासिकल) शैली के पारखियो के उपहासो के प्रति अभेद्य बना रहा। उनका उस पर कोई असर नही था। यह सत्य है कि इन आलोचको ने प्रसिद्ध अरस्तूवादी विद्वान डस स्कोतस (Duns Scotus) के नाम मे से अपकर्षकारी शब्द 'डंस' (जडमति) निकाल लिया, जिससे किसी अज्ञान व्यक्ति का नही वर ज्ञान की परित्यक्त प्रणाली के भक्त का बोध होता था, किन्तु लिखने के समय तक मानववादियो की बारी आ गयी। ईसाई सवत् की बीसवी शती मे, जब कि प्राकृतिक विज्ञान एव प्रौद्योगिकी की धारा अपने सामने पडने वाली सब चीजो को बहाये लिये जाती दीखने लगी तब तो ऐसा मालूम पडा मानो डसो (मूढो, जडमतियो) की खोज एक समय चारो ओर छाये हुए शास्त्रीय पक्ष (क्लासिकल साइड) के मिटते हुए ध्वसावशेष मे ही करनी चाहिए।

(५) भाषाओं एवं साहित्यों-सम्बन्धी रिनैसां

जीवित भाषा प्रधानतः वाणी का एक प्रकार है, जिसका इस तथ्य से सकेत मिलता है कि यह शब्द स्वयं ही 'टग' (जिह्वा) के लातीनी-पर्याय से उद्भूत हुआ है। *साहित्य, जैसा कि होना ही चाहिए, उसका उपजात (By-Product)* है। किन्तु जब भाषा एवं साहित्य के प्रेत मृत से जीवित कर दिये जाते है तो दोनो के बीच का यह सम्बन्ध उलट जाता है। तब भाषा की जानकारी साहित्य पढने के लिए कष्टप्रद पूर्वावश्यकता मात्र बन जाती है। जब अंधेरे मे किसी टेबुल-पद से टकराकर हमारे पाव की उंगली चोटीली हो जाती है और मुह से एक उद्‌गार (Vacative, mensa, O table) निकल पडता है तब हम अपनी अनुभूतियों की अभिव्यक्ति के लिए नया शब्द-भाण्डार नही अर्जित करते किन्तु वर्जिल, होरेस एव दूसरे श्रेष्ठ लैटिन साहित्य के अध्ययन के सुदूर लक्ष्य की दिशा मे प्रथम लघु पद रखते है। हम भाषा को बोलने का यत्न नहीं करते और जब हम उसे लिखने की चेष्टा करते है तो केवल इसलिए कि हम पुराकाल के महान् कृतिकारो की कृतियों को और अच्छी तरह समझ सके।

बहुत दिनों से परित्यक्त साहित्यिक साम्राज्य पर अधिकार करने की दिशा मे

प्रथम पग रखना एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए जीवित राजनीतिक साम्राज्य के साधनों की लामबंदी (mobilisation) की आवश्यकता पड सकती है । प्रथम चरण मे किसी साहित्यिक रिनैसाँ का प्रारूपिक (टिपिकल) स्मारक कोई चयनिका (anthology), ग्रन्थ-संग्रह (Corpus), ज्ञान-कोश (thesaurus), अभिधान (lexicon) अथवा किसी राजा के आदेश मे विद्वन्मण्डल-द्वारा संगृहीत-संपादित विश्वकोश आदि होना है और प्रायः सहकारात्मक पाण्डित्य की ऐसी कृतियो का संरक्षक किसी ऐसे पुनरुज्जीवित सार्वभौम राज्य का राजा वा शासक ही बन जाता है जो स्वय भी राजनीतिक रिनैसा की ही उपज होता है। इस प्रकार (टाइप) के पाच प्रतिनिधिक उदाहरण —असुर बनीपाल, कास्टैंटाइन पारफाइरोजेनिटस, युग लो, काग-हूशी तथा त्सी-इन-लुग (Chi en Lung) है जिनमे से अन्तिम चारो इसी प्रकार की उपज थे। किसी 'मृत' श्रेष्ठ पुरा साहित्य (डेड क्लासिकल लिटरेचर) की बची हुई कृतियो के संकलन, सम्पादन, टिप्पणीकरण तथा प्रकाशन के इस कार्य मे सिनाई सार्वभौम राज्य अपने सब प्रतिस्पर्धियों को बहुत पीछे छोड गया था ।

यह सत्य है कि जिन आधुनिक पुरातत्त्वज्ञो ने निनेवा के मैदान मे खुदाई करते हुए कुछ फलक (tablets) उपलब्ध कर दो महत् असीरियाई सग्रहों को जोड़ने-बिखेरने की विद्या प्राप्त की थी उनको भी असुर बनीपाल के महत् सुमेरु तथा अक्कादी पुरासाहित्य के दो मृत्तिका-पुस्तकालयो के आकार एव परिमाण का पूरा ज्ञान नही हो पाया, क्योकि राजपण्डित की मृत्यु के शायद सोलह वर्ष के अन्दर ही उसके दोनो पुस्तकालयो की सामग्रियाँ उस घृणित नगर के ध्वमावशेषो मे चारो ओर बिखरा दी गयी जो ६१२ ईसापूर्व आक्रान्त होकर लुट चुका था । यह हो सकता है कि असुर बनीपाल का सग्रह उन सिनाई क्लासिक के कनफ्यूशियाई धर्मसूत्रो से अधिक रहा हो जो सरलतापूर्वक मुलायम मिट्टी पर छापे जाने की जगह, ताग राजवश की साम्राजिक राजधानी सी नगान (Si Ngan) मे ८३६ एवं ८४१ ई के बीच कठोर पत्थरो पर बडे श्रमपूर्वक उत्कीर्ण किये जाते थे और जो एक शती बाद, सभाष्य ग्रन्थ के रूप मे १३० भागो के एक सस्करण मे मुद्रित किये गये । फिर भी हम कुछ विश्वास के साथ इसका अनुमान कर सकते है कि असुर बनीपाल के सग्रह की कीलाक्षरी लिपि की अक्षर-सख्या उस सग्रह के सिनाई अक्षरो की सख्या से बहुत कम होगी जिसे मिंग राजवंश के द्वितीय सम्राट युग-लो ने १४०३-७ ई. की अवधि मे एकत्र किया था, क्योंकि वह २२,८७७ पुस्तको के ११,०९५ भागो मे था और यह बडी सख्या विषय-सूची के अतिरिक्त थी । इसकी तुलना मे, प्राच्य रोमी सम्राट कास्टैन्टाइन पोर्फी रोजेनिटस (राज्यकाल ९१२-५९ ई) का यूनानी सग्रह बिल्कुल अपदार्थ हो जाता है, यद्यपि पाश्चात्य मस्तिष्क के लिए वह भी हैरान कर देने वाली सख्या है ।

जब हम इन प्रारम्भिक कार्रवाइयों से गुजरते हुए क्लासिकल साहित्यो की वे अनुकृतिया (इमीटेशन) निर्मित करने के विद्वत्दभ तक पहुँचते है, जिनपर उसने परिश्रम किया है, तब हमे यह निश्चय करने का भार सख्याविदों पर छोड देना चाहिए कि उन चीनी साम्राजिक नागरिक सेवापरीक्षाओ के उम्मीदवारो-द्वारा सिनाई (चीनी)

क्लासिकल शैली में लिखे निबन्धों की संख्या क्या है जो ६२२ ई. में अपने पुनःप्रचलनकाल से लेकर १६०५ ई. मे बन्द किये जाने के समय तक अर्थात् १२८३ वर्षों की लम्बी अवधि मे लिखे गये और उनकी संख्या उन लेखाभ्यासों से कम है या अधिक जो पन्द्रहवी शती से लेकर इस लेखन-काल तक पाश्चात्य जगत् के विद्वानो एव छात्रों-द्वारा लैटिन तथा ग्रीक गद्य-पद्य मे रचे गये। किन्तु गहन साहित्यिक उद्देश्यो के लिए पुनरुज्जीवित क्लासिकल भाषाओ के उपयोग में न तो पश्चिम, न सुदूर पूर्व ही बैजेंतियाई इतिहासकारो की तुलना में पंक्ति मे खड़े हो सकते है। यहा हम इन बैजेंतियाई इतिहासकारो मे दसवीं शती के लियो दायाकोनस एव द्वादश शती के अन्ना कामनेना जैसे उन श्रेष्ठ कलाकारों की भी गणना कर लेते हैं, जिनको ऐटिक यूनानी बोली 'क्वाइने' (Koine) के रिनैसा मे साहित्यिक अभिव्यक्ति का माध्यम प्राप्त हो गया था।

शायद पाठकों के मन मे यह बात उठ रही होगी कि हमने साहित्यिक रिनैसाओं के विषय मे अबतक जो कुछ लिखा है वह उस वास्तविक साहित्यिक रिनैसा पर बिल्कुल ही लागू नही होता—वास्तविक रिनैसा जो उनके अपने मन के अग्रभाग को आच्छादित किये हुए है। निश्चय ही उत्तर माध्यमिक काल मे यूनानी साहित्य का जो इतालवी रिनैसा आया उसे लोरेंजो दाई मेडिसी जैसे राजनीतिक सामन्तों का संरक्षण भले ही प्राप्त हुआ हो किन्तु वस्तुतः या तत्वतः वह मान्यतारहित विद्वत्ता का एक स्वयम्फूर्त्त आन्दोलन था। शायद बात यही थी, यद्यपि पन्द्रहवी शती के पोपो, विशेषत पोप निकोलस पचम (१४४७-५५ ई.) के सरक्षण का मूल्य भी कम नहीं किया जा सकता। पोप निकोलस पचम ने तो पुरानी हस्तलिपियो के सैकड़ो विद्वानो एव प्रतिलिपिकारो को वेतन देकर रखा था, इसने लैटिन पद्य मे होमर के एक अनुवाद के लिए दस हजार गुल्डेन (सत्रह आने अर्थात् वर्तमान १ रुपया ६ पैसे के मूल्य के बराबर का एक सिक्का) दिये थे; उसने नौ हजार ग्रन्थो का एक पुस्तकालय निर्मित किया था। जो हो, यदि हम अपने मन को पाश्चात्य इतिहास की पूर्वावधियो की ओर ले जाते हैं और रिनैसा काल के कई शतियो पहिले तक चले जाते है तो हम लोग जिन उदाहरणों पर अभी विचार करते रहे हैं उनके बहुत निकट की चीजें हमे वहा मिल जायंगी। वहा हमारी भेट शार्लमेन से होगी जो एक मृत सभ्यता के सार्वभौम राज्य का पुनरुज्जीवनदाता था और जो अपने को अस्थायी रूप से असुर वनीपाल, युग लो तथा कैस्टंटाइन पोर्फीरोजेनिटस के समकक्ष स्थापित करता है।

पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् मे हेलेनिज्म (यूनानियत) के साहित्यिक रिनैसा का प्रथम निष्फल प्रयत्न पाश्चात्य ईसाई सभ्यता के जन्म के साथ ही हुआ था। जब इस्लाम ने प्राच्य परम्परानिष्ठ ईसाई राजक्षेत्र पर विजय प्राप्त कर ली तो वहाँ से भगकर आये हुए एक यूनानी शरणार्थी, तार्सुस के आर्कबिशप थियोडोर, ने सातवी शती के अन्त में आग्ल चर्च का संघटन किया। इसी प्रकार पश्चिम मे हेलेनी रिनैसा का पैगम्बर एक नार्थम्ब्रियाई (नार्थम्ब्रियन) श्रद्धेय—वेनेरेबुल - ब्रीड (६७३-७३५ ई.) था। एक दूसरा नार्थम्ब्रियाई अलक्यूईन आफ यार्क (७३५-८०४ ई.) शार्लमेन के

दरबार के बीज अपने साथ ले आया और स्कैन्दिनेविया से उठने वाली बर्बरता की आँधी के द्वारा उसे अकाल मे ही नष्ट कर दिये जाने के पूर्व, उसकी बुवाई करने वालो ने लैटिन परिधान मे हैलेनी साहित्यिक संस्कृति को न केवल पुनर्जीवित करना शुरू कर दिया था बल्कि ग्रीक का हलका-सा ज्ञान भी प्राप्त कर लिया था। अलकुईन ने यह स्वप्न देखने का साहस किया था कि वह शार्लमेन से सरक्षण के समर्थित हो फ्राकलैण्ड की धरती पर एथेस के प्रेत को खड़ा कर देने मे समर्थ होगा। यह एक क्षणिक स्वप्न था, और जब पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् उस स्थिति से पुनः बाहर आने लगा जिसे 'नवम शती का अन्धकार' कहा गया है तो देखा गया कि जिस प्रेत को प्रवेश दिया गया है वह हेलेनी क्लासिकल साहित्य का प्रेत नही है बल्कि अरस्तू एव उसके दर्शन का प्रेत है। अलकुईन की स्वप्नसिद्धि मे छात्रो की शताब्दियो की शताब्दियां आयी और चली गयी।

यदि हम इस बिन्दु पर यह सोचने के लिए ठहर जायँ कि क्यो इतनी शनियो के लिए अलकुईन एव उसके मित्रो की आशाओ की पूर्ति रुक गयी तो हम देखेगे कि दिगन्तरीय संघर्षों, जिनका वर्णन-विवेचन हम इस अध्ययन के पूर्व भाग मे करते रहे है, तथा कालान्तर्गत संघर्षों, जिन पर हम इस समय विचार कर रहे हैं, मे अन्तर है। दिगन्तर मे जो संघर्ष होता है वह दिगन्तर मे होने वाली एक भिडन्त या टक्कर (collision) है, और टक्करें प्रायः सायोगिक घटनाएँ (accidents) होती हैं। सैनिक पराक्रम अथवा समुद्र-सन्तरण के नवीन कौशल, अथवा स्टेप्पी का सूखना (desiccation) सास्कृतिक दृष्टि से ऐसे अप्रासगिक कारण हो सकते हैं जो एक समाज को दूसरे पर आक्रमण की ओर अग्रसर करते हैं और फिर उसके जो सास्कृतिक परिणाम होते है उनका वर्णन ऊपर हमने किया है। इसके विपरीत कालान्तर्गत सघर्ष (रिनैसा) प्रेत-साधना (necromancy) का कार्य है जिसमें प्रेत का आवाहन किया जाता है, और प्रेत-साधक को प्रेतोत्थान मे तबतक सफलता नही मिल सकती जबतक कि उसे अपने व्यवसाय के हस्तलाघव या दाव-पेच न मालूम हो। दूसरे शब्दो मे पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् तबतक किसी हेलेनी प्रेत, अथवा अतिथि, को अपने मे प्रविष्ट नही कर सकता था जब तक कि उसका अपना भवन आगन्तुक का स्वागत करने योग्य न हो। यह ठीक है कि हेलेनी लाइब्रेरी वस्तुगत रूप में, सदा ही उपस्थित थी किन्तु जब तक पश्चिमवासी (वेस्टर्नर) उसके अन्तर्गत प्राप्त सामग्री को पढने के योग्य न हो जाय, प्राभाविक रूप से उसे खोला नही जा सकता था।

उदाहरणार्थ, ऐसा कोई समय न था, यहा तक कि पाश्चात्य अन्धकारयुग के अन्धतम पतनबिन्दु मे भी नहीं, जब कि पाश्चात्य ईसाई समाज के कब्जे मे वस्तुगत रूप से वर्जिल की कृतिया न रही हो या उसे लैटिन का इतना ज्ञान न रहा हो कि उसके वाक्यो का अर्थ न बैठा सके। फिर भी कम से कम सातवी से चौदहवीं तक अर्थात् आठ सदिया ऐसी बीत गयीं जिनके बीच वर्जिल का काव्य अत्यन्त प्रतिभाशाली पाश्चात्य ईसाई छात्रों की समझ के भी बाहर रहा—यदि समझ के मान से हमारा मतलब उस आशय को ग्रहण कर सकने की योग्यता से हो जिसे वर्जिल व्यक्त करना

चाहता था और जिसे उसके सदृश मनस्वी समकालीनो-द्वारा ग्रहण किया गया था अथवा जिसे सेण्ट आगस्टाइन तक भविष्य की पीढियां ग्रहण करती गयी। यहा तक कि जिस दान्ते की भावना—प्रेरणा पर हेलेनवाद के इतालवी रिनैसा की प्रथम आभा उदित होने लगी थी उसने भी वर्जिल मे एक ऐसी आत्मा का दर्शन किया जिसे ऐतिहासिक वर्जिल ने स्वयं अपने मानवीय रूप के लिए नही वरन् आर्फियस जैसे किसी महत् पुराण-कल्पित व्यक्तित्व के लिए लिया समझा होता।

इसी प्रकार ऐसा समय कभी नही आया जब पाश्चात्य समाज के पास हेलेनी विद्वान बोथियस (४८०-५२४ ई) द्वारा अत्यन्त योग्यतापूर्वक लैटिन मे अनूदित, अरस्तू की दार्शनिक कृतिया न रही हो, फिर भी बोथियस की मृत्यु मे गणना करे तो छ शतिया ऐसी बीत गयी जिनके बीच उसके द्वारा किये गये अनुवाद अत्यन्त गभीर पाश्चात्य ईसाई विचारको की भी समझ के बाहर रहे। अन्त मे जब पाश्चात्य ईसाई अरस्तू के लिए तैयार भी हुए तो उन्होने उसे चक्करदार रास्ते से जाकर, अरबी अनुवादकोके माध्यम से ग्रहण किया। छठी शती के ईसाई जगत् को अरस्तू के अपने अनुवादको का उपहार देने मे बोथियस ने उस दयालु किन्तु विचारहीन काका की भांति आचरण किया जो, जैसे मान लीजिए, श्री टी. एस इलियट की कविताए अपने भतीजे कोउसकी तेरहवी वर्षगाठ के अवसर पर उपहारस्वरूप देता है, भतीजा, उलट-पुलट कर पुस्तक अपने पुस्तकालय के अन्धतम कोने मे रख देता है और बडी समझदारी के साथ उसके बारे मे सब कुछ भूल जाता है। छ वर्ष बाद--जो व्यक्तिगत कैशोर के संक्षिप्त काल-माप के अनुसार छ. शतियों के बराबर है --भतीजे की, आक्सफोर्ड के उपस्नातक—अण्डरग्रेजुएट—के रूप मे इन कविताओ से पुन भेट होती है। तब उस पर उनका जादू सवार हो जाता है और वह उन्हे मेसर्स बी एच ब्लैकवेल से खरीद लाता है। जब छुट्टियो मे घर लौटता है तो यह देखकर कृत्रिम आश्चर्य प्रकट करता है कि पुस्तक तो इन सारे दिनो उसके आले मे पडी रही है।

जो बात वर्जिल और अरस्तू के साथ हुई वही बैजेतियाई पुस्तकालयो मे सुरक्षित ग्रीक साहित्य की उन महती कृतियो के साथ भी घटित हुई जिन्हे साहित्यिक पक्ष मे इतालवी हेलेनी रिनैसा का मुख्य भोजन बनना था। कम से कम ग्यारहवी शती के बाद से, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् का बैजेतियाई विश्व के साथ घनिष्ठ सम्पर्क था। तेरहवी शती के प्रथमार्द्ध मे कुस्तुनतुनिया एवं यूनान (ग्रीस) पर फैंकी विजेताओ का वास्तविक कब्जा था। परन्तु उस समय इसका कोई सास्कृतिक परिणाम नही निकला, क्योंकि पश्चिम मे उस समय भी क्लासिकल (वरेण्य पुरा साहित्य) बन्दर के लिए अदरक के समान ही था। इसकी व्याख्या में यह कहा जा सकता है कि ये सम्पर्क विरोधपूर्ण सम्पर्क थे और वे पाश्चात्यों को हेलेनी साहित्य की बैजेतियाई लाइब्रेरी के प्रति अनुकूल प्रेरणा देने मे असमर्थ थे। किन्तु इसका जवाब यह होगा कि पन्द्रहवीं शती के राजनीतिक एव धार्मिक सम्पर्क भी कुछ कम विरोधभावपूर्ण नही थे पर उस समय रिनैसा तो अपनी पूरी जवानी पर था। सास्कृतिक परिणामों मे जो अन्तर दिखायी पड़ा उसका कारण तो स्पष्ट है। किसी मृत संस्कृति का रिनैसा तभी घटित

होगा जब सम्बद्ध समाज ने उस सांस्कृतिक स्तर तक अपने को उठा लिया होगा जिस स्तर पर उसका पूर्ववर्ती तब खडा रहा हो जब वह अपनी उन सिद्धियो को प्राप्त करने मे लगा था जो अब पुनरुज्जीवन की प्रतीक्षा में हैं।

जब हम पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् तथा चीन के साहित्यिक रिनैसांओ की मृत्यु पर विचार करते है तो हमे मालूम पडता है कि तबतक उनका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा जबतक कि उस आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के वेश मे आनेवाले निरकुश विजातीय अतिक्रमी (इट्रूडर) ने उन्हे उखाडकर फेक नही दिया। इस आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता ने ईसाई संवत् की सत्रहवीं शती की अवधि मे पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् के प्राणो पर और उन्नीसवी एव बीसवी शतियो के मोड पर चीन के प्राणो पर अपनी मोहिनी डाल दी। पाश्चात्य समाज, बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के अपने हेलेनी प्रेत से कुश्ती लडने के लिए छोड दिया गया था, किन्तु सत्रहवी एव अठारहवी शतियो के मोड पर पुस्तिकाओ (पैम्फलेटस) का जो युद्ध शुरू हुआ और जिसे स्विफ्ट ने 'बैटिल आफ बुक्स' (पुस्तक-समर) के नाम से पुकारा है, तथा जिसमे प्रतिस्पर्द्धी, 'प्राचीनो' एवं 'आधुनिकों' की आनुपातिक योग्यता के प्रश्न पर बहस कर रहे थे, उसने दिखा दिया कि हवा का रुख किधर है। उस समय बहस का मुख्य सवाल यह था कि पाश्चात्य सस्कृति वही की धरती मे बद्धमूल और 'प्राचीनो' की अनुदर्शी वा पूर्वव्याप्तिमूलक (retrospective) प्रशसा एव अनुकृति मे पगु होकर रहे या फिर 'प्राचीनों' को पीछे छोड़कर अज्ञात (भविष्य) की दिशा मे आगे बढ चले? इस प्रकार जो प्रश्न सामने आया उसका एक ही विवेकोचित उत्तर सम्भव था, किन्तु प्रश्न ने खुद एक दूसरा पूर्ववर्ती प्रश्न उठा दिया और वह यह था कि क्या प्राचीनो की प्रशसा एव अनुकृति--जिसे हम शब्द के विशदतम अर्थ मे आधुनिक पाश्चात्य क्लासिकल शिक्षण कह सकते है—ने सचमुच आधुनिक विकास को पगु कर दिया है?

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्टतः 'प्राचीनो' के अनुकूल था; और यह भी एक महत्त्वपूर्ण बात थी कि यूनानी—हेलेनी अध्ययन के कुछ अग्रगामी, उदाहरणार्थ, पेट्रार्क एवं बोकैकियो, भी जनपदीय इतालवी साहित्य की सवृद्धि के प्रमुख ज्योतिर्धर थे। देशी या जनपदीय भाषाओं के साहित्य की प्रगति अवरुद्ध करने के बजाय हेलेनी अध्ययन के रिनैसा ने उसे उलटे नयी प्रेरणा प्रदान की। इरैसमस ने सिसरोनियन लैटिन मे जो अधिकार प्राप्त किया था उसने उसके साथी पाश्चात्यो को अपनी मातृभाषाओ की साहित्यिक समृद्धि से विमुख करने में सफलता नही प्राप्त की। साध्य एवं साधन, कारण एवं परिणाम, उदाहरणार्थ आग्ल षोडश-शतीक हेलेनी अध्ययन तथा उसी शती के अन्त मे अनुपमेय ज्योति से पूर्ण अंग्रेजी कविता के विस्फोट के बीच के सांस्कृतिक सम्बन्ध (nexus) को तौलना बिल्कुल असभव है। क्या शेक्सपियर के 'थोडी लैटिन एव कम ग्रीक' ने उसके नाटको की रचना मे सहायता की थी? कौन बता सकेगा? यह सोचा जा सकता है कि मिल्टन के पास लैटिन एवं ग्रीक की बहुत बड़ी सम्पदा थी किन्तु यदि उसके पास इन दोनों में से कोई भी चीज न होती तो हमे 'पैरेडाइज लास्ट' (खोया स्वर्ग) एवं सैम्सन एगोनाइस्ट्स भी न प्राप्त होते।

(६) चाक्षुष कलाओं वाले रिनैसां

किसी मृत सभ्यता की उत्तराधिकारिणी के इतिहास मे किसी न किसी चाक्षुष कला का रिनैसां एक सामान्य घटना है। उदाहरणस्वरूप हम 'पुराना राज्य' (Old Kingdom) के स्थापत्य एव चित्रकला की शैलियो के उस रिनैसा को ले सकते हैं जो ईसापूर्व की सातवी एवं छठी शतियो मे सय्यत युग (Saite Age) के उत्तर-कालिक मिस्री जगत् मे, दो हजार वर्षों के बाद, घटित हुआ था। इसी प्रकार ईसापूर्व की नवी, आठवी एव सातवी शतियो के बैबिलोनियाई जगत् मे पत्थर की कम उभरी खुदाई की तक्षणकला (carving in bas relief) की सुमेरु शैली के रिनैसा या फिर ईसाई सवत् की दसवी, ग्यारहवी एव बारहवी शतियों के बैजेंतियाई हाथी-दांत के पत्रद्वय में बने मोडदार चित्रों (ivory of Byzantine diptychs) पर 'बास-रिलीफ' (पत्थर में किञ्चित् उभरी) तक्षणकला की हैलेनी शैली (जिसके सर्वोत्तम उदाहरण ईसापूर्व की पाँचवी एव चौथी शतियों की अत्ताई—ऐटिक—श्रेष्ठ कृतिया हैं) के रिनैसा को लिया जा सकता है। किन्तु इन तीनो चाक्षुष रिनैसाओ ने जितने क्षेत्र तक अपना विस्तार किया था, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् (वेस्टर्न क्रिश्चियनडम) मे होने वाले चाक्षुष कलाओं के हेलेनी रिनैसा ने उन्हे कही पीछे छोड दिया। पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् के इस रिनैसां का प्रथम अवतरण उत्तर-मध्यकालीन इटली मे हुआ और वहा से वह शेष पाश्चात्य जगत् में फैल गया। हेलेनी चाक्षुष कलाओं के प्रेत के इस आवाहन की साधना स्थापत्य, तक्षणकला एव चित्रकला तीनो क्षेत्रों मे की गयी और इसमें से प्रत्येक क्षेत्र मे प्रेत-शैली (revenant style) ने अपनी प्रतिस्पर्धिनियो को इस तरह उखाडकर फेंक दिया कि उसके सिवा कही किसी का नामलेवा न रहा। और जब उसकी शक्ति समाप्त हो गयी तो वहा सौन्दर्यानुभव के स्तर पर ऐसी रिक्तता उत्पन्न हो गयी जिसमें पाश्चात्य कलाकारों के लिए यह समझना कठिन हो गया कि वे अपनी इतने लम्बे काल तक डूबी हुई देशी प्रतिभा की अभिव्यक्ति किस रूप मे करें।

पाश्चात्य चाक्षुष कलाओं के इन तीन क्षेत्रो मे से प्रत्येक की वही विचित्र कहानी है—आगन्तुक प्रेतो के निर्मम हाथो से घर की पूरी सफाई के बाद अलकृत करने की कहानी। किन्तु इन तीनो में भी मूर्तिकला के क्षेत्र मे पश्चिम की धरती की अपनी प्रतिभा पर हेलेनी प्रेत की विजय की कथा अत्यन्त असाधारण है, क्योंकि इस क्षेत्र मे एक मौलिक पाश्चात्य शैली के तेरहवी शती के उत्तरी फरासीसी व्याख्याताओ ने हेलेनी, मिस्री एव महायानी बौद्ध शैलियो की सर्वोत्तम कृतियो जैसी ही विशेषताए रखने वाली कृतियो का निर्माण किया, जबकि चित्रकला के क्षेत्र मे पाश्चात्य कलाकार परम्परानिष्ठ ईसाई समाज की कहीअ धिक अकालपक्व कला के सरक्षण से मुक्त न हो पाये। इसी प्रकार स्थापत्य के क्षेत्र में भी 'रोमनेस्क' (Romanesque या रोम-प्रभावित स्थापत्य) शैली (जो जैसा कि इसका उत्तरकालिक लेबिल बताता है एक पूर्वगत हेलेनी सभ्यता के सबसे पीछे के युग से उत्तराधिकार में प्राप्त विषय-वस्तु का एक प्रकार मात्र थी) एक आक्रामक गाथिक शैली से पहिले ही आतंकित एव पराजित

हो चुकी थी। जैसा कि हम पहिले ही बता चुके हैं, इस गाथिक शैली का जन्म अब्बासाई एवं एन्दलूशियाई खिलाफतोंवाले सीरियाई जगत् मे हुआ था।

बीसवी शती के लन्दन-वासी के बोध के लिए दो-दो बार पराजित देशी पाश्चात्य चाक्षुष कला तथा उसके सीरियाई एव हेलेनी अभ्याक्रामको (assailants) के बीच होने वाले घातक सघर्ष के जो योद्धा थे वे बादशाह हेनरी सप्तम के तत्त्वावधान मे वेस्टमिनस्टर अबे के साथ जोड़े गये प्रार्थनास्थल—चैपेल—की स्थापत्य एव तक्षण कला मे, बुत बने अब भी खडे है। छत की मेहराबे मिटती हुई गाथिक शैली की उत्तरयुगीन विजय है। उच्च कोटि की सीधी खडी उन प्रस्तर-मूर्तियो के झुड मे, जो नीचे की समाधियो पर बनी अधलेटी (recumbent)) कास्य मूर्तियो की ओर देख रही है, देशी पाश्चात्य ईसाई तक्षण कला की आल्पसोत्तर (ट्राम अल्पाइन) शैली अपने स्तभित ओठो मे मानो मौन हसगान गा रही हो। मच के मध्यभाग मे तोरी गियानी (१४७२ ई. से १५२२ ई) की हेलेनकारिणी—यूनानी प्रभाव पैदा करने वाली—वरेण्य कृतिया रखी हुई हैं। तोरी गियानी ने उस कुत्सित वातावरण की घृणापूर्ण उपेक्षा की जिसमें रहकर उसे अपनी श्रेष्ठ कृतियो का निर्माण करना पडा था। वह अपने चतुर्दिक आत्मतृप्ति के साथ देख रहा था और अत्यन्त विश्वासपूर्वक आशा करता था कि फ्लोरेंटाइन कलाकार के निर्वासन के ये फल, प्रत्येक आल्पसोत्तर दृश्य, दर्शक की आखो के लिए ज्योतिरथ बन जायेगे। क्योकि बेनवेन्तुना सेलिनी की आत्मकथा से हमे मालूम पडता है कि यह तोरी गियानी अत्यन्त अहभाव वाला व्यक्ति था और प्राय उन पशु अग्रेजो के बीच अपने वीर कृत्यो[1] पर शेखी बघारा करता था।

इस प्रकार जो गाथिक स्थापत्य लन्दन मे सोलहवी शती के प्रथम चतुर्थाश तक और आक्सफोर्ड मे सत्रहवीं शती के प्रथमार्द्ध तक अपना सिक्का जमाये रहा, उस समय के बहुत पहिले ही उत्तरी एव मध्य इटली से दूर भगा दिया गया था, जहा कि रोमनेस्क शैली के स्थापत्य को स्थानच्युत करके स्वय अधिकार ग्रहण कर लेने के कार्य मे वह कभी उतना समर्थ नही हुआ जितना आल्पसोत्तर यूरोप मे हुआ था।

स्थापत्य के क्षेत्र मे हेलेनवाद के रिनैसा के कारण पाश्चात्य प्रतिभा जिस बंध्यता या अनुर्वरता से रुग्ण हो गयी थी, औद्योगिक क्रान्ति की प्रसव-पीडा से कोई लाभ न उठा सकने की असफलता ने उसकी घोषणा की। औद्योगिक तकनीक या कौशल मे जिस उत्परिवर्तन (mutation) ने लौह गर्डर को जन्म दिया था उसी ने पाश्चात्य भवन-निर्माता या स्थापत्यकार के हाथो मे अतुलनीय रूप मे परिवर्तनक्षम एक ऐसी वास्तु-सामग्री (बिल्डिंग मेटेरियल) ऐसे समय दे दी जब यूनानीकरण की स्थापत्यपरम्परा स्पष्ट रूप से समाप्त हो गयी थी। फिर भी उन स्थापत्यकारो को, जिनको लोहार ने लौह गर्डर का उपहार प्रदान किया था, तथा नियति को अपनी स्वच्छ लेखन-पट्टिका के साथ रिक्तता भरने का इससे अच्छा कोई

[1] **बेनविन्तुनो सेलिनी : आटोबाइग्राफी (आत्मकथा) : जे. ए. साइमण्ड्स-द्वारा कृत अंग्रेजी अनुवाद (लन्दन, १९४० फायोडोन प्रेस) भाग १, अध्याय १२, पृष्ठ १८**

रास्ता नही सूझा कि गाथिक पुनरुज्जीवन-द्वारा हेलेनी रिनैसा का अवरोध किया जाय।

पहिला पश्चिमी, जिसने लौह गर्डर के भद्देपन पर बिना किसी लज्जा के कोई गाथिक पर्दा न डालकर काम लेने की बात सोची, कोई पेशेवर स्थापत्यकार नही था वर एक कल्पनाशील अव्यवसायी--अमेच्योर--था, और यद्यपि वह सयुक्त राज्य अमेरिका का एक नागरिक था किन्तु जिस स्थल पर उसने अपनी ऐतिहासिक इमारत का निर्माण किया वह हडसन नही बास्फोरस के तटों के सामने पड़ता था। राबर्ट कालेज की आरम्भिक इमारत---विजेता मुहम्मद के 'कैसिल आफ यूरोप' (यूरोप-गढी) के ऊपर सिर उठाये हैमलिन हाल—का निर्माण १८६९-७१ ई मे साइरस हैमलिन-द्वारा किया गया था, फिर भी हैमलिन ने जो बीज बोया था उसका फल उत्तरी अमेरिका एव पाश्चात्य यूरोप मे अगली शती के पूर्व नही दिखायी पडा।

पश्चिम की कला-सम्बन्धिनी प्रतिभा का बंध्यकरण चित्रकला एव मूर्तिकला के क्षेत्र मे भी कुछ कम स्पष्ट नही था। दान्ते के समकालीन गाये तो (मृत्यु १३३७ ई.) की पीढ़ी मे लेकर अर्द्ध सहस्राब्दी से अधिक समय तक, आधुनिक पाश्चात्य चित्रकला का स्कूल, जिसने हेलेनी चाक्षुषकला के प्रकृतिवादी आदर्शों को उनकी पुरातनोत्तर (post-archaic) अवस्था मे सशयरहित रूप से ग्रहण कर लिया था, एक के बाद एक करके प्रकाश एव छाया से निर्मित चाक्षुष प्रभावो को प्रकट करने की अनेक विधियो का तब-तक प्रयोग करता रहा जबतक कि कलागत तकनीक की आश्चर्यजनक कृतियो मे फोटोग्राफी के प्रभाव उत्पन्न करने का यह लम्बा प्रयास स्वय फोटोग्राफी के आविष्कार मे निरर्थक नही हो गया। इस प्रकार जब आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान की ही एक प्रक्रिया-द्वारा उनके पावों तले से जमीन खिसक गयी तो चित्रकारो ने अपने-द्वारा बहुत दिनो से तिरस्कृत वरेण्य बैजेंतियाई कलाकारो की ओर उन्मुख प्राक्-रैफेलाई आन्दोलन (Pre-Raphaelite movement) चला दिया। उन्होने यह कार्य मनोविज्ञान के उस नवीन जगत् का आविष्कार करने की ओर ध्यान देने के पूर्व किया, जो विज्ञान ने स्वाभाविक रूपाकृति वाले पुरातन विश्व के उनसे चुराकर फोटोग्राफी को दे डालने के बाद, उन्हे विजय के लिए प्रदान किया था। इस प्रकार पाश्चात्य चित्रकारो का एक इल्हामी (apocalyptic) स्कूल पैदा हुआ जिसने चाक्षुष प्रभावो की जगह, आध्यात्मिक अनुभवो को प्रकट करने के लिए स्पष्टत रंग का उपयोग कर सचमुच एक नया मोड दिया, और फिर तो पाश्चात्य मूर्तिकला भी, अपने माध्यम की सीमा मे रहते हुए, ऐसी ही उद्दीपक शोध की दिशा मे चल पड़ी।

(७) धार्मिक आदर्शों एव रीतियों से सम्बन्धित रिनैसां

यहूदी धर्म के साथ ख्रीष्ट मत का सम्बन्ध यहूदियों की दृष्टि में अपने शाप-कारी रूप मे उतना ही स्पष्ट था जितना वह ख्रीष्टीय अन्तर्विवेक के लिए असमजस-कारी रूप मे अस्पष्ट था। यहूदियों की आखों में ख्रीष्टीय चर्च एक स्वधर्मत्यागी यहूदी मत था जिसने अपने ही धर्मसूत्र (Canon of Scripture) के अनधिकृत परिशिष्ट के

साक्ष्य के आधार पर विपथगामी तथा अभागे गैलीलियाई फैरिसी (Galilean Pharisee) की शिक्षाओ के विरुद्ध पापाचरण किया था और फिर उस मत के इन द्रोहियो ने बेहयाई के साथ निरर्थक ही उसका नाम ग्रहण कर लिया था। यहूदियों की दृष्टि मे, हेलेनी समाज पर ख्रीष्टीय मत का जादूभरा वशीकरण वस्तुतः 'प्रभु का कार्य' नहीं था। जिस यहूदी रब्बी को उसके अनुयायिओं-द्वारा नास्तिक प्रणाली से प्रणाम किया गया और उसे एक मानवी माता के गर्भ से जन्मा देवपुत्र बताया गया, उसकी मरणोत्तर विजय कुछ उसी तर्ज का व्रात्य-शोषण था जैसा कि दायोनाइसस एवं हेराक्लिज जैसे उसी प्रकार के पुराणोक्त अर्धदेवों की प्रारम्भिक सफलताएं थीं। यहूदी मत (जूडाइज्म) ने आत्म-प्रशसा मे यह मान लिया कि यदि वह ईसाई मत के स्तर पर नीचे उतर आता और झुककर विजय करना चाहता तो वह उस (ईसाई मत) की विजयो का पूर्वरूप बन सकता था। यद्यपि ईसाई धर्म ने कभी यहूदी धर्मग्रन्थो की प्रामाणिकता को अस्वीकार नही किया—बल्कि उसने अपने धर्मग्रन्थो के साथ उसे सम्बद्ध कर लिया—किन्तु जैसा कि यहूदियो को लगा, उसने दो आधारभूत जूडाई सिद्धान्तो का त्याग करके ही अपनी सुगम विजये प्राप्त की। ये सिद्धान्त थे दश धर्मादेशो मे से प्रथम एवं द्वितीय—एकेश्वरवाद (Monotheism) तथा मानवरूपेतर देवपूजा (Aniconism) अर्थात् यह सिद्धान्त कि ईश्वर की कोई मानवी प्रतिकृति नही हो सकती। इसलिए अब ख्रीष्टीय मत के आवरण के नीचे स्पष्ट दिखायी पडने वाले, अनुतापशून्य हेलेनी व्रात्यवाद के आगे यहूदियों का प्रत्ययवचन या दलगत नारा यही हो गया कि प्रभु के शाश्वत वचन ('वर्ड') के साक्ष्य-धारण कार्य मे डटे रहो।

यह 'धैर्यपूर्ण गभीर अवज्ञा', जिसके साथ अत्यन्त चमत्कारिक ढग पर सफल ख्रीष्टीय मत की ओर अप्रभावित एवं अविचल यहूदी समाज देखता था, ईसाइयो के लिए कुछ कम व्यग्रकारी होती यदि ईसाई मत ने स्वयं एकेश्वरवाद एव मानवाकृति मे देवपूजा के विरोध (एनीकोनिज्म) की यहूदी विरासत के प्रति सच्ची सैद्धान्तिक निष्ठा के साथ हेलेनी धर्मान्तरितो के उस बहुदेववाद (Polytheism) एवं मूर्तिपूजा के प्रति व्यावहारिक सहूलियतों को मिला न दिया होता, जिसके लिए यहूदी आलोचको द्वारा उसकी इतनी निन्दा की जाती है। ख्रीष्टीय चर्च ने यहूदी धर्मग्रन्थ को ईसाई धर्म की 'पुरानी बाइबिल' (ओल्ड टेस्टामेंट) कहकर जो पुनःपवित्रता प्रदान कर दी वही ईसाई धर्म के कवच मे दुर्बल छिद्र था जिसके द्वारा यहूदी आलोचना के बाण ख्रीष्टीय अन्तःकरण को बेधते रहते थे। ओल्ड टेस्टामेंट या पुरातन इंजील नीव के उन पत्थरो मे से एक थी जिन पर ख्रीष्टीय भवन खड़ा था, किन्तु यही बात तो त्रैत-सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ़ ट्रिनिटी), सन्त-सम्प्रदाय तथा चाक्षुषकला की उन त्रि-आयामी (थ्रीडाय-मेशनल) ही नही द्वि-आयामी कृतियो मे भी थी जो न केवल सन्तो का बल्कि दैवी त्रिमूर्तियो (थ्री परसन्स) का भी प्रतिनिधित्व करती थी। तब भला ख्रीष्टीय पक्ष-समर्थक इस यहूदी व्यंग्य का क्या उत्तर दे सकते थे कि चर्च का हेलेनी आवरण उसकी जूडाई उपपत्ति (थियरी) से बेमेल है ? कोई ऐसा उत्तर आवश्यक था जो ईसाइयो के मन को यह विश्वास दिला दे कि इन यहूदी तर्कों मे कोई सार नही है, क्योंकि इन

तर्कों की प्रभावकारिता पाप के उस संवेदनशील विश्वास मे निहित है जो वे ख्रीष्टीय आत्माओं में जगाते हैं।

जब ख्रीष्टीय संवत् की चतुर्थ शती के मध्य हेलेनी जेटाइल (मूर्ति-पूजक या काफिर) विश्व का नाम मात्र के लिए सामूहिक धर्मपरिवर्तन हो गया तब चर्च के अन्दर ही जो घरेलू विवाद पैदा हुआ उसमे ईसाइयो एवं यहूदियो के बीच को वितण्डाए दब गयी, किन्तु पाचवी शती का अन्त होते-होते फिलिस्तीनी यहूदी समाज में घर की कट्टरतापूर्ण सफाई शुरू हुई। जान पडता है कि उसके परिणामस्वरूप छठी एवं सातवी शतियो मे इस पुराने मैदान मे फिर धार्मिक युद्ध उठ खडा हुआ। यहूदी समाज का यह घरेलू झगडा, जो यहूदी उपासनागृहो को भित्तिचित्रो से अलकृत करने की ख्रीष्टीय दुर्बलता को लेकर शुरू हुआ था, यहूदी-ईसाई युद्धक्षेत्र पर भी प्रभाव डालने का कारण बन गया। किन्तु जब हम ख्रीष्टीय चर्च के अन्तर्गत प्रतिमा-पूजकों (iconophiles) एव प्रतिमा-विरोधियों (iconophobes) के बीच के समानान्तर विवाद पर दृष्टि डालते हैं तो उसकी हठवादिता एव व्यापकता देखकर दग रह जाते है। हम उस अदम्य सघर्ष को ईसाई धर्मजगत् के प्राय: प्रत्येक क्षेत्र मे और ईसाई सवत् की प्रत्येक अनुवर्ती शती मे तूफानी वेग से प्रकट होते देखते है। यहाँ उन उदाहरणो की लम्बी सूची देना अनावश्यक है जो एलविए की परिषद् (लगभग ३००-११ ई.) के छत्तीसवे धर्मादेश से, जिसके अनुसार चर्चों मे चित्रो का प्रदर्शन वर्जित है, आरम्भ होते है।

ख्रीष्टीय सवत् की सातवी शती के अन्दर विवाद मे एक नये तत्त्व का समावेश हुआ—एक ऐसे नवीन अभिनेता के रूप मे, जिसका ऐतिहासिक रगमच पर चमत्कारिक एव ज्योतिर्मय दर्शन हुआ। जैसे ख्रीष्टीय धर्म पैदा हुआ था उसी प्रकार यहूदी सम्प्रदाय के श्रोणि-भाग से, परन्तु इस बार पूर्ण वयस्क, एक दूसरा धर्म पैदा हो गया। इस्लाम उतनी ही कट्टरता के साथ एकेश्वरवादी एव प्रतिमोपासना-विरोधी था, जितनी कि कोई यहूदी कामना कर सकता था। इसके भक्ता ने सैनिक और शीघ्र ही धर्मप्रसार के क्षेत्र मे जो सनसनी पैदा करनेवाली सफलता पायी उसने ईसाई जगत् को एक नयी चीज सोचने के लिए दी। जैसे साम्यवाद के भक्तो की सैनिक एव मिशनरी विजयो ने आधुनिक पाश्चात्य प्राणियो को परम्परागत सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्थाओ के हृदयान्वेषणकारी पुनर्मूल्याकन के लिए विवश कर दिया उसी प्रकार आदिवासी मुस्लिम अरब विजेताओ की सफलताओ ने विवादो की उस आग को भड़कने के लिए नया ईंधन दे दिया जो ख्रीष्टीय प्रतिमोपासना की समस्या के इर्द-गिर्द न जाने कब से धुधुवा रही थी।

प्रतिमोपासना-विरोध का जो प्रेत बहुत दिनो से गलियारो मे मंडरा रहा था उसे महान् प्राच्य रोमी सम्राट् लियो साइरस के प्रतिमा-विरोधी राज्यादेश (Iconoclastic Decree) द्वारा ७२६ ई. मे मच के बीचोबीच लादा गया। राजनीतिक सत्ता-द्वारा धार्मिक क्षेत्र मे बलात् रिनैसा लाने का यह प्रयत्न असफल सिद्ध हुआ। पोप-तत्र (पेपैसी) ने बड़े उत्साह से लोकप्रिय मूर्ति-पूजक विरोध-पक्ष का साथ दिया और इस प्रकार अपने को भी बैजेतियाई सत्ता से मुक्त करने की दिशा में एक लम्बा पग

रखा। इसके बाद पश्चिम मे शार्लमैन ने लियो साइरस की नीति की दिशा मे, सम्भवत बेदिली के साथ, जो कदम उठाया उस पर उसे पोप हैड्रियन प्रथम से स्पष्ट लताड़ खानी पडी। अपने जूडाई-रिनैसां के लिए पश्चिम को और आठ शतियो तक प्रतीक्षा करनी पडी; और जब वह आया तो नीचे से ऊपर की ओर होने वाले आन्दोलन के रूप मे आया, उसका लियो साइरस मार्टिन लूथर था।

पाश्चात्य ईसाई धर्म जगत् मे जो प्रोटेस्टेंट 'रिफार्मेशन' (धर्मक्षेत्र मे सुधार का एक विशेष आन्दोलन) चला उसमे मानवप्रतिमोत्तर देवपूजा वा एनीकोनिज्म ही एक मात्र जूडाई प्रेत नही था जिसने अपने को फिर से प्रतिष्ठित कर लेने मे सफलता प्राप्त की। उसी के साथ एक जूडाई विश्रान्तिवाद (Sabbatarianism=शनिवार विश्राम-दिवस के रूप मे मनाने के यहूदी विश्वास) ने भी रोमन कैथोलिक चर्च का त्याग करने वालो को मुग्ध किया, और जूडाई मत के इस दूसरे तत्त्व-सम्बन्धी रिनेसा को स्पष्ट करना उतना सरल नही है क्योकि निर्वासनोत्तर (पोस्ट एक्जाइलिक) यहूदी सम्प्रदाय जिस आत्यन्तिक सतर्कता के साथ अपने 'सैबेथ' (विश्राम दिवस) को मनाता था वह एक विशिष्ट चुनौती का एक विशिष्ट समाज-द्वारा दिया जाने वाला जवाब था, वह अपने सामाजिक अस्तित्व को बनाये रखने के लिए यहूदी डायसपोरा के तकनीक का एक अश था। प्रोटेस्टेंटो का घोषित लक्ष्य था आदिम चर्च के पुरातन आचार की ओर लौटना, किन्तु हम देखते यह हैं कि वे आदिम ख्रीष्टीय धर्म (प्रिमिटिव क्रिश्चियैनिटी) तथा जूडाई मत के बीच के उस अन्तर को मिटाने मे लगे है जिस पर आदिम चर्च इतना जोर देता था। क्या ये 'बाइबिल क्रिश्चियन' धर्मोपदेश (गास्पेल) के उन बहु-सख्यक पदो एव वाक्यो मे अपरिचित थे जिनमे यीशु ने सैबटेरियन वर्जना का तिरस्कार किया था ? क्या यह बात उनकी दृष्टि मे ओझल हो सकती थी कि जिस पाल का सम्मान करने मे वे प्रसन्नता का अनुभव करते थे, उसी ने मूसाई धर्मविधि की निन्दा करने मे सुप्रसिद्धि प्राप्त की थी ? इसका खुलासा यह है कि जर्मनी, इग्लैण्ड आदि तथा दूसरे स्थानो मे फैले हुए ये धर्मोत्साही जन एक अत्यन्त शक्तिशाली रिनैसा की पकड मे थे और अपने को उसी प्रकार कृत्रिम यहूदी (इमीटेशन ज्यूज) बनाने पर तुले हुए थे जैसे उत्साही इतालवी कलाकारो एव विद्वानो ने अपने को नकली एथिनियाई—इमीटेशन एथीनियंस—बनाने पर कमर कस ली थी। बपतिस्मा के समय अपने बच्चो पर पुरानी बाइबिल मे प्राप्त कुछ अत्यन्त अटीटानी (अनटीटानिक) ध्वनि वाले निजवाचक नामो को थोपने का उनका आचार मृत जगत् को जीवित करने के उनके पागलपन का एक अभिव्यजक लक्षण था।

हम पाश्चात्य प्रोटेस्टेंट मत के जूडाई रिनैसा मे, फलितार्थ रूप मे, एक तीसरे तत्त्व का प्रवेश पहिले ही करा चुके है अर्थात् इजीलपूजा का, अथवा दूसरे शब्दो मे कहे तो पवित्र प्रतिमाओ के मूर्तीकरण के स्थान पर पवित्र ग्रन्थ के प्रतिमाकरण का। इसमें कोई सन्देह नही कि देशी भाषाओ मे बाइबिल का अनुवाद हो जाने के कारण और उन सीधे-सादे लोगो की पीढ़ियों-द्वारा उनका सतत पाठ होने के कारण, जो और कुछ बहुत कम पढ़ पाते हैं, न केवल निष्ठावान् प्रोटेस्टेंटों अथवा पवित्रतावादियों (प्यूरिटंस)

को बल्कि पश्चिम के सर्वसाधारण को भी बड़ा सास्कृतिक लाभ पहुँचा। इसके कारण देशी भाषाओ के साहित्य को असीम समृद्धि प्राप्त हुई और जन-शिक्षण को भी बडा बल मिला। बाइबिल की कथाओ का धार्मिक मूल्य चाहे जो रहा हो, किन्तु इस मूल्य के अतिरिक्त भी वे ऐसी लोक-कथाए (फाक लोर) बन गयी जो पाश्चात्य मानव को देशी स्रोतो से प्राप्त होनेवाली और किसी भी चीज से मानवी अभिरुचि मे कही ज्यादा बढी हुई थी। ज्यादा कुतर्की या कृत्रिम अल्पमत के लिए भी पवित्र ग्रन्थ के आलोचनात्मक अध्ययन ने उस उच्चतर समीक्षा के लिए अभ्यास का काम दिया जिसका प्रयोग विद्वत्ता के सभी क्षेत्रो मे किया जा सकता था और सविधि किया भी गया। इसी के साथ-साथ पवित्र धर्मग्रन्थो के दैवीकरण का बौद्धिक प्रतिशोध प्रोटेस्टेटो की एक ऐसी दासयवृत्ति थी जिससे अब पुरोहिताच्छन्न त्रैतवादी (ट्रीडेटाइन) कैथोलिक मन मुक्त था। जबकि पुरानी बाइबिल के बारे मे अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि वह धार्मिक एव ऐतिहासिक विशिष्टता की विविध कक्षाओ वाली मानवी रचनाओ का सकलन या मिश्रण मात्र है, तब उसे ईश्वर की अच्युत वाणी मानने की दृढता ने हठपूर्ण मूर्खता बढाने वाली धार्मिक उत्तेजना पैदा की, जिसके कारण मैथ्यू अर्नाल्ड ने अपने ही विक्टोरियाकाल के धर्मशील मध्यम वर्ग पर 'हिब्रू कारी तलैया' मे जीवित रहने का दोषारोप किया।

११. इतिहास में विधि (कानून) और स्वतन्त्रता

समस्या

(१) विधि (कानून) का अर्थ

१९१४ ई. के पहिले के सौ वर्षों मे पाश्चात्य मानव उस समस्या से बहुत कम परेशान था जिससे अब हमे उलझना है क्योकि उस समय एक प्रकार का समाधान उसके लिए उतना ही सन्तोषजनक था जितना कि दूसरे प्रकार का। यदि मानवीय नियति का शासन किसी अतिमानवी (सुपर ह्यूमन) विधि के अन्तर्गत है तो वह प्रगति का अत्यन्त सन्तोषजनक कानून (माना जाता) था। इसके विपरीत, यदि ऐसा कोई कानून नही है तो आसानी के साथ यह मान लिया जाता था कि मुक्त एव विवेकवान् मानव प्राणियो के कार्यों द्वारा उसी परिणाम की पूर्ति हो जायगी। किन्तु बीसवी शती के मध्य तक स्थिति स्पष्टत बहुत बदल गयी। ऐसी सभ्यताओ की जानकारी हुई जो अतीत मे ध्वस्त हो गयी, और आधुनिक पाश्चात्य मानव ने जो दभपूर्ण गगनचुम्बी अट्टालिका निर्मित की उसमे अशुभ दरारे दिखलायी देने लगी। ओसवाल्ड स्पेंगलर ने १९१९ ई. मे प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पश्चिम का ह्रास' (दि डिक्लाइन आफ दि वेस्ट) मे जिस विधि की ओर इशारा करके लिखा था कि इस सभ्यता को भी अपनी पूर्व-गामी सभ्यताओ के ही रास्ते जाना पड़ेगा, क्या वैसा कोई कानून है या हम अपनी त्रुटियो को सुधारने और अपने भाग्य का निर्माण करने मे स्वतन्त्र है?

हमारी इस जिज्ञासा मे पहिला कदम तो यह होना चाहिए कि हम अपने मन मे निश्चय कर ले कि इस सन्दर्भ मे विधि वा कानून (ला) से हमारा आशय क्या है? स्पष्टत: हमारा आशय उस मानवकृत कानून से नही है जिससे एक ऐसे रूपक द्वारा, जो इतना परिचित है कि हमारा ध्यान ही उस पर नही जाता, यह शब्द उस सन्दर्भ मे हस्तान्तरित कर दिया गया है जिस पर इस समय हम विचार कर रहे है। जिस विधि से इस समय हमारा सम्बन्ध है, वह इस परिचित मानवकृत संस्था या प्रणाली से इस बात मे जरूर मिलता है कि वह भी, उसकी भांति ही, मानवीय घटनाओं का शासन करने वाले नियमों का समूह है किन्तु इस बात मे वह इससे भिन्न भी है कि वह मानवकृत नही है और मानव-द्वारा बदला भी नही जा सकता। हम इस अध्ययन के किसी पिछले भाग में पहिले ही देख चुके हैं कि विधि का यह विचार तत्त्वज्ञान के स्तर पर जाने के प्रक्रम मे प्रायत: दो परस्पर-विरोधी (antithetical) धारणाओ मे अभिस्पन्दित

होने के योग्य है। उन लोगो के लिए जिनकी मानसिक दृष्टि मे मानवीय विधिनिर्माता का व्यक्तित्व उस विधि से बडा है जिसे वह कार्यान्वित करता है, जगत् को शासित एव नियमित करने वाली तत्त्वज्ञानिक 'विधि' सर्वशक्तिमान् ईश्वर का कानून है। दूसरो के लिए, जिनकी दृष्टि मे विधिकर्त्ता या शासक की देह भी उस विधि की धारणा से आच्छादित है जिसकावह कार्यान्वय करता है, जगत् का नियमन करने वाला तत्त्वज्ञानिक विधान एक एकरूपी एवं अनम्य प्रकृति के निर्वैयक्तिक विधि (कानून) के रूप मे ग्रहण किया जाता है।

इन प्रत्ययो (Concepts) मे से प्रत्येक मे सान्त्वनाप्रद एव भयजनक दोनों प्रकार के लक्षण पाये जाते है। 'प्रकृति के कानूनो' का भयजनक लक्षण है उनकी निष्ठुरता। फिर भी यह निष्ठुरता अपने साथ उसकी क्षतिपूर्ति भी ले आती है। चूंकि ये कानून निष्ठुर है, वे मानव बुद्धि से जानने योग्य होते है। प्रकृति का ज्ञान मानव की मानसिक पकड मे है और यह ज्ञान शक्ति है। मनुष्य प्रकृति के कानूनो को जानकर उस (प्रकृति) का अपने प्रयोजन के लिए विनियोग कर सकता है। इस कार्य मे मानव को आश्चर्यकारी सफलता प्राप्त हुई है। उसने सचमुच ही अणु का भेदन किया है। और परिणाम क्या हुए हैं ?

एक मानवीय आत्मा, जो पाप की अपराधिनी सिद्ध हो चुकी है और जिसे इसका विश्वास हो चुका है कि वह ईश्वरीय कृपा की सहायता के बिना अपना सुधार नही कर सकती, डेविड की भाति, अपने को प्रभु के हाथो सौपना ही पसन्द करेगी। मनुष्य के पाप को दण्डित करने और उसकी पोल खोलने मे निष्ठुरता को, जो प्रकृति के कानूनों का अन्तिम निर्णय है, ईश्वर के कानून के अधिकारक्षेत्र को स्वीकार करके ही वश मे किया जा सकता है। इस आध्यात्मिक निष्ठा के हस्तान्तरण का मूल्य उस सही एव निश्चायक बौद्धिक ज्ञान का अपवर्तन (forfeiture) है जो मानवात्माओ का भौतिक पुरस्कार एव आध्यात्मिक भार है—उन मानवात्माओ का जो प्रकृति की दासता की कीमत चुकाकर उसका स्वामी बनने में सन्तुष्ट हैं। 'जीवमन्य ईश्वर (लिविंग गाड) के हाथो मे पड जाना एक भयकर बात है'; क्योकि यदि ईश्वर कोई 'स्पिरिट' (सूक्ष्मात्मा) है तो मानवीय आत्माओ के साथ उसका आचरण अदृष्ट एव अचिन्त्य होगा। ईश्वर के कानून या विधि का आवाहन करने मे मानवीय आत्मा को आशा एव भय का आलिंगन करने के लिए निश्चयात्मकता का त्याग करना पड़ेगा, क्योकि जो कानून किसी सकल्प की अभिव्यक्ति है वह एक ऐसी आध्यात्मिक स्वतत्रता से उद्दीप्त होता है जो प्रकृति की एकरूपता के सर्वथा विपरीत है; और एक मनमाना कानून प्रेम या घृणा किसी से भी प्रेरित हो सकता है। ईश्वर के कानून पर अपने को छोडने मे, एक मानवात्मा वही पाती है जो वह उसके लिए लाता है। इसीलिए ईश्वर के विषय मे मनुष्य के मनोभाव ईश्वर को पिता के रूप मे देखने मे लेकर ईश्वर को अत्याचारी के रूप मे देखने तक मिलते है। और दोनों ही दृष्टिया ईश्वर की उस प्रतिमा के अनुरूप है जिसके व्यक्तित्व के पुरुषविध छद्मवेश (anthropomorphic guise) के उस पार तक जाने में मानव कल्पना असमर्थ है।

(२) आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकारों की स्वेच्छाचारिता

'ईश्वर के कानून' का विचार बैबिलोनियाई एव सीरियाई इतिहास की चुनौतियों के उत्तर रूप मे इसरायली और ईरानी पैगम्बरों की आत्माओ की गहरी पीड़ा द्वारा निर्मित हुआ था, जबकि 'प्रकृति के नियमों' की अवधारणा की श्रेष्ठ व्याख्या को हिन्दी (इंडिक) एवं हेलेनी जगत् के विघटन के दार्शनिक प्रेक्षकों ने रूप दिया था। किन्तु ये दोनों विचारधाराए तार्किक दृष्टि से एक दूसरे के विरुद्ध नही हैं और इसकी कल्पना भी भलीभाति की जा सकती है कि ये दोनो प्रकार के कानून साथ-साथ अगल-बगल, चलते रहे। 'ईश्वर का कानून' एक व्यक्तित्व की प्रज्ञा एव सकल्प द्वारा अनुसरण किये जाने वाले एक मात्र एवं निरन्तर के ध्येय को अभिव्यक्त करता है। 'प्रकृति के कानून' एक पुनरावर्त्तक स्पन्दन वा गति की नियमितता का प्रदर्शन करते है, ठीक वैसे ही जैसे पहिया अपनी धुरी के चारो ओर घूमता रहता है। यदि हम चक्रकार के सर्जनात्मक कार्य के बिना ही किसी चक्र—पहिया के अस्तित्व मे आने की और फिर बिना तात्पर्य की पूर्ति किये उसके निरन्तर घूमते रहने की कल्पना कर सके तो ये पुनरावर्तन निश्चय ही निरर्थक सिद्ध होगे, और यही निराशाजनक निष्कर्ष उन भारतीय एव यूनानी दार्शनिको ने निकाले भी थे जिन्होने कि अस्तित्व के दु खपूर्ण चक्र को निरन्तर शून्य मे (in Vacuo) घूमते हुए देखा। यथार्थ जीवन मे हमें चक्रकार के बिना कोई चक्र चलता हुआ दिखायी नही देता, इसी प्रकार चक्रकार भी उन चालको (ड्राइवरो) के बिना निष्क्रिय है जो इन शिल्पियों को पहिये बनाने और उसे छकडो मे फिट करने का काम इस दृष्टि से सौपते है कि पहियो की पुनरावर्तिनी गति छकडो को उद्दिष्ट स्थान तक पहुचा सके। इसी प्रकार प्रकृति के कानून भी तभी सार्थक प्रतीत होते है जब हम उनकी कल्पना ऐसे पहियो के रूप मे करते हैं जिन्हे ईश्वर ने स्वय अपने रथ में फिट कर दिया हो।

यह विश्वास कि जगत् का सम्पूर्ण जीवन 'ईश्वर के कानून'-द्वारा शासित है, जूडाई मत से विरासत मे मिला जिसे ईसाई एवं मुस्लिम समाजो ने ग्रहण कर लिया। यह विश्वास दो आश्चर्यजनक रूप मे समान किन्तु पूर्णत स्वतत्र प्रतिभापूर्ण कृतियो में प्रकट हुआ—सन्त आगस्टाइन के 'दे सिवितेत दाई' (De Civitate Dei) एव इब्न खल्दून के 'बर्बर इतिहास के उपोद्घात' (Prolegomena) मे। इतिहास के जूडियाई दृष्टिकोण का आगस्टीनियन पाठ हजार वर्ष से अधिक समय तक पाश्चात्य ईसाई विचारकों द्वारा बिलकुल ठीक मानकर ग्रहण किया जाता रहा और यह १६८१ ई मे प्रकाशित बोसुए (Bossuets) के ग्रन्थ 'डिस्कोर्स सर ल हिमत्वायर यूनिवर्सेल' मे अन्तिम बार प्रामाणिक रूप से व्यक्त हुआ।

पिछले कांटे की आधुनिक पाश्चात्य विचार-धारा ने इस ईश्वर-केन्द्रित (Theocentric) इतिहास-दर्शन (फिलासफी आफ हिस्ट्री) का जो अस्वीकार कर दिया उसका स्पष्टीकरण किया जा सकता है, और उसे क्षमा भी किया जा सकता है, क्योंकि बोसुए-द्वारा उपस्थित चित्र का जब विश्लेषण किया गया तो मालूम पड़ा कि उसकी संगति न ख्रीष्टीय धर्म के साथ बैठती है, न सामान्य बोध के साथ।

बीसवी शती के लेखक कोलिंगउड ने इसकी त्रुटियो को प्रकट करने में कोई कोर-कसर नही रखी है। इस लेखक को इतिहासकार एव दर्शनशास्त्री दोनों रूपो में अच्छी ख्याति मिली।

"ख्रीष्टीय सिद्धान्तों पर लिखा गया कोई भी इतिहास, आवश्यक रूप मे सार्वदेशिक, दैवी, इलहामी (apocalyptic) एवं युग-प्रवर्तक होगा······ यदि मध्यकालीन इतिहासकार को इसका स्पष्टीकरण करने की चुनौती दी जाती कि उसे कैसे मालूम हुआ कि इतिहास में कोई पदार्थमूलक योजना निहित है तो वह उत्तर देगा कि ईश्वरीय वाणी या इलहाम-द्वारा उसे इसका ज्ञान हुआ है, ख्रीष्ट ने मानव को ईश्वर के सम्बन्ध में जो कुछ बताया है, उसका यह एक भाग है। और यह इलहाम केवल यह जानने की कुंजी ही नहीं है कि ईश्वर ने भूतकाल में क्या किया है; यह इसे भी हमारे सामने प्रकट करता है कि ईश्वर भविष्य में क्या करने जा रहा है। इस प्रकार ख्रीष्टीय इलहाम अतीत मे जगत् की सृष्टि से लेकर भविष्य में उसका अन्त होने तक, ईश्वर की कालातीत एवं शाश्वत दृष्टि से देखा हुआ, विश्व का समस्त इतिहास हमारी आंखों के सामने रखता है। इस प्रकार मध्यकालीन इतिहास लेखन आगे इतिहास के अन्त की ओर देखता था और समझता था कि वह ईश्वर-द्वारा पूर्वनियोजित है तथा मानव को ईश्वर-वाणी या इलहाम द्वारा पूर्वज्ञात है। इस तरह इसके अन्दर ही एक प्रकार का प्रलयविज्ञान या परलोकशास्त्र का ज्ञान (eschatology) निहित था

"मध्यकालीन विचारधारा में ईश्वर के वस्तुनिष्ठ प्रयोजन तथा मनुष्य के आत्मनिष्ठ प्रयोजन के बीच के पूर्ण विरोध की कल्पना कुछ इस रूप मे की गयी थी कि मनुष्य का आत्मनिष्ठ प्रयोजन चाहे जो हो, ईश्वर का प्रयोजन इतिहास पर एक ऐसी वस्तुनिष्ठ योजना के बलात् लागू करने के रूप में दिखायी पड़ता है जो हमें अनिवार्यत इस धारणा तक ले जाती है कि मनुष्य के प्रयोजन या इच्छा से इतिहास की गति में कोई अन्तर पड़ने वाला नही है और एक मात्र शक्ति जो उसका निर्धारण करती है, ईश्वरीय प्रकृति है।"[1]

इस तरह ख्रीष्टीय इलहाम को गलत रूप मे उपस्थित कर मध्यकालीन मानस वाले प्रारम्भिक अधुनातन पाश्चात्यकार अपने ऊपर स्वय ही पिछले खेवे की आधुनिक वैज्ञानिक कट्टरता तथा उत्तरकालीन आधुनिक अनीश्वरवादी सशयवाद दोनो के आक्रमण को निमंत्रित कर रहे थे। ये इतिहासकार (यदि हम पुन कोलिंगउड को उदधृत करें) 'यह समझने की गलती मे पड गये कि वे भविष्य का पूर्वानुमान लगा सकते है', और 'इतिहास की सामान्य योजना को जान लेने की अपनी आतुरता मे और अपने इस विश्वास मे कि यह योजना ईश्वर की है मानव की नही, वे इतिहास का तत्त्व इतिहास के बाहर जाकर खोजने को प्रवृत्त हुए और ईश्वर की

[1] **कोलिंगउड : दि आइडिया आफ हिस्ट्री (आक्सफर्ड १९४६, क्लेयरेंडन प्रेस), पृष्ठ ४९, ५४, ५५**

योजना की जानकारी प्राप्त करने के लिए मनुष्य के कार्यों से दूर हटकर खोज में लगे।

"फलतः मानवीय कर्मों का वास्तविक ब्यौरा उनके लिए अपेक्षाकृत महत्त्वहीन हो गया, और उन्होंने वस्तुतः घटना क्या घटी इसकी शोध में असीम कष्ट उठाने की जो तत्परता इतिहासकार का प्रधान कर्तव्य है, उसी की उपेक्षा की। यही कारण है कि मध्यकालीन इतिहास-लेखन (Histriography) **अपनी समीक्षात्मक प्रणाली में इतना दुर्बल है। यह दुर्बलता कोई आकस्मिक घटना नहीं थी। यह विद्वानों के सामने उपस्थित स्रोतों एवं सामग्रियों के सीमित होने पर निर्भर न थी। यह वे क्या कर सकते हैं इसके सीमित होने पर निर्भर न थी बल्कि इस बात के सीमित होने पर निर्भर थी कि वे करना क्या चाहते हैं। वे इतिहास के वास्तविक तथ्यों का ठीक एवं वैज्ञानिक अध्ययन नहीं करना चाहते थे बल्कि दैवी गुणों का, धर्मतत्त्व का सही एवं वैज्ञानिक अध्ययन करना चाहते थे·········· जिससे उन्हें इस बात का पूर्वानुमान हो जाय कि ऐतिहासिक क्रम में क्या अवश्य घटित होना चाहिए था और क्या निश्चित रूप से होने वाला है।**

इसके परिणामस्वरूप जब मध्यकालीन इतिहास-लेखन को केवल विद्वान इतिहासकार की दृष्टि से देखा जाता है—उस प्रकार के इतिहासकार के दृष्टिकोण से जो केवल तथ्यों की शुद्धता को छोड़ और किसी बात की पर्वाह नहीं करता, तो लगता है कि वह न केवल असन्तोषजनक है किन्तु जान-बूझकर बड़े घृणित रूप में दुराग्रहपूर्ण है; और उन्नीसवीं शती के (पाश्चात्य) इतिहासकार, जिन्होंने सामान्यतः इतिहास की प्रकृति का केवल विद्वत्तापूर्ण दृष्टिकोण लिया, अत्यन्त सहानुभूतिशून्य दृष्टि से उस पर विचार करते रहे।"[१]

मध्यकालिक अवधारणा के प्रति यह विरोधभाव केवल उन पिछले खेवे के इतिहासकारों की पीढ़ी की ही विचित्रता नही थी जिसके आत्मतुष्ट अनीश्वरवाद मे उनके जीवन की मोदकारी शान्ति प्रतिबिम्बित होती थी। और ऊंचे तापमान मे उनके पूर्ववर्त्ती तथा उत्तराधिकारी भी सजीव हो उठते थे। पहिले हम पिछली श्रेणी को ले· बीसवीं शती की जो पीढी, अपनी प्रजाओ पर पचवर्षीय योजनाए लादने वाले मानवी तानाशाहो-द्वारा दर-दर भगाये जाने के दुःखद अनुभव का स्वाद चखती रही वह इस सुझाव के विरुद्ध निश्चय ही खीझकर विद्रोह करती कि किसी तानाशाह दैव या ईश्वर-द्वारा छः हजार वर्ष की योजना उन पर लादी जाने को है। जहा तक अठारहवी शती के उस पाश्चात्य मानव की बात है जिसके निकट पर्ववर्तियो ने मध्यकालीन अवधारणाओं के प्रति अपनी निष्ठा का मूल्य अपने ऊपर धर्मयुद्धो का सताप लादकर चुकाया था, वह बोसुए के दावे को हास्यास्पद एव पुराने फशन का मूढ विश्वास कहकर नही हटा सकता था। उसके लिए यह 'शत्रु' था और वाल्तेयर के युग का प्रहरी

[१] कोलिंगवुड, आर. जी. : दि आइडिया आफ हिस्ट्री (आक्सफर्ड १६४६, क्लेयरेंडन प्रेस), पृष्ठ ५५, ५६

स्वर (वाचवर्ड) उसके विरुद्ध था। जो आस्तिक वा देववादी (Deists) केवल इस शर्त पर ईश्वर का अस्तित्व मानने को तैयार थे कि वह ग्रेट ब्रिटेन के हनोवर-वशी बादशाह की तरह राज्य करे किन्तु शासन न करे, उनमे और उन नास्तिको मे कोई तात्विक अन्तर नही था जिन्होने प्रकृति की स्वतत्रता की घोषणा के भूमिका-स्वरूप ईश्वर को ही समाप्त कर दिया था। अब मे प्रकृति के कानून पूर्णत. अपरिवर्तनशील बनने के लिए स्वतत्र हो गये और फलतः पूर्णतया ज्ञेय होने के उपक्रम में आ गये। यह न्यूटन के आत्मसमजनकारी (सेल्फएडजस्टिंग) जगत्—यूनिवर्स—और पैले वाले उस दैवी घडी-साज का युग था जिसने अपनी घडी और अपने व्यवसाय दोनो को बन्द कर दिया था।

इस प्रकार 'ईश्वर का कानून' अन्धकार का एक भ्रम मानकर विसर्जित कर दिया गया—अन्धकार जिससे उत्तरकाल का आधुनिक पाश्चात्य मानव निकल रहा था, किन्तु जब विज्ञान के आदमियो ने उस इस्टेट पर कब्जा करने की तैयारी की जिससे ईश्वर निकाल बाहर किया गया था, तब उन्होने देखा कि अभी तक एक प्रान्त ऐसा रह गया है जिसमे उनका प्रादेश (Writ) अर्थात् 'प्रकृति का कानून' नही चलाया जा सकता। विज्ञान मानवेतर प्रकृति (नान-ह्यूमन नेचर) का स्पष्टीकरण दे सका; वह मानवशरीर की प्रक्रियाओं की भी व्याख्या कर सका क्योंकि मानव-शरीर बहुत कुछ अन्य स्तनपायी जीवों के शरीर की ही भाति है, किन्तु जब मानव-जाति के कार्य-कलाप का प्रश्न उठा, सभ्यता के क्रम के बढने मानवो न कि पशुओ का, तब विज्ञान सहम गया। यहा एक ऐसी दुर्व्यवस्था (chaos) थी जो उसके कानूनो से ठीक न की जा सकती थी; घटनाओं का निरन्तर ऐसा अर्थहीन आगमन, जिसे बीसवी शती के अग्रेज उपन्यासकार ने, जो राजकवि भी था, 'ओडना' (odtaa) अर्थात् 'एक के बाद एक वाहियात वस्त' कहकर पुकारा। विज्ञान उसका कोई अर्थ न बता सका, इसलिए उसे कुछ कम महत्त्वाकाक्षिणी बिरादरी, इतिहासकारो, के लिए, छोड दिया गया।

अठारहवी शती के तत्वमीमासक मानचित्रकारो (Metaphysical cartographers) ने जगत् का विभाजन कर दिया था। उनकी विभाजक रेखा की दूसरी ओर उनको अमानवी विषयों का एक ऐसा व्यवस्थाप्रिय प्रान्त मिला जिसमे विश्वास किया जाता था कि 'प्रकृति के कानून' चल रहे हैं, इसलिए जो सचित बौद्धिक प्रयास से मानवीय शोध के लिए अधिकाधिक अधिगम्य (accessible) था। दूसरी ओर उन्होंने मानवीय इतिहास का ऐसा अशान्त प्रदेश छोड़ दिया जिसमे, जैसा उन्होने उसे देखा, ऐसी दिलचस्प कहानियो के अलावा और कुछ भी नही निकाला जा सकता था जिन्हे वृद्धिगत परिशुद्धता के साथ लिखा तो जा सकता था किन्तु जिनसे कुछ सिद्ध नही होता था, और यही वह आशय था जिसे किसी ने (कहा जाता है कि अमेरिकी मोटर-निर्माता हेनरी फोर्ड ने) यह कहकर प्रकट करना चाहा था कि इतिहास तो 'धोखा' (bunk) मात्र है। इसके बाद हमारे लिखने तक जो काल आया उसकी मुख्य विशेषता यह थी कि विज्ञान ने राज्य के उन अनुल्लेखनीय प्रान्तों पर भी सफलता की विभिन्न

मात्राओं के साथ, अधिकार स्थापित करना शुरू कर दिया जिन्हे मूलत इतिहासकारों के लिए छोड दिया गया था—उदाहरणार्थ ऐसे प्रान्त थे मानव-विज्ञान (एंथ्रोपालोजी), अर्थशास्त्र, समाजविज्ञान तथा मनोविज्ञान। दिन-दिन क्षीण होती जमीदारी का जो अंश बच गया, और जिस पर निरन्तर प्रगति करते विज्ञान के चरण अभी तक नही पड़े थे, उसमें इतिहासकारों ने निर्विघ्न अपनी तथ्य-शोधनकारी कार्रवाइयां जारी रखी।

किन्तु पाश्चात्य मानव का मूलभूत धर्म मे सदा यही विश्वास रहा है कि जगत् नियमाधीन है और उसमे दुर्व्यवस्था नही है; और चाहे वह नास्तिक हो या आस्तिक इस धर्म का उत्तरकालीन आधुनिक पाठ यही विश्वास था कि 'जगत् का कानून' (लॉ आफ यूनिवर्स) 'प्रकृति के कानूनो' की ही एक प्रणाली है। सच पूछे तो इन कानूनो का क्षेत्र निरन्तर बढता गया है। विज्ञान के इतिहास के वरेण्य नाम उन्ही के नाम है जिन्होने दुर्व्यवस्था के बाह्याभासों के नीचे शान्ति एव व्यवस्था का दर्शन किया था। उदाहरणत जिस कार्य के लिए न्यूटन, डार्विन एवं आइनस्टीन प्रसिद्ध हुए वह इसी प्रकार के भ्रम-निवारण का कार्य था। और इन बौद्धिक विजेताओ ने जिसरेखा के पार जाने का साहस नही किया उसके पार जाकर कौन अपनी रेखा खीचने का साहस करेगा ? यह घोषणा कि जगत् का एक प्रान्त—गम्यता की प्रक्रिया मे पडे मानव द्वारा अधिकृत केन्द्रीय प्रान्त—किसी अज्ञात उच्चतर सत्ता द्वारा दुर्व्यवस्था के मन्दिर के रूप मे सुरक्षित रख दिया गया है, निर्बन्ध इतिहासकारो को भले ही सन्तोष दे ले किन्तु विज्ञान के समस्त सुबुद्धिशाली उपासको द्वारा इसे एक पाखण्ड, एक प्रवचना ही समझा जायगा।

तथ्य की बात तो यह है कि आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकारो के लिए उससे कही कम निर्बन्ध होने का अवसर था जितना कि वे सोचते थे और जैसा कि मध्य बीसवी शती के एक प्रतिष्ठित इतिहास-कला के अभ्यासी ने स्वय कहा है—

"किसी पीढ़ी के आदमी सामान्यतः उस मात्रा से अनजान होते हैं जिसमें वे अपने समसामयिक इतिहास का चिन्तन एक परिकल्पित ढांचे के अन्दर करते हैं और जिसके कारण वे घटनाओं को एक विशेष आकृति में सजाते अथवा उन्हें कुछ ऐसे सांचों में ढाल देते है जो कभी-कभी दिवास्वप्न की भांति ग्रहण कर लिये जाते हैं। कथा की यांत्रिक रचना से उनके मन जिस प्रकार आकुंचित होते हैं उसके प्रति वे बड़ी भव्यतापूर्वक अचेत हो सकते हैं, और जब दुनिया दूसरी हो जाती है और एक दूसरी ऐसी नयी पीढ़ी आती है जो उस स्वीकृत ढांचे में जन्म से बँधी नहीं होती, तभी उस ढाँचे की संकुचितता हर एक के सामने स्पष्ट होती है।···इतिहास के लेखकों एवं दूसरे शिक्षकों के लिए यह कल्पना कर लेना गलत है कि यदि वे ईसाई नहीं हैं तो वे इतिहास का अध्ययन करने में कोई पक्ष ग्रहण करने, किसी मत के बिना कार्य करने या पहिले से कुछ बातें मान रखने की विशेषता से रहित हैं। जैसा कि दूसरे क्षेत्रों में हुआ है, इतिहासकारों में भी अन्धों में सबसे अन्धे वे हैं जो स्वयं अपनी पूर्व मान्यताओं की परीक्षा करने में

अक्षम हैं किन्तु मुदित मन से कल्पना किये हुए हैं कि उनका अपना कोई पूर्वाग्रह या पूर्व मान्यता नहीं है।"[१]

यह उस बन्दी का चित्र है जिसे अपनी ही शृंखलाओं की चेतना नही है। इस सन्दर्भ मे हम दूसरी बार एक लेखाश उद्धृत करने का लोभ सवरण नहीं कर सकते। यह लेखाश एक ऐसी पुस्तक की भूमिका से लिया गया है जो अपनी भद्रता एवं उत्कृष्टता के कारण निर्बन्ध निष्ठाहीनता की एक वरेण्य —क्लसिक —उक्ति है—

"एक बौद्धिक उत्तेजना से······मुझे वंचित कर दिया गया है। मुझसे अधिक विवेकवान् एवं अधिक विद्वान आदमियो ने इतिहास में एक कथावस्तु (प्लाट), एक लय, एक पूर्व निर्दिष्ट ढांचे का दर्शन किया है। ये समस्वरताएं मुझसे छिपी हुई हैं। जैसें लहर पर लहर उठती है वैसे ही मैं एक आपात (इमर्जेन्सी) पर दूसरे आपात को अनुसरण करते देखता हूं। केवल एक ही महत् तथ्य ऐसा है जो अप्रतिम है इसलिए जिसके बारे में कोई सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता। इतिहासकार के लिए केवल एक ही सुरक्षित नियम है कि वह मानवीय नियति के विकास में अनिश्चित एवं अदृश्य के अभिनय को स्वीकार करे।"[२]

फिर भी जिस इतिहासकार ने सार्वजनिक रूप से इस हठधर्मिता के प्रति अपनी निष्ठा की घोषणा की कि 'इतिहास बस एक के बाद दूसरी वाहियात बात है' उसी ने अपने ग्रन्थ को 'यूरोप का इतिहास' नाम देकर अपने को एक ऐसे पूर्वनिर्दिष्ट साचे का समर्थक स्वीकार कर लिया जिसमे एक अपरिज्ञेय महाद्वीप के इतिहास को समस्त मानव जाति के इतिहास के साथ समीकृत कर दिया गया हो। और इस उत्तरकालीन आधुनिक पाश्चात्य ऐतिहासिक रूढि पर पहुचने के लिए उन्हे एक प्रचलित पाश्चात्य इतिहास-धर्म (*religio historici*) के नियमों को अजाने ही स्वीकार करना पड़ा। यूरोप के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए जिन बेसुध मानसिक क्रियाकलापो की आवश्यकता थी वे इतने विस्तृत थे कि चुपचाप स्वीकृत नियमो की सख्या ही उनतालीस थी।

१ बारफील्ड, हरबर्ट : 'क्रिश्चियनिटी ऐण्ड हिस्ट्री' (लन्दन, १९४९, बेल) पृष्ठ १४० एवं १४६

२ फिशर, एच. ए., एल : 'ए हिस्ट्री आफ यूरोप' (लन्दन, १९३५, आयर ऐण्ड स्पाटिसउड) भाग १, पृष्ठ ७

'प्रकृति के कानूनों' के प्रति मानवीय कार्यव्यापार की वश्यता
(The Amenability of Human Affairs to 'Laws of Nature')

(१) साक्ष्य का सर्वेक्षण

क. व्यक्तियों के निजी मामले

आइए, हम अपनी जांच के प्रयोजन के लिए यह मानकर आरम्भ करें कि यह सवाल विचार करने के लिए खुला हुआ है कि प्रकृति के नियम या कानून सभ्यता की प्रक्रिया मे चलते हुए मानव के इतिहास मे कोई महत्त्व रखते है या नहीं। इसके बाद हम मानवीय कार्य-व्यापार के विभिन्न क्षेत्रो की परीक्षा यह पता लगाने के लिए करेंगे कि क्या, गहरी छानबीन के बाद, यह सिद्ध होता है कि उक्त प्रश्न निष्पक्ष विचार के लिए उससे कम खुला हुआ है जितना हमने मान रखा है। यदि हम व्यक्तिगत जनो के सामान्य मामलो पर पहिले विचार करें तो इसमें ज्यादा सहूलियत होगी, क्योंकि यह विषय ऐसा है कि जिस पर 'सामाजिक इतिहास' शीर्षक के अन्तर्गत आधुनिक इतिहासकारो की बडी महत्त्वपूर्ण देन है। यहाँ यह कठिनाई भी नही है जो सभ्यताओ के इतिहासो को नियंत्रित करने वाले नियमों की खोज मे हमारे सामने आती है। जिन सभ्यताओ के लिखित विवरण मिलते है उनकी सख्या साधारणीकरण के लिए असुविधाजनक रूप से छोटी है। शायद वे दो दर्जन से भी कम होंगी। फिर इनमे से भी कुछ के विषय मे हमारा ज्ञान बहुत खण्डित है। इसके विपरीत, व्यक्तिगत जन, लाखो की संख्या मे है और आधुनिक पाश्चात्य परिस्थितियो मे उनके आचरण का विशद साख्यिक विश्लेषण किया गया है। इस विश्लेषण के आधार पर व्यवहारदक्ष लोगो ने भविष्यवाणियां की हैं। इन भविष्यवाणियों के लिए उन्होने न केवल अपनी ख्याति को वरन धन को भी दाब पर चढा दिया है। जो लोग उद्योग एव व्यवसाय पर नियन्त्रण रखते हैं वे विश्वासपूर्वक मान लेते है कि अमुक-अमुक बाजार मे अमुक-अमुक वस्तुओ की अमुक परिणाम मे आमद होगी। सम्भव है, कभी-कभी उनके अनुमान गलत भी हो जाते हों किन्तु ऐसा प्रायः नही होता, अन्यथा उन्हे व्यापार से बाहर निकल जाना पडता।

एक व्यापारिक कार्य, जो व्यक्तियो के मामलों मे औसत के नियम की

व्यवहार्यता को बड़े स्पष्ट ढग से प्रदर्शित करता है, बीमा-व्यवसाय है। हम मानवीय कार्य-व्यापार शब्द का जिस अर्थ मे प्रयोग कर रहे है उस पर 'प्रकृति के नियमो' की व्यवहार्यता के तर्क के समर्थन में जल्दबाजी के साथ बीमे के सब रूपो या प्रकारों को शामिल कर लेने के प्रति हमे सावधान रहना होगा। जीवन-बीमा का सम्बन्ध मानवीय देह की सम्भावनाओ से था, और वह शारीरिकी (Physiology) या स्पष्टत. विज्ञान के राज्यक्षेत्र के अन्तर्गत है। इसके साथ ही इस बात से भी इन्कार नही किया जा सकता कि आत्मा का भी इस विषय पर कुछ अधिकार है, क्योकि विवेक-द्वारा भौतिक जीवन की सीमा बढायी और अविवेक-द्वारा घटायी भी जा सकती है। मूर्खतापूर्ण पराक्रम से लेकर पशुतापूर्ण कामुकता तक इस अविवेक के अनेक रूप हो सकते है। इसी प्रकार जहाजो एव उनके माल से समुद्री बीमा मे ऋतुविज्ञान (Meteorology) के अध्ययन की आवश्यकता पड़ी। यह भी विज्ञान की ही एक शाखा है, यद्यपि इस समय यह कुछ विद्रोही स्वभाव की हो गयी है। किन्तु जब हम चोरी या अग्निकाण्ड के विरुद्ध किये जाने वाले बीमा के क्षेत्र मे आते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि बीमा कम्पनिया औसत के उन नियमो के आधार पर जुआ खेल रही है जो अपराधिता एव असावधानी की विशिष्ट मानवी दुर्बलताओ पर लागू होते है।

ख आधुनिक पाश्चात्य समाज के औद्योगिक मामले

विक्रेताओ एव ग्राहको के बीच के व्यवहार मे माग एव पूर्ति के उतार-चढाव के जो साख्यिक साचे या नमूने प्राप्य है वे अपने को 'तेजी' (boom) और 'मन्दी' (slum) की तरगो के रूप मे व्यक्त करते रहते है, किन्तु हमारे लिखने के समय तक व्यवसाय-चक्र के साचों का पर्याप्त शुद्धता के साथ ऐसा ऊहापोह नही हो पाया है कि बीमा कम्पनिया अपने व्यापार की एक नयी शाखा इसके लिए खोल सके और उनकी भयानक अनिश्चितताओ एव खतरो के विरुद्ध प्रीमियम की दर बताये। हा, वैज्ञानिक शोधकर्ताओ ने इस विषय पर बहुत-कुछ जानकारी अवश्य प्राप्त कर ली है।

औद्योगिक पाश्चात्य समाज के बौद्धिक इतिहास मे व्यापार-चक्र की इस दृश्य-घटना का पता अपने प्रत्यक्ष सामाजिक पर्यवेक्षण के आनुभविक रूप मे (empirically) पहिले हुआ और बाद मे सख्याओ-द्वारा उसकी पुष्टि हुई। इसका सबसे प्रारम्भिक ज्ञात विवरण पहिले के एस. जे ल्वायड और बाद के लार्ड ओवरस्टोन नामक एक ब्रिटिश पर्यवेक्षक-द्वारा १८३७ ई. का लिखा हुआ है। व्यापार-चक्र के एक अमेरिकी छात्र डब्लू सी. मिचेल ने १९२७ ई. मे प्रथम बार प्रकाशित पुस्तक मे, अपना विश्वास प्रकट करते हुए लिखा—"ज्यों-ज्यो आर्थिक संघटन का विकास होगा, त्यो-त्यो व्यापार-चक्र की विशेषताओ मे परिवर्तन की आशा होती जायगी।" एक दूसरे अमेरिकी विद्वान डब्लू एल. थार्प ने असाख्यिक साक्ष्य से 'व्यापार-गाथा' का सकलन किया जिसके आधार पर एक तीसरे अमेरिकी शोधक एफ सी. मिल्स ने हिसाब लगाया है कि उद्योगीकरण की प्रथमावस्था मे 'लघु' व्यापार-चक्र की तरग-लम्बाई का मध्यमान या औसत ५.८६ वर्षों का, तीव्र परिवर्तन की अनुवर्तिनी अवस्था में ४.०९ वर्षों का और तुलनात्मक स्थिरता के बाद वाले काल मे ६.३९ वर्षों का होता है।

अन्य अर्थशास्त्रियो ने दूसरे ऐसे चक्रो का प्रतिपादन किया है जिनमे से कुछ की तरग-लम्बाई के कही ज्यादा लम्बी होने का विश्वास किया गया। कुछ और का कहना था कि ये तरगे एक सन्तुलन की स्थिति मे जाकर शान्त हो जाने की प्रवृत्ति रखती हैं। उनके बीच इनके बारे मे कोई सामान्य मतैक्य न था, और सच पूछे तो अध्ययन अपनी बाल्यावस्था में था। हमे आगे इसका अनुसरण करने की जरूरत नही है। जो बात हम कहना चाहते है वह इतनी ही है कि ग्रेट ब्रिटेन मे औद्योगिक क्रान्ति के आगमन के दो सौ वर्षों के अन्दर ही पाश्चात्य अर्थ-विज्ञान के पितृगण, आर्थिक इतिहास-द्वारा उन्हे प्राप्त प्रचुर आकडों को सुलझाने में लग गये और मानव कार्य-व्यापार की उस आर्थिक शाखा को नियन्त्रित करने वाले नियमो को छानने लगे जिसमे मानव के विशिष्ट गुणो की अभिव्यक्ति होती थी।

ग. ग्राम-राज्यों की प्रतिद्वन्द्विताएं—'शक्ति-सन्तुलन'

हमने देख लिया कि अर्थशास्त्री आर्थिक इतिहास पर लागू होने वाले नियमो के कार्यान्वयन की खोज करने के लिए अपने अनुसन्धान के निष्कर्षों का किस प्रकार उपयोग करते है, अब हम स्वभावत कार्य-कलाप के राजनीतिक स्तर की ओर जाकर देखना चाहते है कि क्या वहा भी इस तरह की कोई बात सम्भव है, और इस राजनीतिक स्तर के कार्यक्षेत्र के रूप मे हम आधुनिक पाश्चात्य जगत् के ग्राम्य-राज्यों की प्रतिद्वन्द्विताओ तथा युद्धो को चुन रहे है। पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक युग का आरम्भ पन्द्रहवी शती के अन्तिमाश मे हुआ—मतलब आल्पसोत्तर यूरोप की राजपद्धति के इतालवीकरण के साथ-साथ। इस प्रकार अपनी वर्तमान जिज्ञासा के लिए हमारे सामने चार शतियो से कुछ अधिक लम्बा युग पडा हुआ है।

मेकाले के आशावादी अनुमान के अनुसार 'प्रत्येक स्कूली छात्र जानता है' कि अंग्रेज प्राय सौ-सौ वर्षों के अन्तर वाले चार अवसरो पर, अपने द्वीप गढ मे अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित होने के कारण, एक न एक ऐसी महाद्वीपीय (काटिनेटल-यूरोपीय) राजशक्ति को पहिले खदेडने और फिर उसे विनष्ट करने मे सहायक हुए, जो पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् को एक सार्वदेशिक राज्य का दान करने या दान करने की धमकी देने जा रही थी या यदि हम पारम्परिक भाषा का प्रयोग करे तो 'शक्ति का सन्तुलन बिगाड रही थी।' प्रथम अवसर पर अपराधी स्पेन—स्पेनी आर्माडा था। यह १५८८ ई. की घटना है। दूसरे अवसर पर लुई चतुर्दश का फ्रास था ब्लेनहीम १७०४। तीसरे अवसर पर क्रान्ति का फ्रास और नेपोलियन : वाटरलू १८१५। चतुर्थ अवसर पर बिल्हेल्म द्वितीय का जर्मनी : युद्धबन्दी दिवस (अर्मिस्टीज डे) १९१८। इसी अन्तिम का विस्फोट बाद मे हुआ हिटलर : नार्मण्डी १९४४। यहा असन्दिग्ध रूप से एक चक्रिक साचा या फर्मा (साइक्लिकल पैटर्न) दिखायी देता है। सकुचित दृष्टिकोण से देखने पर हमे चार महायुद्धो का एक समूह मिलता है जिनमे अद्भुत नियमितता का अन्तर है और जिनमे हर एक अपने पूर्ववर्ती से, युद्धकला की गहनता मे और युद्धक्षेत्र के विस्तार मे बडा है। इस मालिका की प्रथम घटना अतलान्त महासागर के राज्यो—स्पेन, फ्रास, नेदरलैंड्स और ग्रेट ब्रिटेन—से सम्बद्ध है। दूसरी मे मध्ययूरोपीय राज्य आते हैं और

यदि हम रूस-स्वीडेन युद्ध को 'स्पेनी उत्तराधिकारी युद्ध' का परिशिष्ट मान ले तो रूस भी इसमे आ जाता है। तीसरे (नेपोलियनी) दाव मे प्रमुख युद्धकारी (बेलीगेरेन्ट) राज्य था रूस और यदि १८१२ के युद्ध को नेपोलियनी युद्ध का उपसहार मान लिया जाय तो सयुक्त राज्य अमेरिका को भी इसमे शामिल किया जा सकता है। चतुर्थ मे, अमेरिका प्रमुख युद्धकारी राज्य के रूप मे आता है और युद्ध की सामान्य विशेषता इस तथ्य मे व्यक्त होती है कि इसके अनुवर्ती शक्ति-परीक्षणो को प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के नाम से पुकारा गया है।

आधुनिक पाश्चात्य सार्वदेशिक राज्य की स्थापना के निवारण के लिए हुए इन चार युद्धो मे से प्रत्येक अपने उत्तराधिकारी तथा अपने पूर्वगामी से लगभग एक शती की कालावधि पर घटित हुआ। यदि हम युद्धान्तरीय तीन शतियो की परीक्षा करना आरम्भ करे तो उनमे से हर एक के विषय में हमे जो बात ज्ञात होगी उसे मार्ग का मध्य या अनुपूरक युद्ध या युद्ध-समूह कहा जा सकता है। इनमे से प्रत्येक मामले मे सब मिलाकर पश्चिमी यूरोप मे नही बल्कि मध्य क्षेत्र, जर्मनी, पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न हुआ था। चूंकि ये युद्ध प्रमुखत मध्ययूरोपीय थे, ग्रेट ब्रिटेन इनमे से किसी मे पूर्णतया शामिल नही हुआ, कुछ मे तो उसने जरा भी हस्तक्षेप नही किया। फलत ये सब युद्ध पुस्तको मे इस तरह शामिल नही किये गये कि 'प्रत्येक स्कूली छात्र (निश्चय ही अर्थ है प्रत्येक स्कूली आंग्ल छात्र) इन्हे जानता हो।' माध्यमिक युद्धो मे से प्रथम तो त्रिशवर्षीय युद्ध (थर्टी इयर्स वार—१६१८-१६४८ ई) था, दूसरा अधिकाशत. प्रशा के फ्रेडरिक महान् के युद्धो से सम्बन्धित (१७४०-६३ ई.) था और तीसरा, यद्यपि उसमे और भी बहुतेरे तत्त्व है, बिस्मार्क से सम्बद्ध है, और उसका काल १८४८-७१ तक है।

अन्त मे यह दावा भी किया जा सकता है कि चार अको वाले इस नाटक का एक पूर्वरग (overture) भी था, और यह इस तथ्य मे निहित है कि नाटक का आरम्भ स्पेन के फिलिप द्वितीय से नही होता, बल्कि दो पीढियो के पूर्व हैप्सबर्ग-वैलोय (Hapsburg-Valois) के 'इतालवी युद्धो' से होता है। फ्रांस के सम्राट चार्ल्स अष्टम ने इटली पर जो निरर्थक परन्तु सनसनीखेज रूप से अनिष्टकारी आक्रमण किया था उन्ही से इनका आरम्भ हुआ था; और इसकी तिथि, अर्थात् १४९४, का शिक्षाविशेषज्ञो ने उत्तर मध्यकाल तथा पूर्व आधुनिक काल को अलग करने के लिए, एक सुविधाजनक कठिन रेखा के रूप मे, प्रयोग किया है। यह स्पेन के अन्तिम अवशिष्ट मुसलमानी क्षेत्र पर ख्रीष्टीय विजय तथा वेस्ट इडीज मे कोलम्बस के प्रथम पदारोहण के दो बर्ष बाद की तिथि है।

इन सबको सारणीबद्ध किया जा सकता है। अलेक्जेंड्रोत्तर हेलेनी इतिहास[१] (पोस्ट-अलेक्जेंड्राइन हेलेनिक हिस्ट्री) तथा कनफ्यूशसोत्तर सिनाई इतिहास[१] (पोस्ट-

[१] इन बातों की जानकारी के लिए पाठक को 'ए स्टडी आफ हिस्ट्री' पूर्ण, असंक्षिप्त, संस्करण के नवें भाग को पढ़ना चाहिए।

कनफ्यूशियन सिनिक हिस्ट्री) के युद्ध-एव-शान्ति-चक्रों के परीक्षण से ऐसे ऐतिहासिक नमूनों—साचों का आविष्कार हुआ जो अपने गठन एव अपनी कालावधि मे आधुनिक पाश्चात्य इतिहास के सिलसिले मे यहा बताये हुए गठन एव कालावधि मे अद्भुत समानता रखते हैं।

घ. सभ्यताओं का विघटन

यदि हम क्षण भर के लिए पीछे की ओर देखते हुए आधुनिक पाश्चात्य समाज के युद्धो के अपने चक्रिक नमूने का ख्याल करे तो इस तथ्य से चकित हो उठेंगे कि यह सिर्फ किसी पहिये के शून्य मे चार बार घूमने और हर बार उसी बिन्दु पर आ जाने का मामला नही है जिससे उसने आरम्भ किया था। यह एक विशेष अपशकुनकारी दिशा मे जाने वाले मार्ग पर आगे बढते जाने वाले पहिये का भी मामला है। एक ओर तो अत्यन्त पराक्रमशाली एव धृष्ट पड़ोसी से अपनी रक्षा करने और उसे यह दिखा देने के लिए कि उसका अहकार उसे पतन की ओर ले जा चुका है, राज्यो के परस्पर सगठित होने के चार मामले हैं; दूसरी ओर एक ऐसा बिन्दु भी है जिसे चक्रिक नमूना बाहर नही ले आता, किन्तु जिसे इतिहास का बहुत ही आरम्भिक ज्ञान व्यक्त कर देता है। युद्ध के इन चारो शक्ति-प्रदर्शनों मे से प्रत्येक अपने पूर्ववर्ती की अपेक्षा ज्यादा विस्तृत, ज्यादा तीव्र एव भौतिक तथा नैतिक दृष्टि से अधिक विनाशक रहा है। हेलेनी (यूनानी) एव सिनाई (चीनी) जैसे दूसरे समाजो के इतिहासो मे युद्ध के ऐसे शक्ति-प्रदर्शनो की समाप्ति एक को छोड अन्य सभी प्रतियोगी अगो के विलुप्त हो जाने के रूप मे हुई है। और वही बच रहा एक, बाद मे एक सार्वदेशिक राज्य की स्थापना करता है।

आधुनिक एवं आधुनिकोत्तर पाश्चात्य इतिहास मे युद्ध एवं शान्ति-चक्र की अनुक्रमिक घटनाएँ

	अवस्था (फेज)	पूर्वरंग (ओवर्चर) (१४९४-१५६८ ई)	प्रथम नियमित चक्र (१५६८-१६७२ ई.)	द्वि० नियमित चक्र (१६७२-१७९२ ई)	तृ० नियमित चक्र (१७९२-१९१४ ई)	चतुर्थ नियमित चक्र (१९१४ ई)
१.	पूर्वसूचक (प्रीमानिटरी) युद्ध (भूमिका)	...	...	१६६७-६८[1]	...	१९११-१२[2]
२.	**सामान्य युद्ध**	१४९४-१५२५ ई.[3]	१५६८-१६०९[4]	१६७२-१७१३ ई.[5]	१७९२-१८१५ ई.[6]	१९१४-४५[10]
३.	बिराम-अवकाश (ब्रीदिंग स्पेस)	१५२५-३६	१६०९-१८	१७१३-३३	१८१५-४८	...
४.	पूरक युद्ध उपसहार-एपीलाग)	१५३६-५९[7]	१६१८-४८	१७३३-६३[8]	१८४८-७१[9]	...
५.	**सामान्य शान्ति**	१५५९-६८	१६४८-७२	१७०३-९२	१८७१-१९१४	...

नोट —इस मारणी की पादटिप्पणियाँ पृ ३१५ पर देखिए।

चक्रिक लय (साइक्लिक रिदम) का यह आत्मशोधन (self-amortization), जो ग्राम्य-राज्यो के बीच अस्तित्व-रक्षा के लिए होने वाले संघर्षों की प्रधान प्रवृत्ति है, सभ्यताओं के विघटन का अध्ययन करते समय पहिले ही हमारे सामने आ चुका है। और व्यक्त रूप में एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध दोनो प्रक्रियाओं के बीच की इन तालो या लयों मे यह अनुरूपता कोई आश्चर्य की वस्तु नही है। उन विभंगो (ब्रेकडाउंस) के अध्ययन से, जिनमे विघटन आरम्भ होते है, हमे मालूम हो चुका है कि विभग के पुनरावर्त्तन या लक्षण का कारण ऐसे ग्राम्य-राज्यो के बीच एक अत्युग्र युद्ध का छिड जाना रहा है जिनसे समाज बना होता है। इसके बाद प्रतियोगी राज्य हट जाते है और उनके स्थान पर व्यापक ईसाई साम्राज्य (ओक्यूमेनिकल इम्पायर) आ जाता है। किन्तु ऐसा हिसापूर्ण विस्फोटो के पूर्णतः बन्द हो जाने के कारण नही होता वर गृहयुद्धो या सामाजिक उथल-पुथल मे उनके नये रूपो मे अवतीर्ण होने के कारण होता है। इसलिए, अस्थायी रूप से रुक जाने पर भी, विघटन की प्रक्रिया चलती ही रहती है।

हमने यह भी देखा है कि ग्राम्य-राज्यो की भांति ही, विघटन भी लयात्मक उतार-चढाव की एक मालिका के बीच अपनी यात्रा समाप्त कर चुकते है, और अनेक उदाहरणो की परीक्षा करके हमने पता लगाया है कि पराभव-एव-समाहरण (रूट-ऐंड-

[1] स्पेनी नेदरलैण्ड्स पर लुई चतुर्दश का आक्रमण।

[2] १९११-१२ का तुर्क-इतालवी युद्ध. १९१२-१३ की तुर्की-बाल्कन लड़ाइयां।

[3] १४९४-१५०३, १५१०-१६ एवं १५२१-५५।

[4] स्पेनी हैप्सबर्ग राजशासन में १५६८-१६०९ ई.; फ्रांस मे १५६२ से १६०९ ई.।

[5] १६७२-७८, १६८८-१६९७ एव १७०२-१३।

[6] १७९२-१८०२, १८०३-१४ एवं १८१५।

[7] १५३६-३८, १५४२-४४ (१५४४-४६ एवं १५४९-५०, इंगलैण्ड बनाम फ्रांस), (१५४६-५२ पवित्र रोम साम्राज्य के प्रोटेस्टेंट राजाओं का श्मालकाल्ड संघ (Schmalkald League of Protestent Princes in Holy Roman Empire) बनाम चार्ल्स पंचम, १५५२-५९।

[8] १७३३-३५, १७४०-४८ एवं १७५६-६३।

[9] १८४८-४९, १८५३-५६, १८५९ (१८६१-६५, संयुक्त राज्य में गृहयुद्ध; १८६२-६७, मैक्सिको पर फरासीसी कब्जा), १८६४, १८६६ एव १८७०-७१।

[10] १९३९-४५ का पुनः प्रवर्त्तनशील सामान्य युद्ध पूर्वबोधक युद्धो की फड़फड़ाहट के साथ आया; १९३१ में मंचूरिया में चीन पर जपान का आक्रमण; १९३५-३६ का इतालवी-अबीसीनियाई युद्ध; स्पेन में १९३६-३९ का युद्ध; एव ७ मार्च १९३६ को राइनलैण्ड में एक दिन का निर्णयात्मक अभियान जिसे अपनी रक्त-हीनता के लिए १९३९-४५ के वर्षों की महाबलि के रूप में मिश्र ब्याज-सहित क्षतिपूर्ति करनी पड़ी।

रैली) की चक्रिक लय ने, जिसमे विघटनोन्मुख प्रभविष्णु प्रवृत्ति ने प्रतिरोधात्मक गति सहित अपनी लम्बी लडाई लडी है, सम्यता के विभंग से लेकर उसके अन्तिम विघटन तक की ऐतिहासिक यात्रा पूरी करने मे साढ़े तीन फेरियां या गश्ते (बीट्स)—पराभव, समाहरण, रोगावर्तन (रिलैप्स), समाहरण; रोगावर्तन, समाहरण; रोगावर्तन—लगायी हैं। प्रथम पराभव विखण्डित समाज को सकटकाल में झोक देता है, जिसका निवारण प्रथम समाहरण से होता है। उसके बाद ही द्वितीय एवं अधिक तीव्र आवेग या दौरा (Paroxysm) आ जाता है। इस रोगावर्तन का अनुसरण एक अधिक स्थायी द्वितीय समाहरण करता है और सार्वभौम राज्य की स्थापना मे उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसके बाद फिर रोगावर्तन और रोग-शमन की बारी आती है। फिर अन्तिम रोगशमन के बाद अन्तिम विघटन आ जाता है।

अब तक के अभिनय के आधार पर निर्णय किया जाय तो मालूम होगा कि सामाजिक विघटन के नाटक की कथावस्तु, शक्ति-सन्तुलन के नाटक की कथावस्तु की अपेक्षा अधिक परिशुद्ध एव नियमित है। और यदि हम सार्वभौम राज्यों की अपनी सारणी का अध्ययन करे तो हमे पता चलेगा कि (जिन मामलो मे घटनाओं की धारा विजातीय सामाजिक निकायो के सघात से बाधाग्रस्त नही है) प्रारम्भिक विभंग से लेकर सार्वभौम राज्य की स्थापना तक के इस पराभव, समाहरण एव अधिक प्रभावशाली समाहरण की यात्रा मे चार सौ वर्षों की कालवधि लग जाती है, और सार्वभौम राज्य की स्थापना से लेकर उसके विघटन तक बाद के पुनरावर्त्तक रोगावर्त्तन (रेकरेंट रिलेप्स), अन्तिम समाहरण तथा अन्तिम रोगावर्त्तन मे भी लगभग इतना ही लम्बा समय लग जाता है। किन्तु सार्वभौम राज्य मुश्किल से मरता है और ३७८ ई मे एड्रियानोपुल के सकट के बाद ही, सामाजिक रूप से पिछड़े पश्चात्य प्रान्तो मे जो रोम-साम्राज्य (आगस्टस-द्वारा अपनी स्थापना के ठीक चार सौ वर्षों बाद) टुकड़े-टुकड़े हो गया, उसी के मध्य एव पूर्वी प्रान्तो में ५६५ ई. मे जस्टीनियन की मृत्यु के बाद तक भी ऐसी दशा नही हुई। इसी प्रकार जिस हान साम्राज्य को १८४ ई. मे दूसरी चोट लगी और जो उसके बाद तीन राज्यो मे विखंडित हो गया था उसने अन्तिम विघटन के पूर्व त्स-इन (२८०-३१७ ई.) के साम्राज्य के रूप मे कुछ समय के लिए अपने को पुनर्गठित करने में सफलता प्राप्त की।

(च) सम्यताओं की अभिवृद्धि

जब हम सामाजिक विघटन से सामाजिक अभिवृद्धि की ओर दृष्टि फेरते हैं, तो हमारा ध्यान इस अध्ययन की पूर्वावस्था मे प्राप्त इस जानकारी की ओर जाता है कि विघटन की भांति अभिवृद्धि भी एक चक्रिक लय की गति (साइक्लिकली रिद्मिक मूवमेंट) से चलती है। जब भी किसी चुनौती का सफल उत्तर मिलता है। तभी अभिवृद्धि होती है। वह सफल उत्तर आगे एक दूसरी चुनौती को जन्म देता है। यद्यपि आज हमारे लिखने के समय तक जो सम्यताए अस्तित्व मे आयी हैं उनमें से अधिकाश, ऐतिहासिक तथ्य की दृष्टि से, सामने आने वाली चुनौतियो का प्रभावशाली उत्तर न दे सकने और एक ऐसी नयी चुनौती को जन्म देने मे असमर्थ होने के कारण, जिसका

एक दूसरा ही सफल उत्तर देने की आवश्यकता थी, असफल हो गयी। किन्तु इसमे हमें कोई ऐसा आन्तरिक कारण नही दिखायी पडता कि क्यो यह प्रक्रिया अपने को अनिश्चित काल तक दोहराती न रहे।

उदाहरणार्थ, हमने हेलेनी (यूनानी) सभ्यता के इतिहास में देखा है कि अराजक बर्बरता की प्रारम्भिक चुनौती ने नगर-राज्य नाम की एक नवीन राजनीतिक संस्था के रूप मे प्रभावशाली उत्तर का आविर्भाव किया, और हमने यह भी देखा है कि इस उत्तर की सफलता ने एक नयी चुनौती को जन्म दिया। यह चुनौती इस बार आबादी के बढते हुए दबाव के रूप मे आर्थिक स्तर पर आयी। इस दूसरी चुनौती ने असमान प्रभाव वाले परस्परानुवर्त्ती उत्तरो या अनुक्रियाओं को जन्म दिया। एक उत्तर था विनाशकारी स्पार्टाई उत्तर, जो स्पार्टा ने अपने यूनानी पडोसियों की खाद्य-उर्वरा भूमि को जबर्दस्ती छीन लेकर दिया, इसी प्रकार उपनिवेशीकरण के अस्थायी रूप मे प्रभावशाली कोरिंथियाई एवं चैल्सेडियाई (कोरिंथियन एव चैल्सीडियन) उत्तर थे जिनमे यूनानियों के लिए भूमध्यसागर की पाश्चात्य जल-द्रोणी (बेसिन) के ज्यादा पिछडे हुए निवासियो से जोत के लिए छीन ली गयी विदेशी भूमियो की विजय निहित थी, और फिर आया वह प्रभावशाली एथीनियन उत्तर जिसमे इस अभिवर्द्धित हेलेनी जगत् की सकलित उत्पादन-क्षमता को बढाने का यत्न था। यह उस समय की बात है जब यूनानियो का भौगोलिक विस्तार फोनेशियाई एव तायरहीनियाई (फोनेशियन एवं नायरहीनियन) प्रतियोगियो ने एक ऐसी क्रान्ति-द्वारा रोक दिया जिसमें जीवनोपयोगी खाद्यद्रव्यों की कृषि का स्थान नकद पैसा देने वाली खेती ने तथा प्रमुख खाद्य द्रव्य एव कच्चे माल के आयात के बदले भेजे जाने वाले औद्योगिक उत्पादनो ने ले लिया था।

जैसा कि हम देख चुके हैं कि आर्थिक चुनौती के इस सफल उत्तर से राज-नीतिक स्तर पर एक दूसरी चुनौती का उदय हुआ, क्योंकि जो यूनानी जगत् आर्थिक दृष्टि से अन्योन्याश्रयी हो चुका था उसके लिए व्यापक पैमाने पर कानून एव व्यवस्था वाले एक राजनीतिक शासन की आवश्यकता थी। अभी तक ग्रामीण नगर-राज्यो मे जो शासन-व्यवस्था प्रचलित थी और जिसने प्रत्येक मैदानी भाग मे एक निरकुश कृषि-अर्थनीति को उत्तेजन दिया था, वह एक ऐसे यूनानी समाज के लिए पर्याप्त राजनीतिक सान्त्वना देने मे असमर्थ थी जिसका आर्थिक ढांचा अब एकात्मक (यूनिटरी) हो चुका था। किन्तु यूनानी सभ्यता की उन्नति को विभंग-द्वारा कट जाने से बचाने के लिए इस तीसरी चुनौती का समय पर उत्तर नही दिया जा सका।

पाश्चात्य सभ्यता के समुदाय में हम ऐसी अनुवर्त्तिनी चुनौतियो को भी देख सकते हैं जिनके सफल उत्तर दिये गये। यह मालिका यूनानी सभ्यता वाली मालिका से ज्यादा लम्बी है क्योंकि इसमे प्रथम एव द्वितीय चुनौती का सफल उत्तर तो दिया ही गया किन्तु तीसरी चुनौती का उत्तर देने मे भी सफलता प्राप्त हुई।

प्रारम्भिक चुनौती राज्यान्तरकाल की वही अराजक बर्बरता वाली चुनौती थी जिसका सामना यूनानियो को करना पडा था किन्तु उसका उत्तर कुछ दूसरे प्रकार का था। यह उत्तर हिल्डरब्रैंडाइन पेपैसी (पोप शासन) के रूप मे एक व्यापक धर्म-

तन्त्र के निर्माण-द्वारा दिया गया। इससे एक दूसरी चुनौती सामने आ गयी क्योंकि तब अभिवृद्धिशील पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् ने धर्मोपासना-सम्बन्धी ऐक्य प्राप्त कर लेने के बाद यह देखा कि अब उसे राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से कुशल ग्राम्य राजप्रणाली की आवश्यकता है। इस चुनौती का सामना इटली एवं फ्लैण्डर्स मे नगर-राज्य की हेलेनी सस्था को पुनर्जीवित करके किया गया। यह उपाय यद्यपि कुछ क्षेत्रों मे काफी कारगर साबित हुआ किन्तु क्षेत्रीय दृष्टि से विस्तृत सामन्ती राजतन्त्रो की आवश्यकताओं की पूर्ति मे असफल हो गया। तब क्या पाश्चात्य राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन के लिए कुशल ग्राम्य साधनो की रचना-वाला समाधान, जिसकी इटली एवं फ्लैण्डर्स मे नगर राज्य-प्रणाली-द्वारा उपलब्धि हो चुकी थी, शेष पाश्चात्य जगत् के लिए भी इस इतालवी तथा फ्लेमिश कुशलता को राष्ट्रव्यापी बनाकर, प्राप्त करा देना आवश्यक है ?

यह समस्या इंगलैण्ड में, पहिले राजनीतिक स्तर पर पार्लमेंट की आत्मगोत्तर मध्यकालिक सस्था मे दक्षता का सन्निवेश करके और आर्थिक स्तर पर औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा हल कर ली गयी। हेलेनी इतिहास की एथीनियाई (एथीनियन) आर्थिक क्रान्ति के सदृश इस पाश्चात्य औद्योगिक क्रान्ति ने भी एक ग्रामीण आर्थिक आत्मनिर्भरता को अपदस्थ करके उसकी जगह व्यापक आर्थिक अन्योन्याश्रयता की स्थापना कर दी। इस प्रकार तीसरी चुनौती का सफल उत्तर देने के फलस्वरूप पाश्चात्य सभ्यता ने अपने को पुन उसी नूतन चुनौती के सामने खडा पाया जो हेलेनी सभ्यता के सामने द्वितीय चुनौती के प्रति उसके सफल उत्तर के बाद आ खडी हुई थी। आज ये पंक्तियाँ लिखते समय, जब बीसवी शती की आधी आयु बीत चुकी है, इस राजनीतिक चुनौती का कोई सफल उत्तर पाश्चात्य मानव नही दे सका है किन्तु इतना अवश्य हुआ है कि वह उसके अभिशाप के प्रति तीव्र रूप से सचेत हो गया है।

दो सभ्यताओ की ये सक्षिप्त झाकियाँ यह दिखाने के लिए तो पर्याप्त हैं कि चुनौती एव उत्तर के उन अन्तर्ग्रथित (इटरलाकिंग) आवर्त्तनो की शृखला की अनेक कडियों के सम्बन्ध मे उनके इतिहासो मे कोई एकरूपता नही है जिनके द्वारा सामाजिक विकास के कार्य मे सफलता प्राप्त हुई है; और जिसके लिखित विवरण पर्याप्त परिमाण मे मिलते है, ऐसी दूसरी सब सभ्यताओ के इतिहासो की परीक्षा करने से उस निष्कर्ष की पुष्टि होती है। इसलिए हमारी वर्तमान खोज का तत्त्व यह निकलता है कि सभ्यताओं की अभिवृद्धि के इतिहासो मे प्रकृति के कानूनों की प्रक्रिया उतनी ही अस्पष्ट है जितनी कि वह उसके विघटन के इतिहासो मे स्पष्ट है। आगे के किसी अध्याय से हमे मालूम हो जायगा कि यह कोई आकस्मिक घटना नही है बल्कि उदय वा अभिवृद्धि-प्रक्रिया एव विघटन-प्रक्रिया के बीच के आन्तरिक भेद में निहित है।

छ. 'भाग्य के विरुद्ध कोई कवच नहीं'

सभ्यताओ के इतिहासों मे प्रकृति के कानूनों की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए हमें यह मालूम हुआ है कि जिस लय मे ये कानून अपने को व्यक्त करते है वह असमान शक्ति वाली दो प्रवृत्तियो के बीच के संघर्ष से उत्पन्न होती है। एक प्रभविष्णु प्रवृत्ति

है जो बार-बार की उन प्रतिक्रियाकारिणी गतियों के विरुद्ध, अन्तोगत्वा, फैल जाती है जिनमें धृष्ट विरोधी प्रवृत्ति जोरो के साथ अपनी घोषणा करती है। संघर्ष साँचे का निर्माण करता है। दुर्बल प्रवृत्ति पराजय स्वीकार करने से हठतापूर्वक इन्कार करती है। इसीलिए अनुक्रमिक चक्रमालिका मे बार-बार मुठभेड होती है। अधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति की प्रभविष्णुता इस माला को देर-सबेर समाप्त करके अपने अस्तित्व का परिचय देती है।

एक ओर उखाड फेंकने के लिए और दूसरी ओर शक्ति-सन्तुलन की रक्षा के लिए होने वाले युद्धों के तीन या चार चक्रों के मार्ग से, ग्राम्य राज्यो के बीच जीवन-संघर्ष होता है। जीवन-संघर्ष को हम उपरिलिखित ढंग पर देख चुके हैं। ये ग्राम्य-राज्य ऐसा मार्ग ग्रहण करते है कि हर हालत में सन्तुलन नष्ट होकर रहता है। इसी प्रकार हमने वह सघर्ष भी देखा है जो एक खण्डित समाज की विघटनकारिणी प्रवृत्ति एवं उसे नष्ट हुए स्वास्थ्य की स्थिति में पहुँचाने के लिए प्रतिकारात्मक प्रयत्न के बीच होता है। यह मार्ग भी ऐसा ही है कि प्रत्येक अवस्था मे वह विघटन मे ही जाकर समाप्त होता है। औद्योगिक पाश्चात्य समाज के आर्थिक मामलो मे प्रकृति के नियमों या कानूनो की प्रक्रिया का अध्ययन करते हुए हम देख चुके है कि व्यवसाय-चक्रो के विशेषज्ञ अन्वेषको ने भी यह अनुमान लगाया है कि ये पुनरावर्तिनी गतियाँ उस जल के तल पर कलकल करती ऐसी तरगे हो सकती है जो सदा ही धारा मे प्रवहमान रहती हैं— ऐसी धारा मे जिसकी प्रगति ही अन्त मे इस लयात्मक आरोह-अवरोह को समाप्त कर देती है। इसी सम्बन्ध मे हम अपने को उस जानकारी की भी याद दिलाते हैं कि जब और जहाँ विघटनशील सभ्यता एवं उसकी अधिकार-सीमा के बाहर के धृष्ट बर्बरो के दलो के बीच टक्कर हुई और जब दोनो के बीच की यह टक्कर सचल युद्ध से सार्वभौम राज्य के मोर्चे पर होने वाले स्थिर युद्ध मे बदल गयी है तब काल की यात्रा ने प्रायः मोर्चे की रक्षा करने वालो के विरुद्ध ही रुख ग्रहण किया है। यही नही, उसने उन बर्बर आक्रामको की तबतक सहायता की है जबतक कि बाँध फट नही गया है और बर्बरता की बाढ या तूफान ने नक्शे से पूर्वस्थित सामाजिक ढाँचे का नाम-निशान धोकर बहा नही दिया है।

ये सब हमारे और ज्यादा सामान्य इस निष्कर्ष के उदाहरण हैं कि मानव-इतिहास में जो चक्रिक गतियाँ होती है वे छकड़े के पहिये की अपनी एकरस उबाने वाली स्थूल पुनरावर्त्तिनी चक्रिक गति के समान, दूसरी ज्यादा लम्बी लय-युक्त गति को जन्म देती हैं और यद्यपि यह बात विरोधाभास-सी मालूम पडती है किन्तु सब मिलाकर दिखायी यह पडता है कि यह एक विशेष दिशा मे प्रगति है। प्रगति करते-करते वह अन्त मे अपने लक्ष्य तक पहुँच जाती हैं और वहाँ तक पहुचकर मालिका को समाप्त कर देती है। किन्तु एक प्रवृत्ति पर दूसरी प्रवृत्ति की इन विजयों को प्रकृति केकानून या नियम' का उदाहरण मानने का तो कोई कारण नही जान पडता। अनुभव-सिद्ध तथ्य की बाते अदम्य भाग्य का परिणाम हो, यह कोई आवश्यक नही है। यहाँ प्रमाणित करने का भार नियतिवादी (Determinist) पर है, नास्तिक

पर नही । अपनी समस्त कट्टरता एवं प्रमाण-लेखहीन नियतिवाद के साथ भी, स्पेंगलर ने इस बात का विचार ही नही किया ।

फिर भी इतिहास मे कानून (नियम) तथा स्वतन्त्रता के बाद के अब भी खुले सवाल पर बिना किसी प्रकार के पक्षपात के, अपने तर्क को आगे बढाने के पूर्व, हम कुछ और उपाख्यानो पर विचार कर लेना चाहते है जिनमें किसी प्रवृत्ति ने अपने विरुद्ध बार-बार होने वाले विद्रोहो के विरुद्ध अपने को पुन प्रतिष्ठित किया है । प्रतियोगिनी शक्तियों के विलय के ऐसे उदाहरणो मे स्पेंगलर भाग्य या नियति का हाथ देखता है किन्तु उसका अनिवार्यता का सिद्धान्त सही है या गलत, इसे सिद्ध करने का वह जरा भी प्रयत्न नही करता । सैनिक पराक्रम-द्वारा दक्षिण-पश्चिम एशिया मे हेलेनी प्रभुत्व की स्थापना से जो परिस्थिति पैदा हुई उससे हम अपने विचार का आरम्भ करेंगे ।

हेलेनी प्रभुत्व यद्यपि ईसाई संवत् की सातवी शती मे कुछ हजार वर्ष पुराना हो चुका था और जो अरब-मुस्लिम सैनिक दलो-द्वारा उखाड फेका गया, वह तारस के दक्षिण कभी एक विदेशागत, विजातीय, सस्कृति से अधिक नही बन सका, वह अदम्य रूप से सीरियाई या मिस्री देहातों मे बद हेलेनी या हेलेनी प्रभाव-दीक्षित नगरो की चौकियो मे अपनी क्षीण ज्योति फैलाता रहा । जब सेल्यूसीद हेलेनी सभ्यता-प्रचारक (हेलेनाइजर) एन्तिओकस एपीफेनस (राज्यकाल १७५-१६३ ईसापूर्व) ने यरूशलेम को भी एन्तिओक बना देने का प्रयत्न किया तो हेलेनिज्म की सामूहिक धर्म-परिवर्त्तन करने की क्षमता की परीक्षा हो गयी । सास्कृतिक सैनिक अभियान की इस अनुनादी पराजय ने आक्रामक संस्कृति की अन्तिम पूर्ण समाप्ति के अपशकुन की घोषणा की । इसका दुर्बल रुग्ण अस्तित्व, जो शताब्दियो तक बना रह गया उसका कारण यह तथ्य था कि शक्तिहीन होते हुए सेल्यूसीदियो तथा टाल्मियों से रोमनो ने उसका नियन्त्रण अपने हाथो मे ले लिया ।

सीरियाई एवं मिस्री समाजो पर यूनानी प्रभुत्व शस्त्रबल से थोपा एव जारी रखा गया था । और जबतक पराधीन समाजों ने जवाब मे उसी अस्त्र का प्रयोग किया, वे बराबर हारते रहे । कथा के दूसरे अध्याय मे, अर्थात् ईसाई सवत् की तीसरी शती मे पूर्वी प्रान्तो की आबादी का ईसाई मत मे जो सामूहिक धर्म-परिवर्त्तन हुआ उससे ऐसा लगा कि जो कुछ एन्तिओकस करना चाहता था और जिसमे वह असफल हो गया था, हेलेनी प्रभाव के लिए शायद उसकी पूर्ति हो गयी । इन प्रान्तों में कैथोलिक ईसाई चर्च ने पराधीन देशी किसान जनता एवं नागरिक हेलेनी प्रभाव दोनो को एक समान मुग्ध कर लेने मे सफलता प्राप्त की, और चूंकि ईसाई मत अपनी विजयपूर्ण यात्रा एक हेलेनी परिधान मे कर रहा था इसलिए ऐसा लगा मानो प्राच्यो ने, ईसाईयत के ससर्ग मे, असावधानी से ऐसी संस्कृति प्राप्त कर ली जिसे उन्होंने इतने जोशो खरोश के साथ तब रद्द कर दिया था जब वह उन्हें अमिश्रित और अप्रच्छन्न रूप मे दी गयी थी । किन्तु ऐसा अनुमान गलत था । यूनानी ईसाइयत को ग्रहण कर लेने के बाद प्राच्यो ने एक के बाद एक अपसिद्धान्त अपनाकर अपने धर्म का अहेलेनीकरण-

करना शुरू कर दिया। इन अपसिद्धान्तो मे नेस्तोरियाईवाद (नेस्तोरियनिज्म) प्रथम था। इस प्रकार धार्मिक विवाद के असैनिक रूप मे हेलेनवाद के विरुद्ध एक प्राच्य आन्दोलन को पुन: जारी करके प्राच्यों ने सास्कृतिक युद्धकला के एक ऐसे नवीन तकनीक—प्रविधि—को जन्म दिया जिससे अन्त मे वे विजयी हुए।

इस यूनानियंत-विरोधी सास्कृतिक अभियान ने अपने को कई शताब्दियो तक उस चक्रिक साचे के रूप में उपस्थित किया जिससे हम परिचित हो चुके हैं। नेस्तोरियाई लहर उठी और गिरी किन्तु उसके बाद ही मोनोफाइसाइट लहर आ गयी जिसका अनुसरण मुस्लिम लहर ने किया और यह मुस्लिम लहर जो कुछ उसके सामने पड़ा, सबको बहा ले गयी। यह कहा जा सकता है कि मुस्लिम विजय, सैनिक बिजयो की अनगढ प्रणाली की ओर प्रत्यावर्त्तन मात्र थी। निश्चय ही यह सत्य है कि मुस्लिम अरब लड़ाकू दलो को तालसताय एव गाधी के अहिंसक या अप्रतिरोध वाले सिद्धान्तो का पूर्वानुभावक (Anticipators) नहीं माना जा सकता। उन्होने सीरिया, फिलिस्तीन और मिस्र को ६३७-४० ई की अवधि मे जीत लिया किन्तु वह विजय बहुत कुछ उसी श्रेणी की थी जैसी कि १८६० ई. मे प्राप्त गैरीबाल्डी की वह विजय थी जिसमे लाल कुर्ती वाले १००० स्वयंसेवको की सहायता से उसने सिसली एव नेपुल्स पर कब्जा कर लिया था और जिसमें केवल दो ऐसी तोपों का प्रयोग किया गया था जो गोला-बारूद से बिल्कुल खाली थीं। सिसली-द्वय का राज्य 'इतालिया यूना' (इतालवी ऐक्य) के सैनिक मिशनरी-द्वारा इसलिए विजय कर लिया गया कि वह विजित होना चाहता ही था और रोम साम्राज्य के पूर्वी प्रान्तो की जनसंख्या की भावना भी उससे कुछ ज्यादा भिन्न नही थी जो सिसली वालो की गैरीबाल्डी के प्रति थी।

हमने अभी-अभी जो उदाहरण दिया है उसमें हम एक अवाञ्छित एकरूपता के प्रति नास्तिक विरोधों का अनुवर्त्तन—बार बार आगमन—देखते हैं। इनमे से तीसरा विरोध सफल हुआ। ईसाई संवत् की बारहवी शताब्दी से फ्रास का इतिहास उसी नमूने को एक दूसरे ही सन्दर्भ मे उपस्थित करता है। उस शताव्दी से फ्रास का रोमन कैथोलिक चर्च ऐसे संघर्ष मे लगा रहा जो कभी अस्थायी रूप से कुछ ज्यादा सफल नही हुआ। यह संघर्ष एक कैथोलिक देश के रूप मे फ्रास मे चर्च-सम्बन्धी या धर्माचार की एकता स्थापित करने के लिए हो रहा था और अलगाव की उस भावना के विरुद्ध था जिसकी प्रत्येक अभिव्यक्ति दबा दिये जाने के बाद किसी दूसरे नये रूप में उभर आती थी। बारहवी शती के दक्षिणी फ्रांस मे कैथोलिक ईसाई मत के विरुद्ध जो विद्रोह उठ खडा हुआ था और जिसने प्रथम विस्फोट में कैथारिज्म (परिशोधनवाद, पवित्रतावाद)[1] का रूप ग्रहण कर लिया था, उसे तेरहवी शती मे कुचल दिया गया। किन्तु उसी प्रदेश मे वही विद्रोह फिर सोलहवीं शती मे काल्विनिज्म (काल्विन मत)[2] के रूप मे

[1] **एक ईसाई सम्प्रदाय जो द्वैत मनोशियन दृष्टिकोण से चर्च एवं वर्तमान समाज-व्यवस्था का विरोध करता था।—अनुवादक**

[2] **काल्विनिज्म—फ्रांसीसी धर्मज्ञानी एवं सुधारक जान काल्विन (१५०९-६४) के**

पुनरवतीर्ण हुआ और जब काल्विन मत पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये तो वह तुरन्त जानसेनिज्म (जानसेनवाद)[1] के रूप में सामने आ गया। यह जानसेनिज्म कैथोलिक मत में सम्भव काल्विनिज्म का निकटतम प्रवेश था। जब जानसेनिज्म को निषिद्ध किया गया तो वह डीइज्म (आस्तिकवाद)[2], रैशनलिज्म (तर्कनावाद), एग्नास्टिसिज्म (अनीश्वरवाद) एवं एथेइज्म (नास्तिकवाद) इत्यादि के रूपों में पुनरवतीर्ण होता गया।

दूसरे प्रसंगों मे हम जूडाई एकेश्वरवाद (Judaic Monotheism) के भाग्य का अवलोकन कर चुके है जो बार-बार उदित होने वाले बहुदेववाद (Polytheism) से निरन्तर विक्षुब्ध रहा। इसी प्रकार 'एक सत्येश्वर' (वन ट्रू गाड) के अनुभवातीत (ट्रासेंडेंस) की सगोत्री जूडाई कल्पना भी बार-बार अवतारी ईश्वर (गाड इनकारनेट) की लालसाओ से प्रताडित होती रही। एकेश्वरवाद ने बाल (Baal)[3], एश्तोरेथ[4] की पूजा खत्म कर दी। किन्तु ईर्ष्यालु यहोवा के निषिद्ध प्रतिद्वन्द्वी, कट्टर यहूदी सम्प्रदाय मे प्रभु के 'शब्द' (Word), 'प्रज्ञा' (Wisdom) एव 'देवदूत' या 'फरिश्ते' के मानवीकरण के छद्मवेश में पुन झांकने लगे; इतना ही नही, बाद मे तो वे 'पवित्र त्रिमूर्ति' (होली ट्रिनिटी) तथा ईश्वरीय देह एवं रक्त (गाड्स बाडी ऐण्ड ब्लड), ईश्वरीय माता (गाड्स मदर) एव सतों के सिद्धान्त के रूप मे कट्टर ईसाई सम्प्रदाय मे भी प्रविष्ट हो गये। बहुदेववाद के पुन: बलात् प्रवेश के इन उदाहरणो के कारण इस्लाम मे पूरी हार्दिकता के साथ एकेश्वरवाद की पुन प्रनिष्ठा की गयी. प्रोटेस्टेण्ट मत मे भी उसकी पुन: स्थापना की घोषणा हुई, यद्यपि वह इतनी पूर्ण नही थी जितनी

धर्म-सिद्धान्त, जो प्रमुखत. पाँच हैं—१ (ईश्वर-द्वारा मुक्ति के लिए) वरण वा प्रारब्ध (Election or Predestination); २ सीमित परिशोधन वा प्रायश्चित्त (Limited Atonement); ३ नितान्त पतितावस्था (Total Depravity); ४ अनुग्रह की दुर्निवारिता (Irresistability of grace) और ५. सन्तों की चिरसाधुता (Persevarance of Saints)। यह मत मुख्यत: विमुक्ति के लिए ईश्वर की सर्वप्रभुता को अंगीकार करता है। —अनुवादक

१ जानसेनिज्म =कार्नेलिस जानसेन (१५८५-१६३८) से सम्बद्ध आन्दोलन का सिद्धान्तवाद। काल्विन के सिद्धान्तों को मानने के अतिरिक्त नैतिक आचरण के कठोरतापूर्वक पालन में विश्वास करने वाला; जेसुइट्स का घोर विरोधी। सत्रहवीं-अठारहवीं शती में फ्रांस में फैला।—अनुवादक

२ डीइज्म=जगत् के स्रष्टा के एवं मनुष्यों के अन्तिम निर्णयदाता के रूप में साकार ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास। लार्ड हर्बर्ट द्वारा स्थापित।—अनुवादक

3 बाल=प्राचीन सेमिटिक जातियों, विशेषत: सीरिया एवं फिलिस्तीन के स्थानीय देवसमूह में से कोई। अपने ही स्थान के नाम से विख्यात पशुधन एव कृषि के देवता। हिब्रू में 'पक्षिराज'। —अनुवादक

४ एश्तोरेथ (हिब्रू)=फोनेशियाई देवी अस्तार्ते—उपज, सन्तति एवं युद्ध की देवी।—अनु०

इस्लाम की। किन्तु जगत् मे प्राकृतिक शक्तियो का जो प्रतीयमान द्वन्द्व या बहुत्व है उसको प्रतिबिम्बित करने वाले बहुदेववाद के प्रति आत्मा की अदम्य बुभुक्षा इन दोनों पवित्रतावादी आन्दोलनों को सदा ही प्रताड़ित करती रही।

(२) इतिहास में 'प्रकृति के नियमों' के प्रचलन के सम्भव स्पष्टीकरण

यदि ये पुनरावर्त्तन एव एकरूपताए, जिनकी हमने इस अध्ययन में खोज की है, सत्य मान ली जाय तो इनके दो ही सम्भव स्पष्टीकरण दिये जा सकते हैं। इनको नियन्त्रित करने वाले नियम या तो वे नियम होगे जो मनुष्य के अमानवीय पर्यावरण मे प्रचलित होते हैं और बाहर से इतिहास की धारा पर अपने को आरोपित करते है, या फिर वे नियम—कानून—मानव प्रकृति की मनोरचना एव प्रक्रिया मे ही अन्तर्हित रहते है। पहिले हम प्रथम परिकल्पना (hypothesis) पर विचार करेंगे।

उदाहरणार्थ, दिवस-निशा-चक्र स्पष्ट ही सामान्य जनो के दैनन्दिन जीवन को प्रभावित करता है, किन्तु वर्त्तमान प्रसग मे हम, विचार के लिए, उसको छोड सकते हैं। मनुष्य ज्यो-ज्यो आदिमकालीन अवस्था से आगे बढता जाता है, त्यों-त्यों वह अपनी आवश्यकतानुसार रात को दिन में बदल देने मे अधिकाधिक समर्थ होता जाता है। दूसरा ज्योतिष्चक्र या सौरचक्र (Astronomical cycle), जिसने मनुष्य को एक दिन दास बना रखा था, ऋतुओ का वार्षिक चक्र था। लेंट[1] ख्रीष्टीय उपवास एव आत्मसयम की एक ऋतु बन गया क्योकि ख्रीष्ट धर्म के उदय के असख्य पीढियो पहिले से शिशिर का उत्तर भाग एक ऐसा मौसिम होता था जब मनुष्य को अपनी खाद्य-मात्रा मे कमी करनी ही पडती थी, फिर चाहे वह आध्यात्मिक दृष्टि से उसके लिए अच्छा हो या न हो। किन्तु यहा भी पाश्चात्य एव पाश्चात्यकरणप्रिय मानव ने अपने को प्रकृति के नियम-बन्धन से मुक्त कर लिया। शीतागार (Cold Storage) एव पृथिवी-मण्डल के प्रौद्योगिकीय रूप से एकीभूत तल पर द्रुत परिवहन के साधनो द्वारा किसी प्रकार के मास, शाक-सब्जी. फल अथवा फूल को, अब, वर्ष की किसी भी ऋतु मे, और ससार के किसी भी भाग मे किसी भी आदमी द्वारा, जो उसका दाम चुकाने की क्षमता रखता हो, क्रय किया जा सकता है।

फिर अपना यह परिचित वर्षचक्र ही एक मात्र ऐसा सौरचक्र नही था, जिसकी अधीनता मे पृथिवी का पादप जगत् (Flora) रहा हो और जिसके परिणाम-स्वरूप, अपनी जीविका के लिए कृषि पर निर्भर करने वाला मानव भी, अप्रत्यक्ष रूप से, उसका दास बन गया हो। वर्तमान ऋतुविज्ञानियों ने इससे कही अधिक लम्बी कालावधि वाले ऋतुचक्रो पर प्रकाश डालने में सफलता प्राप्त की। यायावरो अथवा पशुचारी खानाबदोशो द्वारा मरुस्थल से निकलकर 'रोपणस्थली' ('Sown') पर किये जाने वाले धावों के अनुसन्धान मे हमें ऐसे एक ऋतुचक्र का अप्रत्यक्ष प्रमाण मिला

[1] ईस्टर के पहले के चालीस दिन जिनमें रविवार के अतिरिक्त अन्य दिनों में ईसा मसीह के निमित्त उपवास किया जाता है।—अनुवादक

जिसकी कालावधि ६०० वर्ष लम्बी थी अर्थात् शुष्कता एवं आर्द्रता के एकान्तरकाल मे से प्रत्येक की उक्त आयु थी। जब हम ये पंक्तियाँ लिख रहे हैं तब यह परिकल्पित चक्र उतना सुप्रमाणित या सुस्थापित नही रह गया है। इसी वर्ग के उसकी अपेक्षा अधिक प्रमाणित ऋतुचक्रो का पता चला है जिनकी तरंग-लम्बाइया दो या एक अको वाली है। ये ऋतुचक्र, आधुनिक स्थितियो मे कृत्रिम रूप से बोयी एव काटी जाने वाली फसलो के उत्पादन के उतार-चढाव को नियन्त्रित करते है। कहा जाता है कि इन ऋतु-एवं-उपज चक्रो, तथा कतिपय अर्थशास्त्रियो द्वारा अभियोजित अर्थोद्योगिक चक्रो मे कोई सम्बन्ध है। किन्तु वर्त्तमान विशेषज्ञो का बहुमत इस दृष्टिकोण के विरुद्ध है। अन्वेषण के क्षेत्र के एक विक्टोरियन अग्रगामी स्टेनली जेवस का बुद्धिमत्तायुक्त सुझाव था कि ये व्यापार-चक्र सूर्य के धब्बो के उदय एव अस्त मे व्यक्त, विज्ञापित सूर्य की रेडियोधर्मिता या विकिरणशीलता के उतार-चढाव के परिणाम हो सकते है। किन्तु यह सिद्धान्त अब अपनी लोकप्रियता खो चुका है। बाद के वर्षों मे स्वयं जेवंस ने भी स्वीकार किया कि '(व्यापार के) पुनरावर्त्तक आपतन (पीरियोडिक कोलेप्सेज) अपनी प्रकृति मे वस्तुत मानसिक है और अवसाद, आशा-वादिता, उत्तेजन, निराशा एव आतंक की मात्राओ पर निर्भर करते है।'[१]

१९२९ ई. मे कैम्ब्रिज के अर्थशास्त्री ए. सी. पिगाउ ने यह प्रकट किया था कि औद्योगिक कार्यशीलता में जो उतार-चढाव होते हैं उनका निर्णय करने वाले घटक (फैक्टर) के रूप मे उपज-सम्बन्धी फेरफार का महत्व उसके लिखने के समय उसकी अपेक्षा बहुत ही कम था जितना कि वह पचास या सौ वर्ष पहिले रहा होगा। पिगाउ के बारह वर्ष बाद लिखते हुए जी हेबर्लर ने भी इसी प्रकार का दृष्टिकोण अपनाया था। और इन पक्तियो के लिखते समय इस सम्बन्ध मे जो पारम्परिक या कट्टर आर्थिक मत है, उसके नमूने के रूप मे हम उसे यहाँ दे रहे है :—

"अभिवृद्धि की भाँति ही, सम्पत्ति का क्षय भी···बाहर के विघ्नकारी कारणो के प्रभाव पर नहीं वरं स्वयं व्यवसाय जगत् के अन्दर नियमित रूप से प्रधावित प्रक्रियाओं पर निर्भर करता है।

"(इन उतार-चढ़ावों वाले) इस विषय में रहस्यमय बात यह है कि ऋतु-सम्बन्धी स्थितियों के कारण फसल की खराबी या बीमारियो, आम हड़तालों, तालाबन्दियों, भूकंपों, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक स्रोतों में आकस्मिक अवरोध या ऐसे ही अन्य 'बाह्य' कारणों से उनका स्पष्टीकरण नहीं किया जा सकता। उपज के परिणाम, वास्तविक आय अथवा फसल-नाशक युद्ध, भूकंप अथवा उत्पादक प्रक्रियाओं के इसी प्रकार के अन्य भौतिक विघ्नों के फलस्वरूप रोजगार-धन्धे में भयंकर कमी का, सब मिलाकर, अर्थ-प्रणाली पर बहुत कम असर पड़ता है और तकनीकी या प्राविधिक अर्थ में व्यवसाय-चक्र के

[१] जेवंस, डब्लू. स्टेनली: 'इनवेस्टिगेशंस इन करेंसी ऐण्ड फाइनेंस', द्वितीय संस्करण (लंदन १९०९, मैकमिलन) पृष्ठ १८४

सिद्धान्त की मंदी या अवपात (डिप्रेशन) से हमारा आशय उत्पत्ति के परिमाण, वास्तविक आय तथा रोजगार की उन लम्बी एवं स्पष्ट गिरावटों से होता है जिनका स्पष्टीकरण स्वयं अर्थ-प्रणाली के अन्दर से उत्पन्न होने वाले हेतुओं से ही होता है, और जो प्रथमत. मुद्रा की मांग की अपर्याप्तता तथा मूल्य एवं लागत के बीच पर्याप्त अन्तर के अभाव से पैदा होती है।

"विविध कारणों से, व्यवसाय-चक्र के स्पष्टीकरण में, यह वांछनीय मालूम पड़ता है कि बाह्य विघ्नों या व्याघातों के प्रभाव को यथासम्भव कम से कम महत्व दिया जाय।···व्यवसाय-चक्र के निर्माण में आपातत (Prima Facie) व्यवसाय-प्रणाली की अनुक्रियाएं बाह्य आघातों से अधिक महत्वपूर्ण जान पड़ती हैं। दूसरे, ऐतिहासिक अनुभव इसे प्रदर्शित करता है कि चक्रिक गति उन स्थानों में भी बने रहने की प्रवृत्ति रखती है जहाँ कोई ऐसे प्रमुख बाह्य प्रभाव कार्यशील नहीं होते जिन्हें युक्तिसंगत रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सके। इससे यह भी झलकता है कि हमारी अर्थ-प्रणाली में कोई अन्तर्निहित अस्थिरता है, एक या दूसरी दिशा में गतिशील कोई प्रवृत्ति है।"[1]

एक दूसरा, बिल्कुल भिन्न, प्राकृतिक चक्र भी है, जिसे दृष्टि से ओझल नही किया जा सकता। यह है जन्म, वृद्धि, सन्तानोत्पत्ति, जरा और मरण का मानवयोनि-चक्र। इतिहास के एक विशिष्ट क्षेत्र मे इसका महत्त्व, इस अध्ययन के लेखक के लिए बड़े सजीव रूप मे एक वार्तालाप-द्वारा चित्रित हुआ। यह वार्तालाप १९३२ ई. मे न्यूयार्क स्टेट के ट्राय नगर के एक सार्वजनिक प्रीति-भोज मे हुआ था। इस प्रीतिभोज मे उसने देखा कि वह लोक-शिक्षण के स्थानीय निदेशक के बगल मे ही बैठा हुआ है। तब उसने उससे पूछा कि 'आपके पेशे सम्बन्धी विविध कर्त्तव्यो मे कौन-सा कार्य आपको सबसे दिलचस्प मालूम पड़ता है?' उसने तुरन्त उत्तर दिया—'बाबा-दादाओ के लिए अंग्रेजी सिखाने की कक्षा का सगठन करना।' ब्रिटिश आगन्तुक बिना किसी विचार के यो ही पूछता गया—'यह तो एक अंग्रेजी भाषा-भाषी देश है, फिर यहा कोई बाबा-दादा बिना अंग्रेजी जाने कैसे आने की व्यवस्था कर सका?" निदेशक ने कहा—'जनाब, यो समझिए। सयुक्त राज्य मे ट्राय क्षौम ग्रैवेय (Linen coller) निर्माण का प्रधान केन्द्र है, और १९२१ तथा १९२४ के आप्रवास-प्रतिबन्ध कानूनो (इम्मीग्रेशन रिस्ट्रिक्शन ऐक्ट्स) के पूर्व, वहा के अधिकाश मजूर विदेशी आप्रवासियो तथा उनके कुटुम्बो मे से भरती किये जाते थे। तब जो आप्रवासी प्रधान आप्रवासी-निर्यानक देशो मे से हर एक से आये, वे यथाशक्ति अपने परिचित अतीत से चिपटे हुए तथा अपने सगोत्र जनो से घुल-मिलकर चलने वाले थे। एक ही राष्ट्रीय स्रोत से निकलकर आये आप्रवासी न केवल एक ही कारखाने मे साथ-साथ काम करते थे बल्कि वे एक ही बस्ती के घरों मे अगल-बगल रहते भी थे। इसलिए जब उनके अवकाश

[1] हेबर्लर, जी. : 'प्रास्पैरिटी ऐण्ड डिप्रेशन' (जिनेवा १९४१, लीग आफ नेशंस) पृष्ठ १०

ग्रहण करने का समय आया तब भी उनमें से अधिकांश उससे ज्यादा अंग्रेजी न जान पाये जितनी वे उस समय जानते थे जब उन्होंने पहिले-पहल अमेरिका के तट पर पांव रखे थे । अपने जीवन के अमेरिकी अध्याय में इस बिन्दु तक उन्हे और कुछ जानने की आवश्यकता ही नही पडी क्योंकि उन्हे अपने देश मे पैदा दुभाषियो की सेवाएं उपलब्ध हो गयी । उनके बच्चे जब अमेरिका आये तब इतने छोटे थे कि अपनी बारी कारखाने मे प्रवेश करने के पूर्व उन्हे सार्वजनिक पाठशालाओ मे जाना ही पड़ा और अमेरिकी शिक्षा तथा इतालवी बचपन का सयोग हो जाने के कारण वे प्रवीण द्विभाषी हो गये । वे कारखाने, सडक एवं भण्डारगृहो मे अंग्रेजी तथा अपने पालको के घर में इतालवी बोलते थे । उन्हे इसका ध्यान भी न रहता था कि वे निरन्तर एक भाषा बोलते-बोलते दूसरी बोलने लग जाते हैं । उनका प्रयासहीन एव ईर्ष्यारहित द्विभाषा-ज्ञान उनके वृद्ध माता-पिताओ के लिए बडा ही सुविधाजनक था । बल्कि इससे उन्हे इस बात की शह मिलती थी कि कार्यमुक्त होने के बाद, कारखाने में काम करते हुए थोडी-सी जो अग्रेजी वे जानते थे, उसे भी भूल जायं । जो भी हो, पर यही कथा का अन्त नही है, क्योंकि समय आने पर रिटायर हुए आप्रवासी श्रमिकों के बच्चो ने भी शादी की और उन्हे भी अपने बच्चे हुए । तीसरी पीढ़ी के इन प्रतिनिधियो की भाषा घर और स्कूल दोनो मे अग्रेजी हो गयी । चूंकि उनके पालकों या माता-पिताओं ने सयुक्त राज्य मे ही शिक्षा प्राप्त करने के बाद विवाह किये थे और उनके माता-पिता मे से कोई न कोई प्राय: गैर-इतालवी स्रोत का होना था, अग्रेजी ही वह भाषा थी जिसमे माता-पिता एक दूसरे से अपने विचार प्रकट करते थे । इस प्रकार द्विभाषी माता पिताओ से अमेरिका मे उत्पन्न बच्चे अपने बाबाओ की इतालवी मातृभाषा से अपरिचित रह गये; फिर उनके लिए उसकी कोई विशेष उपयोगिता भी न थी । तब वे एक ऐसी विदेशी भाषा सीखने का यत्न क्यो करते जो उन्हे गैर-अमेरिकी स्रोत का सिद्ध करती, उस स्रोत का जिसका निराकरण करने और जिसका निर्वाण कर देने के लिए वे उत्सुक थे ? अब दादा-बाबाओ ने देखा कि उनके नाती-पोते उनके साथ एक ऐसी भाषा में बातचीत करने के लिए उत्सुक या प्रवृत्त नही होंगे जिसे उनके दादा बाबा गण आसानी से बोल सकते थे । इस प्रकार अपनी वृद्धावस्था मे सहसा उनके सामने यह सम्भावना उपस्थित हो गयी कि अपने ही जीवित वशजों से कोई मानवीय सम्पर्क बनाये रखने मे वे असमर्थ भी हो सकते है । इतालवी एवं दूसरे आग्लेतर भाषा-भाषी महाद्वीपीय यूरोप-निवासियो के लिए, जिनमे कौटुम्बिक एकता की तीव्र भावना होती है, यह संभावना असहनीय थी । जीवन मे पहिली बार उन्हे अपने अपनाये हुए देश की एक ऐसी भाषा सीखने की प्रेरणा हुई जो अभी तक उनके लिए अनाकर्षक थी । पिछले ही साल उनके मन में मुझसे सहायता माँगने का विचार आया । मै तो उनके लिए विशेष कक्षाएँ चलाने को उत्सुक था ही, और यद्यपि यह बात प्रसिद्ध है कि ज्यों-ज्यो मनुष्य बूढ़ा होता जाता है उसके लिए विदेशी भाषा सीखने का प्रयास कठिन होता जाता है किन्तु मै आपको विश्वास दिला सकता हूँ कि दादा-बाबाओ के लिए यह अग्रेजी प्रशिक्षण अभी तक हमारे विभाग-द्वारा किये गये कार्यों में एक बहुत

ही सफल एव पुरस्करणीय कार्य सिद्ध हुआ है।'

ट्राय की यह कहानी बताती है कि कैसे दो अनुक्रमिक विरामों के पुंजीभूत प्रभाव-द्वारा तीन-तीन पीढ़ियों की मालिका का ऐसा कायापलट हो सकता है जो एक ही पीढ़ी के प्रतिनिधियों-द्वारा एक ही जीवनावधि मे नही हो सकता था। जिस प्रक्रिया से एक इतालवी कुटुम्ब ने अपने को अमेरिकी कुटुम्ब मे रूपान्तरित कर लिया उसका एक जीवन की सीमा मे समझने लायक विश्लेषण या वर्णन नहीं किया जा सकता। इसे लाने के लिए तीन पीढ़ियों के बीच की अन्त क्रिया आवश्यक थी। और जब हम राष्ट्रीयता के परिवर्तन से धर्म एव वर्ग-परिवर्तन की ओर विचार आरम्भ करते है तो देखते है कि यहा भी व्यक्ति नही बल्कि कुटुम्ब ही बोधगम्य घटक है।

वर्गचेतना से पूर्ण आधुनिक इग्लैण्ड मे, जो १९५२ ई मे इस लेखक की आखो के आगे ही बडी तेजी के साथ मिटता जा रहा था, मजदूर वर्ग या निम्न मध्यमवर्ग के एक कुटुम्ब को 'सभ्य जन' (जेंटिल फाक) बनने में सामान्यतया तीन पीढ़िया लग गयी। धर्म के क्षेत्र मे भी मानक तरग-दैर्घ्य (स्टैंडर्ड वेव-लेग्थ) प्राय यही रहा है। हम रोमन जगत् मे ब्रात्यवाद (पैगनिज्म) के निराकरण के इतिहास मे देखते है कि असहिष्णु रूप मे निष्ठावान्, ईसाई के रूप मे पैदा होने वाले सम्राट थ्यूदोशियस प्रथम ने पूर्व-व्रात्य, धर्मान्तरित कास्टैटाइन प्रथम का अनुसरण तो किया परन्तु दूसरी पीढ़ी मे नही बल्कि उससे अगली पीढ़ी मे किया। इसी प्रकार सत्रहवी शती के फास से प्रोटेस्टेंट ईसाइयत का जो निर्मूलन हुआ उसमे भी, असहिष्णु धर्माचारी, कैथोलिक रूप मे पैदा हुए लुई चतुर्दश एव उसके प्राक्-काल्विनवादी दादा हेनरी चतुर्थ के बीच इतना ही अन्तर था। उन्नीसवी एव बीसवी शतियो के मोड या सगम पर फ्रान्स मे, सरकारी तौर पर धर्मान्तरित बुर्जुआ नास्तिको या अनीश्वरवादियो के पोते-नातियों मे से यथार्थत निष्ठावान् कैथोलिक ईसाई पैदा करने का जो प्रयोग सफल हुआ उसमे भी इतनी ही पीढ़ियाँ लग गयी। इन लोगों ने फिर से कैथोलिक मत का आलिगन इसलिए कर लिया कि चर्च ने एक परम्परागत सस्था के रूप मे उनके लिए एक नवीन मूल्य, महत्त्व प्राप्त कर लिया था। उनका ख्याल था कि कैथोलिक चर्च शायद समाजवाद की बढती बाढ तथा उन विचार-धाराओ से उन्हे बचा लेने के लिए एक रोक, एक दीवार का काम करे जो बुर्जुआ एव श्रमिक वर्ग के बीच आर्थिक असमानता को नष्ट करने पर तुली हुई है। पुनः हम देखते है कि उम्मायद खलीफाओ के अधीन सीरियाई जगत् मे भी जिन भूतपूर्व जरथुस्त्री पितामहों ने आदिम मुस्लिम अरब शासक वर्ग की अनुकूलता प्राप्त करने के लिए इस्लाम ग्रहण कर लिया था उनके वशजो मे से यथार्थतः निष्ठावान् मुसलमानो की सृष्टि करने मे भी तीन ही पीढ़िया लग गयी। जो उम्मायद शासन विजेता के प्रभुत्व का उद्घोषक था, उसकी अवधि भी तीन पीढ़ी वाले काल-द्वारा ही निश्चित हुई थी। मूलतः धर्मान्तरित लोगो के मुस्लिम रूप मे पैदा हुए नाती-पोतो को इतिहास के मच पर लाने के लिए तीन पीढ़ियों की इस कालावधि का विक्षेप आवश्यक था। जब इस्लामी धार्मिक सिद्धान्तो के नाम पर उदासीन धर्मान्तरितो के धर्मपरायण मुस्लिम नाती-पोतो ने लावदीशियाई (Laodicean) मुस्लिम अरब विजेताओ के लावदीशियाई मुस्लिम नाती-

पोतों को जेर करना चाहा तो अरब सत्तारोहण के उम्मायद एजेंट समस्त मुसलमानो की समानता के अब्बासाई व्याख्याताओं-द्वारा अपदस्थ कर दिये गये ।

यदि इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि तीन पीढ़ियों का कारणानुबन्ध धर्म, वर्ग एवं राष्ट्रीयता के तीनो क्षेत्रो मे सामाजिक परिवर्तन का नियमित मानसिक वाहन है तो यह देखकर भी आश्चर्य नही होना चाहिए कि इसी तरह का अभिनय चार पीढियो के कारणानुबन्ध या शृङ्खला ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी किया है । हमें पहिले ही मालूम हो चुका है कि सभ्यता के बीच होने वाले संघर्षो के क्षेत्र मे, एक बुद्धिजीवी वर्ग की सृष्टि और अपने निर्माताओं के प्रति उसके विद्रोह के बीच की कालावधि का औसत, ३-४ उदाहरणो के आधार पर, प्राय. १३७ वर्ष का रहा है, और यदि यह मान लें कि सामान्य युद्ध की वेदना चित्त (Psyche) पर उससे ज्यादा गहरी छाप डालती है जितना अनुपूरक युद्धो का अपेक्षाकृत कोमल आगमन उस पर डालता है तो यह देखना कठिन नही होगा कि कैसे चार पीढियो का कारणानुबन्ध भी एक युद्ध-एव-शान्ति चक्र की तरंग-लम्बाई का निर्णय कर सकता है ।

किन्तु यदि हम इस विचार को आधुनिक पाश्चात्य यूरोप के युद्ध-एव-शान्ति चक्रो पर लागू करे तो हम एक दीवार से टकरा जायगे और हमे मालूम होगा कि 'अनुपूरक' युद्ध अर्थात् त्रिंशवार्षिक युद्ध यद्यपि भौगोलिक अर्थ मे मध्य यूरोप तक सीमित था किन्तु अपनी सकुचित भौगोलिक सीमा में वह सम्भवतः कम नही बल्कि उससे अधिक विध्वसकारी था जितने कि वे 'सामान्य युद्ध' थे जो इससे पूर्व एव बाद मे हुए ।

जिन बाह्यत. वास्तविक, यद्यपि अनिश्चित, नियमितताओ एव पुनरावर्तनों का स्पष्टीकरण हमे खोजना है, यह युद्ध-एश-शाति-ग्रह उनमे मे न तो अन्तिम है, न दीर्घतम है । इनमे से प्रत्येक शतवार्षिक या लगभग इतने ही वर्षों का चक्र ऐसी मालिका मे एक अवधि — मीयाद — मात्र है जो सब मिलाकर, किसी सभ्यता के भग हो जाने के बाद आने वाले 'सकटकाल' का निर्माण करती है, और यह सकट-काल, अपनी बारी मे, एक सार्वभौम राज्य का निर्माण करता है, जैसा कि हम हेलेनी एव मिनाई इतिहास मे देखते है । यह सार्वभौम राज्य भी उन लयो को प्रदर्शित करता है जिनके बारे मे हम लिख चुके है । आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण प्रक्रिया मे आठ सौ से लेकर हजार वर्षों तक की अवधि लग जाती है । क्या मानवीय व्यापार की नियमितताओ की मनोवैज्ञानिक व्याख्या, जिससे अब तक हमारा काम अच्छी तरह चलता रहा है, यहाँ भी हमारे काम की सिद्ध होगी ? यदि हमारी दृष्टि मे चित्त का बौद्धिक एवं संकल्पात्मक तल ही चित्त का सर्वस्व होता तो हमारे जवाब का निषेधात्मक होना निश्चित ही था ।

पाश्चात्य जगत् मे, लेखक की पीढ़ी में, मानसशास्त्र का पाश्चात्य विज्ञान अभी अपने शैशव मे ही था, फिर भी अगुवाओं ने सर्वेक्षण इतनी पर्याप्त सीमा तक कर लिया था कि उससे सी. जी. जुग यह सूचित करने में सक्षम हुए कि जिस अवचेतन अतल या अगाध (Sub-conscious abyss) की सतह पर प्रत्येक व्यष्टिगत मानवीय व्यक्तित्व की सचेतन प्रज्ञा एव संकल्प तैरते रहते है, वह कोई अमिश्र या अनन्तरित विप्लव

(Undifferentiated chaos) नहीं है वर एक ग्रन्थिल विश्व है जिसमे मानसिक सक्रियता की एक तह के नीचे दूसरी तह मिलती जाती है । इनमे से जो तह उपरितल या सतह के निकटतम ज्ञात होती है वह है किसी भी स्त्री या पुरुष के अद्यतन जीवन-मार्ग मे चलते हुए प्राप्त व्यक्तित्व के व्यक्तिगत अनुभवों-द्वारा निक्षेपित, व्यक्तिगत अवचेतन (Personal Subconscious)। ऐसा लगता है कि अभी तक जिस गहनतम तल तक अन्वेषक पहुच पाये हैं वह है एक जातीय अवचेतन (Racial Subconscious), जो किसी व्यक्ति की विशेषता नहीं है वर जो समस्त मानवप्राणियो मे प्राप्त है—यहाँ तक कि उसमे जो आद्य बिम्ब (Primordial Images) अन्तर्हित है वे भी मानव जाति के उन सर्वनिष्ठ अनुभवों को प्रतिबिम्बित करते है जो यदि मनुष्य के पूर्णत. मानवीय बनने के पूर्व नही तो कम से कम मानव जाति के शैशव मे पुजीभूत हो गये थे। इतना देख लेने के बाद यह अनुमान करना कदाचित् बेतुका न होगा कि अवचेतन की सबके ऊपर एव सबके नीचे वाली जिन तहो का पता अबतक पाश्चात्य वैज्ञानिक लगा पाये है उनके बीच ऐसी मध्यवर्ती तहे भी हो सकती है जो न तो जातीय (रेशल) और न व्यक्तिगत अनुभवो द्वारा एकत्र की गयी हो, बल्कि किसी अधिवैयक्तिक (Supra-personal) किन्तु अधोजातिक (Infra racial) विस्तार के सामूहिक अनुभव ने उन्हे वहाँ एकत्र किया हो। अनुभव की ऐसी तहे हो सकती है जो एक कुटुम्ब के लिए सामान्य हो, एक समुदाय के लिए सामान्य हो अथवा एक समाज के लिए सामान्य हो, और यदि आद्य बिम्बो के ऊपर के अगले स्तर पर समस्त मानव जाति के लिए सामान्य वा सर्वनिष्ठ अनुभव की तहे भी हो तो वे निश्चय ही ऐसे बिम्ब प्रमाणित होगी जो एक विशेष समाज की विशिष्ट लोकनीति (ethos) को व्यक्त करती हो। चित्त पर इनकी छाप सम्भवत अवधि की उस दीर्घता का कारण होगी जो कतिपय सामाजिक प्रक्रियाओ को अपनी अभिव्यक्ति के लिए आवश्यक समझती हो।

उदाहरणार्थ, जो सभ्यता वृद्धि के उपक्रम मे हो उसके बच्चो के अवचेतन मानसिक जीवन पर अपनी गहरी छाप अकित करने मे प्रकटत सक्षम एक ऐसा सामाजिक बिम्ब था ग्राम्य अधिराट् राज्य की मूर्ति। और फिर तुरन्त यह कल्पना की जा सकती है कि जब इस मूर्ति ने अपने भक्तों से ऐसे कठोर मानवीय बलिदान लेने शुरू कर दिये जैसे कार्थेजियाइयो (Carthaginians) ने कभी बाल हैमन को अथवा बगालियो ने जगन्नाथ (के रथ) को दिये होगे, तो उसके हाथ का शिकार बने जिन लोगो ने खुद ही दानव को उत्पन्न किया था उन्हे अपने हृदयो मे इस दूषित मूर्तिपूजा को पकड़कर बाहर फेकने के लिए तीन पीढ़ियो के चक्र के एक ही कारणानुबन्ध या शृ खला के कटु अनुभवो की ही नही, वर लगभग ४०० वर्षों की कालावधि के कटु अनुभवो की आवश्यकता थी। सहज ही यह कल्पना भी की जा सकती है कि जिस सभ्यता के विभग एव विघटन को 'सकट काल' ने प्रकट कर दिया था उसके समस्त उपकरण से अपने को अलग कर लेने और उसी जाति के अथवा महत्तर धर्मों-द्वारा उपस्थित भिन्न जातियो के किसी दूसरे समाज की छाप ग्रहण करने के लिए अपने को तैयार करने मे उन्हे ४०० वर्षों की ही नहीं बल्कि ८०० वर्षों या १०००

वर्षों की आवश्यकता भी हो सकती है। क्योंकि सम्भवतः अवचेतन चित्त को एक सम्यता का बिम्ब उससे कहीं ज्यादा शक्तिमान प्रेरणा प्रदान कर सकता है जितना किसी ऐसे ग्राम्यराज्य का बिम्ब कर सकता है जिसमें सम्यताएँ राजनीतिक स्तर पर तबतक ग्रन्थिल होकर जुडी रहती हैं जबतक कि वे किसी सार्वभौम राज्य में प्रविष्ट नहीं हो जाती। इसी प्रकार मानव-दृष्टि के इस कोण से हम समझ सकते हैं कि किस प्रकार सार्वभौम राज्य एक बार स्थापित हो जाने के बाद, अपनी बारी कभी-कभी भूतपूर्व प्रजाओ पर भी अपना प्रभाव बनाये रखने में सफल हो जाते हैं। यहाँ तक कि कोई-कोई सार्वभौम राज्य अपनी उपयोगिता तथा शक्ति खो देने के बाद, और ठीक वैसे ही सतापकारी रूप से बोझिल दुःस्वप्न बन जाने के बाद, जैसे पूर्ववर्ती वे ग्राम्यराज्य थे जिन का अन्त करने के लिए उसने जन्म धारण किया था, अपने वास्तविक उच्छेदको के हृदयो पर पीढ़ियों तक, और कभी-कभी शताब्दियों तक अपना प्रभाव छोड जाते हैं।

"एक वयस्क पीढ़ी के प्रतिनिधिगण जिन बाह्य चिन्ताओ का अनुभव करते हैं—चिन्ताएँ जो अनुभवकर्ताओं की सामाजिक स्थिति से सीधे-सीधे प्रभावित होती हैं—उनमें और इन लोगों की उदीयमान पीढ़ी की सन्तति की अन्तर्मुख, स्वप्नग्रस्त चिन्ताओं के बीच जो सम्बन्ध होता है वह एक विस्तृत क्षेत्र में असंदिग्ध रूप से एक महत्वपूर्ण दृश्यप्रपंच (फिनामेना) है।·· ····व्यक्ति के मानसिक विकास एवं ऐतिहासिक परिवर्तन की गति दोनों पर एक के बाद एक आने वाली पीढ़ियों की मालिका की जो छाप पड़ती है वह कुछ ऐसी वस्तु है कि उसे आज की अपेक्षा तब ज्यादा अच्छी तरह समझने लगेंगे जब हम पीढ़ियों की लम्बी शृंखला की दृष्टि से पर्यवेक्षण करने के और अपनी ऐतिहासिक चिन्तना के लिए आज से अधिक समर्थ हो जायेंगे।"[१]

यदि सम्यताओ के इतिहासों मे प्रचलित सामाजिक कानून, अवचेतन मन के किसी अववैयक्तिक (इन्फ्रा-पर्सनल) स्तर को नियन्त्रित करने वाले मनोवैज्ञानिक नियमों के प्रतिबिम्ब हैं तो इससे भी इसका स्पष्टीकरण हो जाता है कि क्यों ये सामाजिक नियम, जैसा कि हमने भी इन्हे देखा है, किसी विखंडित सम्यता के इतिहास की विघटनशील अवस्था में उससे कहीं ज्यादा स्पष्ट और कहीं अधिक नियमित होते है जितना कि वे उसकी पूर्वगामी उदयावस्था मे होते है।

यद्यपि उदयावस्था तथा विघटनावस्था दोनो का चुनौती-एवं-उत्तर के शक्ति-परीक्षणों की एक मालिका के रूप मे विश्लेषण किया जा सकता है, किन्तु चाहे हम चुनौतियो की अनुक्रमिक अभिव्यक्तियों के मध्यान्तर की माप करें अथवा उनके प्रभाव-

१ **इलियास, एन. : 'यूबरडेन प्रोजेस डर सिविलाइजेशन'** (Uberden Prozess der Civilisation, Vol II : Wandlungen der Geselschaft : Entwurf ZU einer Theovie der Civilizetiors (Basel 1939 Haus Zum Falken) p. 441.

कारी उत्तरों के मिलने के बीच के काल की माप करे, इतना तो हमने देख लिया है कि किसी ऐसी मानक-तरंग-लम्बाई को खोज निकालना असम्भव है जो उन सब अनुक्रमिक शक्ति-परीक्षणों मे एक समान निहित हो जिनके बीच मे होकर सामाजिक विकास की क्रिया होती है। फिर हमने यह भी देख लिया है कि उदयावस्था मे ये अनुक्रमिक चुनौतिया और उनके अनुक्रमिक उत्तर असीमित रूप से विविध होते है। इसके विपरीत हमने यह भी देखा है कि विघटनावस्था की अनुक्रमिक श्रेणिया एक ऐसी ही समान चुनौती को बार-बार उपस्थित करती रही है। यह चुनौती बार-बार इसीलिए उपस्थित होती है कि विघटनशील समाज उसका सामना करने मे बराबर असफल रहता है। हमने यह भी मालूम किया है कि सामाजिक विघटन के सभी अतीतकालिक मामलों मे, जिनका हमने सकलन किया है, वही अनुक्रमिक अवस्थाएँ उसी क्रम से बार-बार उपस्थित होती हैं और प्रत्येक अवस्था (स्टेज) लगभग उतनी ही कालावधि की होती है। इसलिए सब मिलाकर विघटनावस्था प्रत्येक मामले मे एक-सी कालावधि वाली एक-सी प्रक्रिया हमारे सामने उपस्थित करती है, यहा तक कि सामाजिक विभग के घटते ही उदयावस्था की विविधता एव विभेदोन्मुखी प्रवृत्ति का स्थान एक ऐसी एकरूपता की प्रवृत्ति ले लेती है जो बाह्य हस्तक्षेप एव आन्तरिक अवज्ञा दोनो पर देर-सबेर विजय प्राप्त करके अपनी शक्ति का परिचय देती है।

उदाहरणार्थ, हमने यह भी देखा है कि जब पहिले सीरियाई एव बाद मे भारतीय सार्वभौम राज्य अकाल में ही, सार्वभौम राज्य की मानक जीवनावधि के पूर्ण होने के पहिले ही, आक्रामक यूनानी सभ्यता द्वारा विखण्डित कर दिये गये तो किस प्रकार विजातीय समाज-निकाय के विक्षोभकारी प्रभावों के होते हुए भी आप्लावित समाजों का तब तक अन्त नही हुआ जबतक कि उन्होने भजित समाज के विघटन की नियमित मंजिल पूरी नही कर ली। क्रम-भंगावस्था मे पुन. प्रवेश करके तथा पुनर्गठित सार्वभौम राज्य के रूप मे व्यक्त होकर वे ऐसा तबतक करते रहे जबतक कि उनकी सामान्य कालावधि पूर्ण नही हो गयी।

सामाजिक विघटन के इस दृश्य-प्रपच की नियमितता एव एकरूपता तथा सामाजिक उत्थान के दृश्य-प्रपच की अनियमितता एव विविधता के बीच की इस आश्चर्यजनक विपरीतता का इस अध्ययन में ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे बार-बार उल्लेख किया जा चुका है किन्तु अभी तक उसके स्पष्टीकरण का कोई प्रयत्न नही हुआ है। वर्तमान खण्ड में, जिसका विषय मानवीय व्यापार मे नियम (कानून) एव स्वतन्त्रता के बीच का सम्बन्ध है, हमारे लिए समस्या का ऊहापोह करना आवश्यक हो गया है। चित्त या मन की सतह पर के चेतन व्यक्तित्व और उसके नीचे प्रच्छन्न मानसिक जीवन के अवचेतन स्तरो की प्रवृत्तियों मे जो अन्तर है उसी मे इस समस्या के समाधान की कुजी ढूढ़ी जा सकती है।

चेतना के उपहार-रूप मे जो विशिष्ट शक्ति प्रदान की गयी है वह है चुनाव करने की स्वतन्त्रता; और जब हम मानते है कि समानुपातिक स्वतन्त्रता उत्थान काल की एक विशेषता है तो जहा तक इन परिस्थितियो मे अपने भविष्य का निर्णय करने

में मानव प्राणी स्वतन्त्र है वहा तक यही आशा की जाती है कि वे जिस मार्ग का अनुसरण करेंगे वह वस्तुत, और जैसा कि दिखायी भी पडता है, स्वैर एवं अनियमित होगा। मतलब यह कि वह 'प्रकृति के नियम-कानून' की अवज्ञा करनेवाला होगा। इस प्रकार स्वतन्त्रता का शासन 'प्रकृति-नियम' को अपने से दूर ही रखता है परन्तु जहा तक वह दो कठोर शर्तों की पूर्ति पर निर्भर है वहा तक वह भी पराश्रयी है। इनमें से पहिली शर्त्त यह है कि चेतन व्यक्तित्व मन के अवचेतन अधोजगत् को संकल्प एव प्रज्ञा के नियन्त्रण मे रखे। दूसरी शर्त्त यह है कि जो होमोसैपियस (Homo Sapiens) मानव बनने के पूर्व सामाजिक प्राणी था और सामाजिक प्राणी बनने के भी पूर्व यौन जोव (Sexual Organism) था उसके नाशवान् जीवन मे उसे जिन अन्य चेतन व्यक्तित्वो के साथ जीना था 'उनके साथ एकता मे ही निवास' करने का उपाय करना आवश्यक था। परन्तु सच पूछे तो स्वतन्त्रता के प्रयोग के लिए ऊपर जो दो शर्तें बतायी गयी है वे वस्तुतः एक-दूसरे से अविच्छेद्य है; क्योकि यदि यह सत्य है कि 'जब धूर्त्त लडते है तो ईमानदार आदमी होश में आ जाते हैं' तो यह भी कुछ कम सत्य नही कि जब लोग लडते है तो अवचेतन मन उनमे से प्रत्येक एवं सबके ही नियन्त्रण से बाहर चला जाता है।

इस प्रकार चेतना का जो दान हमे मिला है उसका नियुक्त कार्य—'मिशन' तो है मन की अवचेतन गहराइयो पर शासन करनेवाले 'प्रकृति के नियम-कानून' से मानवात्मा को, मानव प्रेरणा को मुक्त करना, किन्तु वह एक व्यक्तित्व के विरुद्ध दूसरे व्यक्तित्व के भ्रातृघातक सघर्ष मे अस्त्र रूप बन जाने के कारण, जो स्वतन्त्रता उसका मूल प्रयोजन (raison d'etre) है उसका दुरुपयोग करके अपने को ही पराजित कर देती है। इस दु खद विपथन की व्याख्या के लिए हमे बोसुए (Bossuet) की उस अपवित्र कल्पना का सहारा लेने की आवश्यकता नही जिसमे कहा गया है कि एक सर्वशक्तिमान् किन्तु ईर्ष्यालु ईश्वर के विशेष हस्तक्षेप के कारण मानवेच्छाए एक दूसरे को निरस्त करके शक्तिरहित या निष्फल कर देती है, इसका स्पष्टीकरण मानव चित्त या मन की सरचना एव प्रक्रिया से ही हो जाता है।

(३) इतिहास मे प्रचलित प्रकृति-नियम अनम्य है या नियन्त्रणीय?

यदि हमारे उपर्युक्त सर्वेक्षण ने हमे विश्वास दिला दिया है कि मानवीय व्यापार प्रकृति के कानून के अधीन है और इस क्षेत्र में कानूनो का प्रचलन होने की बात की, कम मे कम कुछ दूर तक तो व्याख्या की ही जा सकती है, तो हमे अब इस बात की जाच शुरू करनी चाहिए कि प्रकृति के जो नियम-कानून मानव-इतिहास मे प्रचलित है वे अननुनम्य, अपरिवर्त्तनशील है या उन पर नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। यदि हम यहा मानवीय प्रकृति के कानूनो पर विचार करने के पूर्व मानवेतर प्रकृति के कानूनों पर विचार करने की अपनी पूर्व कार्य-प्रणाली का पालन करे तो हमे मालूम होगा कि जहां तक मानवेतर प्रकृति के कानूनों का सम्बन्ध है, हम पूर्व अध्याय मे ही प्रश्न का उत्तर दे चुके हैं।

संक्षिप्त उत्तर यह है कि यद्यपि मानवेतर प्रकृति के किसी कानून की धाराओं को संशोधित करने या उसकी प्रक्रिया स्थापित करने मे मानव अक्षम है किन्तु जिस रेखा पर चलने से, ये कानून स्वयं उसके आशय के साधक बन जाते हैं उस पर चल कर वह इन कानूनों का बोझ कम अवश्य कर सकता है। जब कवि ने लिखा था--

When Men of Science find out something more,
We shall be happier than we were before

जब कुछ और प्राप्त कर लेंगे विज्ञानों के नेतागण।
पहिले से कुछ और सुखी तब हो जायेंगे हम सब जन॥

तब उसका यही अभिप्राय था।

अपने मामलों मे मानवेतर प्रकृति के कानूनों के बोझ को कम करने मे पाश्चात्य मानव ने जो सफलता पायी है उसका प्रमाण बीमा के प्रीमियम की दरो मे कमी हो जाने से मिलता है। नक्शो में सुधार हो जाने तथा जहाजो पर बेतार के तार एव राडार (सर्वदर्शी यन्त्र) लग जाने के कारण उनके डूबने-टकराने-टूटने का खतरा कम हो गया है, दक्षिण कैलीफोर्निया के धुवादानों एव कनेक्टीकुट घाटी के पारदर्शी आवरणो ने तुषारपात से होने वाली फसल की हानियों को कम कर दिया है, टीका लगाने-तथा कीटाणुनाशक तरल पदार्थों के छिड़काव के साधनो से फसल, वृक्षो एव पशुओ को कीडो से पहुचनेवाली हानि कम हो गयी है। अनेक प्रणालियो से मनुष्य की बीमारियाँ भी कम की गयी है और जीवनावधि की सीमा बढ गयी है।

जब हम मानवीय प्रकृति के नियमो के क्षेत्र की ओर आते है तो देखते है कि यहां भी यही कहानी, किंचित् शिथिल वर्णो मे, कही जा रही है। शिक्षण एव अनुशासन मे सुधार हो जाने के कारण अनेक प्रकार की दुर्घटनाओ के खतरे कम हो गये हैं; चोरिया भी अब उस सामाजिक वातावरण के अनुसार घटती-बढती पायी जाती है जिसमे चोरो का जीवन व्यतीत होता है इसलिए वे भी सामाजिक सुधार के विविध उपायों-द्वारा दूर की जा सकती हैं।

जब हम पाश्चात्य आर्थिक क्रियाशीलता के उन एकान्तर ज्वारभाटो पर विचार करते हैं जिन्हें व्यवसाय-चक्र (ट्रेड साइकिल्स) के नाम से पुकारा गया है, तो हम उनके पेशेवर छात्रों को नियन्त्रणीय एव अनियन्त्रणीय घटको (फैक्टर्स) के बीच विभेद-रेखा खीचते हुए देखते हैं। एक विचार के लोग तो बढकर यहा तक कहते थे कि चक्र साहूकारो—बैंकरो के जान-बूझकर किये हुए कार्यों के परिणाम है। हा, बहुमत इसी पक्ष मे था कि साहूकारों के तार्किक कार्यों ने इस पर उससे कहीं कम प्रभाव डाला है जितना कि मानस के अवचेतन अधस्तरो से उमडने वाली कल्पना एव अनुभूति के अनियन्त्रित अभिनय ने डाला है। बैंक की वृत्ति की अपेक्षा हमारी अधिक परिचित नारीवृत्ति से उस दिशा का अधिक उत्तम संकेत प्राप्त होता है जिधर इस क्षेत्र के कुछ सर्वोच्च विशेषज्ञों के मस्तिष्क प्रभावित थे—

"धनार्जन की तुलना में धन-व्यय के पिछड़ी कला होने का एक कारण तो यह है कि अब भी धन व्यय करने की संघटना का सबसे प्रभावशाली घटक,

कुटुम्ब ही बना हुआ है जबकि धनार्जन के क्षेत्र में एक अधिक संघटित घटक-द्वारा कुटुम्ब को अनेक अंशों में अपवस्य कर दिया गया है। जो गृहिणी ससार की अधिकांश खरीददारी करती है, वह कुछ व्यवस्थापिका के रूप में अपनी कुशलता के कारण नहीं चुनी जाती, न अपनी अकुशलता के कारण वह पदच्युत ही की जाती है। और यदि वह अपनी कुशलता सिद्ध ही कर दे तो भी इसके कारण दूसरे कुटुम्बों पर उसका नियन्त्रण स्थापित होने का कोई संयोग नहीं उपस्थित होता।···यह आश्चर्य की बात नहीं है कि खपत की, उपयोग की कला मे ससार ने जो कुछ सीखा है उसमें खपत करने वालों या उपभोक्ताओं की अभिक्रमशीलता की अपेक्षा अपनी चीजो के लिए बाजार पर कब्जा करने के लिए प्रयत्नशील निर्माताओं की अभिक्रमशीलता की ही देन अधिक रही है।"[१]

इन विचारो से पता चला कि व्यापार-कार्य मे जो उतार-चढ़ाव होते हैं उन पर तब तक नियन्त्रण नही स्थापित किया जा सकता जबतक कि कुटुम्ब उपभोग या खपत के घटक बने रहेगे और उत्पादन के घटक स्वतन्त्र प्रतियोगिता करने वाले ऐसे व्यक्ति, फर्म या राज्य बने रहेंगे जिनके परस्पर-विरोधी सकल्पो के कारण आर्थिक क्षेत्र अवचेतन मानसिक शक्तियो के अभिनय के लिए खुला रहेगा। साथ ही इसके लिए कोई कारण नही दिखायी पडता कि हाइकसोस शासन के अन्तिम दिनों मे अधिक उपज के समय आगामी दुष्काल के लिए व्यवस्था करके हिब्रू पैट्रियार्क जोजेफ ने जो महती सफलता प्राप्त की थी उसका अनुकरण उत्तरकाल के आर्थिक रूप से पश्चिमीकृत उस ससार मे क्यो न किया जाय, जो समस्त धरती पर फैल गया है। इसका कोई कारण नहीं जान पडता कि क्यो एक दिन कोई ऐतिहासिक अमेरिकन या रूसी जोजेफ मानव के आर्थिक जीवन की समग्र राशि पर ऐसा केन्द्रीय नियन्त्रण न स्थापित करे जो शुभ हो या अशुभ पर जो अपनी प्रभावकारिता की दृष्टि से मूसाई या मार्क्सवादी कल्पना की बडी से बडी उडानो को भी पीछे छोड जायगा।

जब हम चन्द वर्षों की अवधि वाले व्यवसाय-चक्रो से तिहाई या चौथाई शती वाले पीढ़ियों के चक्रों (जेनेरेशन साइकिल्स) में प्रवेश करते हैं तो दिखायी पड़ता है कि प्रत्येक सांस्कृतिक उत्तराधिकार मे जिस अपचय या छीजन की प्रवृत्ति होती है उसमे भी भौतिक स्तर पर मुद्रण, दुर्लभ पाडुलिपियो या अभिलेखो के मशीन-द्वारा फोटो-अनुरूपण तथा अन्य प्रविधियो ने, और आध्यात्मिक स्तर पर शिक्षण-प्रसार ने बहुत कमी कर दी है।

अभी तक तो हमारी वर्तमान जांच के परिणाम उत्साहवर्द्धक रहे है, किन्तु जब हम विभग एव विघटन के आठ या दस शती तक घूमने वाले 'दुःखपूर्ण चक्र' जैसे बहुत लम्बी तरंग-लम्बाइयो के सामाजिक उपक्रमो पर विचार आरम्भ करते हैं तो हमारे सामने एक ऐसा प्रश्न उठ खडा होता है जो एक ही पीढ़ी के अन्दर होने वाले द्वितीय विश्व-

[१] मिचेल, डब्लू. सी. : 'बिजनेस साइकिल्स : दि प्राब्लेम ऐंड इट्स सेंटिंग' (न्यूयार्क, १९२७, नेशनल ब्यूरो आफ इकोनामिक रिसर्च, इंक) पृष्ठ १६५-६६

युद्ध के बाद पाश्चात्य जगत् के अधिकाधिक मस्तिष्कों के सामने बार-बार खडा होता रहा है। जब कोई सभ्यता टूट जाती है तो क्या गलत मोड का कटु अन्त तक अनुसरण करना ही उसकी किस्मत मे बदा होता है ? या वह वापिस लौट सकती है ? इस लेखक के पाश्चात्य समकालीनो ने सभ्यता के उपक्रम मे गतिमान् मानव-इतिहास के तात्त्विक अध्ययन मे असदिग्ध रूप से जो दिलचस्पी ली थी, उसका शायद सबसे शक्तिशाली व्यावहारिक हेतु यह था कि वे अपनी ही सभ्यता के इतिहास मे ऐसे अवसर पर अपना ऐतिहासिक अभिनय करना चाहते थे जिसे वे परावर्तन बिन्दु (टर्निग प्वाइट) मानते थे। इस सकट में पाश्चात्य राष्ट्र, और शायद अमेरिकी राष्ट्र सबसे अधिक, जिम्मेदारी का बोझ महसूस करते थे, और पथ-प्रदर्शन के लिए प्रकाश-हेतु अतीत अनुभवो की ओर देखने मे वे प्रज्ञान (विजडम) के एक मात्र ऐसे स्रोत की ओर उन्मुख थे जो मानव जाति की सेवा के लिए उपलब्ध रहा है। किन्तु उन्हे किस प्रकार काम करना चाहिए, इसके बारे में वे प्रकाश के लिए इतिहास की ओर तबतक नहीं देख सकते थे जबतक कि एक आरम्भिक सवाल न पूछ लेते : 'क्या इतिहास ने उन्हे कोई ऐसा आश्वासन दिया है कि वे सचमुच निर्णय करने मे स्वतन्त्र हैं ?' अन्त मे तो इतिहास की शिक्षा यह नही जान पडती कि एक चुनाव दूसरे से अच्छा ही होगा बल्कि यह जान पडती है कि चुनाव करने मे स्वतन्त्र होने की उनकी भावना एक भ्रममात्र है और वह अवसर, यदि कभी ऐसा अवसर रहा हो तो, जब चुनाव प्रभावशाली सिद्ध हो सकते थे, *अब बीत गया*, और उनकी पीढी एच. ए. एल. फिशर की उस अवस्था से बाहर निकल चुकी है जब किसी भी चीज के बाद कोई भी चीज घटित हो सकती थी और जिसे उमर खैयाम ने अपनी निम्नलिखित पंक्तियो मे चित्रित किया है—

(अंग्रेजी)

दि मूविंग फिंगर राइट्स, एण्ड हैविंग रिट,
मूव्स आन, नार आल दाई पाइटी नार विट
शैल ल्योर इट बैक टु कैंसिल हाफ ए लाइन,
नार आल दाई टियर्स वाश आउट ए वर्ड आफ इट।[1]

(हिन्दी)

चपल अंगुली अचल लेख लिख, अविचल आगे बढ जाती,
शुचिता या पटुता तेरी सब मोहित उसे न कर पाती,
अंकित अर्द्ध पंक्ति परिवर्तन को न कभी प्रस्तुत होती,
अविरल अश्रु-धार भी तेरी अक्षर एक नही धोती।[2]

यदि हम सभ्यताओ के इतिहासो-द्वारा प्रदत्त अद्यतन साक्ष्य के प्रकाश मे इस प्रश्न का उत्तर देने की चेष्टा करे तो हमे कहना होगा कि अवरोध या विभग (ब्रेकडाउन) के चौदह स्पष्ट मामलों मे से हम एक भी ऐसे उदाहरण की ओर इगित नही कर सकते

[1] फिट्जेरल्ड कृत रुबाइते उमर खैयाम के अंग्रेजी अनुवाद से।
[2] स्व० केशवप्रसाद पाठक कृत रुबाइयात के हिन्दी अनुवाद से।

जिसमे भ्रातृघाती युद्ध की व्याधि युद्धकारी राज्यो में से एक को छोड़ और सबके निर्मूलन से कम कठोर साधन-द्वारा दूर की जा सकी हो। किन्तु इस भयानक तथ्य को स्वीकार करते हुए भी हमे उसके कारण निराश नही होना चाहिए, क्योकि तर्क की आगमनात्मक प्रणाली (Inductive method) एक निषेधात्मक साध्य को सिद्ध करने के लिए अत्यन्त कुख्यात अपूर्ण साधन है। फिर इसमे सिंहावलोकन के लिए जितनी ही कम घटनाएं होती हैं यह उतना ही दुर्बल होता है। ६००० से अधिक वर्षों की कालावधि मे प्राय. चौदह सभ्यताओं का जो अनुभव हमे हुआ है उससे इस सम्भावना के विरुद्ध कोई बड़ा शक्तिमान पूर्वानुमान् नही स्थापित हो सकता कि जहा चुनौती का उत्तर देने मे ये अग्रगामी सभ्यताएं दुर्दशा को प्राप्त हुई, वहा समाज के अपेक्षाकृत इस नवीन रूप का कोई दूसरा प्रतिनिधि किसी दिन एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक विकास के लिए अभी तक अज्ञात मार्ग खोज निकालने मे सफलता प्राप्त कर लेगा और यह सफलता उससे कही कम खर्चीले साधन द्वारा प्राप्त करेगा जितना खर्चीला कि भ्रातृघाती युद्ध के सामाजिक रोग का शमन करने के लिए एक सार्वभौम राज्य का बलात् लागू किया जाना है।

यदि इस सम्भावना को मन मे रखते हुए, हम एक बार पुन. पीछे की ओर घूमकर उन सभ्यताओ के इतिहासो पर दृष्टि डाले जो अवरोध से लेकर अन्तिम विघटन तक व्यथामार्ग की सम्पूर्ण लम्बाई को नाप चुकी हैं, तो हम देखेंगे कि कम से कम उनमे से कुछ ने तो एक रक्षा करने वाले विकल्प-समाधान के दर्शन कर लिये है, यद्यपि किसी को उसे प्राप्त करने मे सफलता नही मिली है।

उदाहरणार्थ, हेलेनी या यूनानी जगत् मे होमोनोइया (Homonoia) या मेल-जोल की दृष्टि दिखायी पडती है,—जो वह कर सकती थी जिसे हिंसक बल कभी न कर सकता था। यह मैत्री दृष्टि ४३१-४०४ ईसा-पूर्व एथीनो-पेलोपोनीशियाई युद्धारम्भ के साथ आने वाले संकटकाल के आध्यात्मिक दबाव के कारण, कतिपय दुर्लभ हेलेनी आत्माओ द्वारा असन्दिग्ध रूप से ग्रहण की गयी थी। आधुनिकोत्तर पाश्चात्य जगत् मे वही आदर्श १९१४-१८ के महायुद्ध के बाद राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) के रूप मे तथा १९३९-४५ के युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघटन के रूप मे मूर्तिमान् हुआ। विघटन के बाद सिनाई समाज मे प्रथम समाहरण हुआ। इस समाहरण के बीच सिनाई इतिहास मे आचार एवं अनुष्ठान की पारस्परिक संहिता के पुनरुदय के हेतु कनफ्यूशियस ने जो पवित्र उत्साह प्रदर्शित किया तथा जिस प्रकार 'ऊ वाइ' (wu wei) की अवचेतन शक्तियों की स्व-प्रसूत प्रक्रिया के लिए मुक्त क्षेत्र छोड देने में लाओ-त्जे के शान्तिवादी विश्वास ने काम किया वह अर्थात् दोनो ही बाते अनुभूति के ऐसे स्रोतो को स्पर्श करने की लालसा से प्रेरित हुई थी जो आध्यात्मिक सामञ्जस्य की मंगलकारिणी शक्ति के द्वार खोल दे। उस समय इन आदर्शों को कार्यशील संस्थाओं एवं रीतियो के रूप मे मूर्तिमान् करने के एकाधिक प्रयत्न किये गये थे।

राजनीतिक स्तर पर उद्देश्य था दोनों कठोर अतियों के बीच अर्थात् ग्राम्य-राज्यो के वीरान कर देनेवाले झगड़ो एवं तीव्र आघात द्वारा बलात् लागू की गयी

वीरानी की शान्ति के बीच एक मध्य मार्ग की खोज करना। जिन वज्रकठोर 'साइम्पुलगेडों' (Symplegades)[1] के टकराते जबडों ने उनके, जलयात्रा के लिए प्रयत्नशील प्रत्येक जलयान को ध्वस्त कर दिया था उनका सामना करने की सफलता का पुरस्कार शायद वही आर्गोनाटों (Argonauts) का, अबतक मानव जाति द्वारा नौपरिवहन के लिए अपरिचित खुले समुद्रों में, फट पडना था। किन्तु इतना तो स्पष्ट हो गया था कि यह समस्या किसी सघीय विधान (फेडरल कास्टिट्यूशन) के जादुई अभिलेख से हल नहीं की जा सकती। समाज-निकाय के ढाचे पर लागू की जाने वाली निपुण से निपुण राजनीतिक इंजीनियरी भी आत्माओं की आध्यात्मिक मुक्ति के विकल्प का स्थान नहीं ले सकती। राज्यों के युद्ध अथवा वर्गों के सघर्ष के निकटस्थ कारण एक आध्यात्मिक व्याधि के लक्षण मात्र थे। अनुभव की पुजीभूत पूजी ने बहुत पहिले ही यह प्रदर्शित कर दिया था कि दुष्टात्माओ के स्वयं अपने को और एक दूसरे को दु:ख पहुँचाने से कोई संस्था या रीति रोक नही सकती। यदि सभ्यता की प्रक्रिया मे ढलते मानव का भविष्य, सिर पर चमकते एक अनुपलब्ध एव अदृश्य शिला-फलक (ledge) के सामने खडी खतरनाक सीधी चट्टान पर कठोर उत्क्रमण के लिए इस शिखर के नष्ट नियन्त्रण की पुन उपलब्धि पर ही निर्भर है, तो यह भी उतना ही स्पष्ट है कि इस समस्या का निर्णय मनुष्य के अपने साथ एवं अपने संगी मानवो के साथ के सम्बन्ध पर ही निर्भर नही है वर सबसे अधिक उसके उद्धारक ईश्वर पर निर्भर है।

१. साइम्पुलगेड्स काला सागर के प्रवेश-द्वार पर स्थित दो चट्टानें थीं, जो बीच-बीच में एक दूसरे से टकरा-टकरा जाती थीं किन्तु आर्गो जहाज के गुजरते समय अपने-अपने स्थान पर स्थिर हो जाती थीं। दो प्रतियोगी व्यक्तियों या पक्षों के बीच का मार्ग। —अनुवादक

प्रकृति के नियमों के प्रति मानव-स्वभाव की उदासीनता

[दि रिकालसिटरेंस आफ ह्यूमन नेचर टु लाज आफ नेचर]

अपने मामलों पर नियन्त्रण रखने की मनुष्य की योग्यता के बारे में हमने जो साक्ष्य एकत्र किये हैं—फिर चाहे वे प्रकृति के नियमों की प्रवचना के रूप में हों अथवा अपनी सेवा में उनका उपयोग कर लेने के रूप में हों— उनसे यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि क्या ऐसी कुछ परिस्थितियाँ नहीं हो सकती जिनमें मानवीय व्यापार पर प्रकृति के नियम-कानून का बिल्कुल प्रभाव नहीं पड़ता। हम इस सम्भावना का अन्वेषण सामाजिक परिवर्तन की गति या दर की जाँच के रूप में आरम्भ करेंगे। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि गति के वेग में विभिन्नता है तो इससे एक सीमा तक प्रमाणित हो जायगा कि कम से कम काल-आयाम (टाइम डाइमैंशन) में तो मानवीय व्यापार प्रकृति के नियमों के प्रति विमुख हैं।

यदि यह सिद्ध हो जाता है कि इतिहास का वेग सब परिस्थितियों में एक-सा, स्थिर, रहता है—मेरा मतलब है, इस अर्थ में कि प्रत्येक युग या शताब्दी मनोवैज्ञानिक एवं सामाजिक परिवर्तन की एक निश्चित एवं समान प्रमात्रा (क्वैंटम) ही उत्पन्न करती दिखायी जा सके,—तो इससे यह निष्कर्ष निकल आयेगा कि हम या तो मनोवैज्ञानिक-सामाजिक मालिका की प्रमात्रा का मूल्य मालूम कर लें या फिर काल-मालिका में कालावधि का मूल्य निकाल लें तो हम दूसरी मालिका की सम्बन्धित अज्ञात मात्रा के विस्तार का हिसाब लगाने योग्य हो जायेंगे। यह धारणा मिस्री इतिहास के कम से कम एक प्रतिष्ठित छात्र-द्वारा प्रकट की गयी है। उन्होंने ज्योतिष द्वारा उपस्थित की गयी कालक्रमानुसारिणी तिथि (क्रानोलाजिकल डेट) को इस आधार पर अस्वीकार कर दिया कि उसे स्वीकार करने का अर्थ, उनके लिए इस अमान्य बात को स्वीकार कर लेना होगा कि मिस्री जगत् में सामाजिक परिवर्तन का वेग बाद वाले दो सौ वर्षों के युग में उससे कहीं अधिक गतिमान् था जितना कि वह इतने ही लम्बे इसके ठीक पहिले वाले युग में था। किन्तु यह प्रदर्शित करने के लिए अनेक परिचित उदाहरण सामने रखे जा सकते हैं कि जिस परिकल्पना से वह मिस्री विद्या का विशेषज्ञ कतराता था वह वस्तुत: एक ऐतिहासिक तथ्य है।

उदाहरण लीजिए : हम जानते हैं कि एथेंस का पार्थेनन पाँचवीं शती ईसापूर्व

में, हैड्रियन का ओलिम्पियन ईसा की दूसरी शती में और कुस्तुनतुनिया का सेंट सोफिया गिर्जाघर छठी शती ईसवी में निर्मित किये गये थे। जिस सिद्धान्त पर हमारे उक्त मिस्री विशेषज्ञ ने अपना पक्ष खड़ा किया है उसके अनुसार तो इन प्रथम एवं द्वितीय भवनों के निर्माण में उससे कहीं लघु मध्यान्तर होना चाहिए जितना कि दूसरे एव तीसरे भवनों के निर्माण-काल के बीच है क्योंकि पहिले और दूसरे भवन जबकि बहुत कुछ एक ही शैली के हैं तब दूसरे एवं तीसरे बिल्कुल भिन्न शैलियो पर बनाये गये है। किन्तु कतिपय अखण्डनीय तिथियाँ बताती है कि इस मामले मे दो मध्यान्तरो मे से अपेक्षाकृत लघु मध्यान्तर विभिन्न शैलियो पर बनी दूसरी-तीसरी इमारतों के बीच ही था।

यदि हम पश्चिम मे साम्राज्य के अन्तिम दिनो के रोमी सैनिक, पवित्र रोमन सम्राट ओटो प्रथम के सैक्सन सैनिक एव बेयू (Bayeux) चित्र-यवनिकाओ पर अंकित नार्मन सरदारो के उपस्करणो (equipments) के बीच के कालान्तरो का हिसाब लगाने मे पहिले से ही मान लिये गये इस सिद्धान्त का विश्वास करें तो इसी प्रकार विपथगामी हो जायगे। इस बात का विचार करते हुए कि ओटो के वीरो के गोलक बर्मे एव चतुष्कोण रिम वाले कलगीदार शिरस्त्राण पिछले रोमन सम्राट मेजोरियन के सैनिको के उपस्करणो के ही रूपान्तर मात्र थे, जबकि विजेता विलियम के सैनिक सर्मेशियाई शकुकाकार (conical) शिरस्त्राणो, शल्ककवच (scale armour) के कोटो तथा पतगाकृति ढालो से सज्जित थे। परिवर्तन की गति मे अपरिवर्तनीयता की परिकल्पना यहाँ भी हमे, तथ्यों के होते हुए, इस अनुमान की ओर ले जायगी कि ओटो प्रथम (राज्यकाल ९३६-७३ ई.) और विजेता विलियम (नार्मण्डी मे राज्यकाल १०३५-८७ ई) के बीच का अन्तर निश्चय ही उससे ज्यादा होना चाहिए जितना मेजोरियन (राज्यकाल ४५७-६१ ई०) एव ओटो के बीच का है।

इसी प्रकार जो कोई १७०० ई. एव १९५० ई मे पहिने जाने वाले मानक नागरिक पाश्चात्य पुरुष-परिधान का सिंहावलोकन करेगा वह एक ही झलक मे देख लेगा कि १९५० के कोट, वेस्टकोट, ट्राउजर (पतलून) एव छाता १७०० ई. के कोट, वेस्टकोट, ब्रिचेज एव खड्ग के रूपान्तर मात्र है और दोनो १६०० ई के डबलेट एव ट्रंक-होज परिधानों से बिल्कुल भिन्न हैं। इस उदाहरण मे, जो पहिले के दोनों उदाहरणों से विपरीत प्रकार का है, प्रथम एवं लघुतर कालावधि उत्तरकालिक एव लम्बे युग की अपेक्षा कहीं ज्यादा परिवर्तन का प्रदर्शन करती है। ये भावनाकारिणी कथाए हमे चेतावनी देती हैं कि परिवर्तन की गति की अपरिवर्तनीयता वाली परिकल्पना को उस समयान्तर का अनुमान करने का आधार नहीं बनाना चाहिए जो मानवीय अधिवास के मलबे की अनुक्रमिक तहों या परतो को किसी ऐसे प्रदेश में पुंजीभूत होने मे लगेगा जिसका इतिहास, लिखित विवरणों द्वारा प्रस्तुत कालानुसार तिथियो के अभाव मे, केवल पुरातत्त्वविद् के फावडे से निकाली हुई सामग्री के आधार पर ही लिखा जाना है।

इस परिकल्पना पर हमने जो प्रारम्भिक आक्रमण किया है उसकी पुष्टि अब हम कुछ उदाहरण देकर करेंगे। पहिले हम तीव्र गति वाले, फिर पिछडी गति वाले एव

अन्त में ऐसे उदाहरण लेंगे जिनमें गति क्षिप्रता एवं शिथिलता के बीच घूमा करती है।

क्षिप्र गति का एक परिचित उदाहरण है—क्रान्ति की घटना। जैसा कि हम इस अध्ययन के किसी पूर्व सन्दर्भ मे देख चुके हैं, यह दो ऐसे समुदायों के बीच होने वाली टक्कर से उत्पन्न एक सामाजिक गतिशीलता है जिनमे से एक दूसरे की अपेक्षा मानवीय कर्मशीलता के किसी न किसी क्षेत्र में आगे बढ़ा होता है। उदाहरणार्थ, १७८९ की फरासीसी क्रान्ति, अपनी प्रथमावस्था में, उस सवैधानिक प्रगति के समकक्ष होने के लिए रह-रहकर उठने वाले या दौरे के रूप में आने वाले प्रयत्न की भांति थी जो पड़ोसी ब्रिटेन पिछली दो शतियों में धीरे-धीरे करता रहा था। यहां तक कि जिस महाद्वीपीय पाश्चात्य उदारवाद (काटिनेंटल वेस्टर्न लिबरलिज्म) ने उन्नीसवीं शती में न जाने कितनी, अधिकांश निष्फल या अकालजन्मा, क्रान्तियों को जन्म दिया था, उसे कुछ महाद्वीपीय इतिहासकार ऐंग्लोमैनिया (आग्लोन्माद) नाम से पुकारने लगे थे।

त्वरण (Accelaration) का एक सामान्य प्रकार सभ्यता की सीमा मे जरा-जरा आने वाले सीमान्तवासियों (मार्चमैन) अथवा सीमा के बाहर वाले बर्बरों के आचरण में दिखायी पडता है, जो अपने ज्यादा विकसित पड़ोसियो के बराबर होने के लिए सहसा उत्साहित हो उठते हैं। इस अध्ययन के लेखक को वह छाप अच्छी तरह याद है जो १९१० ई. में स्टाकहाल्म के नारदिस्का मसीत को देखकर उस पर पडी थी। कमरों में स्कैन्देनेवियाई पुरा-पाषाणयुगीन (Palaeolithic), नव-पाषाण युगीन (Neolithic), कास्ययुगीन तथा प्राक्खीष्टीय लौहयुगीन संस्कृतियों के नमूने दिखाये गये थे। इन्हें देखता हुआ जब मैं उस कमरे में पहुंचा जिसमें इतालवी रिनैसा की शैली की स्कैन्देनेवियाई कलाकृतियां प्रदर्शित की गयी थी तो मैं चमत्कृत हो उठा। इस पर आश्चर्य करते हुए कि कैसे मध्यकाल की कृतियों को देखने में असफल रहा, मैं पीछे घूम गया। वहां निश्चय ही एक मध्यकालिक कक्ष था किन्तु वहा की सामग्री बहुत मामूली थी। तब मैंने अनुभव किया कि स्कैन्देनेविया एक ही झपट्टे मे, उस उत्तर लौह युग के पार निकल गया है जिसमें वह अपनी एक विशिष्ट सभ्यता का अर्जन करने ही लगा था और अब वह प्रारम्भिक आधुनिक युग में आ गया है, जिसमें वह मानकीकृत इतालवी पाश्चात्य खीष्टीय संस्कृति (स्टैण्डर्डाइज्ड इटालियनेट वेस्टर्न क्रिश्चियन कल्चर) का अविशिष्ट भागीदार बन गया है। क्षिप्रगतिशीलता के इस चमत्कार का आंशिक मूल्य उसे उस सास्कृतिक ह्रास के रूप मे चुकाना पड़ा है जिसका उदाहरण नारदिस्का मसीत ने हमारे सामने प्रस्तुत कर दिया था।

खीष्टीय संवत् की पन्द्रहवीं शती मे स्कैन्देनेविया की जो हालत हुई थी वही लेखक के अपने समय में पश्चिम की अन्धाधुन्ध नकल करनेवाले समस्त पाश्चात्येतर जगत् की हुई है। उदाहरण-स्वरूप, यह कहना बहुत सामान्य-सी बात होगी कि अफ्रीकी जनता, एक या दो पीढ़ी में ऐसी राजनीतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति को उपलब्ध करने की चेष्टा कर रही है जिसे प्राप्त करने में उन पश्चिमी यूरोपीय राज्यों को हजार या उससे भी ज्यादा वर्ष लग गये जिनकी नकल और प्रतिरोध दोनों अफ्रीका के लोग कर रहे हैं। वे अफ्रीका में हुई वास्तविक प्रगति को

बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहते हैं, ठीक वैसे ही जैसे कि पाश्चात्य दर्शक उनको घटाकर बताता है।

यदि क्रान्तिया इस तीव्र गतिशीलता की आकस्मिक अभिव्यक्तिया है तो गति-हीनता की दृश्य-घटना को समूह से अलग पड़ जाने वाले यात्री के मुख्य दल की चाल के साथ चलते रहने से इन्कार करने के रूप मे लिया जा सकता है। ब्रिटिश साम्राज्य के पश्चिमी भारतीय द्वीपो में दासप्रथा के समाप्त कर दिये जाने के एक पीढ़ी बाद भी उत्तरी अमेरिकी सघ (नार्थ अमेरिकन यूनियन) के दाक्षिणात्य राज्यो मे हठपूर्वक उसे बनाये रखना, इसी प्रकार का एक उदाहरण है। और भी उदाहरण उन उपनि-वेषकों (कालौनिस्ट्स) के वर्गों द्वारा उपस्थित किये गये जो 'नवीन देशो' मे प्रवास कर गये थे और वहां भी वही मान, वही जीवन-प्रणाली कायम कर रहे थे जो अपने देश का त्याग करते समय उनके घरो मे प्रचलित थी, यद्यपि उनके 'पुराने देश' के बन्धुओ ने उन मानो का त्याग कर दिया था और आगे बढ गये थे। इस तरह की बाते परिचित हैं और यहा सिर्फ बीसवी शती के क्वेक, एपेलेशियन अधित्यका (Appalachian highlands) तथा ट्रासवाल का जिक्र कर देना पर्याप्त है। इनकी तुलना इसी काल के फ्रास, अलस्टर एव नेदरलैंड्स से करने पर उक्त चित्र स्पष्ट हो जाता है। इस ग्रन्थ के पूर्व पृष्ठो मे गतिशीलता या त्वरण एव गतिहीनता या मन्दन (Retardation) दोनो के ही अनेक उदाहरण प्राप्त है। पाठक उन्हे स्वय ही स्मरण कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, यह स्पष्ट है कि जिसे हमने हीरोदियाई मत (हीरो-दियनिज्म) कहा है वह त्वरण का और जिसे हमने धर्मान्धता (जीलाटिज्म) कहा है वह मन्दन का पर्याय है। यह भी स्पष्ट है कि चूकि परिवर्तन अच्छा और बुरा दोनो हो सकता है इसलिए त्वरण का हर हालत में अच्छा होना या मन्दन का हर हालत मे बुरा होना आवश्यक नही है।

केवल दो नही निश्चित रूप से तीन बल्कि सम्भवत चार-चार युगो तक जाने वाले गति के एकान्तर परिवर्तनो (अल्टरनैटिंग चेंजेज) की श्रृखला का एक उदाह-रण पोत-निर्माण एवं नौपरिवहन (जहाजरानी) की कलाओ के आधुनिक पाश्चात्य इतिहास मे पाया जाता है। कथा का आरम्भ उस आकस्मिक त्वरण के साथ होता है जिसने १४४०-६० ई. तक के पचास वर्षों की अवधि मे इन कलाओ में क्रान्ति उप-स्थित कर दी। इस त्वरण के बाद ही मन्दन का युग आया जो सोलहवी, सत्रहवीं एवं अठारहवीं शतियों तक बना रहा और जिसके बाद, अर्थात् बड़ी लम्बी निष्क्रियता के बाद, १८४०-६० के पचास वर्षों मे पुन. आकस्मिक त्वरण का एक युग आया। १६५३ ई. के वर्ष मे आगे की अवस्था की बात करना कठिन है क्योंकि अभी तक वह युग चल ही रहा है, किन्तु एक सामान्य मनुष्य की आखों से तो यही दिखायी पड़ता है कि यद्यपि उस काल के बाद भी महत्त्वपूर्ण प्रौद्योगिक प्रगति होती रही है किन्तु वह विक्टोरियाई अर्द्धशती की क्रान्तिकारिणी उपलब्धियों की तुलना में बहुत कम ठहरती है।

"पंद्रहवीं शती में······पोत-निर्माण में तेज एव महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुआ।

······पचास वर्षों के समय में समुद्र-संतरणकारी पोत एक मस्तूल से तीन मस्तूल वाले हो गये जिनमे पाच या छः पाल लगाये जाते थे।''[1]

इस प्रौद्योगिकीय क्रान्ति ने उसके निर्माताओ को न केवल पृथिवी-मण्डल के सम्पूर्ण क्षेत्रो मे जाने की सुविधा प्रदान की, उसने उन सब पाश्चात्येतर नाविकों पर उनका वर्चस्व भी *स्थापित कर दिया जिनसे उनका सामना हो सकता था। नवीन पोत जिस विशिष्ट योग्यता मे अपने पूर्वगामियो एव अपने उत्तराधिकारियो दोनो से* बहुत आगे निकल गया था, वह थी असीमित अवधि तक, बिना किसी बदर पर डेरा डाले, सागर मे रह सकने की उसकी शक्ति। अपने जीवनकाल (flovuit) मे यह जहाज 'सर्वोत्कृष्ट' कहा जाता था। यह विविध प्रकार के ऐसे पारस्परिक ढाचो एव पाल-मस्तूलो के बीच एक सुखद सम्मेलन के फलस्वरूप निर्मित हुआ था जिनमे से हर एक की अपनी-अपनी विशेषताए एव सीमाए थी। १४४० एव १४६० ई के बीच जिस पाश्चात्य पोत का जन्म हुआ उसमे बहुत दिनो से चले आते भूमध्यसागरीय पतवार-प्रचलित लम्ब-पोत (लाग शिप) उपनाम 'गैली' (जिसमे तीन विशिष्ट प्रकार के पाल वाले जहाज सम्मिलित थे), समकालिक सरल मस्तूलवाले भूमध्यसागरीय गोल पोत (राउड शिप) उपनाम 'कैरक' त्रिभुजाकार पाल वाले भारतीय महासागरीय पोत 'कारावेल' (जिसका एक बहुत प्राचीन रूप महारानी हत्शेपसुत—१४८६-६८ ईसापूर्व—के राज्यकाल मे पूर्वी अफ्रीका के पुत प्रदेश पर हुए मिस्री समुद्री अभियान के चाक्षुप अभिलेखो मे मिलता है) तथा वृहदाकार अतलान्त सागरीय पाल-प्रचलित पोत (जिस पर बाद मे ब्रिटानी नाम के विख्यात प्रायद्वीप पर अधिकार करते समय ५६ ईसापूर्व सीजर की निगाह पड़ी थी) सब के श्रेष्ठ गुणों का समन्वय किया गया था। उपर्युक्त चारो प्रकार के पोतो के सर्वोत्तम गुणो से युक्त जहाज का वह नया *नमूना पन्द्रहवी शती के अन्त तक तैयार हो गया था, और उस समय के समुद्र मे* चलने वाले सर्वश्रेष्ठ जहाजो तथा नेलसन के काल के जहाजो मे तत्वतः विशेष अन्तर नही था।

फिर साढ़े तीन शतियो के मन्दन के पश्चात् पोतनिर्माण की पाश्चात्य कला मे त्वरण का दूसरा ज्वार आया, और इस बार दो समानान्तर रेखाओ पर एक साथ रचना का काम तेजी के साथ हुआ। एक ओर तो पाल-पोत का स्थान वाष्प-पोत (स्टीम इंजिन) ने ले लिया साथ ही साथ पाल-प्रेरित जहाजों के निर्माण की कला भी अपनी लम्बी नीद से जग उठी और उसने पुराने ढग के पोत को एक ऐसी नवीन और अबतक अकल्पित पूर्णता पर पहुचा दिया जिसके कारण पाल-प्रेरित पोत पूरी रचनात्मक अर्द्धशती (१८४०–६० ई) मे वाष्प-पोत की प्रतियोगिता में खड़ा रह सका।

ये त्वरण एव मन्दन गति की उस एकरूपता के आश्चर्यजनक व्यतिक्रम हैं जिनकी

[1] **बेसेल-लाउके, जे. डब्लू. ऐंड हालैंड. जो. : 'शिप्स ऐंड मेन' (लन्दन, १६४६, हैरप) पृष्ठ ४६**

आशा प्रकृति के नियमो से पूर्णत. नियन्त्रित समाजों मे की जाती है। अब यदि हम इन त्वरणो एवं मन्दनों का स्पष्टीकरण ढूढना चाहे तो वह हमे चुनौती एवं उत्तर (चैलेंज ऐंड रिसपास) के उस सूत्र मे प्राप्त हो जायगा जिसका परीक्षण एव निरूपण हम इस अध्ययन के किसी पूर्वभाग मे कर चुके हैं। उस समय हमने जिस अन्तिम मामले अर्थात् पाश्चात्य पोत-निर्माण एवं नौपरिवहन के इतिहास के दो महत् त्वरणो एव उन के बीच मन्दन की एक लम्बी कालावधि का वर्णन किया था, उसे ही ले लीजिए।

१४४०–९० की अर्द्धशती के बीच जिस चुनौती ने आधुनिक पाश्चात्य पोत की सृष्टि को प्रेरणा दी वह राजनीतिक थी। मध्ययुग की समाप्ति के लगभग पाश्चात्य खीष्टीय जगत् न केवल दक्षिणपूर्व दिशा मे दारुल इस्लाम (मतलब जिहाद या क्रूसेड्स) मे फट पडने के अपने प्रयत्न मे असफल हो गया अपितु डैन्यूब एव भूमध्यसागर के मार्गों से होने वाले तुर्कों के प्रत्याक्रमण से गभीर सकट मे पड़ गया। इस समय इस तथ्य के कारण पश्चिम की स्थिति के लिए खतरा बढ़ गया कि पाश्चात्य खीष्टीय समाज ने यूरेशियाई महाद्वीप के प्रायद्वीपो मे से एक के सिरे पर अपना अधिकार जमा रखा था, ऐसी खतरनाक स्थिति मे पडे समाज का देर-सबेर पुरानी दुनिया के हृदय-देश से बाहर की ओर फैलती अधिक प्रबल शक्तियो के दबाव से, समुद्र मे धकेला जाना स्वाभाविक ही था। यदि समय रहते आक्रान्त समाज अपनी रुद्ध गली को तोड़कर दूसरे विस्तृत मैदानो मे निकल जाने की दूरदर्शिता न दिखाता तो खतरा और बढ जाता, और इस्लाम के हाथो उसे वही दुर्दशा भोगनी पड़ती जो अनेक शतियों पूर्व उसने स्वय सैल्टिक किनारे (सैल्टिक फ्रिंज) के अकालप्रसूत सुदूर पाश्चात्य खीष्टीय जगत् पर गिरायी थी। जिहादो—क्रूसेड्स मे लातीनी ईसाइयो ने भूमध्यसागर को अपने युद्धमार्ग के रूप मे चुना और परम्परागत भूमध्यसागरीय ढाँचे के जलपोतो से उसे पार किया। यह सब उन्होने इसीलिए किया कि वे अपने खीष्टीय धर्म की जन्मभूमि को हस्तगत करने की कामना से पेरित थे। वे असफल हो गये, और इसके बाद इस्लाम का जो भयप्रद अग्रसरण हुआ उसने इस्लाम के असफल पाश्चात्य शत्रुओ को कुवा और खाई, शैतान एव गहन समुद्र के बीच मे डाल दिया। उन्होने गहन समुद्र को चुना और नवीन पोत को जन्म दिया। इसका जो परिणाम हुआ, वह पोर्चुगीज राजकुमार हेनरी नौ-परिवाहक (हेनरी दि नेवीगेटर) के सबसे आशावादी शिष्यो की उन्मत्त कल्पनाओ से भी आगे निकल गया।

इस्लाम की चुनौती का पन्द्रहवी शती के पाश्चात्य पोत-निर्माता ने जो उत्तर दिया उसकी आत्यन्तिक सफलता ही उन लम्बे मदन का स्पष्टीकरण उपस्थित करती है जो पाश्चात्य पोत-निर्माता के व्यवसाय मे आ गया था। इस क्षेत्र मे दूसरी बार जो त्वरण का ज्वार आया उसका एक बिल्कुल ही दूसरा कारण था—अर्थात् वह नयी आर्थिक क्रान्ति जिसने अठारहवी शती के अन्तिम भाग मे पाश्चात्य यूरोप के भागो को प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। इस क्रान्ति की दो मुख्य बाते थी—बढ़े हुए वेग से जनसंख्या की आकस्मिक वृद्धि और कृषि की अपेक्षा व्यापार तथा निर्माणशील उद्योगों का अधिक विकास। यहा हम उन्नीसवी शती के उस पाश्चात्य औद्योगिक

विस्तार तथा समकालिक जनसंख्या-वृद्धि की जटिल परन्तु सुपरिचित कहानी के फेर में पड़ने की आवश्यकता नहीं समझते जिसने न केवल पश्चिम की पश्चिमी यूरोपीय पुरानी दुनिया में विविध मातृभूमियों के अधिवासियों की संख्या गुणित कर दी वरं पाश्चात्य अग्रगामियों ने जिन नवीन देशों पर अधिकार कर लिया था उनके खुले मैदानों को भरना एवं बसाना भी शुरू कर दिया। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि पोत-निर्माताओं ने चुनौती का वैसा ही हार्दिक और प्रभावशाली उत्तर न दिया होता जैसा उन्होंने चार सौ साल पहिले दिया था तो सामुद्रिक परिवहन उलटा गत्यवरोधकारी सिद्ध होता और उसने इन विकास-कार्यों का गला घोंट दिया होता।

हमने अपना उदाहरण मानव व्यापार के मौलिक क्षेत्र से चुना है : एक उद्योग-विशेष में आने वाली कतिपय चुनौतियों के कतिपय अनुक्रमिक प्रौद्योगिकीय उत्तर, जिनमें से प्रथम राजनीतिक एवं सैनिक और दूसरा आर्थिक एवं सामाजिक है। किन्तु समस्त माप-रेखा के ऊपर और नीचे चुनौती एवं उत्तर का सिद्धान्त एक ही रहा है—फिर चाहे वह रोटी के लिए चीखते खाली पेटों की चुनौती रही हो या ईश्वर के लिए छटपटाती भूखी आत्माओं की चुनौती रही हो। परन्तु वह चाहे जो हो, चुनौती सदा ही मानवात्माओं के लिए ईश्वर की ओर से चुनाव की स्वतन्त्रता का उपहार रही है।

ईश्वर का कानून

इस अध्ययन के वर्तमान भाग मे हम उस सम्बन्ध का अन्तर्दर्शन करने का प्रयत्न कर रहे है जो इतिहास के अन्तर्गत विधि (कानून) और स्वतन्त्रता के बीच है, और यदि हम अपने सवाल की ओर लौटते है तो मालूम पडता है कि हमे जवाब पहिले ही मिल चुका है। स्वतन्त्रता का कानून से क्या सम्बन्ध है ? हमारे साक्ष्य की घोषणा यह है कि मनुष्य सिर्फ एक ही कानून के नीचे जीवन नही बिताता; वह दो कानूनो के शासन मे रहता है, और दोनो मे से एक है ईश्वर का कानून, जो एक दूसरे तथा अधिक प्रकाशपूर्ण नाम के साथ स्वय स्वतन्त्रता ही है।

जैसा कि सत जेम्स अपने धर्म-पत्र मे कहते हैं, 'स्वतन्त्रता का पूर्ण नियम' प्रेम का नियम भी है; क्योंकि मानव की स्वतन्त्रता मानव को एक ऐसे ही ईश्वर द्वारा दी जा सकती थी जो प्रेम की मूर्ति हो। और मृत्यु तथा अमंगल की जगह जीवन एव मगल को चुनने के लिए, मनुष्य-द्वारा इस दैवी उपहार का उपयोग तभी किया जा सकता है जब मनुष्य भी अपनी ओर से ईश्वर से प्रेम करने के लिए प्रेरित हो और ईश्वरेच्छा को अपनी इच्छा बनाकर अपने को उसके प्रति समर्पित कर दे।

Our wills are ours, we know not how,
Our wills are ours, to make them thine ?[1]

"हमारी इच्छाएं हमारी हैं : हम नहीं जानते कि किस प्रकार, जो इच्छाएं हमारी हैं, उन्हें तुम्हारी बना दें।"

ये जो सफल कामनाए है मेरी, हे मेरे प्रभुवर !
नही जानता कैसे उनको कर पाऊंगा मैं सत्वर,—
ये जो सब मेरी इच्छाए मुझ में ही रहती तत्पर
वे कैसे हो जायें तुम्हारी, यही बता दो हे ईश्वर।[2]

"इतिहास·········और सब बातो के ऊपर, एक पुकार है, एक आह्वान है एक भगवद्विधान है, जिसे स्वतन्त्र मानव सुनते है और उसका उत्तर देते है : सक्षेप मे

[1] **टेनीसन : 'इन मेमोरियम' इन्वोकेशन (आवाहन) में**
[2] **अनुवादक-कृत अनुवाद**

वह ईश्वर एवं मनुष्य के बीच की अन्त:क्रिया है ।"[१] प्रमाणित यह होता है कि इतिहास मे कानून एवं स्वतन्त्रता दोनो एक ही वस्तु है—इस अर्थ में कि मानव की स्वतन्त्रता अन्त में ईश्वर का कानून ही सिद्ध होती है; उस ईश्वर का कानून जो प्रेम-स्वरूप है। किन्तु इस उपलब्धि से हमारी समस्या हल नहीं होती, क्योंकि अपने मूल प्रश्न का जवाब देते हुए हमने एक नया प्रश्न खडा कर दिया है। इस जानकारी के द्वारा कि स्वतन्त्रता कानून की दो सहिताओं मे से एक की समरूपिणी है, हमने यह सवाल खड़ा कर दिया कि दोनों सहिताओ का परस्पर क्या सम्बन्ध है ? प्रथम दृष्टि से देखने पर इसका उत्तर यह दीख पडता है कि प्रेम का कानून और अवचेतन मानव-प्रकृति का कानून, जिन दोनो का मानवीय कार्य-व्यापार पर शासन है, न केवल भिन्न हैं वर परस्पर प्रतिकूल, यहाँ तक कि एक दूसरे के लिए असंगत भी, हैं, क्योंकि अवचेतन मानस का कानून उन आत्माओ को बन्धन मे रखता है जिन्हे ईश्वर ने स्वतन्त्रतापूर्वक अपने साथ कार्य करने का आदेश कर रखा है। जितनी ही अन्वेषणकारिणी वृत्ति से हम दोनो कानूनों की तुलना करते हैं उतना ही नैतिक भेद दोनों के बीच दिखायी पडता है। जब हम प्रेम के कानून के मान पर प्रकृति के कानून को तौलते हैं और प्रकृति ने जो कुछ निर्माण किया है उसे प्रेम की आँखो से देखते है तब वह सब बड़ा बुरा दीख पडता है।

Ay, look : high Heaven and Earth all from the prime foundation
All thoughts to rive the heart are here, and all are vain. [२]

देखो, उधर स्वर्ग ऊंचा सा और धरित्री का अंचल ।
आधनीव से व्यथित कर रहे है जीवन को ये प्रतिपल ।
हृदय विदारण करने वाली चिन्ताएं एकत्र यहा,
जो कुछ है वह सभी वृथा है जीवन मे आनन्द कहा ? [३]

जगत् की नैतिक बुराई के मानवीय पर्यवेक्षकों ने जो निष्कर्ष निकाले हैं उनमें से एक यह है कि यह विभीषिकाओं का कक्ष किसी प्रकार ईश्वर की कृति नही हो सकता। एपीक्यूरियनों (इन्द्रियसुखानुरागियो) का विचार था कि यह अविनाशी अणुओ के आकस्मिक संगम का अलिखित निष्कर्ष है। इसके विपरीत ईसाई अपने को इन दोनों विकल्पों मे से किसी एक को ग्रहण करने के लिए लाचार पाता है और दोनों ही विकल्प दारुण रूप से व्यग्रकारी हैं : या तो जो ईश्वर प्रेम (रूप) है वही इस प्रकटत: अस्वस्थ जगत् का स्रष्टा है, या फिर यह जगत् किसी दूसरे ईश्वर द्वारा रचित हुआ होगा जो प्रेम का ईश्वर नही है।

ख्रीष्टीय सवत् की दूसरी शती के प्रारम्भ में नास्तिक मार्किओन (Marcion) और उन्नीसवी शती के प्रारम्भ मे कवि ब्लेक, दोनो ने ही इन विकल्पों में से पिछले

१ लैम्पर्ट, ई. : 'दि एपोकॅलाइप्स आफ हिस्ट्री' (लन्दन १९४८, फेबर) पृष्ठ ४५
२ हाउसमैन, ए. ई. : 'ए श्रोपशायर लैड' ४८
३ अनुवादक-द्वारा हिन्दी पद्यान्तर

विकल्प को ग्रहण किया। इस नैतिक समस्या के लिए उनका समाधान सृष्टि को एक ऐसे ईश्वर से सम्बद्ध कर देना था जो न तो प्रेम करने वाला है और न प्रेम किये जाने योग्य है। जबकि त्राता ईश्वर (Saviour Cod) प्राणियो पर प्रेम से विजय प्राप्त करने वाला है, स्रष्टा ईश्वर अपना एक कानून बलात् लागू करने वाला है और उस कानून के भग के लिए कठोर दण्ड ने वाला है। यह व्यथाकारी और कठोरता के साथ काम लेने वाला ईश्वर, जिसे मार्किओन ने मूसाई जेहोवा (Mosaic Jehovah) के रूप मे देखा था और जिसे ब्लेक यूरीजेन (Urizen) नाम देता है, तथा 'नोबोडैडी' (परमपिता) उपनाम से पुकारता है, यदि अपने सीमित ज्ञान के अनुसार कुशलतापूर्वक अपना कर्त्तव्य पालन करता है तो निश्चय ही काफी बुरा है, किन्तु वह अपने कर्त्तव्य पालन में असफल रहने के लिए कुख्यात है और उसकी असफलता या तो उसकी अयोग्यता के कारण होनी चाहिए या फिर उसके दौरात्म्य के कारण। प्रकटत. तो विश्व के पापो एव विश्व के कष्टो के बीच किसी प्रकार का समझ मे आने लायक सम्बन्ध नहीं जान पडता।

इस बात की पुष्टि करने मे कि सृष्टि बुराई के साथ बँधी हुई है, मार्किओन दृढ भूमि पर स्थित है किन्तु जब वह कहता है कि उसका भलाई और प्रेम से किसी प्रकार का भी सम्बन्ध नही है तब वह बड़ी दुर्बल भूमि पर खड़ा दिखायी पड़ता है। क्योंकि सत्य तो यह है कि ईश्वर का प्रेम ही मानव की स्वतन्त्रता का उद्गम है, और जो स्वतन्त्रता सृष्टि की ओर प्रेरित करती है, वह वैसा करके पाप का द्वार खोल देती है। प्रत्येक चुनौती को समान रूप से ईश्वर की ओर से आवाहन या असुर (डेविल · खीष्टीय मत में ईश्वरविमुखता का प्रतीक) के प्रलोभन के रूप मे लिया जा सकता है। ईश्वर के ऐक्य को अस्वीकार करके ईश्वर के प्रेम के प्रतिपादन का जो प्रयत्न मार्किओन ने किया वह तो आरिनेइयस के उस विचार से भी ज्यादा गलत मालूम पडता है जिसमे उसने स्रष्टा एव उद्धारकर्ता (क्रियेटर ऐंड रिडीमर) के ऐक्य का प्रतिपादन करके ईश्वरत्व के दो ऐसे प्रकाशावतरणो (Epiphany) को एक समझ लिया है जो मानवीय दृष्टिकोण से, नैतिक रूप मे सर्वथा बेमेल है। फिर तार्किक एव नैतिक विरोधाभास के सत्य के सम्बन्ध मे ईसाई मत के अनुभव का जो प्रमाण है, आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान ने भी आश्चर्यजनक रूप से उसकी पुष्टि कर दी है। ईश्वर के दो बेमेल रूपो को मिला देने के प्रयत्न की जिस यन्त्रणा ने एक ऐसे पूर्ववर्ती सघर्ष मे पहिले ही अवचेतन मानस को पीड़ित किया था जिसके बीच से भावी सत एव विद्वान के नैतिक व्यक्तित्व की उपलब्धि मूलत उस प्राथमिक शैशवावस्था मे हुई थी जिसमे आत्मा के जगत् मे ईश्वर का भावी स्थान शिशु सन्तान की माता ने ग्रहण कर लिया था।

"अपने प्रसवोत्तर जीवन के दूसरे साल के आरम्भ में, ज्यों ही शिशु अपने और बाह्य वास्तविकताओं के बीच भेद करना शुरू करता है, तो यह मां ही होती है जो बाह्य जगत् का प्रतिनिधित्व करती है और शिशु के साथ उसके सम्पर्कों का माध्यम बन जाती है। किन्तु यह मां शिशु की उभरती हुई चेतना पर दो

विरोधी रूपों में प्रकाशित होती है। एक ओर तो वह शिशु के प्रेम की मुख्य पात्र है और उसके सन्तोष, सुरक्षा एवं शान्ति का स्रोत है। किन्तु दूसरी ओर वह सत्तारूपिणी भी है; वह उस शक्ति का मुख्य स्रोत है जो शिशु पर रहस्यपूर्ण ढंग से छायी हुई है और उसके कुछ ऐसे मनोवेगों के प्रति निरंकुश रूप से बाधक है जिनकी राह पर उसका नव-जीवन बाहर जिज्ञासु होकर निकलना चाहता है। शैशवीय मनोवेगों की भग्नाशा (Frustration) क्रोध, घृणा एवं अन्य विध्वंसकारिणी इच्छाओं को, जिन्हें मानस- शास्त्री सामान्यतः अग्रधर्षण (Agression) के नाम से पुकारते हैं, जन्म देती है और ये सब प्रतिरोधक सत्ता के विरुद्ध प्रकाशित होती हैं। किन्तु यही घृणा की जाने वाली सत्ता, प्रेम की जाने वाली माँ भी है। इस प्रकार शिशु को एक आदिम अन्तर्द्वन्द्व का सामना करना पड़ता है। उसके मनोवेगों के दोनों बेमेल वर्ग एक ही पात्र की ओर संचालित होते हैं, और वह पात्र ही उसके चतुर्दिक के विश्व का केन्द्र भी है।"[1]

इस प्रकार, एक मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के अनुसार, प्रौढ़काल का नैतिक द्वन्द्व अवचेतन रूप से, प्रारम्भिक शैशव मे ही दिखायी पड़ जाता है, तथा प्रौढ़ों के सघर्ष की भांति ही शिशु के सघर्ष में आध्यात्मिक विजय अपना आध्यात्मिक मूल्य चुका लेती है। "आदिमकालिक प्रेम आदिमकालिक घृणा को आद्य अपराध के भार से बोझिल करके जीत लेता है।"[2] और इस प्रकार मनोविज्ञान इस मार्किओन-विरोधी इरीने-इयाई ख्रीष्टीय निष्कर्ष (Irenaean anti-Marcionite Christian Fcinding) का समर्थन करता है कि प्रेम एवं घृणा, पुण्यशालिता एव पापपूर्णता सृष्टि-शृखला-द्वारा एक दूसरे के साथ अविच्छेद्य रूप से जुड़ी हुई हैं :—

"माता के बिना किसी देहधारी पदार्थ पर प्रबल प्रेम केन्द्रित नही किया जा सकता, ऐसे प्रेम के बिना बेमेल प्रभावो का कोई सघर्ष नही हो सकता, कोई अपराध नही हो सकता; और ऐसे अपराध के बिना कोई प्रभावकारी नैतिक बोध नही उग सकता।"[3]

[1] हक्सले, जे. : एवोल्यूशनरी एथिक्स, दि रोमेंस लेक्चर, १९४३, हक्सले टी. एच. एवं जे. के 'एवोल्यूशन ऐण्ड एथिक्स' १८९३—१९४३ (लन्दन १९४७, पाइलट प्रेस) पृष्ठ १०७ पर पुनर्मुद्रित

[2] वही पृष्ठ ११०

[3] वही

१२. पाश्चात्य सभ्यता की सम्भावनाएं

३९

इस अनुसन्धान की आवश्यकता

इस अध्ययन के वर्तमान खण्ड को लिखने के लिए जब लेखक ने कलम पकड़ी तभी से वह अपने इस स्वेच्छाकृत कार्य के प्रति एक प्रकार की अरुचि का अनुभव करता रहा है। यह अरुचि विषय की किन्हीं काल्पनिक कठिनाइयो के कारण उत्पन्न होने वाली स्वाभाविक झिझक से कुछ अधिक है। इतना तो स्पष्ट था कि १९५० ई. में की हुई भविष्यवाणिया, पाण्डुलिपि के मुद्रित एव प्रकाशित होने के बहुत पहिले ही, घटनाओं-द्वारा मिथ्या प्रमाणित हो सकती हैं। फिर भी यदि अपने को हास्यास्पद बना लेने के खतरे की भावना लेखक के मन मे प्रधान होती तो उसने निश्चय ही उसको इस अध्ययन का कोई भी खण्ड लिखने मे विरत कर दिया होता। और ग्यारह बन्धकों (Hostages—यहां पुस्तक के खण्डो या भागो के प्रति सकेत है) को भाग्य के भरोसे छोड देने के बाद उसने जो बारहवा भाग लिखने की जिम्मेदारी अपने कन्धे पर उठायी है, उसमें केवल इस विचार ने उसके हृदय को बल दिया है कि आज की तिथि में पाश्चात्य सभ्यता की सम्भावनाएं उससे कही कम स्पष्ट रह गयी हैं जितनी वे उस समय थी जब १९२९ ई. के प्रारम्भिक महीनों में इस भाग के लिए वह वे मूल टिप्पणिया लिख रहा था जो उसकी कुहनियो के नीचे पडी हुई हैं। उस समय जो महनी मन्दी (दि ग्रेट डिप्रेशन) द्वितीय विश्व-युद्ध और अपने अनेक परिणामो के साथ शुरू होने ही वाली थी, १९५० के बहुत पहिले ही उस भ्रम को पूर्णतः बहा ले गयी जो १९२९ ई. मे प्रचलित था और जिसके अनुसार यह धारणा प्रचलित हो गयी थी कि सामान्यतः १९१४ के पूर्व वस्तुओं की जो स्थिति थी उससे तत्कालीन स्थिति कुछ बहुत भिन्न नही है।

इसलिए यदि यह भविष्य-कथन कि कठिनाइयो से त्राण पाने की ही बात होती तो इतिहास के दो दीप्तिकारी युगों के अन्तःकालिक अवस्थान से बहुत कुछ दूर हो गयी होती। किन्तु उसकी अनिच्छा का पाश्चात्य सभ्यता की सम्भावनाओ के अनुमान की कठिनाई से या तो बहुत कम सम्बन्ध है या कुछ भी सम्बन्ध नही है। इसकी जड़ तो इस अध्ययन में अपनाये गये मार्ग के एक मुख्य सिद्धान्त को त्याग देने की उसकी हिचकिचाहट में है। वह इस भय से पीडित है कि उसकी समझ से जिस दृष्टि-कोण को अपनाकर ही समाज की उन प्रजातियों के समस्त इतिहास को यथार्थ संदर्श

(पर्सपैक्टिव) में देखना सम्भव था, पाश्चात्य सभ्यता जिसकी एक प्रतिनिधि थी, उसे शायद वह छोड़ रहा है। और इस पाश्चात्य दृष्टिकोण के औचित्य में उसका विश्वास, उसकी अपनी प्रज्ञा के अनुसार, उन दो युगों के परिणामों से और पुष्ट ही हुआ है जिनमे वह एक पाश्चात्येतर दृष्टिकोण से इतिहास के मानचित्र को पढ़ने का प्रयत्न करता रहा है।

जिस एक उद्दीपन ने लेखक को वर्तमान अध्ययन का भार उठाने को प्रेरित किया, वह पिछले खेवे की उस आधुनिक पाश्चात्य परम्परा के प्रति विद्रोह था जिसमें पाश्चात्य समाज के इतिहास को दीर्घाक्षरों में अंकित इतिहास (History) शब्द का समरूप मान लिया गया था। उसे लगा कि यह परम्परा एक ऐसे विकृतिकारी अहंकेन्द्रिक भ्रम (डिस्टॉटिंग ईगोसैंट्रिक इल्यूजन) की सन्तति है जिसके पाश में अन्य सब ज्ञात सभ्यताओं तथा आदिमकालिक समाजों के बच्चों की भांति, पाश्चात्य सभ्यता के बच्चे भी फँस गये हैं।[1] इस अहंकेन्द्रिक मान्यता के त्याग का सर्वोत्तम

[1]. जब १९३५ ई० में इस संक्षिप्त संस्करण का सम्पादक किलीमंजारो शिखर की ढलान पर ठहरा हुआ था तो उसे प्रथम विश्व-युद्ध का वह कारण बताया गया जो उस पर्वत के दक्षिण भाग में रहने वाले छग्गा कबीले द्वारा समझा जाता था। किलीमंजारो पर पहिली बार एक जर्मन डा. हंसमेयर ने १८८९ ई. में चढ़ने में सफलता प्राप्त की थी। जब वह चोटी के सिरे पर पहुँच गया तो उसे वहां पर्वत का देवता मिला। वह खुशामद से, जो पहिले उसे कभी न मिली थी, इतना प्रसन्न एवं सन्तुष्ट हुआ कि योग्य जर्मन पर्वतारोही एवं उसके संगी देश-वासियों को सारा छग्गा देश ही दे दिया। परन्तु उसकी एक शर्त थी कि आरोही के देशबन्धुओं में से किसी न किसी को हर वर्ष (या प्रति पांचवें वर्ष) पर्वत पर आरोहण करना होगा और उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना होगा। सब कुछ ठीक तरह से चलता गया। जर्मनों ने जर्मन पूर्वी अफ्रीका पर अधिकार कर लिया और जर्मन पर्वतारोहियों का एक दल, उचित मध्यान्तर पर आरोहण करता रहा। यह क्रम १९१४ के पहिले तक चलता रहा। १९१४ ई. में इस विषय में एक अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण कर्तव्य-च्युति हो गयी। ठीक ही पर्वत का देवता बड़ा उत्तेजित हुआ और उसने अपना उपहार वापिस ले लिया और वह देश जर्मनों के शत्रुओं को दे दिया। इन लोगों ने जर्मनों के प्रति युद्ध की घोषणा कर दी और उन्हें निकाल बाहर किया। विश्व के पूर्वी अफ्रीकी हृदय में छिड़े इस आंग्ल-जर्मन युद्ध ने, युद्धों के मार्ग के अनुसार ही, प्रसंगवश, अपेक्षाकृत महत्त्वरहित सुदूर क्षेत्रों में लड़ाई के कुछ गौण शक्ति-परीक्षण का प्रदर्शन किया।

प्रथम विश्व-युद्ध का छग्गाओं द्वारा दिया गया यह विवरण, इसके दूसरे विवरणों जितना ही ठीक है। बल्कि वह कुछ से अच्छा है,—इस बात में कि कम से कम वह इतिहास में धर्म द्वारा किये गये अभिनय के महत्त्व को स्वीकार तो करता है।

उपाय उसे यह लगा कि वह इसके विपरीत यह मान्यता ग्रहण कर ले कि समाज की किसी प्रजाति के समस्त प्रतिनिधि दार्शनिक दृष्टि से एक दूसरे के बराबर हैं। तब लेखक ने विपरीत मान्यता को ग्रहण कर लिया और वर्तमान अध्ययन के प्रथम छः भागो तक तो उसे यही अनुभव होता रहा कि उसके प्रति उसकी निष्ठा उचित है। अपने सातवें भाग मे एक ऐसे परीक्षण के साक्ष्य पर सभ्यताओं के मूल को उसने अपर्याप्त पाया, जिसमें धर्म के इतिहास में उनके विभगो एव विघटनो द्वारा किये गये अभिनय को कसौटी के पत्थर के रूप मे प्रयोग किया गया था, किन्तु इस जाच का परिणाम था उसी पाश्चात्य सभ्यता की फिर से प्रशंसा करना। इसके विपरीत परीक्षण से मालूम यह होता था कि सबसे उच्चस्तरीय एवं गौरवशाली सभ्यताए द्वितीय पीढ़ी की—सीरियाई, इंडिक, हेलेनी और सिनाई—सभ्यताए थीं। यह बात मैं एक ऐसे पर्यवेक्षक के दृष्टिकोण से कह रहा हू जिसने इस जगत् से गुजर रही मानवात्माओ के लिए आध्यात्मिक सुविधाओ की सयोजना मे निरन्तर वृद्धि को ही इतिहास की पथदर्शन-रेखा के रूप मे देखा हो।

इस दृष्टिकोण को ग्रहण कर लेने के बाद एक मात्र पाश्चात्य सभ्यता का विशेष वर्णन करने के प्रति लेखक के मन मे मूलतः जो हिचकिचाहट थी वह और दृढ हो गयी। फिर भी जो खाका मूलतः १९२७-२९ में खींचा गया था, १९५० मे उसका पालन करने के निर्णय में लेखक उन तीन तथ्यों के तर्क के आगे सिर झुका रहा है जिनका औचित्य बीच के इन वर्षों मे जरा भी नष्ट नही हुआ है।

इन तीन तथ्यों मे से एक यह है कि ख्रीष्टीय संवत् की बीसवी शती के द्वितीय चतुर्थांश मे पाश्चात्य सभ्यता ही अपनी प्रजाति की ऐसी एकमात्र विद्यमान प्रतिनिधि थी जिसके विघटन की प्रक्रिया मे होने के कोई निर्विवाद लक्षण नही दिखायी पडते थे। दूसरी जो सात सभ्यताए थी उनमे से पाच (परम्परानिष्ठ सनातन ईसाई धर्मक्षेत्र की मुख्य सस्था एवं उसकी रूसी उपज, सुदूरपूर्वीय सभ्यता की मुख्य संस्था एव उसकी कोरियाई तथा जपानी शाखाएँ, तथा हिन्दू सभ्यता) न केवल अपनी सार्वभौम राज्य वाली अवस्था में प्रविष्ट हो चुकी थी बल्कि उससे गुजर चुकी थी, और ईरानी तथा अरबी मुस्लिम सभ्यताओ के इतिहासो की जाच से पता लगा कि ये दोनो समाज भी भग हो चुके थे। केवल पाश्चात्य सभ्यता ही अबतक अपनी विकासावस्था में थी।

दूसरा तथ्य यह था कि पाश्चात्य समाज के प्रसार एव पाश्चात्य संस्कृति के प्रकाश या विकिरण ने अन्य सब प्रचलित सभ्यताओ तथा वर्तमान आदिम समाजो को पाश्चात्य रग चढाने वाले एक ही विश्वव्यापी दायरे मे ला खड़ा किया है।

तीसरा तथ्य, जिसने इस अनुसन्धान को आवश्यक बना दिया यह आतंकित करने वाला तथ्य था कि मानव जाति के इतिहास मे पहिली बार सम्पूर्ण मानवता के अडे एक ही मूल्यवान् और अनिष्टकर टोकरी मे एकत्र कर दिये गये है।

Gone are the days when madness was confined,
By seas or hills from spreading through Mankind.

When, though a Nero fooled upon a String,
Wisdom still reigned unruffled in Peking;
And God in welcome smiled from Buddh's face,
Though Calvin in Genoa preached of grace.
For now our linked up globe has shrunk so small,
One Hitler in it means mad days for all.
Through the whole world each wave of worry spreads,
And Ipoh dreads the war that Ipsden dreads.[1]

बीते वे दिन जब पागलपन सीमित था कुछ घेरों में,
सागर-नग के कारण वह जगती में फैल न पाता था।
यद्यपि अपनी वीणा को ले नीरो त्रुटियां करता था,
किन्तु चीन में तब भी अक्षत प्रज्ञा शासन करती थी।
अब यह गति है भले जिनेवा में काल्विन उपदेश करें,
करुणा और दया का, पर है धरती इतनी सिकुड़ गयी,
हिटलर उसमें एक किन्तु सब जग प्रमाद से आलोड़ित।
चिन्ता की प्रत्येक लहर अब दुनिया पर छा जाती है,
एक छोर पर छिड़ा समर, जगती सारी डर जाती है।[2]

आणविक एवं कीटाणु-गर्भित अस्त्रों के द्वारा जो तृतीय विश्व-युद्ध होगा उसमे यह सम्भव नहीं जान पडता कि मृत्यु का फरिश्ता मनुष्य के पार्थिव निवास के उन सुदूर कोनों को भी भूल जाय जो हाल तक या तो अनाकर्षक या अगम्य होने के कारण, या दोनों ही कारणो से अपने दीन, दुर्बल, पिछडे हुए निवासियो को सभ्य सैनिक-वादियों की अशुभ दृष्टि से बचा पाने में समर्थ रहे हैं। रूस के दबाव के विरुद्ध यूनान एवं तुर्की को अमेरिकी सहायता देने के ट्रूमैन सिद्धान्त की घोषणा (१२ मार्च १९४७) के ठीक तीन सप्ताह पूर्व प्रिंसटन मे एक वार्ता के सिलसिले मे लेखक ने यह कल्पना की थी कि यदि पश्चिमी रंग में रंगती जाने वाली दुनिया अपने को तृतीय विश्व-युद्ध में पतित होने का अवसर देती है तो उसके परिणाम-स्वरूप शायद प्लेटो की वह पुराण-कथा वास्तविक जीवन में चरितार्थ हो उठे जिसमें एथेनियाई दार्शनिक कल्पना करता है कि एक पुरातन सभ्यता सावधिक जलप्रलयो मे से अन्तिम जल-प्रलय के आघात मे डूबकर नष्ट हो चुकी है और अब वीरान क्षेत्र मे एक नवीन सभ्यता का निर्माण करने के लिए अपने गढो से निकल-निकलकर पर्वतीय पशुचारक बीच-बीच में आते रहते हैं। सामूहिक अवचेतन मानस की कल्पना-सृष्टि में पशुचारक यूनान की उन बची हुई एव अविकृत आदिम मानवी क्षमताओ के द्योतक हैं जिन्हें ईश्वर ने तब

[1] स्किमर, मार्टाइन : 'लेटर्स टु मलाया' १ एव २ (लन्दन १९४१, पुटनम) पृष्ठ ३४-३५

[2] अनुवादक-कृत पद्य-रूपान्तर

भी सुरक्षित रख छोड़ा है जब उसने मानव-जाति के भ्रष्ट बहुमत को प्रलोभन मे फँसा दिया है···ऐसे प्रलोभनों मे जिसने कृषक केन का, उसके पुत्र नगर-निर्माता इनोक का तथा उनके उत्तराधिकारी लोहार ट्यूबल केन का, विनाश कर दिया है। जब भी सभ्यता के उपक्रम मे चलता हुआ मनुष्य इस बिल्कुल हाल के, और शायद आज तक के मानवीय साहस के कार्यों में सबसे कठिन कार्य का प्रतिपादन करते हुए विपत्ति-ग्रस्त हुआ है तब-तब सदा ही, उसने अपने उन्हीं आदिमकालिक बन्धुओ में प्रच्छन्न सुरक्षित शक्ति की सहायता पा लेने पर भरोसा किया है, 'जिन्हे उसने धरित्री के श्रेष्ठ अशों को अपना क्षेत्र बताकर दूर भगा दिया था और उन्हे 'भेड-बकरियो के चमड़े मे अपने अग ढककर मरुस्थलो एव पर्वतो मे बिचरने के लिए छोड दिया था।' और अतीत काल में एबेल की अपेक्षाकृत निरीह अवशिष्ट सन्ताने, केन की सन्तानो के ऊपर उनके पापो का बदला चुकाने के लिए आक्रमण करने वाले उनके खूनियो की सहायता मे आग बरसाने आती रही हैं। हेलीकान पर्वत की तराई मे स्थित अस्कारा के एक पशु-चारक ने हेलेनी इतिहास की दुःखान्तक घटना का प्राक्कथन किया था, और अरब मरुस्थल के सिरे पर स्थित नगेब के पशुचारकों ने बेतुलहम मे खीष्टीय मत के पालने की रक्षा की थी। प्लेटोन्मुख प्रेरणा का प्रयोग करते हुए, १९४७ ई. में वर्तमान लेखक ने सुझाव दिया था कि यदि पाश्चात्य सभ्यता, जिसमे वह और उसके श्रोता सब फँस गये हैं, विश्वव्यापी धर्म पर कोई भारी सकट ले आयी तो जो सास्कृतिक प्रयास पिछले पाच या छः हजार वर्षों तक अपने पैरों पर खडा रहा है उसे फिर से आरम्भ करने का काम शायद उन तिब्बतियों के कन्धो पर आयेगा जो अभी तक अपने पठार की प्राचीरो के पीछे सुरक्षित रहे है, या फिर वह इस्किमोओ (Esquimaux) पर पड़ेगा जो निर्दोष रूप से निष्ठुर उस तुषार-किरीट की छाया मे सुरक्षापूर्ण आश्रय लेते रहे हैं जो किसी भी गृहवासी मानव की अपेक्षा कम विश्वासघाती पडोसी है। उस व्याख्यान को और उपी यूनिवर्सिटी नगर की शान्त परिधि मे इन पक्तियो के लेखन के बीच साढ़े तीन वर्ष बीत गये हैं और इस अवधि में ये अस्थायी कल्पनाए, ऐतिहासिक घटनाओं के प्रयाण-द्वारा ग्रस्त एवं आक्रान्त हो गयी हैं। १९५० ई के दिसम्बर में, जब मैं ये पंक्तिया लिख रहा हूं, खबर आयी है कि एक चीनी साम्यवादी आक्रामक सेना तिब्बत पर आक्रमणार्थ ल्हासा के रास्ते पर है और जो इस्किमो पहिले भूत-प्रकृति के अतिरिक्त और कोई शत्रु-मित्र न होने पर प्रमुदित थे, उन्होंने अपने को वोल्गा एवं मिसीसिपी जलद्रोणियों के बीच ध्रुवोत्तर वन-मार्ग पर तथा बेहरिंग जलसन्धि के हिमवाहों (ice-floes) के पार, एशियान्तर्गत रूस के पूर्वोत्तर छोर के आदिमकालिक निवासियों के किसी समय एकान्त छिटफुट फैली आवासभूमियों से उस अलस्का तक जाने वाले बेगवान् (Ventre-a-terre) आक्रमण-मार्ग पर पाया जो महाद्वीपीय सयुक्त-राज्य के मुख्यांग से केवल एक कनाडियन 'पोलिश या पोलैंडी गलियारे' (Polish Corridor) द्वारा विभाजित कर दिया गया था।

इस प्रकार समस्त मानव जाति का भाग्य ऐसे समय एक सर्वव्यापी पाश्चात्य समाज की मुट्ठी में था जब कि खुद पश्चिम की अपनी किस्मत मास्काउ के एक तथा

वाशिंगटन के एक ऐसे व्यक्तियों की उंगली के सिरे पर थी, जो एक बटन दबाकर अणुबम का विस्फोट कर सकते थे ।

ये सब ऐसे तथ्य थे जिनके कारण वर्तमान लेखक को अनिच्छापूर्वक १९५० ई में, अनिच्छापूर्वक ही १९२९ में प्राप्त इस निष्कर्ष का समर्थन करना पड़ा कि पाश्चात्य सभ्यता की संभावनाओं की जाच, इतिहास की बीसवी शती के अध्ययन का एक आवश्यक अंग है ।

पूर्वानुमानित उत्तरों की सन्दिग्धता

१९५५ ई मे पाश्चात्य सभ्यता की जीवनाशा कितनी है ? इतिहास का विद्यार्थी प्रथम विचार मे, प्रकृति के सुपरिचित अपव्यय का ध्यान रखते हुए सम्भवत. पश्चिम की प्रचलित आशाओ-सम्भावनाओ को नीची दर पर आकना चाहेगा। आखिर पाश्चात्य सभ्यता अपनी प्रजाति की २१ प्रतिनिधियो में से एक प्रतिनिधि होने के अलावा और क्या है ? तब जो असफलता अन्य बीस सभ्यताओ के भाग्य मे रही है उससे कसौटी पर चढ़ी इक्कीसवी को बचा लेने की आशा करना क्या बुद्धिसगत है ? पृथिवी पर जीवन का जो विकास हुआ है उसके अतीत इतिहास मे प्रत्येक महगी सफलता के लिए बहुसंख्यक असफलताओं की जो कीमत चुकानी पडी है उसका विचार करने पर यह असभाव्य लगेगा कि उन सभ्यताओ की भाति तरुण प्रजाति के इतिहास मे तीसरी पीढ़ी का कोई प्रतिनिधि अनिश्चित काल तक जीवित रहने एव विकसित होते जाने का अभी तक अपर्यटित मार्ग ढूढ निकालने को चुना जायगा या फिर उसे ऐसा उत्परिवर्तन करने के लिए कहा जायगा जो समाज की एक नवीन प्रजाति को जन्म दे सके।

और फिर भी मानव-स्तर पर नहीं, प्राक्मानवीय स्तर पर जीवन के अनुभव से ऐसी अनुभूति निकाली ही जा सकती है। यह सत्य हो सकता है कि जब प्रकृति आरम्भिक शरीरागो के विकास मे लगी थी तो वह लाखो नमूने तैयार करती जा रही थी, इसलिए कि शायद इस तरह उसे कोई नवीन एव ज्यादा अच्छी डिजाइन बनाने का मौका मिल जाय। वनस्पति, कीटाणु, मत्स्य तथा दूसरे जीवो के विकास मे प्रकृति को अपने कार्य के लिए बीस नमूनो की सख्या हास्यास्पद रूप से कम लगती। किन्तु यह मान लेना निश्चय ही एक अनुचित मान्यता होगी कि विकास के जो नियम पशु या वनस्पति के जीवांगो पर लागू होते है वही सभ्यता की प्रक्रिया मे पडे हुए मानवीय समाजों-जैसे सर्वथा भिन्न नमूनो पर भी लागू होंगे। इसलिए तथ्य तो यह है कि इस प्रसंग में प्रकृति के अपव्यय वाला तर्क कोई तर्क हो नही है। हमने इसका त्याग कर देने के लिए ही इसे खड़ा किया है।

इसके पहिले कि हम स्वयं सभ्यताओ के प्रमाण वा साक्ष्य की परीक्षा करना आरम्भ करें, दो ऐसे भावात्मक पूर्वानुभूत (इमोशनल-एप्रियोरी) उत्तर रह जाते हैं जिन पर विचार कर लेना चाहिए। ये दोनो भावात्मक उत्तर परस्पर-विरोधी है और

इस अध्ययन का लेखक, जो १८८९ ई. मे पैदा हुआ था, यह देखने के लिए जीवित रहा है कि पश्चिम इन दोनों भावनाओ में से एक को छोड़कर दूसरी के पास लौट आया है।

उन्नीसवी शती के अन्त मे ग्रेट ब्रिटेन के मध्यम वर्ग के लोगो मे जो दृष्टिकोण प्रचलित था उसे एक हास्यानुकृति (पैरोडी) से एक अंश उद्धत करके बहुत अच्छी तरह प्रकट किया जा सकता है। यह पैरोडी दो स्कूली अध्यापकों द्वारा लिखी गयी है और इसमे इतिहास के सम्बन्ध मे परीक्षा मे लिखे उत्तर के आधार पर, एक स्कूली लडके का रुख चित्रित किया गया है। इस पैरोडी का शीर्षक है '१०६६ तथा और सब' (टेन हड्रेड सिक्सटीसिक्स ऐंड आल दैट) —

'इतिहास अब अपने अन्त को पहुँच चुका है, इसलिए यह इतिहास अन्तिम है।' अंग्रेज मध्यमवर्ग का यही दृष्टिकोण, आधुनिक पाश्चात्य युद्धो के सब से ताजे शक्ति-परीक्षण मे विजयी जर्मनो एव उत्तरी अमेरिकनो के बच्चे भी रखते थे। १७९३-१८३५ की आम लड़ाई के इस परिणाम के लाभानुभोगियों ने तबतक इस विषय मे अपने अंग्रेज प्रतियोगियों से ज्यादा संशय करना आरम्भ नही किया था कि पाश्चात्य इतिहास का आधुनिक युग एक ऐसे आधुनिकोत्तर (पोस्ट माडर्न) युग के उद्घाटन के लिए समाप्त हो गया है जिसमे दुःखदायी अनुभव निहित है। तबतक वे यही कल्पना कर रहे थे कि उनके लाभ के लिए कालातीत वर्तमान मे एक सुस्थ, सुरक्षित, सन्तोषजनक आधुनिक जीवन का चमत्कारिक आगमन स्थायी रूप से रहने के लिए हुआ है। उदाहरणार्थ, साठ वर्ष लम्बे विक्टोरियन युग पर कालातीत होने का यह भाव छा गया था, यद्यपि महारानी की हीरक जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित 'साठ वर्ष तक रानी' (सिक्सटी इयर्स ए क्वीन) ग्रन्थ के चित्रो का सरसरी अवलोकन भी यह प्रदर्शित करने के लिए काफी था कि प्रौद्योगिकी से वस्त्र-विन्यास तक, जीवन की प्रत्येक शाखा मे किस तेजी से परिवर्तन हुआ है।

उस समय आंग्ल मध्यमवर्ग के अनुदार लोग (कजरवेटिव्स), जिनके लिए स्वर्ण-युग आ चुका था, तथा आंग्ल मध्यमवर्ग के उदार (लिबरल), जिनके लिए स्वर्ण-युग पास आ पहुंचा था, इस बात को जानते थे कि मध्यमवर्ग की समृद्धि मे आंग्ल श्रमिक वर्ग को बहुत ही कम हिस्सा मिला है। वे इस बात से भी परिचित थे कि यूनाइटेड किंगडम के अधिकांश उपनिवेशों एवं अधीन राज्यो की ब्रिटिश प्रजाएँ उस स्वायत्त शासन का उपभोग नही कर रही हैं जिसका उपभोग यूनाइटेड किंगडम तथा ब्रिटिश ताज के कुछ उपनिवेशों के उनके साथी प्रजाजन कर रहे हैं। किन्तु उदार (लिबरल) लोग तो इन विषमताओ को यह कहकर उड़ा देते थे कि उनका इलाज किया जा सकता है; अनुदार लोग यह कहकर चुप बैठ जाते थे कि वे तो अनिवार्य हैं। इसी प्रकार संयुक्त राज्य के उत्तरी भागो के समकालीन नागरिक भी इस बात को जानते थे कि आर्थिक समृद्धि में दक्षिण के नागरिक बन्धुओ को हिस्सा नहीं मिल रहा है। जर्मन रीख की समकालीन प्रजाओं को भी यह पता था कि फ्रांस से जो 'रीखलैण्ड' छीन लिया गया है उसके अधिवासी अभी तक हृदय से फरासीसी ही बने हुए हैं और अपने शरीर के इस

अंग-विच्छेद पर फरासीसी राष्ट्र अभी तक क्षुब्ध है; फरासीसी अभी तक प्रतिशोध (revanche) की भावनाओं से पूर्ण हैं, और अल्सेसलोरेन की गुलाम आबादी अब भी अपनी मुक्ति के वही सपने देख रही है जो श्लेसविक, पोलैंड, मैसीडोनिया एवं आयरलैंड की दास आबादियां देखती रही हैं। इन पीड़ित जनों ने इस विश्वास के आगे सिर नहीं झुकाया कि 'इतिहास का अन्त हो चुका है।' फिर भी उनका यह अदम्य विश्वास कि उनके लिए, यह असहनीय स्थापित प्रथा देर-सबेर 'काल की सतत-प्रवाहित धारा' में बह जायगी, उस समय प्रभुताशाली शक्तियों के प्रतिनिधियों की अवसन्न कल्पना पर कुछ विशेष प्रभाव न डाल सका। बिना किसी संशय के यह बात कही जा सकती है कि १८६७ ई में कोई ऐसा जीवित स्त्री-पुरुष, राष्ट्रीय वा समाजवादी क्रान्ति के पक्के पैगम्बरों में भी, नहीं था जिसने यह स्वप्न देखा हो कि राष्ट्रीय आत्मनिर्णय की माग, अगले पच्चीस वर्षों के अन्दर हैप्सबर्ग, होहेंजोलर्न और रोमनोव साम्राज्यों तथा ग्रेट ब्रिटेन एवं आयरलैंड के यूनाइटेट किंगडम को तोड़कर रख देगी; या यह कि पाश्चात्य विश्व के कतिपय अकालपक्व औद्योगिक प्रान्तों के शहरी श्रमिक वर्ग से निकलकर सामाजिक लोकतन्त्र की माग मैक्सिको एवं चीन के किसानों तक फैल जायगी। गांधी (जन्म १८६६ ई.) और लेनिन (जन्म १८७०) उस समय तक अज्ञातनामा थे। 'साम्यवाद' (कम्यूनिज्म) शब्द एक मलिन किन्तु अल्पकालिक तथा प्रकटत. असगत अतीत आख्यान का द्योतक था, जिसे 'इतिहास' के समाप्त ज्वालामुखी का अन्तिम विस्फोट मान लिया गया था। १८७१ ई. में पेरिस के गुप्त जीवन मे बर्बरता के इस अपशकुनकारी विस्फोट की, एक आश्चर्यजनक सैनिक दुर्घटना के आघात की पैतृक-रोगानुवर्त्तिनी (atavistic) प्रतिक्रिया मानकर, उपेक्षा कर दी गयी, और लोगों ने यह समझ लिया कि अब ऐसे अग्निकाण्ड की पुनरावृत्ति का कोई दिखायी दे सकने वाला भय नहीं रह गया है जिसे एक बूर्जो थर्ड रिपब्लिक के आर्द्र आवरण के नीचे चतुर्थांश शती तक रखकर बुझाया जा चुका है।

यह आत्मतुष्ट मध्यवर्गीय आशावादिता महारानी विक्टोरिया की हीरक जयन्ती के समय कोई नयी बात नहीं थी। हम इसके १०० वर्ष पूर्व गिबन के शानदार युग मे तथा टर्गोट के उस १७५० मे सारबोन स्थान के 'द्वितीय प्रवचन' (Second Discourse) मे देखते हैं जो उसने 'ख्रीष्ट मत' की स्थापना से मानव जाति को हुए लाभ' पर दिया था। इसके भी सौ वर्ष और पहिले देखें तो वह हमे पेपीज के स्फुट विचारों में मिलता है। इस विचक्षण डायरी-लेखक ने राजनीतिक एव आर्थिक बैरोमीटर मे बढ़ती रेखा को पहिचाना था, '१६४६ तथा और सब', जिसमे सत बार्थोलोम्यू का कत्लेआम तथा स्पेनी इनक्विजिशन शामिल थे, पुराना किस्सा हो चुका था। बल्कि पेपीज की पीढ़ी वह पीढ़ी थी जिससे हम उत्तर-आधुनिक युग (लेट माडर्न एज : १६७५-१८७५) का आरम्भ मान चुके है, और यह उत्तर-आधुनिक युग निष्ठा के महान युगों में से एक था—प्रगति एवं मानवीय परिपूर्णता मे निष्ठा का युग। पेपीज से दो पीढियों पूर्व हमे इस निष्ठा (फेथ) के अधिक उद्घोषपूर्ण प्रवक्ता के रूप मे फ्रांसिस बेकन के दर्शन होते हैं।

तीन सौ वर्षों तक जीवित रहने वाली निष्ठा जरा मुश्किल से मरती है, और १९१४ में इसे जो बाह्यत: साघातिक आघात लगा था, उसके भी दस वर्ष बाद हम उसकी अभिव्यक्ति उस व्याख्यान में पाते हैं जो प्राक्-जलप्लावनीय (Prediluvian) पीढ़ी के प्रतिष्ठित इतिहासकार एवं जन-सेवक सर जेम्स हेडलाम-मार्ले (१८६३-१९२९) ने दिया था—

"इस (पाश्चात्य) संस्कृति का हमने जो विश्लेषण किया है उसमें हम पहिला महान् तथ्य यह पाते हैं कि यद्यपि सम्पूर्ण पाश्चात्य यूरोप का निश्चय ही एक सामान्य सर्वनिष्ठ इतिहास एवं सामान्य सभ्यता है, किन्तु जनता किसी जाल्हे के राजनीतिक संघ में संयोजित नहीं थी और न तो यह प्रदेश कभी एक सामान्य शासन के अन्तर्गत ही था। एक क्षण के लिए यह मालूम जरूर पड़ा था कि शार्लमेन सम्पूर्ण क्षेत्र पर अपनी सत्ता स्थापित कर लेगा किन्तु हम सब जानते हैं कि आशा निराशा में परिणत हो गयी; एक नवीन साम्राज्य को जन्म देने का उसका प्रयत्न असफल हो गया। उसके बाद किये गये सब प्रयत्न भी विफल हो गये। बाद के साम्राज्य द्वारा, स्पेन एवं फ्रांस के शासकों द्वारा एक महान राज्य या साम्राज्य के अन्तर्गत समस्त पाश्चात्य यूरोप के एकीकरण का प्रयत्न बार-बार किया गया। सदा हम वही बात देखते हैं कि स्थानीय देशभक्ति तथा वैयक्तिक स्वतन्त्रता एक ऐसे प्रतिरोध को प्रेरित करती है कि प्रत्येक विजेता का प्रयत्न टूटकर रह जाता है। इसलिए यूरोप में एक ऐसा स्थायी गुणधर्म उत्पन्न हो गया है जिसे आलोचक गण 'अराजकता' (Anarchy) के नाम से पुकारते हैं; क्योंकि एक सर्वनिष्ठ या सामान्य शासन के अभाव का अर्थ है—संघर्ष, मुठभेड़ और युद्ध; राजक्षेत्र तथा अपनी प्रभुता के लिए, शासन के प्रतियोगी घटकों के बीच, एक दूसरे के विरुद्ध, निरन्तर चलने वाली अशान्ति।

"यह एक ऐसी स्थिति है जो बहुतों को गहरी पीड़ा पहुँचाती है। इसमें क्या सन्देह है कि इसमें ऊर्जा का अत्यधिक अपव्यय होता है; धन का बहुत ज्यादा नाश होता है और समय-समय पर जीवन का भी बहुत नाश होता है। फलत: ऐसे बहुत से लोग हैं जो किसी एक ही सामान्य शासन की क्रमिक स्थापना को वरीयता देते हैं और जो यूरोप के इतिहास की तुलना में साम्राजिक रोम अथवा वर्तमान समय में संयुक्त राज्य (अमेरिका) को पेश करते हैं। दांते के समय से आगे, ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं जो एक ऐसे व्यवस्थित शासन के लिए लालायित रहे हैं जो दैवी विधान की सच्ची प्रतिकृति एवं अस्त्र के रूप में व्यक्त हो। न जाने कितनी बार हम यह सुनते हैं कि यदि अमेरिका की धरती पर अंग्रेज और इटालियन, पोल और क्येनियन, जर्मन एवं स्कैन्डेनेवियन सब शान्ति एवं तृप्तिपूर्वक, साथ-साथ रह सकते हैं तो फिर वे अपने मूल गृह में उस तरह क्यों नहीं रह सकते ?

"मैं आज भविष्य के आदर्शों पर बहस करने नहीं आया हूँ; यहां हमारा सम्बन्ध अतीत के साथ है, और हमें केवल इतना ही करना है कि हम इस

तथ्य को स्वीकार करे कि यह अराजकता, यह युद्धप्रियता, यह प्रतियोगिता ऐसे समय भी वर्तमान थी जब महाद्वीप की शक्तियां अपने सर्वोच्च बिन्दु पर थीं। आइए, हम इस बात को भी नोट करे कि भूमध्यसागरीय जगत् (मेडीटेरेनियन वर्ल्ड) की शक्तियां—जीवनमयी प्रेरणा, कलामयी भावना, एवं बौद्धिक कुशलता—धीरे-धीरे परन्तु निरन्तर ह्रासोन्मुखी होती गयीं और यह ह्रास एक सर्वनिष्ठ या सामान्य शासन की स्थापना के साथ ही आरम्भ हुआ। क्या ऐसा नहीं हो सकता कि अशान्ति एवं संघर्ष वस्तुतः केवल शक्ति-विनाश ही नहीं, वर वह कारण भी रहा हो जिससे शक्ति या ऊर्जा उत्पन्न हुई ?"[1]

जो इगलैण्ड एक इलहामी बिगुल की भयावनी ध्वनि से गूज रहा था उसमे गिबन की आशाप्रद वाणी की प्रतिध्वनि सुनना अद्भुत-सा लगता है। जो भी हो, १९२४ तक आघातपीडित पाश्चात्य जगत् मे वह प्रतिकूल भावना, जो पूर्ववर्त्ती हेलेनी सभ्यता के ह्रास एव पतन के महत्त्व के एक भिन्न पाठ मे व्यक्त हुई थी, प्रभावशालिनी हो चुकी थी।

हेडलम मार्ले-द्वारा उक्त भाषण दिये जाने के पाच वर्ष पहिले, पाल वेलेरी ने बडी वाग्मिता के साथ घोषणा की थी कि सभी सभ्यताए मरणशील है। उस समय स्पेंगलर भी यही बात कह रहा था। अब हम देख सकते है कि प्रगति का सिद्धान्त अनेक भ्रमात्मक मान्यताओ पर आश्रित था। परन्तु क्या यह मान लेते ही हम इसके लिए बाध्य हो जाते है कि विनाश के सिद्धान्त (डाक्ट्रिन आफ डूम) को भी स्वीकार कर ले ? यह तो बडा बचकाना तर्क होगा। इस तरह तो कोई यह तर्क भी कर सकता है कि चूकि हवाई दिमाग रखने वाला अर्थात् हवाई कल्पनाए करने वाला जानी निराशा के गर्त्त मे गिर पडा है इसलिए उससे बाहर निकलने का कोई रास्ता ही नही हो सकता। वेलेरी का निराशावाद एव गिबन का आशावाद, दोनो ही एक समान, ऐसे मनोभावों के युक्तिकरण (rationalisation) हैं जो उनके अपने-अपने जीवन के लघु विस्तार मे, बाह्य दृष्टि से देखने मे उचित जान पडते थे।

[1] **जे. डब्लू. हेडलम-मार्ले : ई. एच. कार्टर-संपादित 'दि न्यू पास्ट ऐण्ड अदर एसेज आन दि डेवलपमेंट आफ सिविलाइजेशन' में 'दि कल्चरल यूनिटी आफ वेस्टर्न यूरोप' (आक्सफोर्ड १९२५, ब्लैकवेल, पृष्ठ ८८-८९)**

४१

सभ्यताओं के इतिहासों का साक्ष्य

(१) पाश्चात्येतर दृष्टान्त-सहित पाश्चात्य अनुभव

इस अध्ययन के आरम्भिक भागों मे हमने, सम्बद्ध ऐतिहासिक तथ्यो के सर्वेक्षण द्वारा सम्यताओं के भग होने के कारणो और उनके विघटन-प्रक्रमो के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्राप्त करने की चेष्टा की है। और उनके विघटन का अध्ययन करते समय हमने देखा कि हर मामले मे कारण आत्म-निर्णय का कोई न कोई वैफल्य ही रहा है। कोई भी टूट गया समाज अपने ही द्वारा निर्मित किसी मूर्ति की दासता मे गिरकर क्षेमकारी वरण-स्वातन्त्र्य की शक्ति खो देता है। ख्रीष्टीय सवत् की बीसवी शती के मध्य भाग में पाश्चात्य समाज स्पष्टत. अनेक मूर्तियो की पूजा में फँस चुका था; किन्तु इन सब में एक और सबके ऊपर थी—ग्राम्य-राज्य की पूजा। आधुनिकोत्तर पाश्चात्य जीवन की यह बात दो कारणों से भयावह अपशकुन की द्योतक थी। इसका पहिला कारण तो यह था कि यह मूर्तिकरण पाश्चात्य रग मे रगती दुनिया के निवासियो के बहुमत का सच्चा, यद्यपि अघोषित, धर्म था, दूसरा इसलिए कि यह मिथ्याधर्म लेखांकित २१ सम्यताओ मे से १४, बल्कि शायद १६, का विनाश-साधक रह चुका था।

सदा वृद्धिशीला हिंसा से पूर्ण भ्रातृघाती लडाई ही तीनों पीढियों की सम्यताओ की मृत्यु का सर्वनिष्ठ कारण रही है। पहिली पीढी में इसने निश्चित रूप से सुमेरु तथा ऐन्दियाई (ऐंडियन) सम्यताओ का और संभवत मिनोन सम्यता का भी, विनाश साधन किया। दूसरी पीढी मे इसने बेबिलोनी, इडिक, सीरियाई, हेलेनी, सिनाई (चीनी), मैक्सिजयाई तथा यूकेतियाई (मेक्सिक ऐंड यूकेतिक) सम्यताओ को उदरस्थ कर लिया। तीसरी पीढ़ी मे वह परम्परानिष्ठ कट्टर ईसाई (मुख्य संस्था और उससे उत्पन्न रूसी शाखा दोनों), सुदूरपूर्व की जपानी शाखा, हिन्दू तथा ईरानी सम्यताओ को खा गयी। इसके बाद पाश्चात्य के सिवा जो पाँच सम्यताए बच जाती हैं उनमे से भी हमें सन्देह है कि प्रस्तरीकृत मिस्री जगत् के विरुद्ध पूर्णत. झुक जाने के पहिले, घर के भ्रातृघाती युद्ध के द्वारा हित्ताई (हिताइत) ने भी विनाश को निमंत्रण दिया तथा अन्त में एक बर्बरीय वोल्कर-वान-डर-उंग के सामने भहरा पड़ी। हा, अभी तक माया सम्यता में ऐसे भ्रातृघाती युद्ध का कोई भी प्रमाण नही है। ऐसा जान पडता है कि मिस्र तथा चीन की सुदूरपूर्वीय सम्यताओं ने एक दूसरी ही मूर्ति अर्थात् निरन्तर

परोपजीविनी होती जाने वाली नौकरशाही (ब्यूरोक्रेसी) के साथ चल रही विश्वव्यापी धर्मनीति के लिए प्राण त्याग किया। अब सिर्फ अरबी समाज का एक नमूना रह जाता है जो शायद किसी अ-यायावरीय जगत् की परोपजीविनी यायावर-संस्था—मिस्री मामलूकों के प्रभुताप्राप्त गुलामो—द्वारा नष्ट हो चुका होता, यदि वह किसी विजातीय आक्रमणकारी द्वारा विनष्ट हो जाने का एक मात्र दृष्टान्त नही उपस्थित करता।

इसके अलावा, पाश्चात्य इतिहास के आधुनिकोत्तर अध्याय मे, प्रभुतासम्पन्न ग्राम्य-राज्यों के प्रतिमोपासन (idolization) का विनाशकारी प्रभाव एक दानवी झटके से बढ गया था। सार्वभौम चर्च का नियन्त्रणकारी प्रभाव हट गया था। राष्ट्रीयता के रूप मे लोकतन्त्र के संघात ने, बहुधा किसी नवानुरागिनी विचार-धारा के साथ मिलकर, युद्ध को और कटु बना दिया, तथा उद्योगवाद एव औद्योगिकी-द्वारा दिये गये प्रोत्तेजन ने अधिकाधिक विनाशक होते जाने वाले अस्त्रो से युद्धार्थियो को सज्जित कर दिया।

जिस औद्योगिक क्रान्ति ने ख्रीष्टीय सवत् की अठारहवी शती मे पाश्चात्य जगत् को प्रभावित करना शुरू किया था वह उस आर्थिक क्रान्ति की प्रतिमूर्ति थी जिसने छठी शती ईसापूर्व हेलेनी जगत् को आच्छन्न कर लिया था। दोनो ही मामलो मे, जो समुदाय अपनी जीविका, न्यूनाधिक, एकान्त मे गुजर-बसर भर की खेती करके चला लेते थे, अब एक-दूसरे के साथ मिलकर एक-दूसरे के साथ हिस्सेदार बनकर अपनी उपज एवं आय बढ़ाने के लिए विशेष वस्तुएं पैदा करने और उनका विनिमय करने लगे। ऐसा करने के कारण वे अब आत्मनिर्भर तथा आर्थिक रूप से स्वतन्त्र (autarkic) नहीं रह गये; अब यदि वे चाहते तो भी अपनी आर्थिक स्वतन्त्रता कायम नहीं रख सकते थे। दोनो ही मामलों में इसका परिणाम यह हुआ कि आर्थिक स्तर पर समाज का एक नया ढाचा बन गया जो उसके आर्थिक स्तर वाले ढाचे से बेमेल था; और हेलेनी समाज की सामाजिक संरचना की त्रुटि का जो साघातिक परिणाम हुआ उसके बारे में हम पहिले ही एकाधिक बार लिख चुके हैं।

आधुनिक पाश्चात्य इतिहास का एक निराशाजनक लक्षण, पहिले प्रशा तथा बाद मे जर्मनी में एक ऐसे सैनिकवाद का अवतरण था जो अन्य सभ्यताओ के इतिहास मे सांघातिक सिद्ध हो चुका था। यह सैनिकवाद पहिले पहल प्रशन राजा फ्रेडरिक विलियम प्रथम तथा फ्रेडरिक महान (१७१३-८६) के राज्यकाल में ऐसे समय आया जबकि उत्तरकालिक पाश्चात्य इतिहास के सभी युगो से युद्ध-संचालन सर्वाधिक औपचारिक तथा उसकी विनाशकता सबसे कम रह गयी थी। अपनी अन्तिम अवस्था मे, हमारे लिखने के समय तक, राष्ट्रीय समाजवादी (नेशनलिस्ट सोशलिस्ट) जर्मनी के उन्मत्त सैनिकवाद की तुलना सिर्फ उस असीरियाई कोहराम (Furor Assyriacus) से की जा सकती है जो उसका तापमान टिगलथ-पाइलेसर तृतीय (राज्यकाल ७४६-७२७ ईसापूर्व) द्वारा तीसरी डिग्री तक पहुंचा दिये जाने के बाद, घटित हुआ था। हमारे लिखने के समय तक यह बात और ज्यादा सन्देहास्पद हो गयी है कि (हिटलर के) राष्ट्रीय समाजवादी समर-यन्त्र के अभूतपूर्व निष्ठुर सहार ने पाश्चात्य रंग मे रंगी

दुनिया के सभी भागों से सैनिकवाद के संकल्प को नष्ट कर दिया है या नहीं।

परन्तु इन अपशकुनों के साथ-साथ कुछ अनुकूल लक्षण भी दिखायी पड़ रहे थे। एक ऐसी प्राचीन प्रथा वा प्रणाली से पाश्चात्य सभ्यता मुक्त हो गयी है जो युद्ध से कुछ कम बुरी न थी। जिस समाज ने दास-प्रथा को समाप्त कर देने में सफलता पायी है वह एक खीष्टीय आदर्श की इस अभूतपूर्व विजय से युद्ध की समवयस्का संस्था को खत्म कर देने के लिए भी साहस संचित कर सकता है। जब से समाज की इस प्रजाति का जन्म हुआ, तभी से दासता एवं युद्ध सभ्यता के दो नासूर रहे है। इनमे से एक पर हुई विजय दूसरे के विरुद्ध होने वाले अभियान की सम्भावनाओं के लिए शुभ शकुन है।

फिर जो पाश्चात्य समाज अब भी युद्ध से जर्जर किया जा रहा है, अन्य आध्यात्मिक मोर्चों पर के अपने रेकर्ड या कार्य से प्रोत्साहन प्राप्त कर सकता है। उद्योगवाद के सघात से वैयक्तिक सम्पत्ति की परम्परा को जो चुनौती प्राप्त हुई थी, उसका उत्तर देने मे पाश्चात्य समाज ने अनेक देशो मे सफलता पायी है और एक अप्रतिबन्धित आर्थिक व्यक्तिवाद के साइला[1] तथा राज्य-द्वारा निरकुशतापूर्वक नियन्त्रित आर्थिक कार्य-कलाप के चरीबदिस[2] के बीच एक रास्ता निकालने का काम कुछ आगे बढा है। शिक्षण से लोकतन्त्र की जो टक्कर हुई है उसे सभालने मे भी कुछ सफलता मिली है। जो बौद्धिक कोषागार सभ्यता के उष काल से एक बहुत छोटे अल्पमत की बड़ी हिफाजत के साथ रक्षित और निष्ठुरतापूर्वक उपभोग की जाने वाली बपौती-सी था उसके द्वार सबके लिए खोलकर लोकतत्र की आधुनिक पाश्चात्य प्रेरणा ने मानव जाति को एक नवीन आशा का दान किया है, यद्यपि इससे एक नया खतरा भी उसके सामने आ गया है। यह खतरा उस सुविधा में है जो एक प्रारम्भिक सार्वभौम शिक्षा ने प्रचार के लिए उपस्थित कर दी है। वह उस कौशल एव चरित्रशून्यता मे भी है जिसके साथ इस सुविधा का लाभ विज्ञापन-विक्रेता, सवाद-समितियां, अनुचित दबाव डालने वाले वर्ग, राजनीतिक दल तथा निरकुश वा एकदलीय सरकारे उठा रही हैं। आशा इस सम्भावना मे है कि अर्द्ध शिक्षित जनता के ये शोषणकर्ता अपने शिकार को इतना ज्यादा अनुकूलित करने में समर्थ न हो पायेगे कि उनकी शिक्षा की गति को उस बिन्दु की ओर जाने से रोक सके जहा पहुंचकर वे ऐसे शोषण से सुरक्षित हो जाय।

किन्तु जिस मैदान मे निर्णायक आध्यात्मिक लड़ाई लड़ी जाने की सम्भावना है वह न तो सैनिक है; न सामाजिक; न तो आर्थिक है; न बौद्धिक, क्योंकि १९५५ ई. में पाश्चात्य मानव के सामने जो उत्कट प्रश्न खड़े हैं, वे सब धार्मिक हैं।

जूडियाई धर्म घोर रूप से रचनात्मक थे किन्तु उन्होंने अपनी ही उक्तियो को मिथ्या सिद्ध करने वाली असहिष्णुता के जो अभियोगी उदाहरण सामने रखे उनसे वे बदनाम हो गये हैं। क्या यह बदनामी की क्षति अपूरणीय है ? क्या उस धार्मिक

१ साइला (Scylla) —यूनानी पुराण का षडानन दानव। —अनु०

२ ओडेसी महाकाव्योक्त राक्षस जो समुद्र पीकर उलट देता था। अनु०

सहिष्णुता में कोई पुण्य, कोई सुकृत था जिसमे एक निराश पाश्चात्य जगत् सत्रहवी शती के अन्तिम भाग में ठंडा पड गया था ? बिना धर्म के चलते जाना पाश्चात्य आत्माएं कब तक सहन करती रहेंगी ? और जब आध्यात्मिक रिक्तता की पीड़ा ने उन्हे राष्ट्रवाद, फैसिज्म एवं साम्यवाद-जैसे दानवो के द्वार खोलने को प्रलुब्ध कर दिया है तो सहिष्णुता में उनका पिछला विश्वास कबतक टिका रह सकेगा ? जिस शिथिल, उत्साहहीन युग में पाश्चात्य खीष्टमत की विविध शाखाएं पाश्चात्य हृदयों एव मस्तिष्कों पर अपने अधिकार खो चुकी थी और लोगों को अपनी हताश एव निष्फल हो रही भक्ति के लिए दूसरे आस्पद प्राप्त नही हुए थे, तब सहिष्णुता सरल थी। आज तो जब वे दूसरे देवों की मूर्ति के पीछे दीवाने हैं तब क्या इस बीसवीं शती की मतान्धता के आगे अठारहवी शती की सहिष्णुता खड़ी हो पायेगी ?

जो सैलानी पाश्चात्य जगत मे अपने उन पूर्वजो के एक सत्य परमेश्वर से भटककर दूर चले गये हैं, जिन्होने भ्रममोचनकारी अनुभवों से सीखा था कि साम्प्रदायिक चर्चों की भांति ग्राम्य या संकुचित राज्य भी ऐसी ही प्रतिमाए हैं जिनकी पूजा शान्ति नही, तलवार ले आती है, शायद प्रतिमोपासना के विकल्प के रूप में समष्टि-मानवता (कलेक्टिव ह्यूमैनिटी) को ग्रहण करने के लिए लालायित हो जाय। जिस 'मानवता-धर्म' की उस कोमशीय प्रत्यक्षवाद (Comtian Positivism) के शीतल साचे में आग से भेंट नहीं हुई वही जब मार्क्सवादी साम्यवाद की तोप के मुह से छोड़ा गया तो उसने सारी दुनिया मे आग लगा दी। 'दिया रोमा' (देवी रोमा) तथा 'दियस सीजर' (देव सीजर) के पन्थ मे मूर्त्त सामूहिक मानवता की हेलेनी पूजा के विरुद्ध आत्माओ की मुक्ति के लिए खीष्टधर्म ने अपने यौवनकाल मे जो जीवन-या-मरण का युद्ध छेड़ा था और उसमे विजय प्राप्त की थी, उसे दो हजार वर्षों के बाद रूसी विशाल दैत्य (लेवियेथन) की पूजा के किसी उत्तरकालिक मूर्त्त रूप के विरुद्ध क्या फिर से छेड़ना पड़ेगा ? हेलेनी नजीर इस सवाल को पैदा तो करती है, किन्तु उसका उत्तर नही देती।

यदि हम पश्चिमी दुनिया के विभंग के लक्षणों को छोड अब उसके विघटन के लक्षणों पर आते हैं तो हमें याद करना होगा कि समाज-निकाय मे विच्छेद के अपने विश्लेषण से हमें पता लगा था कि उत्तरकालिक पाश्चात्य जगत् मे प्रभुताशाली अल्पमत, आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग तथा बाह्य श्रमजीवी वर्ग वाले स्वभावानुरूप त्रिस्तरीय विभाजन के असन्दिग्ध चिह्न मिलते हैं।

पाश्चात्य जगत् के बाह्य श्रमजीवी वर्ग के विषय में हमे ज्यादा लिखने की जरूरत नही है, क्योंकि पहिले वाले बर्बर, मूलोच्छेदन-द्वारा नही बल्कि उस पाश्चात्य आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग में स्थानान्तरित होकर समाप्त होते जा रहे थे जिसने मनुष्य जाति की जीवित पीढ़ी के बहुत बड़े बहुमत को आत्मसात् कर लिया था। इस प्रकार जो बर्बर बलात् घरेलू या पालतू बना लिये गये वे वस्तुतः उन सैन्यदलों में सबसे छोटे, सबसे अल्पसंख्यक थे, जिनसे पाश्चात्य समाज का यह बीसवी शती वाला आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग गठित था। उसमें इससे कही ज्यादा संख्या तो पाश्चात्येतर सभ्यताओं के उन बच्चों की थी जो विश्वव्यापी पाश्चात्य जगत् मे फँस गये थे। एक तीसरा दल,

तीनों में सबसे दुखी और इसीलिए सब से सक्रिय विरोधी, विविध उद्गमो से आये ऐसे पाश्चात्य तथा पाश्चात्येतर लोगो का था जो विभिन्न सीमाओं तक अवपीड़ित थे। इनमें उन नीग्रो दासों की सन्तति थी जिनका बलात् अतलान्तसागर के पार ले जाकर प्रतिरोपण कर दिया गया था, इनमें उन भारतीय एव चीनी गिरमिटिया मजूरो के बच्चे थे जिनका समुद्र पार आप्रवासन प्राय. उतना ही अस्वैच्छिक था जितना अफ्रीकी दासो का था। फिर दूसरे ऐसे भी थे जो समुद्र संतरण किये बिना ही निर्मूल कर दिये गये थे। श्रमजीवीकरण (प्रोलेतेरियाइजेशन) के सबसे नवीन उदाहरण तो 'प्राचीन दक्षिण' (ओल्ड साउथ), सयुक्तराज्य अमेरिका और दक्षिण अफ्रीकी सघ (यूनियन आफ साउथ अफ्रीका) के गिरीह गोरे थे जो अपने ज्यादा सफल सगी उपनिवेशियों (कालोनिस्ट्स) द्वारा आयात किये गये या देशज ही अफ्रीकी भूमिदासो के स्तर तक गिर चुके थे। किन्तु इन सब प्रमुख अभागे वर्गों से बढ़कर और उनके भी ऊपर जहां कहीं ग्राम या नगर मे ऐसे लोग समूहों मे रह रहे थे, जो अनुभव करते थे कि पाश्चात्य समाज-व्यवस्था उन्हे वह सब नही दे रही है जिसको पाना उनका अधिकार है, वही आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग बन गया था। क्योकि इस अध्ययन मे श्रमजीवी वर्ग (प्रोलेतेरियत) की हमारी परिभाषा, शुरू से अखीर तक, मनोवैज्ञानिक रही है और हमने निरन्तर उन लोगो के लिए इसका प्रयोग किया है जो अनुभव करते थे कि जिस समाज मे वे शरीरतः सम्मिलित कर लिये गये हैं आध्यात्मिक रूप से वे उसके अन्तर्गत नहीं हैं।

एक प्रभुताशाली अल्पमत के विरुद्ध श्रमजीवीवर्गीय प्रतिक्रिया की हिंसक अभिव्यक्ति मध्ययुगीन कृषक युद्धों से लेकर फरासीसी क्रान्ति के जैकोबिनिज्म[1] तक विविध युगो एव विविध स्थानो मे होती आयी थी। खीष्टीय संवत् की बीसवी शती के मध्य भाग मे वह अपने को पहिले से कही ज्यादा प्रबल रूप मे अभिव्यक्त कर रही थी। यह अभिव्यक्ति दो रूपों मे हो रही थी। जहा शिकायतें मुख्यत: आर्थिक थी वहा वे साम्यवाद के रूप मे प्रकट हुईं, जहा वे राजनीतिक या जातीयताबोधक थी वहा उनकी

[1] १७८९ ई में फ्रांस में जो क्रान्ति हुई उसमें रैडिकल डेमोक्रेट्स (उग्र लोकतन्त्रवादियों) ने एक संस्था बनायी थी जिसका नाम 'क्लब ब्रीटेन' था और सबस्यगण उसे 'सोसाइटी आफ दि फ्रेंड्स आव दि कांस्टिट्यूशन' (विधान के मित्रों की सभा) कहते थे। किन्तु जो उनके विरोधी थे वे उसको उसी नाम के चर्च के निकट स्थित होने के कारण जैकोबिंस कहने लगे। बाद में इस संस्था पर उग्र आन्दोलनकारियों ने कब्जा कर लिया और रोब्सपीरो के नेतृत्व में उन्होंने चतुर्विक आतंक का राज्य कायम कर दिया। बाद में उसके पतन के साथ ही यह सोसाइटी भी खण्डित हो गयी, यद्यपि शिथिल रूप में १७९९ तक चलती रही। इन्हीं फ्रांसीसी जैकोबिनों के सिद्धान्त का नाम जैकोबिनिज्म पड़ गया। व्यवस्थित सरकार के उग्र विरोध या उग्रपन्थियों (रैडिकलिज्म) के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

—अनुवादक

अभिव्यक्ति उपनिवेशवाद के विरुद्ध राष्ट्रीय विद्रोह के रूप मे हुई ।

१९५५ ई. मे पाश्चात्य सभ्यता के लिए रूसो-चीनी साम्यवादी गुट की जो धमकी थी वह बड़ी स्पष्ट एव भयप्रद थी किन्तु इसके साथ ही दूसरे पक्ष के खाते में ऐसी अनेक रकमें दर्ज थी जो यद्यपि इनसे कम सनसनी पैदा करने वाली थी किन्तु कुछ कम महत्त्वपूर्ण न थी ।

पहिली बात जो एक सकटग्रस्त पाश्चात्य सभ्यता के पक्ष मे कही जा सकती है, यह है कि जिस जागतिक साम्यवाद ने पाल-जैसे जोश के प्रदर्शन के साथ कहा था कि वह यहूदी एव यूनानी के बीच के समस्त विषाक्त भेदो के ऊपर उठ चुका है, उमी मे रूसी राष्ट्रवाद की खोटी धातु का मिश्रण हो गया । अनिष्ठा की यह शिरा साम्यवाद के नैतिक अस्त्रागार की एक त्रुटि थी । जब प्राच्य एशिया मे पाश्चात्य हितों पर गहरा सकट छा गया था तब यदि कोई ऐसा पाश्चात्य पारेन्द्रियज्ञानी (telepathist) होता जो क्रैमलिन के बद्धोष्ठ राजमर्मज्ञो के हृदय के अन्दर देख सकता तो देखता कि वे अपने चीनी मित्रो की अद्भुत सफलताओं को मिश्रित भावनाओ (खुशी और रज दोनो) के साथ देख रहे है । आखिरकार मंचूरिया, मगोलिया एव सिंकियाग का भविष्य चीन और रूस दोनो के लिए ही उससे कही ज्यादा महत्त्वपूर्ण है जितना कि इडोचाइना, हागकाग और फारमोसा का भविष्य उनके लिए है । इसकी भी कल्पना की जा सकती है कि मैलेनकोव या उसका उत्तराधिकारी ख्रुश्चेव या उसका भी सम्भव उत्तराधिकारी, जो अभी क्षितिज के नीचे है, द्वितीय टीटो बन जाय और जब जर्मनी और जपान पश्चिम द्वारा तथा चीन रूस द्वारा शस्त्र-सज्जित हो चुकें तब शायद एक भीत पश्चिम एक भीत रूस की '······श्वेत मानव की आशा' के रूप मे जय-जयकार करने लगे । जो कैसर विल्हेल्म द्वितीय अब से बहुत पहले अनादृत हो चुके हैं उन्ही ने पहिले 'पीत सकट' (Yellow Peril) की ओर ध्यान आकर्षित किया था और तब उन्हे अपने इस प्रयास के लिए मूर्ख कहकर पुकारा गया था, किन्तु उस अवस्था मे भी कुछ लेखक अपने इस विचार को दृढतापूर्वक प्रकट करते रहे कि वह न केवल एक शुभाकाक्षी वर विचक्षण व्यक्ति भी थे, और इस एक बात मे तो हिटलर ने भी कैसर की विवेक-बुद्धि की प्रशसा की थी ।

प्रथम दृष्टि मे अविश्वासजनक-सी दिखायी पडने वाली यह ऋतु-सम्बन्धी भविष्यवाणी (Prognostication) दो निर्विवाद एव दृढ तत्त्वो पर आधारित थी । रूस ही 'गोरी जाति' के पितृदाय का एक मात्र मुख्य क्षेत्र था जिसमें बीसवी शती मे भी आबादी उसी गति से बढ रही थी जिस गति से वह पाश्चात्य यूरोप एव उत्तरी अमेरिका में उन्नीसवी शती मे बढी थी । फिर रूस 'गोरी जाति' के पितृदाय का ऐसा प्रान्त भी था जो चीन एवं भारत की महाद्वीपीय सीमाओ तक फैला हुआ था । मान लीजिए, इनमें से कोई एक या दोनों ऐसे उपमहाद्वीप, जिनमे से हर एक मे सम्पूर्ण मनुष्य जाति की चौथाई आबादी बसती है, पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को इस सीमा तक पूर्ण करने में सफल हो जाते हैं कि संसार के सामरिक एव राजनीतिक पक्के चिट्ठे वा तलपट—बैलेंसशीट— में उनका स्थान उनकी जनसख्या के अनुरूप हो जाता है तो फिर

यह उम्मीद तो की ही जा सकती है कि बलोन्नेजित भीम (सैमसन) अबतक ससार मे हुए अत्यन्त विषम एव अन्यायपूर्ण प्रदेशगत तथा प्राकृतिक सम्पत्ति के वर्तमान विभाजन मे सशोधन की माग करेगा । उस स्थिति मे, अपने ही अस्तित्व की रक्षा के लिए यत्नशील रूस, उसके आश्रय मे सुखपूर्वक सुरक्षित पाश्चात्य जगत् के लिए शायद अनिच्छापूर्वक प्रतिरोधक (बफर) की वैसी ही अपुरस्करणीय सेवा करने को विवश हो जाय जैसी एक दिन उसी पाश्चात्य के लिए परम्परानिष्ठ ईसाई धर्मराज्य की प्रमुख शाखा ने तब की थी जब विस्फोट का केन्द्र भारत या चीन नही था बल्कि गतिशील, आदिम-कालिक मुस्लिम अरबो के नेतृत्व में संयुक्त एवं संगठित दक्षिण-पश्चिम एशिया था ।

ये सब एक ऐसे भविष्य के विषय में अनुमानाश्रित भविष्यवाणिया है जिसका अभी तक दर्शन नही हुआ है । प्रोत्साहन के लिए इससे ज्यादा सुदृढ भूमि तो शायद यह तथ्य है कि जिस पाश्चात्य समुदाय की कोरिया मे चीनियो से प्रबल भिडत हो गयी और जो इंडोचीन में बुरी तरह फँस गया था, उसने जपानियो के चगुल मे इडो-नेशियनो के मुक्त होते ही उनके साथ समझौता कर लिया और फिलिपिनों, सीलो-नियों, बर्मियों, भारतीयों तथा पाकिस्तानियों के ऊपर से अपना राज्य स्वेच्छापूर्वक समाप्त कर दिया । जिस एशिया का प्रतिनिधित्व ब्रिटिश राज की भूतपूर्व विविध प्रजाएं करती थी उनके तथा उत्तरकालीन आधुनिक पाश्चात्य साम्राज्यवाद के ब्रिटिश प्रतिपादकों-द्वारा प्रतिनिधित्व करने वाले पाश्चात्य समाज के बीच यह जो फिर से मेल हो गया है उससे, कम से कम आंशिक रूप में, इस सम्भावना के द्वार खुल गये हैं कि विश्व-विस्तृत पाश्चात्य आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग का विशाल एशियाई दल, जो पाश्चात्य प्रभुताशाली अल्पमत से अलग होने की ओर बढ़ता जा रहा था, आंशिक रूप में ही सही, अपना रास्ता बदल दे और उसके बदले अपने भूतपूर्व पाश्चात्य स्वामियो के साथ समानता की शर्तों पर आश्रित साझेदारी के लक्ष्य को स्वीकार कर ले ।

इसी तरह की किसी बात की आशा इस्लामी जगत् के एशियाई एव उत्तरी अफ्रीकी प्रान्तो तथा सहारा के दक्षिणस्थित अधिकाश अफ्रीका के लिए भी की जा सकती है । इनकी अपेक्षा अधिक विषम असमाधेय समस्या तो उन क्षेत्रों-द्वारा उपस्थित की गयी जिनमे जलवायु की अनुकूलता ने पाश्चात्य यूरोपीय को न केवल अपना शासन स्थापित करने बल्कि अपना घर बना लेने के लिए भी प्रेरित किया था । यही समस्या उन क्षेत्रो मे, कुछ कम संकटजनक रूप मे, उठी जहा गोरो के लिए अप्रिय आरम्भिक कार्य करने को बाहर से कालों का आयात किया गया । गोरो के दृष्टिकोण के अनुसार विभीषिका की मात्राओं के बीच जो अन्तर था वह स्थानीय आबादी की जातीय रचना (रेशियल कम्पोजिशन) के आकड़ो में व्यक्त हुआ । दक्षिण अफ्रीका की भाति, जहा अश्वेत या काला देशज था, उसकी संख्या सामान्यत प्रभुताशालिनी गोरी जाति से बहुत अधिक थी । पर जहां सयुक्त राज्य (अमेरिका) की भाति उसका बलात् आयात किया गया, वहा बात इससे उलटी हुई ।

हमारे लिखने के समय, संयुक्त राज्य (अमेरिका) में रंगभेद की जो प्रवृत्ति भारतीय प्रणाली वाले जातिभेद के रूप मे कठोर होती जा रही थी उसका प्रतिरोध

ख्रीष्टमत की भावना विपरीत प्रक्रिया द्वारा कर रही थी; और यद्यपि अभी तक यह कहना असम्भव है कि यह ख्रीष्टीय प्रत्याक्रमण निराधार आशा है या 'भविष्य की लहर' है, फिर भी यह शुभ शकुन है कि भारत की भांति ही सयुक्त राज्य (अमेरिका) मे भी दोनों ही पक्षो में परित्राणकारी भावना सक्रिय है। प्रभुताशाली श्वेत बहुमत के हृदयों में जिस ख्रीष्टीय अन्त करण ने नीग्रो दासता को समाप्त कर देने का आग्रह उत्पन्न किया उसको यह अनुभव हो गया है कि केवल अदालती या कानूनी मुक्ति ही पर्याप्त नही है; और दूसरी ओर रंगीन श्रमजीवी अल्पमत ने भी इसी प्रकार की भावना प्रदर्शित कर उसका उत्तर दिया है।

जैसा कि हमने इस अध्ययन के पूर्व भाग मे देखा है, आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग का पृथक्करण किसी भी सभ्यता के विघटन का सबसे प्रमुख लक्षण है, और उसका ध्यान रखते हुए हम इस बात पर विचार करते रहे है कि ख्रीष्टीय सवत् की बीसवी शती के मध्यभाग मे, पाश्चात्य समाज की जो स्थिति है उसमे पृथक्करण वा वियोजन और पुन मैत्री दोनो के सम्बन्ध मे क्या साक्ष्य उपलब्ध हो सकते है। अभी तक हम श्रमजीवी वर्ग के उन तत्त्वों पर विचार करते रहे है जो स्वय ही अपने उद्गम मे पाश्चात्येतर थे किन्तु जो पश्चिम के विश्वव्यापी प्रसार के कारण पाश्चात्य समाज की सीमाओ मे आ गये। यह कहना सार्थक है कि यहा श्रमजीवी वर्ग का वह सब अश रह गया जो अपने प्रभुताशाली अल्पमत के साथ जातीय रूप मे अविभेद्य था, इसी प्रकार यह कहने की भी आवश्यकता नही कि पाश्चात्य स्त्री-पुरुषो का बहुत बडा बहुमत ऐसा था जिसको उन्नीसवी शती के पाश्चात्य सुविधाप्राप्त अल्पमत मे उत्पन्न 'श्रेष्ठ जनो' ने श्रमिकवर्ग', 'निम्नवर्ग', 'प्राकृतजन', 'लोकसमूह', यहा तक कि अपमान एवं विद्रूप मे 'महत् अधौत' (दि ग्रेट अनवाश्ड) के नाम से पुकारा। विषय की विशालता हतोत्साह करने वाली है। इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि लगभग समस्त पाश्चात्य देशो मे, और विशेष रूप से अत्यन्त उद्योग-प्रधान तथा पूरी तरह से आधुनिक बन गये पाश्चात्य देशो मे, पिछली अर्धशती मे जीवन के प्रत्येक विभाग में सामाजिक न्याय की ओर अत्यधिक व्यावहारिक प्रगति हुई है। जिस राजनीतिक क्रान्ति के द्वारा भारत ने ब्रिटिश राज से मुक्ति प्राप्त की, वह ग्रेट-ब्रिटेन मे हुई सामाजिक क्रान्ति से ज्यादा विलक्षण नही थी। यहा मै उस सामाजिक क्रान्ति की बात कर रहा हूँ, जिसके द्वारा एक पाश्चात्य देश ने अपने को एक ऐसे समुदाय मे रूपान्तरित कर लिया जिसमें लघुतम व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बलिदान की कीमत पर बहुत बडी मात्रा मे सामाजिक न्याय प्राप्त किया जा चुका था। यहा इस पर भी ध्यान रखना चाहिए कि इस पाश्चात्य देश में शक्ति, सम्पत्ति और अवसर, अपनी याद मे अब भी एक अत्यन्त घृणित रूप से लघु तथा कुख्यात रूप मे अत्यधिक सुविधाप्राप्त अल्पमत की बपौती था।

ऊपर जिन तथ्यों का सर्वेक्षण किया गया है उनमे से कुछ कहते है कि आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग के पृथक्करण से पाश्चात्य सभ्यता के सकटग्रस्त होनेकी सम्भावना नही है; जबकि दूसरे कुछ तथ्यो का निर्देश है कि उसके सकटग्रस्त होने की सम्भावना

है। जो हो, इस सर्वेक्षण से दो स्थायी निष्कर्ष निकलते है। पहिली बात तो यह है कि हेलेनी समाज के इतिहास की तद्विध (करेस्पांडिंग) स्थिति में जो तद्विध शक्तिया सक्रिय थीं उनसे मैत्री की, मेलजोल की शक्तिया इसमे अधिक प्रबल दिखायी पडती हैं। दूसरी बात यह है कि पाश्चात्य जगत् के पक्ष मे जो यह अन्तर है वह प्रधानत उस खीष्टीय धर्मभावना की अब भी जारी प्रक्रिया के कारण है जिसका प्रभाव पाश्चात्य स्त्री-पुरुषों के हृदयो से कभी नष्ट नहीं हुआ, भले ही उनके मस्तिष्को ने उस मतवाद का त्याग कर दिया हो जिसमें खीष्टीय धर्म के शाश्वत सत्य श्रात्य हेलेनी दर्शन की क्षणभंगुर भाषा में अनूदित किये गये थे।

जिस महत् धर्म ने कीटडिम्भीय (laival) पाश्चात्य समाज को उसका कोश-कीट (क्राइसैलिस) प्रदान किया था उसकी यह अटल जीवन-शक्ति एक ऐसी बात थी जिसका और सब प्रकार से तुलनीय हेलेनी स्थिति मे स्पष्टत अभाव था, और इसका अनुमान किया जा सकता है कि खीष्टीय धर्म के आध्यात्मिक सार की इस प्रकट अजेयता तथा इस समय पाश्चात्य रग मे रँगी दुनिया मे जहा-तहा धर्मों की जो नयी फसल सिर उठा रही है उसकी दरिद्रता एवं अनुर्वरता के बीच कुछ न कुछ सम्बन्ध जरूर है।

इसलिए हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि पाश्चात्य सभ्यता के भविष्य के सम्बन्ध में पाश्चात्येतर पूर्वोदाहरणो व नजीरो का जो साक्ष्य है, वह निर्णयकारी नहीं है।

(२) अदृष्टपूर्व पाश्चात्य अनुभव

हम अभी तक आधुनिकोत्तर पाश्चात्य स्थिति के उन तत्त्वों की परीक्षा करते रहे है जिनकी तुलना अन्य सभ्यताओ के इतिहासों के तत्वो के साथ की जा सकती है, किन्तु इसमे ऐसे भी तत्त्व हैं जिनके समानान्तर तत्त्व दूसरी सभ्यताओ के इतिहासो मे प्राप्त नही होते। ऐसी दो अतुल्य विशेषताए हमारी आखो के सामने चमक रही है। पहिली है वह विराट प्रभुता जो पाश्चात्य मानव ने मानवेतर प्रकृति के ऊपर प्राप्त की है; दूसरी है सामाजिक परिवर्तन की वेगवर्धिनी शीघ्रता, जो यह प्रभुता ला रही है।

जब से मानव ने प्रौद्योगिक प्रगति की निम्न पुरा-पाषाणकालिक (Lower Palaeolithic) अवस्था से उच्च पुरापाषाणकालिक (Upper palaeolithic) अवस्था की ओर अपनी यात्रा आरम्भ की, तभी से मानवजाति धरती पर इस अर्थ में सृष्टि की स्वामिनी रही है कि उस समय के आगे जड़ प्रकृति के लिए अथवा मानवेतर किसी और प्राणी के लिए कभी यह सम्भव नही हुआ कि वह मानव-जाति को निर्मूल कर दे,—यहां तक कि मानवप्रगति को रोक ही दे। तब से धरती पर कोई भी चीज मानव की राह रोक नही सकी, न मनुष्य का नाश कर सकी। हां, एक अपवाद जरूर है और वह अपवाद भयावह है। यह अपवाद मनुष्य स्वय है। जैसा कि हम देख चुके हैं चौदह या पन्द्रह सभ्यताओ के अनावरण में मनुष्य ने खुद अपने को संकटग्रस्त किया

है । अन्ततोगत्वा, १९४५ ई. में अणुबम के विस्फोट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुष्य ने अब मानवेतर प्रकृति पर इस सीमा तक नियन्त्रण स्थापित कर लिया है कि दुनिया में अपनी ही लायी हुई दो बुराइयो की चुनौती से मुह मोड लेना उसके लिए असम्भव हो गया है । सभ्यता के उपक्रम मे चल रहे समाजों के रूप मे, अपने को समाज की एक नयी प्रजाति देने के प्रयत्न में ही उससे ये बुराइया पैदा हुईं । ये दोनो बुराइया भी युद्ध की एक ही बुराई की दो भिन्न अभिव्यक्तिया हैं परन्तु दोनों को अलग-अलग नाम देकर उनको पहिचानना ज्यादा सुविधाजनक होगा— १ युद्ध, जिस सामान्य अर्थ मे वह लिया जाता है, तथा २. वर्ग-युद्ध । दूसरे शब्दों मे इन्हे क्षैतिज युद्ध (Horizontal War) तथा ऊर्ध्वाधर वा लम्ब युद्ध (Vertical War) या पडा और खडा युद्ध कह सकते है ।

यह एक ऐसी स्थिति है जिसका सामना करने के लिए मानव जाति की कोई विशेष तैयारी नही जान पड़ती । इसकी सम्भावनाओ का विचार करते समय यदि हम इनका अलग-अलग विचार करे अर्थात् पहिले औद्योगिकी, युद्ध एव सरकार, तथा बाद मे औद्योगिकी, वर्ग-संघर्ष एवं रोजगार (इमप्लायमेंट) तो हमारा काम कुछ सरल हो जायगा ।

आद्योगिकी, युद्ध तथा सरकार

(१) तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावनाए

दो विश्व-युद्धो के फल-स्वरूप महाशक्तियों की पहिले वाली संख्या घटकर केवल दो रह गयी है—संयुक्त राज्य (अमेरिका) और सोवियत सघ । सोवियत सघ ने पूर्वी जर्मनी तथा पूर्ववर्त्ती हैप्सबर्ग एवं ओथमन साम्राज्यों के उन उत्तराधिकारी राज्यो मे से अधिकाश पर अधिकार कर लिया, जिन्हे द्वितीय विश्व-युद्ध के बीच क्षण-भगुर राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन तृतीय रीख ने कुचलकर रख दिया था । पाश्चात्य जर्मनी तथा आस्ट्रियन गण-राज्य अपने पडौसियो के अनुकरण पर १९५६ ई तक जो रूस के पेट मे नही गये उसका एक मात्र कारण यह था कि इस बीच वे सयुक्त राज्य तथा अपने पाश्चात्य यूरोपीय मित्रो के सरक्षण में आ चुके थे । इस समय (१९५६) तक यह स्पष्ट हो चुका था कि एक अरक्षणीय स्वतन्त्रता के स्थान पर सयुक्त राज्य के संरक्षित राज्य का रूप अगीकार कर लेना उस रूसी (अथवा चीनी) प्रभुत्व के विरुद्ध एक मात्र बीमा है जो अपनी लम्बी दौड में संसार मे कही भी, किसी भी देश मे प्रभावशाली होने का आश्वासन प्रदान करता है ।

पुरानी दुनिया मे सयुक्त राज्य (अमेरिका) के लिए यह एक नयी भूमिका थी, यद्यपि **नयी दुनिया** मे उसके लिए यह भूमिका बहुत दिनो मे परिचित थी । 'पवित्र मैत्री' (होली अलायस) के दिनो से लेकर **'थर्ड रीख'** के समय तक मुनरो सिद्धान्त ने अमेरिकान्तर्गत स्पेनी एव पोर्च्युगीज साम्राज्यो के उत्तराधिकारी राज्यों को किसी यूरोपीय शक्ति के नियन्त्रण मे चले जाने से बचाया था और स्पेनी या पोर्च्युगीज औपनिवेशिक शासन की जगह सयुक्त राज्य की प्रधानता स्थापित कर दी थी । उपकार करने वाले क्वचित् ही लोकप्रिय होते हैं और जबतक उनके उपकार पूर्णतया स्वार्थरहित न हो तबतक उनका ऐसा भाग्य उचित ही है । १९४५ ई. मे सयुक्त राज्य के प्रति फ्रास की भावना उससे कुछ ज्यादा भिन्न नही रही है जैसी पिछले सौ वर्षों के अन्दर ब्रेजीलियनों की रही है ।

जो भी हो, १९५६ ई मे पृथिवी-मण्डल पर सोवियत सघ और संयुक्त राज्य ये दो ही महाशक्तियां शेष रह गयी थी । दोनों एक-दूसरे के सामने खडी थी; और किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय शक्ति-सन्तुलन में दो की सख्या का बेढब होना अनिवार्य है ।

यह सच है कि बीस वर्ष पहिले के विपरीत इस समय जर्मनी और जपान दोनों आर्थिक दृष्टि से 'तुष्ट' (sated) देशो में गिने जा रहे हैं और इससे उनकी सम्पूर्ण जन-शक्ति युगों तक शान्तिपूर्ण रोजगार मे, अपने क्षेत्रो को समृद्ध करने मे, लगी रह सकती है किन्तु अतीत के इतिहास ने यह प्रदर्शित कर दिया है कि युद्धोन्मुख आक्रमण के लिए भय भी उतना ही शक्तिशाली स्रोत है जितना आर्थिक अभाव है। रूसी एव अमेरिकी जनता एक-दूसरे को समझने के लिए भलीभाति साधन-सम्पन्न नही है। रूसियो का अभ्यस्त स्वभाव तितिक्षा या समर्पण (docile resignation) का है और अमेरिकन अशास्त अधैर्य (obstreperous impatience) वाले होते है। दोनो का यह स्वभाव-भेद निरकुश शासन के प्रति उनके आचरण मे व्यक्त होता है। रूसियो ने अनिवार्य मानकर उसके सामने सिर झुका दिया, जबकि अमेरिकनो ने अपने ही इतिहास से यह सीखा कि यह एक ऐसी बुराई है जिसे कोई भी राष्ट्र अपनी इच्छा-नुसार उखाड फेक सकता है। अमेरिकनो ने अपना परमार्थ ऐसी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता मे देखा जिसे उन्होने विचित्रतापूर्वक समानता का पर्याय समझ लिया, जबकि रूसी साम्यवादी प्रभुताशाली अल्पमत ने अपने परमार्थ (Summum Bonum) या नि:श्रेयस को एक ऐसी सैद्धान्तिक—ख्याली समानता मे देखा जिसे उन्होने और भी ज्यादा बुरी तरह से स्वतन्त्रता मान लिया।

इस स्वभावगत एव सैद्धान्तिक भेदो के कारण दोनो राष्ट्रो के लिए एक दूसरे को समझना और एक-दूसरे का विश्वास करना कठिन हो गया। इस पारस्परिक अविश्वास ने भय को जन्म दिया। जिस क्षेत्र मे दोनो एक दूसरे को त्रास देते है वह औद्योगिकी के अभूतपूर्व वेग के साथ हुई प्रगति के कारण ऐसा रूप धारण कर चुका है कि पहिचानने मे नही आता और इस प्रौद्योगिक प्रगति ने एक समय के विशाल विश्व को ऐसे आयामो मे सकुचित कर दिया है कि अब दोनो प्रतियोगियो के लिए कठिन हो गया है कि बिना सीधे निशाने की मार मे आये खडे हो सके।

इस प्रकार जो दुनिया औद्योगिकीय रूप से एकीभूत हो गयी है उसमे ऐसा लगता है कि सोवियत सघ एव सयुक्त राज्य के बीच विश्व शक्ति होने की प्रतियोगिता का निर्णय अन्त में जाकर मानव जाति की वर्तमान पीढ़ी के उन तीन-चौथाई लोगों के मत-प्रकाश द्वारा होगा जो सभ्यता के उदय के पाच या छ हजार वर्षों बाद भी जीवन के मौलिक स्तर पर नवपाषाण युग या उत्तर-पाषाण युग मे रह रहे है परन्तु जिन्हे इतना पता चल गया है कि इसकी अपेक्षा उच्चतर जीवन-मान सम्भव है। अब उनके सामने अमेरिकी या रूसी जीवन-मार्ग मे से एक को ग्रहण करने के जो विकल्प हैं उनमे से अबतक डूबा हुआ पर अब जग रहा यह बहुमत बहुत करके उसी को चुनेगा जिससे उसकी क्रान्तिकारिणी आकाक्षाओ की पूर्ति की सम्भावना होगी। फिर भी, यद्यपि अन्तिम शब्द अबतक जलमग्न मानव जाति के पाश्चात्येतर बहुमत पर ही निर्भर करता है किन्तु यह भी सम्भव जान पड़ता है कि छोटी दौड मे रूसी-अमेरिकी तुला के पलडो पर निर्णायक बाट विश्व की जन-सख्या का यह तीन चौथाई भाग नही होगा बल्कि विश्व के वर्तमान औद्योगिक समरसाधन वाला वह चौथाई भाग होगा जो

अभी तक पाश्चात्य यूरोप मे स्थित है। सार्वभौम दृश्यपट पर रूस महाद्वीपीय (काटिनेटल) एवं सयुक्त राज्य द्वीपीय (insular) शक्ति के रूप मे प्रकट होते हैं— ठीक वैसे ही जैसे पाश्चात्य इतिहास के 'आधुनिक' काल के 'यूरोपीय' अन्तर्भाग्य-युद्धो (यूरोपियन इटर-पैरोकियल वार्स) में ब्रिटेन ने द्वीपीय शक्ति का, और स्पेन, फ्रास एव जर्मनी ने ब्रिटेन के क्रमागत शत्रुओ की भूमिका का अभिनय किया है। आधुनिकोत्तर विश्व-प्रांगण में पश्चिमी यूरोपीय क्षेत्र अब भी बडा महत्त्वपूर्ण और निर्णायक है क्योकि यह द्वीपीय शक्ति की महाद्वीपीय मोर्चाबन्दी है। बीते हुए जमाने मे फ्लैडर्स पाश्चात्य यूरोप का 'अखाडा' (cockpit) रहा है जिसमे असाध्य रूप से युयुत्सु ग्राम्य राज्यो ने अपनी लडाइया लड़ी थी। अब दूसरा व्यापक युद्ध होने की अवस्था मे सम्पूर्ण पाश्चात्य यूरोप पाश्चात्य रंग मे रगी दुनिया का 'अखाडा' होगा। सामरिक मानचित्र के इस रूपान्तरण मे शायद एक काव्यात्मक न्याय है, किन्तु इसके कारण १६४६ से अखाडे मे निवास करने की दु स्थिति पाश्चात्य यूरोपीयो के लिए उससे कम अमगलकारिणी नही है जितनी वह पन्द्रहवी शती की समाप्ति के पूर्व फ्लेमिग्स के लिए थी।

मानवीय कार्य-व्यापार की धारा से ऊपर मानवीय भावनाओ का जो प्रभुत्व है उसको नष्ट करने की कोई शक्ति औद्योगिकी की प्रगति मे नही है। सैनिकवाद औद्योगिकी का नही, मनोविज्ञान का—लडने की इच्छा का विषय है। जब युद्ध अन्यत्र और दूसरे लोगो द्वारा लड़े जाते हैं तो आह्लादकारी होते है और जब वे समाप्त हो जाते है तब शायद सबसे अधिक आह्लादकारी प्रतीत होते है। सभी सभ्यताओं के इतिहासकारो ने परम्परा से ही अपने क्षेत्र का सबसे दिलचस्प विषय उन्ही को माना है। अतीत काल में अधिकांश सेनाए अपेक्षाकृत छोटी होती थी और अधिकाश ऐसे लोगों से बनी होती थी जो लड़ने को और सब पेशो मे ज्यादा अच्छा समझते थे। किन्तु क्रान्तिकारी फ्रास मे १७९२ ई. की सामूहिक भरती के बाद से आधुनिक पाश्चात्य युद्ध-कला बहुत ज्यादा गम्भीर बात हो गयी है; और भविष्य की युद्धकला उसमे भी ज्यादा गम्भीर बनने को उद्यत जान पडती है। अब युद्ध उसका अनुभव करने वालो के सैनिकवाद को नष्ट करने की ओर उन्मुख है और लोक-सकल्प एक ऐसी शक्ति है जिसके सामने किसी निरंकुश शक्ति को भी, अन्त मे, झुकना ही पडता है। जिन देशों ने प्रथम विश्व-युद्ध मे सबसे ज्यादा सकट झेला था उनमे से फ्रास ने दूसरे महायुद्ध को सहन करने से लगभग इन्कार ही कर दिया। हिटलर ने सैनिकवाद की एक और पाली या शक्ति-परीक्षण के लिए जर्मनो को उत्तेजित करने में सफलता प्राप्त की; किन्तु १९५६ ई. मे यह सन्दिग्ध लगता है कि दूसरा हिटलर— यदि अभी भी दूसरे हिटलर को पैदा होना है—पुनः वही बांकेपन के हाथ दिखा सकेगा। यह बात उल्लेखनीय है कि साम्यवादी अधिनायको का प्रिय पारस्परिक विशेषण 'शान्ति-प्रेमी' है। नैपोलियन ने सेंट हेलेना में युद्ध को 'सुन्दर कब्जा' कहा था, किन्तु इसमे सशय है कि यदि वह आज भी जीवित रहता तो अणु-युद्ध के लिए भी इस शब्द का प्रयोग करता।

ये विचार मुख्यत: ऊंची सभ्यता वाले ऐसे राष्ट्रो पर लागू होते हैं जिन्हे बीसवी शती की युद्ध-कला का सीधा अनुभव हो चुका है। दूसरी ओर एशिया के जनसमाज की परपरागत वश्यता अनादि काल से निरंकुश सरकारो के सामने निष्क्रिय आज्ञाकारिता की राजनीतिक प्रणाली का रूप धारण करती रही है, और जबतक पाश्चात्यकरण की सांस्कृतिक प्रक्रिया केवल पाश्चात्य सैनिक प्रविधि का ज्ञान प्राप्त करने की प्रारम्भिक सफलताओ से बहुत आगे न बढ जाय तबतक एशियाई किसान सैनिक, एक ऐसे आक्रामक युद्ध मे भी अपने जीवन का बलिदान करने के आदेशों पर आपत्ति करने या उनका तिरस्कार करने का आरम्भ न करेगा जिसका व्यक्तिगत रूप मे उसके लिए कोई अर्थ नही है। किन्तु मध्य बीसवी शती की एशियाई सरकारे कबतक अपनी प्रजाओ की इस स्वभावगत वश्यता का सैनिक अभिप्रायो के लिए उपयोग कर पायेगी ? पाश्चात्य दृष्टि को ऐसा दिखायी पड सकता है कि मानो चीनी एव रूसी किसान-सैनिक ने अपने जीवन के ऊपर अपनी सरकार को सादा चेक दे रखा है (उन्हे जीवन के साथ चाहे जो करने का अधिकार दे रखा है)। किन्तु इतिहास ने इस बात को प्रदर्शित कर दिया है कि एक ऐसी सीमा भी है जिसके आगे न तो चीनी न रूसी सरकार बिना क्षति उठाये जा सकती है। त्स-इन से लेकर काउ-मिन-ताग तक जिन चीनी सरकारों ने पेंच को जरा ज्यादा घुमाने का दुस्साहस किया उनको इस जरा-सी ज्यादती का मूल्य पुन: पुन: शासनाधिकार मे वंचित हो जाने के रूप मे चुकाना पडा। रूसी इतिहास मे भी यही कथा मिलती है।

जिस जारशाही ने क्रीमिया-युद्ध मे रूसी जनता का कष्ट देखकर १८६० ई के सुधारो-द्वारा उनका काटा दूर करने का विवेकपूर्ण कार्य किया उसी को भावी सकट के लिए पहिले से कोई व्यवस्था न कर सकने तथा बाद की सैनिक पराजयो के लिए तत्सम हरजाना देने से इन्कार कर देने के हठ की कीमत अपने प्राण के रूप मे चुकानी पडी। मेरा मतलब एक तो उस पराजय से है जो १९०४-५ के जपानी युद्ध में झेलनी पडी और जिसके कारण बाद के वर्ष मे निष्फल रूसी क्रान्ति हो गयी। दूसरी पराजय उसके बाद के प्रथम विश्व-युद्ध मे हुई जिसने १९१७ की दोहरी क्रान्ति को जन्म दिया। उस समय ऐसा लगा कि एक सीमा है जिस पर जाकर रूस का, या किसी भी कृषक देश का, नैतिक साहस पराभूत हो जाता है। फिर भी सम्भावना यह जान पड़ती है कि सोवियत सघ की सरकार सयुक्त राज्य को कोई ऐसी राजनीतिक छूट देने को तैयार न होगी जो रूसियो की दृष्टि मे अमेरिकी प्रभुत्व की द्योतक हो, इसकी जगह वह युद्ध की विभीषिकाओ का सामना करना ज्यादा पसन्द करेगी।

यदि इस प्रकार की सम्भावना है कि कतिपय परिस्थितियों मे सोवियत सघ अपनी बराबरी की किसी शक्ति के साथ युद्ध करने के लिए उतारू हो सकता है तो क्या ऐसी ही भविष्यवाणी सयुक्त राज्य (अमेरिका) के लिए नही की जा सकती ? १९५६ ई. मे तो इस प्रश्न का उत्तर स्वीकारात्मक ही मालूम पड़ता है। प्राचीनतम तेरह औपनिवेशिक बस्तियो के प्रथम बंदोबस्त के बाद से अमेरिकन राष्ट्र अत्यन्त असैनिक रहा है किन्तु इसी के साथ वह पाश्चात्य जगत् के राष्ट्रो मे सब से ज्यादा

सांग्रामिक (martial) रहा है। वे लोग असैनिक इस अर्थ मे रहे हैं कि उनमे सैनिक अनुशासन के प्रति आत्मार्पण करने मे अरुचि रही है और यह गैलिक महत्त्वाकाक्षा भी नही रही है कि उनका देश अपने लिए सैनिक गौरव प्राप्त करे। वे साग्रामिक इस अर्थ मे रहे है कि १८९० ई के लगभग सीमा बद होने की तिथि तक, वे सदा अपने अन्दर ऐसे सीमावासियो के सैनिक दल की गिनती करते रहे जो न केवल शस्त्र ग्रहण करने मे अभ्यस्त थे बल्कि अपने निजी प्रयासो के अनुगमन मे, अपनी बुद्धि के अनुसार उनसे काम लेना भी जानते थे। यह एक ऐसी स्थिति थी जो पाश्चात्य यूरोप के अधिकाश भागो मे बहुत पहिले मिट चुकी थी। जब पहिली बार ब्रिटिश द्वीप से आने वाले गोरे अमेरिका के तटो पर उतरे थे तब से अमेरिकी सीमावासियो (फ्राटियरमैन) की दस पीढियो की साग्रामिक ऊर्जा को किसी भी समय उत्तरी अमेरिकी इण्डियन (अमेरिका के आदिवासी) स्वीकार करने से इन्कार नही कर सकते। इसी प्रकार अठारहवी शती के अग्रेज औपनिवेशिको के फरासीसी प्रतियोगी तथा उन्नीसवी शती मे इन सीमावर्ती सैनिको के मैक्सिकी शिकार भी उनकी साग्रामिकता को स्वीकार करेगे। और उत्तरी अमेरिका पर कब्जे के लिए ऐंग्लो-अमेरिकी जनता, अपवाद तथा अस्थायी रूप मे, अपने को ऐसे अनुशासन मे रखने के लिए तैयार थी जिसके बिना फ्राटियरमैन का वैयक्तिक साहस एव पराक्रम अपने ही सास्कृतिक स्तर के शत्रुओ के विरुद्ध विजयी होने मे असमर्थ रहता।

सब मिलाकर अमेरिकी जनता मे जो सैनिक गुण अन्तर्निहित है उनका पता उनके जर्मन शत्रुओ को १९१७-१८ तथा १९४१-४५ के जर्मन-अमरीकी युद्धो मे लगा था, किन्तु अमरीकी शौर्य, अनुशासन, सेनानायकत्व एव सहनशीलता का सबसे प्रभावशील प्रदर्शन उस युद्ध मे हुआ था जिसमे अमरीकी खुद अमरीकी के विरुद्ध लड़े थे। १८६१-५ का जो युद्ध यूनियन और कानफेडरेसी (राज्यसघ) के बीच हुआ वह सबसे लम्बा, सबसे अदम्य था, उसमे सबसे ज्यादा व्यक्ति हताहत हुए और नैपोलियन के पतन से लेकर प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ तक पाश्चात्य जगत् मे होने वाले युद्धो मे से इस युद्ध मे सबसे अधिक प्रौद्योगिकीय नवीनताएँ देखने मे आयी। इसके अलावा जिन दो विश्व-युद्धो ने हमारी याददाश्त मे जर्मनी एवं जर्मनी के रूसी तथा पाश्चात्य यूरोपीय आखेटो को उसी कठोरता के साथ तहस-नहस कर दिया जिस कठोरता के साथ अमरीकी गृह-युद्धो ने दक्षिण को ध्वस्त कर दिया था, उनमे से सयुक्त राज्य अनाहत निकल आया। एक ही जीवनावधि मे दो विश्व-युद्धों ने पाश्चात्य यूरोपीय के नैतिक साहस पर जो मनोवैज्ञानिक प्रभाव डाला, वह अतलान्त महासागर के अमरीकी पक्ष को कुछ अधिक स्पर्श नही कर सका, और १९५६ ई. मे यह सन्देह नही किया जा सकता कि अमरीकी जनता सोवियत सघ को कोई ऐसी छूट देने के स्थान पर, जो उनकी दृष्टि मे रूसी प्रभुता के सामने आत्म-समर्पण सी मालूम पडती हो, युद्ध की विभीषिका का सामना करना ज्यादा पसन्द करेगी।

किन्तु ऊपर हमने जो ऐतिहासिक साक्ष्य दिये हैं और जिनसे इसका सकेत मिलता है कि कुछ ऐसी परिस्थितिया भी हो सकती हैं जिनमे अमरीकी एवं रूसी राष्ट्र

में युद्ध की इच्छा जागरित हो उठे, उनका प्राक्कलन या अनुमान आणविक युद्धकला की प्रगति और इस प्रगति के मनोवैज्ञानिक प्रभाव के प्रकाश में करना चाहिए, क्योंकि यह ऐसा प्रभाव है जो मध्य बीसवीं शती की परिस्थितियों में स्वयं प्रौद्योगिकीय प्रगति के ज्यादा पीछे नहीं रह सकता। यदि इस बात का पूर्ण निश्चय हो जाता है कि एक सर्वग्रासी विभीषिका में देशभक्त के साथ उसका देश और हेतुभक्त के उसका हेतु भी नष्ट हो जायगा तो देश या हेतु के लिए मरना निष्प्रयोजन तथा निरर्थक हो जाता है।

(२) भावी विश्व-व्यवस्था की ओर

१९५५ ई. तक युद्धोन्मूलन, वस्तुतः, अनिवार्य हो गया, किन्तु तबतक उसका उन्मूलन सम्भव नहीं है जबतक कि आणविक शक्ति का नियंत्रण किसी एक ही राजनीतिक सत्ता के हाथों मे केन्द्रित न हो जाय। युग के इस ब्रह्मास्त्र के नियन्त्रण का यह एकाधिकार निश्चय ही उस सत्ता को सक्षम एवं विवश करेगा कि वह विश्व-शासन की भूमिका ग्रहण करे। १९५५ ई० मे जैसी परिस्थिति है उसमे ऐसी विश्व सरकार का प्रभावशाली केन्द्र या वाशिंगटन हो सकता है या मास्काउ, किन्तु न तो संयुक्त राज्य (अमेरिका), न सोवियत संघ अपने को दूसरे की दया पर छोड़ सकता है।

ऐसी वैश्व स्थिति मे लघुतम मनोवैज्ञानिक प्रतिरोध की परम्परागत रेखा, युद्ध-द्वारा निपटारा करने के पुरातन शैली वाले उपाय के रूप में ही हो सकती है। जैसा कि हम देख चुके है, साघातिक प्रहार ही वह साधन रहा है जिसके द्वारा एक के बाद एक भजित सभ्यता अपने संकटकाल से गुजरकर अपनी सार्वभौम अवस्था मे पहुचती रही है। किन्तु इस अवसर पर तो ऐसा लगता है कि साघातिक प्रहार न केवल विरोधी का, बल्कि विजेता, रेफरी, घूँसेबाजी के अखाड़े, यहा तक कि सब दर्शकों का भी अन्त कर देगा।

ऐसी परिस्थितियों मे मानव-जाति के भविष्य की सर्वोत्तम आशा इसी सम्भावना मे है कि संयुक्त राज्य (अमेरिका) और सोवियत यूनियन की सरकारें एवं जनता एक ऐसी नीति का अनुसरण करने का धैर्य रखेंगी जिसे 'शान्तिमय सह-अस्तित्व' (पीसफुल को-एक्जिसटेंस) नाम से पुकारा जाने लगा है। मानव-जाति के कल्याण बल्कि उसके आगे के अस्तित्व के लिए भी सबसे बड़ा अभिशाप आणविक आयुधों का आविष्कार नहीं है बल्कि जीवित मानवात्माओं के स्वभाव मे एक ऐसी उत्तेजना की वृद्धि है जैसी कि १५६० ई. के पाश्चात्य धर्म-युद्धों के छिड़ने से लेकर लगभग सौ वर्षों तक प्रारंभिक अधुनातन पाश्चात्य जगत् मे फैली हुई थी। बीसवीं शती के द्वितीयार्ध के आरम्भ के समय अपने कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टेण्ट पूर्ववर्तियों की भांति ही उसमे पूँजीवादी एवं साम्यवादी अनुभव कर रहे थे कि समाज की निष्ठा को अनिश्चित समय तक के लिए विभक्त रखना और उसे सच्चे (अर्थात् उनके) धर्म एवं निन्दनीय (अर्थात् उनके विरोधी के) अपधर्म के बीच आने देना न केवल अव्यावहारिक बल्कि असहनीय भी है। किन्तु पाश्चात्य धर्मयुद्धों का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आध्यात्मिक समस्याओं का निर्णय और समाधान शस्त्र-बल से नहीं किया जा सकता, और मानव-जाति द्वारा

अणु-आयुधो की प्राप्ति चेतावनी देती है कि कैथोलिकों एवं प्रोटेस्टेण्टों की भांति लम्बी लड़ाई लड़कर धर्मयुद्धो की निरर्थकता का ज्ञान प्राप्त करने का अनुभविक मार्ग अब पूंजीपतियों एव साम्यवादियों के लिए खुला नही रह गया है, क्योंकि कैथोलिकों एव प्रोटेस्टेण्टों की लड़ाई उस युग मे हुई थी जब मनुष्य के बुरे से बुरे अस्त्र केवल टोपी-दार बन्दूके, खड्ग और भाले थे।

जब परिस्थिति इतनी अनिष्टकर एवं धूमिल है तो आग्रही आशावाद उतना ही अनुचित तथा असमर्थनीय है जितना कि आग्रही निराशावाद है, और मानव-जाति की वर्तमान पीढ़ी के सामने इसके सिवा दूसरा विकल्प नही है कि वह यह समझ ले कि उसके सामने ऐसी समस्याएं है जिनमें स्वय उसका अस्तित्व ही खतरे मे है, और जिसका परिणाम क्या होगा, इसका अनुमान करना भी असम्भव है। १९५५ ई. मे नूह की डोंगी मे चढ़े हुए, वर्तमान पीढ़ी के ये स्थायीरूप से गृहहीन जन ठीक उसी स्थिति मे है जिसमे थोर हेयर दहल एव उसके पाच साथी वाइकिंगों या जलदस्युओ ने ७ अगस्त १९४७ की सुबह अपने को लट्ठो से बनी नौका पर पाया था। जो पश्चिमोन्मुखी धारा उनकी नौका (रैफ्ट) कोन-तिकी को प्रशान्त महासागर मे ४३०० मील तक ले आयी थी, वही उस दुर्भाग्यपूर्ण प्रभात मे उसे रैरोरिया जलशैल (रीफ) की ओर लिये जा रही थी। ये समुद्रयात्री देख रहे थे कि उस सीमा को छूनेवाली फेनिल तरगो के पार खजूरवृक्ष की पंखयुक्त चोटिया है, और वे जानते थे कि वे वृक्ष शान्त झील मे स्थित ग्राम्यद्वीप को सुशोभित करते है, किन्तु उनके और इस शरणस्थली के बीच तो फेनिल एव गरजती हुई शैलमाला 'क्षितिज से क्षितिज तक एक पंक्ति मे फैली हुई है।'[१] और धारा एव वायु की गति समुद्रयात्रियो को प्रदक्षिणा करते हुए नौका सुरक्षित निकाल ले जाने का कोई अवसर नही दे रही है। एक अनिवार्य सकट की ओर वे बलात् बहे जा रहे थे, और यद्यपि वे जान सकते थे कि इस सकट के समय किसी समुद्र-यात्री के सामने क्या विकल्प हो सकते हैं किन्तु इसका अनुमान करना उनके लिए सभव नही था कि खुद उनकी कहानी का अन्त किस विकल्प मे जाकर होगा।

यदि नौका उत्तुग तरगो मे टूट जाती है तो छुरे की नोक-जैसी प्रवालिका माझियो के टुकड़े-टुकड़े करके रख देगी; हा, यदि उसके पूर्व ही वे डूब जाते हैं तो भले ही उस अधिक वेदनापूर्ण मृत्यु से बच सकते है। यदि नौका विखडित नही होती और माझी तबतक उससे चिपटे रहते है जबतक कि उत्तुग तरंग स्वयं ही अपने विद्वेष को पराजित कर नौका को किसी ऊचे एव सूखे पर्वतशृ ग पर बहाकर फेंक देती है, तो यह सम्भव है कि जीर्ण नौका के आरोही उसके पार फैली शान्त भील को तैरकर किसी तमाल-मडित द्वीप तक जीवित पहुच जाय। यदि पर्वत पर नौका के पहुँचने का समय ठीक वही होता है जबकि उच्च ज्वार की वह बाढ़ आती है जो बीच-बीच मे पर्वत को इतनी गहराई तक डुबो देती है कि उत्तुग तरंगे खुद शान्त हो जाती है, तो सारे सांया-

[१] हेयर दहल, थोर : 'कोन-तिकी' (शिकागो १९५०, रैंड मैकनेली) पृष्ठ २४२

तिक सकटो के बाद भी कोन-तिकी मृत्यु-रेखा पार कर शान्त जल मे प्रवेश कर सकती है और इस भयानक संकट से अक्षत पार निकल जा सकती है। इस मामले मे भी उच्च ज्वार समय पर आया और उसने उस जर्जर तरी को, कुछ दिनो बाद, पवत से उठाकर झील में डाल दिया जिसे प्रचण्ड लहरो ने एक नगे लुढकन्त प्रवालिकाखण्ड पर पहुंचा दिया था। किन्तु ७ अगस्त १९४७ को कोन-तिकी पर बैठा हुआ कोई आदमी यह नही कह सकता था कि उसकी नियति उसे किस विकल्प पर पहुँचायेगी।

इन छः स्कैंदोनेवियाई समुद्रयात्रियो को उस समय जो अनुभव हुआ था वही उस सकट-काल का एक सही रूपक है जो खीष्टीय संवत् की बीसवी शती के द्वितीयार्द्ध के आरम्भ में मानव जाति के सामने है। सभ्यता की जो नौका इतिहास के समुद्र मे पाच-छः हजार वर्षों के काल की दूरी को पार कर आयी है, एक ऐसे जल-शैल की ओर चली जा रही है, जिससे घुमाकर नाव को सुरक्षापूर्वक खे ले जाने की क्षमता माझियों मे नही है। जो विश्व अमरीकी एव रूसी प्रभाव-क्षेत्रों मे बट गया है उसके और जो सयुक्त विश्व एक राजनीतिक सत्ता के नियन्त्रण मे होगा और जिसे आणविक आयुधो के युग में देर-सबेर इस ओर या उस ओर सत्ता के वर्तमान विभाजन को समाप्त करना ही पड़ेगा, उसके बीच जो सकटपूर्ण सक्रान्ति काल है वही हमारे सामने फैला सबसे बडा खतरा है। यह सक्रमण (ट्राजिशन) शान्तिपूर्वक होगा या विपत्तिपूर्वक होगा? और यदि विपत्तिपूर्वक होगा तो विपत्ति निरतिशय एव असमाधेय—ला-इलाज होगी या केवल आशिक होगी और अपने पीछे ऐसे तत्त्व छोड जायगी जिनके द्वारा अन्त मे मन्दगामी एव कष्टपूर्ण पुन.स्वास्थ्यलाभ सम्भव हो सकेगा? जब ये शब्द लिखे जा रहे है तब कोई पहिले से नही जान सकता कि जिस सकट की ओर ससार बढा चला जा रहा है उसका परिणाम क्या होगा?

किन्तु दुर्घटना हो जाने के बाद की सहजप्राप्त प्रज्ञा की प्रतीक्षा किये बिना भी एक पर्यवेक्षक सम्भवतः आने वाली वस्तुओ की रूपाकृति के विषय मे तबतक कुछ उपयोगी अनुमान लगा ही सकता है जबतक वह भावी विश्व-व्यवस्था के विचार को उन तत्त्वों तक सीमित रखता है जो सयुक्त राज्य के और सोवियत सघ के चतुर्दिक रूप धारण कर रही दोनों अर्द्ध-पार्थिव व्यवस्थाओं के साथ ही एक सार्वभौम अर्थ-व्यवस्था मे भी उपलब्ध हो।

जहा तक परिवहन के क्षेत्र मे प्रौद्योगिकी सुविधाएँ दे सकती थी और जहा तक उसने दी भी है वहां तक विश्व-सरकार अब भी बहुत व्यावहारिक प्रस्ताव है किन्तु ज्यो ही हम प्रौद्योगिकी के स्तर से ऊपर उठकर—या नीचे उतर कर—मानव स्वभाव के स्तर तक पहुंचते हैं तो देखते है कि जिस पार्थिव स्वर्ग को 'होमो फेबर' (Homo Faber) की विचक्षणता ने बड़ी कुशलतापूर्वक सयोजित किया था उसे 'होमो पोलिटिकस' (Homo Politicus) या राजनीतिक मानव की पथभ्रष्टता ने मूर्खों के स्वर्ग के रूप में परिवर्तित कर दिया है। जिस 'पार्लमेंट आफ मैन' (मानव-संसद या विश्व-संसद) के उद्घाटन की कल्पना भविष्यदर्शी टेनीसन ने प्रायः वायुयान के आविष्कार के साथ-साथ की थी वही अब संयुक्त राष्ट्र-सघटन या यूनाइटेड नेशस

आर्गेनिजेशन के ज्यादा गद्यात्मक नाम से देह धारण कर चुकी है, और यह संयुक्त राष्ट्र-सघटन या यू० एन० ओ० उतना अप्रभावशाली तो नही निकला जितना कभी-कभी उसके आलोचक दावा करते रहे है। किन्तु दूसरी ओर यह भी स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र-सघटन विश्व-सरकार का भ्रूण बनने के अयोग्य है। सत्ता के वितरण की वास्तविकताएँ उसके उस विधान के अनाडीपन मे नही प्रतिबिम्बित होती जिसने 'एक राज्य एक वोट' के सिद्धान्त को ग्रहण किया है और उसे ग्रहण करके भी राज्यों की कल्पित समानता को निष्ठुर यथार्थ के समकक्ष लाने का इससे अच्छा दूसरा साधन ढूढने मे असमर्थ रहा है कि पाच महती शक्तियो को विशेष छूट—कनसेशन दे दिया जाय अर्थात् उन्हे ऐसा निषेधाधिकार (वीटो) दे दिया गया जो उनके नाम मात्र के समकक्षो को प्राप्त नही है। इन पाच महती शक्तियो मे से एक तो अब चीन से फार्मोसा के स्तर पर उतार दी गयी है। सयुक्त राष्ट्र-सघटन के लिए जो सर्वोत्तम सम्भावना आखो के सामने है, वह यह है कि यह एक वाक्पीठ (forum) बनने की जगह एक राज्यसघ (कानफेडेरेसी) के रूप मे विकसित होने की चेष्टा करे, किन्तु स्वतन्त्र राज्यो के राज्यसघ (कानफेडेरेसी) और ऐसी प्रजाओ के राज्यसघ मे अन्तर है जिनकी एक केन्द्रीय सरकार हो—एक ऐसी सरकार जिसे सघ के प्रत्येक नागरिक की निजी निष्ठा पर दावा हो और जो उसे सीधे-सीधे प्राप्त हो, और यह बात तो कुख्यात ही है कि राजनीतिक सस्थाओ के इतिहास मे ऐसा कोई उदाहरण नही है जिसमे यह खाई सिवा क्रान्ति के किसी और उपाय से पार की गयी हो।

ऊपर हमने जो कुछ प्रदर्शित किया है उससे तो यही मालूम होता है कि संयुक्त राष्ट्र-सघटन वह सास्थिक केन्द्रक वा अन्तर्बीज (institutional nucleus) नहीं हो सकता जिससे अन्तत अनिवार्य किसी विश्व-सरकार का उद्भव हो सके। सम्भावना तो यह है कि यह सयुक्त राष्ट्र-सघटन के नही अपितु दो प्राचीनतर एव दृढतर राजनीतिक चालू सस्थाओ (गोइंग कनसर्न), सयुक्त राज्य की सरकार अथवा सोवियत सघ की सरकार के विकास से साकार हो सकेगा।

यदि मानवता की जीवित पीढी इनमे से किसी एक को चुनने के लिए स्वतन्त्र होती तो किसी भी पाश्चात्य पर्यवेक्षक के मन मे इसके लिए कोई सन्देह नहीं होता कि इस समस्या पर फैसला देने के योग्य सम्पूर्ण जीवित स्त्री-पुरुषो का निर्णायक बहुमत सोवियत सघ की अपेक्षा संयुक्त राज्य (अमेरिका) की प्रजा बनना ज्यादा पसन्द करता। जिन गुणो के कारण सयुक्त राज्य अतुलनीय रूप से वरीयता दिये जाने के योग्य है वह साम्यवादी रूसी पत्रों के ऊपर स्पष्ट ही चमकते हैं।

अमेरिका का प्रधान गुण, उसकी वर्तमान एव भावी प्रजाओ की आखों में यह है कि उसमे इस भूमिका का अभिनय करने के लिए खीचे जाने के प्रति पारदर्शक रूप से सच्ची हिचकिचाहट है। अमरीकी नागरिको की वर्तमान पीढ़ी, तथा जो स्वय आप्रवासी नही थे ऐसे सब अमरीकी नागरिको के पूर्वजों को भी, पुरानी दुनिया की अपनी जडे उखाड डालने और नयी दुनिया मे पुन. जीवन का आरम्भ करने की प्रेरणा इस लालसा के कारण हुई थी कि वे एक ऐसे महाद्वीप के मामलों से अपने को मुक्त कर सकें

जिसकी धूल अपने पैरों से उन्होने प्रकटतः ही झाड दी थी, और आशा की जितनी उत्फुल्लता के साथ उन्होंने पुरानी दुनिया छोडी थी, दुःख की उतनी ही तीक्ष्णता के साथ अमरीकियों की वर्तमान पीढी अनिवार्यतः प्रत्यावर्तन कर रही है। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह अनिवार्यता उस 'दूरी के समुच्छेदन' (एनीहिलेशन आफ डिसटैंस) से उत्पन्न हुई है जो पुरानी एवं नयी दुनिया को एक एवं अविभाज्य करता जा रहा है। यद्यपि यह अनिवार्यता, यह बाध्यता दिन-दिन अधिकाधिक स्पष्टता के साथ समझ मे आती जा रही है किन्तु इससे उस विमनता, उस अनिच्छा मे कोई कमी नही आ रही है जिसके साथ लोगो ने इसे स्वीकार किया है।

अमरीकियो का दूसरा प्रधान गुण उनकी उदारता है। सयुक्त राज्य एव सोवियत सघ दोनो ही 'परितृप्त' शक्तिया है किन्तु उनकी आर्थिक एव सामाजिक परिस्थितिया केवल इस सामान्य अर्थ मे समान है कि अमेरिका की भाति रूस को भी विशाल, अविकसित साधन उपलब्ध है। अमेरिका के अननुरूप रूस ने १९४१ ई. मे जर्मनी द्वारा आक्रान्त होने के पूर्व बारह वर्षों मे अपनी क्षमता का उपयोग मुश्किल से ही शुरू किया था और इतने मानवीय प्रयास एव दुःख की कीमत पर वह जो विकास कर सका था उसका अधिकाश आक्रमण से ध्वस्त हो गया। इसके बाद रूस ने अपने को विजयी पक्ष मे पाये जाने का अनुचित लाभ उठाया और जर्मनो ने रूसी औद्योगिक यन्त्रो का जो विनाश कर डाला था उसकी पूर्ति रूसियो ने न केवल अपराधी जर्मनी से वरन् पूर्वी एव मध्य यूरोप के उन देशो से भी उन्हे उठा लाकर की जिन्हे नाजियो के हाथ मे मुक्ति दिलाने का दावा वे कर रहे थे। यही बात उन्होने मचूरिया के उन चीनी प्रान्तो मे भी दोहरायी जिन्हे जपान के हाथ से मुक्त करने की बात थी। यह सब उस अमरीकी युद्धोत्तर पुनर्निर्माण-नीति के विपरीत था जो मार्शल योजना तथा अन्य उपायो मे प्रवर्त्तित की गयी और जिसके द्वारा उन अनेक देशो को पुनः अपने पाव पर खडे होने का अवसर मिला जिनका जीवन युद्ध के कारण विशृखल हो गया था। इसके लिए उस अमरीकी करदाता की सदिच्छा से वाशिंगटन-स्थित काग्रेस (अमरीकी ससद) ने धन की सहायता मजूर की, जिसकी जेब मे सब रकम आनी थी। अतीत काल मे विजयी शक्तियो की परम्परा तो उलटे लेने की थी, देने की नही थी और सोवियत सघ की नीति मे भी इस बुरी प्रथा का त्याग नही किया गया। मार्शल योजना ने एक ऐसा नया उदाहरण कायम किया जिसकी जोड़ का दूसरा उदाहरण इतिहास मे उपलब्ध नही था। कहा जा सकता है कि दूर एव बुद्धिमत्तापूर्ण दृष्टि से यह उदार नीति स्वय अमरीका के अपने हित मे थी किन्तु सत्कर्म इसलिए कम अच्छे नही रह जाते कि वे अच्छे होने के साथ ही बुद्धिमत्तापूर्ण भी हैं।

किन्तु अब पश्चिमी यूरोपीय देशो के नागरिक इस भय से परेशान है कि कही अमरीका ने कोई ऐसा निश्चय कर लिया जिसमे उनसे कोई राय नही ली गयी और रूसी उत्तेजना के जवाब मे अमर्ष के कारण कोई अनिच्छित अमरीकी कार्य ऐसा हो गया कि उसके परिणाम-स्वरूप उनके सिरो पर रूसी अणु-आयुध फट पडे, तो क्या

होगा ? यद्यपि अनेक विषयों मे अमरीकी सघ के आश्रित राज्यों को कार्य करने की ईर्ष्या-योग्य स्वतन्त्रता प्राप्त है, जो सोवियत संघ के आश्रित राज्यो को प्राप्त नही है, किन्तु जिन्दगी और मौत के इन मामलो मे वे भी अपने को उसी असहाय स्थिति मे पाते है ।

ब्रिटिश गायना एवं वेनेजुला के बीच सीमा-निर्धारण के प्रश्न को लेकर जो झगडा उठा था उसके बारे मे अमरीकी वैदेशिक मंत्री (सेक्रेटरी आफ स्टेट) रिचर्ड ओल्नी ने एक सुन्दर खरीता भेजा था, जिसने उसके नाम को वह अमरता प्रदान की जो आज भी उसके साथ लगी हुई है—

> **"आज इस महाद्वीप में संयुक्त राज्य प्रायः सर्वप्रभुताशाली है, और उसका अधिकार प्रजाओं के लिए वे कानून हैं जिनकी सीमा के अन्तर्गत ही वह किसी प्रकार का हस्तक्षेप करता है। क्यों ? इसलिए नहीं कि वह उनके लिए विशुद्ध मैत्री या सदिच्छा का अनुभव करता है। यह सभ्य राज्य के रूप में केवल उसके उच्च चरित्र के ही कारण नहीं है और न इसी कारण है कि विवेक न्याय और सुनीति संयुक्त राज्य के आचरण की अपरिवर्तनीय विशिष्टताएँ हैं। यह इसलिए है कि अन्य कारणों के अलावा, अपनी एकान्त स्थिति के साथ इसके असीम साधनों ने इसे परिस्थिति का स्वामी तथा किसी भी शक्ति अथवा अन्य सब शक्तियो के विरुद्ध लगभग अमोघ बना दिया है।"**

इस कथन मे जो औचित्य है वह लैटिन अमरीका-से एक बडे क्षेत्र मे उसके नायकत्व को लागू करने की स्थिति मे जरा भी कम नही होता । और यद्यपि एक गैर अमरीकी इस तथ्य के प्रति आत्मसमर्पण कर सकता है कि अमरीकी कोड़े रूसी बिच्छुओ पर तर्जीह दिये जाने योग्य हैं, गिबन की भाषा में 'एक दार्शनिक को अपने विचार विकसित करने का अवसर देना चाहिए ।' वह कहेगा कि जिन नीतियों पर आश्रित राज्यो के लोगों का जीवन एव भाग्य निर्भर करता है, उनके निर्णय एव पालन पर किसी भी अधिराज (पैरामाउट पावर) के एकाधिकार मे एक ऐसी वैधानिक समस्या गर्भित है जिसका समाधान किसी प्रकार के फेडरल सघ से ही हो सकता है । एक अधिराष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय (Supra National) व्यवस्था के आगमन से जो सवैधानिक समस्याएं उत्पन्न होगी उनका समाधान सम्भवत. सरलता अथवा शीघ्रता के साथ नहीं होगा, फिर भी यह मंगल शकुन का द्योतक है कि संयुक्त राज्य स्वय अपने इतिहास-द्वारा संघ-सिद्धान्त (फेडरल प्रिंसिपुल) की स्वीकृति के प्रति वचनबद्ध है

४३

औद्योगिकी, वर्ग-संघर्ष और रोजगार

(१) समस्या की प्रकृति

यदि रोजगार (employment) शब्द को इतना विस्तार दिया जा सकता हो कि उसमे न केवल अवकाश की मात्रा एव उसका वितरण आ जाय अपितु जिस भावना के साथ काम किया जाता है और अवकाश का जो उपयोग किया जाता है वह भी आ जाय तो यह कहना सही होगा कि एक ऐसे विश्वव्यापी पाश्चात्य रग मे रगे समाज पर, जो बहुत अधिक विभेदयुक्त जीवन-मान वाले बहुसख्यक भिन्न वर्गों मे विभाजित है, अभूतपूर्व क्षमताशालिनी पाश्चात्य प्रविधि (तकनीक) के सघात ने पाश्चात्य सभ्यता के उत्तराधिकारियो के सामने रोजगार की ऐसी समस्या खडी कर दी है जिसकी तुलना पूर्व अध्याय मे वर्णित शासन की समस्या के साथ की जा सकती है।

शासन या सरकार की समस्या के समान ही, रोजगार की समस्या भी अपने मे कुछ नयी नहीं थी, क्योकि यदि अन्य सभ्यताओ के विभजन एम विघटन का मुख्य कारण ग्राम्य वा सकुचित प्रणाली के समय पर व्यापक प्रणाली मे शासन-क्षेत्र का स्वेच्छा से प्रसार करके युद्ध को बचा ले जाने की असफलता थी, तो उसका एक गौण कारण यह भी था, कि काम के भार, और उपज तथा अवकाश के उपयोग एव उपभोग में स्वैच्छिक तथा सामयिक परिवर्त्तनो द्वारा वर्ग-संघर्ष को दूर रखने मे हम असफल रहे है। पूर्व विषय की भाति ही इस विषय मे भी मानवेतर प्रकृति पर उत्तरकालिक पाश्चात्य एवं पूर्वकालिक मानवीय प्रभुत्व मे मात्रा का जो अन्तर था वही उनके प्रचारो के बीच भी था। आधुनिक औद्योगिकी ने आर्थिक उपज के क्षेत्र को जो अभूतपूर्व शक्तिमान् नवीन गति दी उससे एक परम्परागत सामाजिक अन्याय समाधेय अत. असहनीय मालूम पडने लगा। जब अभियंत्रित उद्योग के नवनिर्मित शोभापात्र से मथित होकर उन पाश्चात्य साहसिकों के लिए प्रचुर धन बाहर आने लगा जिन्होंने औद्योगिक क्रान्ति का बीज बोया तथा फसल काटी थी, तब धन एव अवकाश पर एक सुविधाप्राप्त अल्पमत का एकाधिकार क्यो रहे ? इस नवोपलब्ध समृद्धि मे पाश्चात्य पूंजीवादियों एवं पाश्चात्य औद्योगिक श्रमिको के बीच तथा इसी प्रकार पाश्चात्य औद्योगिक श्रमिकों और एशियाई, अफ्रीकी एवं इंदो-अमरीकी उस कृषक

जनता के बीच हिस्सा-बाट क्यो न हो जो सामूहिक रूप से विश्वव्यापी पाश्चात्य समाज के आन्तरिक श्रमिक वर्ग मे मिला ली गयी है ?

समस्त मानव जाति के लिए बाहुल्य की सम्भावना के इस नवीन स्वप्न ने 'अभाव-मुक्ति' (फ्रीडम फ्राम वाट) की अदृष्टपूर्व रूप से आग्रही एवं अधैर्यपूर्ण मागो को जन्म दिया; इन मागो की सर्वव्यापकता ने इस प्रश्न को खडा कर दिया कि क्या शोभापात्र की उत्पादकता सचमुच उतनी ही अक्षय्य है जितनी मान ली गयी है ? इस सवाल का जवाब केवल उस समीकरण को हल करके ही दिया जा सकता है जिसमें कम से कम तीन अज्ञात राशिया हैं।

इन अज्ञात राशियो मे से पहिली उस मानव जाति की बढती हुई मागों को सन्तुष्ट करने की औद्योगिकीय प्रभविष्णु क्षमता का विस्तार है, जो अपने को बराबर गुणित करती जा रही है और अवकाश की माग करने लगी है। धात्विक रूप मे इस ग्रहमण्डल (पृथिवी) की जो अपूरणीय भौतिक सम्पदा है उसका सुरक्षित भण्डार कितना है ? जिन साधनो का अभी तक दोहन होता रहा है उनकी उपज को कहा तक बढाया जा सकता है, और मानव-जाति की क्षयशीला परिसम्पत्ति (Assets) की पूर्ति अबतक की अदोहित साधन-सम्पत्ति का दोहन करके कहा तक की जा सकती है ?

पाश्चात्य विज्ञान की वर्तमान सूचनाए सकेत देती हैं कि औद्योगिकी की क्षमता असीम है; किन्तु इसी के साथ मानव-स्वभाव की समकालिक प्रतिक्रियाओ ने इसे भी स्पष्ट कर दिया है कि मानवीय स्तर पर, उस उत्पादकता की व्यावहारिक सीमाए भी है। जो औद्योगिकीय रूप मे सम्भव है वही वास्तविकता मे तबतक रूपान्तरित नही किया जा सकता जबतक कि उत्तोलक या लिवर घुमाने वाले मानवीय हाथ न प्राप्त हो, किन्तु मानवेतर प्रकृति के ऊपर शक्ति की अत्यधिक क्षमताशालिनी इस वृद्धि का मूल्य श्रमिक-सघटन कार्य मे पेंच का भी समतुल्य सख्या में घूमना, और अपनी स्वतन्त्रता पर ऐसे अतिक्रमण का अनिवार्य प्रतिरोध औद्योगिकीय रूप मे जो कुछ सम्भव है उसकी उपलब्धि मे बाधक हुए बिना न रहेगा।

जिस डबल रोटी से प्रत्येक श्रमिक एक ज्यादा बड़े टुकडे की माग कर रहा है उसकी साइज मे वृद्धि करने के लिए ये श्रमिक अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता का किस सीमा तक बलिदान करने को तैयार होगे ? नागर औद्योगिक श्रमिक (अर्बन इडस्ट्रियल वर्कर्स) वैज्ञानिक प्रबन्ध (साइंटिफिक मैनेजमेंट) के सामने कहा तक सिर झुकाते रहेगे ? और मानव-जाति का आदिमकालीन कृषक बहुमत कितनी दूर तक कृषि-कार्यों मे पाश्चात्य वैज्ञानिक प्रणालियो को अपनाता रह सकेगा ? वह सन्तानोत्पत्ति के परम्परा-पवित्र अधिकार एव कर्त्तव्य पर लगाये जाने वाले बन्धनो को कबतक स्वीकार करता रहेगा ? इस समय तो ज्यादा से ज्यादा इतना ही कहा जा सकता है कि उत्पादन-वृद्धि की औद्योगिकीय सामर्थ्य और औद्योगिक श्रमिकों एवं कृषकों के स्वाभाविक मानवीय अड़ियलपन के बीच एक होड, एक दौड चल रही है। जीविका के साधनो की प्रत्येक वृद्धि के तुल्य अनुपात (Pari Passu) मे विश्व की जनसख्या मे वृद्धि करना जारी रखकर ससार की बहुप्रसवी कोटि-कोटि कृषक जनता औद्योगिकी

की प्रगति से होने वाले लाभो को नष्ट कर देने पर तुली हुई है । इसी प्रकार उत्पादन की क्षमता की प्रत्येक वृद्धि के समतुल्य श्रमिक-सघो (ट्रेड यूनियन) की प्रतिबन्धात्मक रीतियो को अपनाकर औद्योगिक श्रमिक औद्योगिकी से होने वाले लाभो को निरर्थक करने का भय उत्पन्न कर रहे है ।

(२) यन्त्रीकरण और निजी उद्योग

आर्थिक-सामाजिक स्तर का सबसे प्रधान लक्षण है वह रस्साकशी (टग आफ वार) जो अनियन्त्रित उद्योग-द्वारा बलात् लागू किये जाने वाले एकमार्गीकरण (Regimentation) और इस प्रकार एकमार्गीकृत होने की आग्रही मानवीय अनिच्छा के बीच होती है । इस स्थिति की जटिलता तो इस तथ्य मे है कि यन्त्रीकरण और पुलिस दुर्भाग्य मे अवियोज्य है । पर्यवेक्षक जिस प्रकाश मे दृश्य को देखता है उससे उसकी धारणा प्रभावित होती ही है । तकनीशियन (प्रविधिज्ञ) के दृष्टिकोण से दुराग्रही औद्योगिक श्रमिक का रुख बच्चो की भाति अविवेकपूर्ण मालूम हो सकता है । क्या ये लोग सचमुच ही नही जानते कि हर एक वांछनीय पदार्थ का अपना कुछ मूल्य होता है ? क्या ये सोचते हैं कि जिन शर्तों के पालन के बिना उनकी माग पूरी नही की जा सकती उनका पालन किये बिना ही वे अभाव से मुक्ति पा सकते है ? किन्तु एक इतिहासकार इस दृश्य को दूसरी ही नजर से देखता है । वह स्मरण करेगा कि औद्योगिक क्रान्ति अठारहवी शती के ब्रिटेन मे ऐसे समय और ऐसे स्थान पर शुरू हुई थी जब और जहां एक अल्पमत एकमार्गीकरण से मुक्ति का बहुत अधिक मात्रा मे उपभोग कर रहा था और इस अल्पमत के सदस्य ही अनियन्त्रित उत्पादन प्रणाली के जनक थे । प्रयास की जो प्राक्-औद्योगिक स्वतन्त्रता उद्योगवाद के इन अग्रगामी नेताओ ने पूर्ववर्ती समाज-व्यवस्था से विरासत मे पायी थी वही उस नवीन व्यवस्था की प्रेरणा एवं प्राण-रक्त थी जिसे उनकी पहल (इनीशियेटिव) ने अस्तित्व प्रदान किया था ।

इसके अलावा औद्योगिक प्रयासकर्त्ता की स्वतन्त्रता की प्राक्-औद्योगिक भावना ही, जो औद्योगिक क्रान्ति का मुख्य स्रोत थी, कहानी के अगले अध्याय मे भी उसकी प्रेरक शक्ति बनी रही । इस प्रकार यद्यपि, कुछ समय तक, उद्योगों के नेता अपने ही द्वारा निर्मित स्टीम रोलर से कुचल दिये जाने से बचे रहे किन्तु नूतन नागर औद्योगिक श्रमिकों के लिए तो यह भाग्य जन्मजात ही था क्योकि मानवेतर प्रकृति को वशीभूत करने में विजयिनी प्रौद्योगिकी की सफलता का मानव जीवन पर कुचल देने वाला प्रभाव वे शुरू से ही अनुभव करने लगे थे । किसी पूर्व सन्दर्भ मे हम देख चुके हैं कि प्रौद्योगिकी ने मनुष्य को किस प्रकार रात्रि-दिवस-चक्र और ऋतु-चक्र के अत्याचारो से मुक्त किया, किन्तु इन पुरातन दासताओ से उसे मुक्त करने मे उसने उन्हें नवीन दासता के अधीन कर दिया ।

नूतन औद्योगिक श्रमिक वर्ग ने समाज की नूतन रचना को जिन मजूर-सघ सगठनो का उपहार दिया है वे उसी निजी प्रयास के प्राक्-औद्योगिक स्वार्थ की विरासत

हैं जिसने उद्योग के नेताओं को पैदा किया था। अपने मालिकों के साथ के संघर्ष मे श्रमिकों को अपने पक्ष पर दृढ़ रखने वाले अस्त्रो के रूप मे देखने पर मालूम होता है कि ये संगठन भी उसी समाज-व्यवस्था की उपज थे जिससे उनके पूजीवादी विरोधी पैदा हुए थे। स्वभाव-वैशिष्ट्य की यह एकरूपता इस तथ्य मे भी देखी जा सकती है कि साम्यवादी रूस मे निजी मालिको के निर्मूलन के बाद ही मजूरसघो के एकमार्गीकरण की बारी आ गयी, जब कि राष्ट्रीय समाजवादी जर्मनी मे मजूर-संघो के निर्मूलन का अनुसरण निजी मालिकों के एकमार्गीकरण ने किया। इसके विपरीत, ग्रेट-ब्रिटेन मे, १९४५ के सामान्य निर्वाचन के बाद एक ऐसी मजूर सरकार आ गयी जिसके कार्यक्रम में निजी स्वतन्त्रता मे हस्तक्षेप किये बिना, व्यक्तिगत हाथो से औद्योगिक प्रयासों का स्वामित्व ले लेना शामिल था। किन्तु वहा राष्ट्र-अधिकृत उद्योगो के श्रमिको ने अपने मजूरसघो को समाप्त करने अथवा उन सब साधनों से इन सघो के सदस्यो के हितवर्धन के अधिकार का त्याग करने की बात कभी नहीं सोची जिनका प्रयोग उन्होने अपने परित्यक्त निजी 'मुनाफाखोरो' के विरुद्ध किया था। सिर्फ तर्कहीन घोषित करके इस कार्य-प्रणाली को समाप्त नही किया जा सकता, क्योकि मजूरसघो का प्रयोजन एकमार्गीकरण का प्रतिरोध करना था, फिर चाहे वह निजी पूजीपति द्वारा लागू किया गया हो या राष्ट्रीय परिषद् (नेशनल बोर्ड) द्वारा।

दुर्भाग्यवश, मालिक के हाथो किये गये एकमार्गीकरण के प्रति श्रमिको के प्रतिरोध ने उन्हे खुद ही अपने को एकमार्गीकृत करने पर बाध्य कर दिया। कारखाने मे यन्त्रमानव के रूप में परिवर्तित हो जाने के भाग्य के विरुद्ध लडते हुए उन्होने खुद अपने ऊपर मजूरसघ में यन्त्रमानव के रूप मे सेवा करने का भाग्य लाद लिया। इस भाग्य से मुक्ति पाने की कोई सम्भावना भी नही रह गयी। इस तथ्य मे भी उनके लिए कोई आश्वासन की चीज नही थी कि उनके पुराने समय वाले परिचित शत्रु, निजी प्रयासकर्ता, का अब स्वयं ही एकमार्गीकरण और इस सीमा तक यन्त्रमानवीकरण कर दिया गया है कि उसका अस्तित्व ही मिट गया है। अब प्रतिपक्षी कोई बोधगम्य मानवी उत्पीडनकर्ता नही था जिसकी आँखों को, रोष की भावना जगने पर, अभिशप्त किया जा सकता था या जिसकी खिड़कियां तोडी जा सकती थीं। अब तो श्रमिकों का आखिरी दुश्मन एक निराकार सामूहिक शक्ति थी—ऐसी शक्ति जो किसी अधम, इसलिए पहिचानने योग्य मानवप्राणी से कहीं अधिक प्रबल और कहीं अधिक छलनापूर्ण—पकड मे न आने योग्य थी।

यदि औद्योगिक मजूरों का यह बन्धनकारी आत्म-एकमार्गीकरण (सेल्फरेजीमेंटेशन) एक निराशाजनक अपशकुन था तो यह देखना भी बड़ा भयप्रद था कि पाश्चात्य मध्यवर्ग ने उसी मार्ग पर चलना शुरू कर दिया है जिस पर पाश्चात्य औद्योगिक मजूरवर्ग एक अरसे से चलता रहा है। १९१४ ई के साथ समाप्त होने वाली शताब्दी पाश्चात्य मध्यवर्ग का स्वर्ण-युग थी, किन्तु नये युग ने इस वर्ग को भी बारी आने पर, उसी दुःस्थिति में गिरते देखा जिसमें औद्योगिक क्रान्ति ने औद्योगिक श्रमिकों को पहुँचा दिया था। सोवियत रूस में मध्यवर्ग (बूर्जो) का निर्मूलन एक

सनसनीखेज अपशकुन था, किन्तु आगे आने वाली बातों का इससे भी सही सकेत तो ग्रेट-ब्रिटेन एव अन्य अंग्रेजी भाषा-भाषी उन देशो के समकालीन सामाजिक इतिहासों में पाया जा सकता है जिनमें कोई राजनीतिक क्रान्ति नही हुई ।

औद्योगिक क्रान्ति एवं प्रथम विश्व-युद्ध के आरम्भ के बीच वाले युग मे शारीरिक एवं क्लर्कीय दोनों प्रकार के मजूरों के वैशिष्टच के विपरीत, पाश्चात्य मध्यवर्ग का भेदकारी वैशिष्टच था—काम करने की उसकी भूख। मैनहट्टन द्वीप पर निर्मित पूजीवाद के दुर्ग में, अभी हाल ही १९४९ तक में, दोनो वर्गों के बीच का यह अन्तर एक क्षुद्र परन्तु महत्त्वपूर्ण उदाहरण मे दिखायी पडा। उस वर्ष वालस्ट्रीट की साहूकार कोठियाँ (फाइनेंशल हाउसेज) अपने शीघ्रलिपिक टाइपिस्टो को ऊची ओवर टाइम दर से विशेष पारिश्रमिक देकर उन्हे अपने इस सामूहिक निर्णय पर पुन. विचार के लिए प्रेरित कर रही थी कि आगे से वे शनिवार की सुबह काम पर न आया करेगे। इन टाइपिस्टों के मालिक देख रहे थे कि यदि वे अपना साप्ताहिक कार्यकाल और छोटा कर देते है तो उनके मुनाफे मे भी कमी आ जायगी, इसलिए वे खुद शनिबार की सुबह काम करने को तैयार थे। किन्तु जबतक शीघ्रलिपिक टाइपिस्ट उनके काम मे सहायता करने को कार्यालयो मे उपस्थित न हों तबतक वे अपना काम करने मे असमर्थ थे, और वे अपने धनार्जन के व्यवसाय मे अपने उन अपरित्याज्य सहकारियो को यह समझाने में असफल रहे कि शनिवार को काम करना उनके लिए भी लाभजनक है। शीघ्रलिपिक टाइपिस्टों का कहना था कि एक दिन अथवा आधे दिन का भी अतिरिक्त अवकाश उनके लिए किसी भी आर्थिक लाभ के प्रलोभन मे अधिक महत्त्वपूर्ण है। उनकी जेबों में अतिरिक्त रकम का आना उनके लिए बेमतलब था यदि वे अतिरिक्त अवकाश के त्याग की कीमत पर उसे प्राप्त करते हैं क्योकि तब उस अतिरिक्त धन को खर्च करने का समय ही उन्हे कब मिलेगा ? धन एव जीवन के बीच के इस विकल्प मे, उन्होंने धन निकल जाने की कीमत चुकाकर भी, जीवन के विकल्प को चुना और उनके मालिक लोग उन्हे अपना मत बदलने को राजी न कर सके। १९५६ ई. तक यह प्रतीत होने लगा कि वालस्ट्रीट के साहूकारो का दृष्टिकोण अतिरिक्त धन-प्राप्ति के प्रलोभन-द्वारा टाइपिस्ट ग्रहण करे, इसकी जगह खुद वे साहूकार ही, आर्थिक सकट के कारण, टाइपिस्टो का दृष्टिकोण ग्रहण करने को बाध्य होते जा रहे हैं क्योकि इस समय तक वालस्ट्रीट को भी उस झकोरे का अनुभव होने लगा था जिसके कारण इसके पहिले ही लोम्बार्ड स्ट्रीट के कभी आशा से पुलकित हृदय ठिठुरकर बैठ चुके थे।

खीष्टीय सवत् की बीसवी शती में लाभप्रद व्यवसाय करने के अवसर पाश्चात्य मध्यवर्ग के लिए पूजीवादी क्रियाशीलता के एक के बाद दूसरे पाश्चात्य केन्द्र से मिटते जा रहे है। और ये आर्थिक विफलताएं मध्यमवर्ग के स्वभाव-वैशिष्ट्य पर निराशा-जनक प्रभाव डालती हैं। इस वर्ग में काम करने की जो परम्परागत ललक थी वह, निजी प्रयास का क्षेत्र दिन-दिन घटते जाने के कारण, समाप्त होती जा रही है। अध्यवसायपूर्ण कमाई एव मितव्यय-जनित बचत के इसके परम्परागत गुणो को

मुद्रास्फीति एवं करवृद्धि ने निरर्थक कर दिया है। एक ओर तो जीवन-यापन का खर्च बढ़ता जा रहा है और दूसरी ओर जीवन-यापन का मान भी साथ-साथ बढ रहा है। इससे मध्यवर्ग अपने कुटुम्ब का आकार छोटा करने को विवश हो गया है। उसमे जो पेशे की कुशलता थी वह निजी पारिवारिक सेवा उपलब्ध न होने के कारण गिरती जा रही है। अवकाश न मिलने के कारण इसकी सस्कृति का ह्रास हो रहा है। जैसा कि बीसियो जीवनियों से व्यक्त होता है, वह माँ जिस पर उच्च मध्यवर्ग के मान मुख्यत: आश्रित थे, वही माँ, वही मध्यवर्गीय स्त्री आज मध्यवर्गीय पुरुष से भी ज्यादा कठोर आघात पा रही है।

मध्यवर्ग निरन्तर, अधिकाधिक सख्या मे, निजी प्रयासो से निकलकर सार्वजनिक या सरकारी नौकरियो या उनके मनोवैज्ञानिक प्रतिरूप महत् अशासकीय निगमो मे चला जा रहा है। उसके इस बहिर्गमन से पाश्चात्य समाज को लाभ भी हुआ है और हानि भी हुई है। सबसे बडा लाभ यह हुआ कि मुनाफाखोरी का प्रेरक हेतु लोक-सेवा के परहितवादोन्मुख हेतु के अधीन हो गया है। इस परिवर्तन के सामाजिक मूल्य का मापन अन्य सभ्यताओं के इतिहासो मे हुए समवर्ती परिवर्तन के परिणामो से किया जा सकता है। उदाहरणार्थ हेलेनी, सिनाई एवं हिन्दू सभ्यताओ के इतिहासो मे सार्वभौम राज्यो की स्थापना-द्वारा उद्घाटित सामाजिक समाहरण, बहुत बडे परिमाण मे लोक-सेवा के प्रति उस समय तक लूटपाट करने वाले एक वर्ग की क्षमताओं के पुनर्निर्देशन द्वारा ही प्राप्त किया गया था। लुण्ठक रोमन व्यापारियो मे से ही आगस्टस एव उसके उत्तराधिकारियों ने अच्छे लोकसेवको का निर्माण किया था; हान ल्यू पैग और उसके उत्तराधिकारियों ने लुण्ठक सामन्त-वर्ग मे उन्हे बनाया था; कार्नवालिस एव उसके उत्तराधिकारियों ने ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी के लुण्ठनकारी व्यावसायिक एजेंटों मे से उनकी रचना की थी। फिर भी प्रत्येक उदाहरण मे जो परिणाम निकले, उन्होंने विविध ढंग से, उनकी स्वाभाविक दुर्बलताओ को व्यक्त किया और उनकी चरम असफलता का स्पष्टीकरण सिविल सर्विस की आचरण-नीति की उम दुंधवृत्ति में देखा जा सकता है जिसमे एक ओर ईमानदारी का महान् सद्गुण था तो दूसरी ओर पहल करने या खतरा उठाने की उमग का अभाव या उसके प्रति अनिच्छा थी। अब यही विशेषताएं बीसवी शती के पाश्चात्य मध्यवर्गीय अधिकाश लोकसेवको (सिविल सर्वेंट्स) या सरकारी नौकरो मे दिखायी पड रही है। उनके सामने देर-सबेर से जो महत् कर्त्तव्य उपस्थित होने वाला है—विश्व-शासन को सघटित एव सचालित करने का कर्त्तव्य, उसका सफलतापूर्वक निर्वाह करने की उनकी सम्भावनाओं के लिए यह कोई अच्छा लक्षण नहीं है।

जब हम सिविल सर्विस की इस आचरण-नीति के कारणो पर विचार करते हैं तो हमें पता चलता है कि यह उस मशीन द्वारा किये जाने वाले दबाव की चुनौती का उत्तर है जो मानसिक के स्थान पर धात्विक सामग्री से बनी होने के कारण मानवात्माओं के प्रति कुछ कम कठोर नहीं थी। लाखों प्रजाओं का प्रशासन करने वाले एक अतिसंघटित राज्य के यन्त्र की देखरेख उतना ही आत्मविनाशक कार्य था जितनी

किसी कारखाने मे वैज्ञानिक रूप से व्यवस्थित भौतिक गतियां थी। बल्कि वस्तुत. लाल फीता लोहे की अपेक्षा संकुचित करने वाला सिद्ध हो सकता है, और वह लाल फीता अब सिविल सर्वेट की, सरकारी नौकर की आत्मा मे प्रवेश कर गया है; और कार्यश्लथ नागरिक सेवा (सिविल सर्विस) मे जाब्ते एवं नियम की कारंवाइयो-द्वारा सम्पादित भूमिका अब अत्यधिक कार्य-भार से दबे निर्वाचित विधान-मण्डलो मे अधिकाधिक कठोर एवं अनुशासनात्मक होती जाने वाली दलगत प्रणाली द्वारा अभिनीत की जाने लगी है।

प्रचलित 'पूंजीवादी' व्यवस्था की सम्भावनाओ के लिए इन सब प्रवृत्तियों के महत्त्व का अनुमान करना कुछ कठिन नही है। पाश्चात्य मध्यवर्ग के पास प्राक्-औद्योगिक काल मे मानसिक ऊर्जा का जो कोश था वही पूंजीवाद का प्रेरक बल था। यदि वह ऊर्जा आज शिथिल एव शक्तिहीन की जा रही है और साथ ही निजी प्रयासों से हटाकर सरकारी सेवा की ओर मोडी जा रही है तब निश्चय ही यह उपक्रम पूंजीवाद का काल सिद्ध होगा।

> **"पूंजीवाद निश्चय ही आर्थिक परिवर्तन का एक प्रक्रम है'''नवोन्मेष के बिना कोई प्रयासी, कोई अध्यवसायी नहीं, बिना आध्यवसायिक सफलता के कोई पूंजीवादी लाभ नहीं, कोई पूंजीवादी उमंग नहीं। प्रगति का--औद्योगिक क्रान्ति का वातावरण ही ऐसा होता है जिसमें पूंजीवाद जी सकता है। ''स्थिर पूंजीवाद अपने आप में विरोधार्थक है।"[1]**

ऐसा दिखायी पडता था कि औद्योगिक प्रविधि या औद्योगिक प्रौद्योगिकी (इण्डस्ट्रियल टेकनालिजी) द्वारा थोपा हुआ एकमार्गीकरण निजी प्रयास की प्राक्-औद्योगिक प्रेरणा के प्राण ले लेगा, और इस सम्भावना ने एक और सवाल खडा कर दिया। क्या अभियन्त्रित उद्योग की प्राविधिक प्रणाली निजी प्रयास की सामाजिक प्रणाली के बाद भी जीवित रह सकेगी ? और यदि वैसा नही कर सकेगी तो क्या उस अभियन्त्रित उद्योग की मृत्यु के पश्चात् स्वयं पाश्चात्य सभ्यता टिक सकेगी, जिसके आगे उसने अपने को बन्धक रख छोडा है, क्योंकि यन्त्रयुग मे उसने जन-संख्या को इस सीमा तक बढ़ने का अवसर दिया है जहा तक कोई औद्योगिकेतर अर्थ-प्रणाली उसका भार वहन नही कर सकती।

यह बात निर्विवाद है कि औद्योगिक प्रणाली तभी तक काम कर सकती है जबतक उसे संचालित करने के लिए सर्जनात्मक मानसिक ऊर्जा का कोई कोष होता है; और यह प्रेरक शक्ति मध्यवर्ग ही प्रदान करता रहा है। इसलिए अन्तिम प्रश्न तो यह खडा हो जाता है कि क्या इन्ही आर्थिक प्रयोजनो के प्रयोग मे आने योग्य मानसिक ऊर्जा का कोई दूसरा स्रोत है जिससे मध्यवर्ग की ऊर्जा के अक्षम हो जाने या किसी दूसरी दिशा मे लगा दिये जाने के बाद पाश्चात्य रंग मे रंगता जाने वाला विश्व अपने

[1] शुमपीटर, जे. ए. 'बिजिनेस साइकिल्स' (न्यूयार्क १९३९, मैकग्रा-हिल २ भाग), भाग २, पृष्ठ १०३३

लिए शक्ति ग्रहण करता रहे ? यदि कोई ऐसा व्यावहारिक विकल्प पहुंच की सीमा के अन्दर है तो विश्व पूंजीवादी प्रणाली का मृत्यु की ओर स्थिर चित्त से देख सकता है किन्तु यदि ऐसा कोई विकल्प नही है तो फिर सम्भावना भयप्रकारी है। यदि यन्त्रीकरण से एकमार्गीकरण होता है और इस एकमार्गीकरण ने औद्योगिक मजूरवर्ग की प्रेरणा खत्म कर दी है और उनके बाद मध्यवर्ग को भी निर्जीव कर दिया है तो फिर क्या किसी मानव के लिए इस सर्वशक्तिशाली यन्त्र (मशीन) को, हानि उठाये बिना, हाथ लगा सकना सम्भव है ?

(३) सामाजिक सामञ्जस्य के वैकल्पिक मार्ग

मानव-जाति के सामने जो सामाजिक समस्या उठ खडी हुई है उस पर विभिन्न देशो मे विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया जा रहा है। एक दृष्टिकोण उत्तरी अमरीका मे अपनाया गया है, दूसरा सोवियत संघ मे, और एक तीसरा पश्चिमी यूरोप में।

उत्तरी अमरीकी दृष्टिकोण नयी दुनिया मे एक पार्थिव स्वर्ग की रचना करने के आदर्श से अनुप्राणित है। यह पार्थिव स्वर्ग निजी प्रयास की एक ऐसी प्रणाली पर आश्रित है जिसके बारे में उत्तरी अमरीकियों (इस शब्द के अन्तर्गत अंग्रेजी भाषा-भाषी, कनाडा-वासी और सयुक्त राज्य के लोग, दोनो ही, शामिल हैं) का ख्याल है कि दुनिया मे और कही जो कुछ हो, अपने यहा वे उसे पूर्ण स्वास्थ्य की दशा मे रख सकते हैं। उनका विचार है कि वे मजूरी करने वाले वर्गों के आर्थिक एव सामाजिक मान को मध्यवर्ग के स्तर तक उठाकर और इस प्रकार जिसे हमने पूर्व अध्याय मे औद्योगिक यन्त्रीकरण का स्वाभाविक मनोवैज्ञानिक प्रभाव बताया है, उसे प्रभावहीन बनाकर ऐसा कर सकते हैं। यह बड़ा प्रेरणादायी विश्वास है परन्तु जरूरत से ज्यादा सरल है क्योकि यह अनेक भ्रान्तियो पर आधारित है। इन सब भ्रान्तियो को एक मूल भ्रान्ति सरल पार्थक्यवाद (आसोलेशनिज्म) या अलगाव में घटाकर रखा जा सकता है। नयी दुनिया उतनी नयी नही रह गयी है जितना उसके प्रशंसक चाहते हैं। मानव स्वभाव, जिसमें मूल वासना या पाप (ओरीजिनल सिन) शामिल है, प्रथम आप्रवासियो और उनके सम्पूर्ण उत्तराधिकारियो के साथ अतलान्त महासागर को पार कर गया था। उन्नीसवीं शताब्दी में भी, जब पार्थक्यवाद राजनीतिक स्तर पर साध्य-सा लगता था, इस पार्थिव स्वर्ग मे सांपों की बहुतायत हो चुकी थी और ज्यो-ज्यो बीसवी शती आगे बढ़ती और गहरी होती गयी त्यों-त्यों यह अधिकाधिक स्पष्ट होता गया कि विश्व का द्वैतभाव, पुराना और नया, एक ऐसी परिकल्पना है जो तथ्यो से मेल नही खाती। अब तो मानव-जाति 'सब की सब एक ही नाव' में थी और ऐसा जीवन-दर्शन, जो सब पर लागू न होता हो, किसी एक भाग पर भी ज्यादा दिनों तक लागू नही किया जा सकता।

वर्ग-सघर्ष का रूसी दृष्टिकोण भी, अमरीकी की भांति ही एक पार्थिव स्वर्ग की रचना करने के आदर्श से अनुप्राणित हुआ और अमरीकी नीति की भांति ही वह

वग-भेद के निर्मूलन-द्वारा वर्ग-संघर्ष से मुक्ति पाने की नीति मे मूर्त्त हुआ। किन्तु दोनो के बीच का साम्य यहा आकर समाप्त हो गया। जहा अमरीकी औद्योगिक मजूरवर्ग को मध्यवर्ग मे निमज्जित कर लेने का प्रयत्न कर रहे थे वहा रूसियो ने मध्यम वर्ग का ही अन्त कर दिया। न केवल पूजीवादियो के लिए बल्कि मजूर-सघों के लिए भी निजी प्रयास की सम्पूर्ण स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया।

साम्यवादी रूसी नीति में कुछ ऐसे प्रबल विचार-बिन्दु या मुद्दे थे जिनकी उपेक्षा सोवियत संघ के पाश्चात्य प्रतिरोधी नही कर सकते थे; और इस परिसपत्ति (असेट्स) मे पहिली और सबसे बडी चीज तो थी स्वयं साम्यवाद की लोकनीति (ईथोज)। लम्बी दौड मे यह विचार-धारा धर्म के लिए एक असन्तोषप्रद विकल्प प्रमाणित हो सकती है किन्तु थोडी अवधि के लिए तो रिक्त एव शून्य किसी भी प्राणी को, जिसका घर रिक्त, शून्य और ऋणग्रस्त था, उसने मनुष्य की एक गहनतम आर्थिक आवश्यकता अर्थात् तुच्छ वैयक्तिक उद्देश्यो से ऊपर उठाकर जीने का एक प्रयोजन प्रदान करके सन्तुष्ट कर दिया। ससार को साम्यवाद मे धर्मान्तिरित करने का मिशन उससे ज्यादा उल्लासकारी था जितना कि मुनाफा उठाने या हडताल करने के अधिकार के लिए दुनिया को सुरक्षित रखने का मिशन था। 'पवित्र रूस' 'सुखी अमरीका' की अपेक्षा अधिक उत्तेजक सामरिक नारा था।

रूसी अभिगम (एप्रोच) या मार्ग का दूसरा शक्तिमान् बिन्दु यह था कि रूस की जो भौगोलिक स्थिति थी उसमे रूसियो के लिए पार्थक्यवाद की भ्रान्ति को ग्रहण करना असम्भव था। रूस की कोई प्राकृतिक सीमा नही थी। इसके अलावा क्रेमलिन[1]-द्वारा उपदिष्ट मार्क्सवाद चीन से पेरू और मैक्सिको से ट्रापिकल अफ्रीका तक विश्व की कृषक-जनता को बहुत भाया। अपनी सामरिक एवं आर्थिक स्थिति मे, रूस की मानव जाति की उस दलित तीन-चौथाई लोक-संख्या के साथ सयुक्त राज्य (अमेरिका) की अपेक्षा अधिक घनिष्ठ सगोत्रता थी, जिसकी निष्ठा प्राप्त करने के लिए दोनो शक्तिया होड कर रही थी। रूस यह दावा कर सकता था, और उसका दावा ऊपर से सच्चा भी दिखायी पड़ता था कि उसने अपने कठोर प्रयत्नो से ही अपनी रक्षा की है और अपने उदाहरण-द्वारा संसार के शेष प्रोलेतेरियत (मजदूर वर्ग) की भी रक्षा करेगा। इस मजदूर-वर्ग का एक अंश खुद संयुक्त राज्य के अन्दर ही निवास करता था, और इस मार्क्सी प्रेरणा की शक्ति के प्रति साम्यवाद-विरोधी अमरीकियों के कतिपय वर्गों की चिन्ता छिपी नही रह सकी, बल्कि कही-कही तो वह अभिव्यक्तियो मे उन्मादोन्मुख (हीस्टीरिकल) तक हो गयी।

वर्ग-संघर्ष की समस्या के समाधान के निमित्त पाश्चात्य यूरोपीय मार्ग वा अभिगम—वह अभिगम जो ग्रेट ब्रिटेन एवं स्कैंडीनेवियाई देशों में बहुत अधिक दिखायी पड़ा—अमरीकी या रूसी अभिगमो से इस बात में भिन्न था कि वह दोनों की अपेक्षा

[1] मास्को स्थित जार का राजभवन जो अब साम्यवादी रूसी शासन का केन्द्र है। —सम्पादक

कम मताग्रही (doctrinaire) या कम अव्यावहारिक था। जो देश अपनी शक्ति एव सम्पत्ति ठीक उसी समय पाश्चात्य जगत् के छोरों पर स्थित उदीयमान भीमों के हाथ मे खोने के उपक्रम मे थे जब उनके स्थानीय औद्योगिक मजूर 'नयी' व्यवस्था पर जोर दे रहे थे, उनमे पाश्चात्य यूरोपीय मध्यवर्ग के लिए स्पष्टत: असम्भव था कि वह मजूरो को मध्यवर्गीय जीवन-मान एव व्यक्तिगत महत्वाकाक्षाओ की तुष्टि के अवसर प्रदान करने मे उत्तरी अमरीकी मध्यमवर्ग का अनुसरण करता। और पाश्चात्य यूरोपीय श्रमिक वर्ग को किसी निरंकुश शासन के तंग वास्कट—वेस्टकोट—का उपहार प्रदान करना तो और अधिक अव्यावहारिक होता। तदनुसार प्रचलित आग्ल-स्कैंडीनेवियाई अभिगम (एप्रोच) इन दोनो के बीच एक मध्यमार्ग खोज निकालने का यत्न था। उन्होने निजी प्रयास तथा सामाजिक न्याय के हित मे शासकीय एकमार्गीकरण निकालने, इन दोनो का मेल कराने, का प्रयोग किया। इस नीति को प्राय: 'समाजवाद' के नाम से पहिचाना गया। यह (समाजवाद) ऐसा शब्द था जो उसके ब्रिटिश प्रशसको के मुह में स्तुतिबोधक और उसके अमरीकी आलोचको के मुह मे निन्दात्मक प्रतीत होना था। जहा तक ब्रिटिश कल्याणराज्य (वेलफेयर स्टेट) प्रणाली का सम्बन्ध है, वह टुकडे-टुकडे करके और बिना किसी मूढ़ग्राह के सभी राजनीतिक दलो की वैधानिक देनो से बनायी गयी थी।

(४) सामाजिक न्याय की सम्भव लागत

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सामाजिक न्याय की किसी न किसी व्यवस्था के बिना मनुष्य के लिए सामाजिक जीवन असम्भव है। बुरी या भली, किसी भी मानवीय सफलता के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक अनिवार्य शर्त है, इसी प्रकार मानवीय अन्त:सम्पर्क के लिए सामाजिक न्याय प्रधान नियम है। किन्तु अनियन्त्रित वा असंयमित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता दुर्बलतम को नष्ट कर देती है और सामाजिक न्याय उस स्वतन्त्रता के दमन बिना पूरी तरह लागू नही किया जा सकता, जिससे रहित होकर मानवीय आचरण रचनात्मक हो ही नही सकता। जितने भी ज्ञात सामाजिक संविधान है वे सब इन्ही दो सैद्धान्तिक अतियो के बीच कही न कही स्थापित किये गये हैं। उदाहरणार्थ, सोवियत यूनियन तथा संयुक्त राज्य दोनो के कार्यशील सविधानो मे, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सामाजिक न्याय के तत्त्व विविध अनुपात मे मिश्रित हैं, और मध्य बीसवी शती के पाश्चात्यकारी विश्व मे इस मिश्रण पर, फिर चाहे वह कुछ भी क्यों न हो, प्राय. 'लोकतन्त्र' (डेमोक्रेसी) का लेबिल लगाया जाता है, क्योंकि हेलेनी राजनीतिक शब्द-भाण्डार से खोदकर निकाला गया यह शब्द (और वहां तो यह प्राय. निन्दात्मक अर्थ मे ही प्रयुक्त किया जाता था) आज प्रत्येक आत्म-सम्मान रखने वाले राजनीतिक कीमियागर के लिए एक अनिवार्य अभिज्ञान वा परिचय-चिह्न (shibboleth) बन गया है।

इस प्रकार प्रयुक्त 'लोकतन्त्र (डेमोक्रेसी) शब्द 'स्वतन्त्रता' (लिबर्टी) एवं 'समता' (इक्वैलिटी) के आदर्शों के बीच के वास्तविक संघर्ष को छिपाने वाला एक

धूमावरण मात्र था। इन दोनों विरोधी आदर्शों के बीच एक मात्र सत्य-समाधान भ्रातृत्व (फ्रेटर्निटी) के माध्यम आदर्श मे ही प्राप्य था। और यदि मानव की सामाजिक मुक्ति उसके इस उच्चतर आदर्श को वास्तविकता मे परिणत करने की सम्भावना पर निर्भर करती तो उसे मालूम हो जाता कि राजनीतिज्ञ की विचक्षणता उसे बहुत दूर तक नही ले जाती, क्योंकि तबतक भ्रातृत्व की उपलब्धि मानव प्राणियों की पकड के बाहर रहती है जबतक कि वे क मात्र अपनी ही शक्तियो पर विश्वास रखते हैं। मानव का भ्रातृत्व ईश्वर के पितृत्व से ही उत्पन्न होता है।

जिस हिलती हुई तराजू के पलडो पर व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव सामाजिक न्याय एक दूसरे के प्रतिकूल, तुलने के लिए रखे हुए है उसमे औद्योगिकी का डण्डा स्वातन्त्र्य-विरोधी स्तर मे फेंक दिया गया है। इस निष्कर्ष का चित्रण और समर्थन समाज की आगामी अवस्था के एक पर्यवेक्षण से हो सकता है, जो यद्यपि दिखायी पडने लगा है किन्तु अभी पहुँच के बाहर है। तर्क के लिए मान लीजिए कि सर्वशक्तिमती औद्योगिकी अपने कार्यक्रम---एजेण्डा---के दूसरे प्रधान कार्य को पहिले ही पूरा कर चुकी और मनुष्य के हाथों मे अणुबम धकेलकर उसने उसे युद्ध को समाप्त कर देने को मजबूर कर दिया; इसके साथ ही मान लीजिए कि सब वर्गों एव सब प्रजातियो को निरोधात्मक औषध के लाभ देकर उसने मृत्यु का औसत भी अभूतपूर्व रूप से कम कर दिया। यह भी मान लीजिए---जो सम्भावना के अन्तर्गत है---कि जीवन की भौतिक परिस्थितियो मे ये विलक्षण सुधार इस तेजी से हुए कि सास्कृतिक परिवर्तन उसका साथ न दे सके। तो फिर ये मान्यताए हमे यह कल्पना करने को भी विवश करेंगी कि मानव जाति की तीन चौथाई कृषक जनता जीविका के साधनो की सीमा तक सन्तति उत्पन्न करते जाने की अपनी आदत को नही छोड पायी होगी। फिर यह कल्पना हमे एक दूसरी कल्पना करने को मजबूर करती है कि जो ऐसी विश्वव्यापी व्यवस्था अपनी स्थापना के साथ शान्ति, पुलिस, स्वास्थ्य-विज्ञान तथा खाद्यद्रव्य की उपज पर विज्ञान के प्रयोग की सुविधाए ले आयी है उसने विराट कृषक जनता को जीवन-निर्वाह के जो अतिरिक्त साधन सुलभ कर दिये है उनका उपयोग और व्यय वह अपनी बढी हुई सख्या पर ही कर डालेगी।

ऐसी भविष्यवाणियाँ विचित्र नही हैं, वे बहुत दिनो से प्रचलित प्रवृत्तियो के भावी प्रक्षेपमात्र हैं। उदाहरणार्थ, चीन को लीजिए। वहाँ सोलहवी शती मे अमरीका से आये ऐसे खाद्यान्नो की फसले उगायी जाने लगी जो पहिले अज्ञात थे। इससे तथा सत्रहवी शती मे मांचुआना की शान्ति (Pax Manchuana) की स्थापना मे जीवन-निर्वाह के साधनो में काफी वृद्धि हुई किन्तु वह सब जनसख्या की वृद्धि के पेट मे समा गया। लगभग १५५० ई. मे मक्का, लगभग १५६० ई. मे मीठे आलू तथा चन्द वर्षों बाद मटर के देशीकरण के कारण, १५७८ ई. के जनगणना-विवरणो मे घोषित आबादी ६३,५९९,५४१ से बढ़कर १६६१ ई. मे १०,८३,००,००० हो गयी। इसके बाद भी वह बढ़ती ही गयी। १७४१ ई. मे १४,३४,११,५५९, उन्नीसवी शती के मध्य तक ३०,००,००,००० तथा बीसवी शती के मध्य तक लगभग

६०,००,००,००० पहुँच गयी । ये सख्याएं केवल वृद्धि का ही सकेत नही करती किन्तु बराबर बढ़ती ज्यामितिक प्रगतिशीलता की ओर भी इंगित करती हैं—और मजा यह कि ऐसी आश्चर्यजनक वृद्धि बीच-बीच मे प्लेग, महामारी, दुर्भिक्ष, युद्ध, हत्या एव आकस्मिक मृत्यु के होते हुई है । भारत, इन्दोनेशिया तथा अन्यत्र भी जनसख्या की समकालिक गति यही कहानी कहती है ।

यदि ऐसी बाते कल (अतीत मे) होती रही है तो आगामी कल (भविष्य मे) किस बात की आशा की जानी चाहिए ? यद्यपि विज्ञान के कल्पवृक्ष ने ऐसे उपज-बाहुल्य की सृष्टि भी की है जिसने अबतक माल्थस की निराशा को मिथ्या सिद्ध किया है किन्तु पृथ्वी-मण्डल की सतह के क्षेत्रफल की अपराजेय सीमितता के कारण मानव-जाति की खाद्यपूर्ति की प्रगतिशील वृद्धि की एक सीमा तो होनी ही चाहिए और ऐसा मालूम पडता है कि कृषक वर्ग की हद दर्जे की सन्तानोत्पादन की आदत पर नियन्त्रण स्थापित किये जाने के पूर्व ही हम इस सीमा पर पहुच जायगे ।

इस प्रकार माल्थस की आशाओं की मरणानन्तर पूर्ति की भविष्यवाणी करने के बाद हमे यह भविष्यवाणी भी करनी पड़ेगी कि महत् दुर्भिक्ष के समय तक कोई न कोई विश्वव्यापी सत्ता सामने आ जायगी जो अपने पृथ्वीमण्डल की सम्पूर्ण आबादी की प्रारम्भिक भौतिक आवश्यकताओं की देखरेख की जिम्मेदारी अपने ऊपर ले लेगी । उस अवस्था में बच्चे पैदा करना पत्नियो एव पतियो का निजी मामला न रह गया होगा और वह एक विश्वव्यापी अवैयक्तिक अनुशासक सत्ता की सार्वजनिक चिन्ता का विषय हो चुका होगा । व्यक्तिगत जीवन के आन्तरिक पवित्र कक्ष मे बलात् प्रवेश करने की ओर अभी जहा तक सरकारें आयी है, वह यह है कि जब श्रम के लिए या तोपो का चारा बनने के लिए अधिकारियों को मानव की सख्या बढाने की आवश्यकता पडती है तब असामान्य रूम से बड़े कुटुम्बों के माता-पिताओं के लिए विध्यात्मक पुरस्कारो की योजना की जाती है, किन्तु उन्होंने कभी अपनी प्रजाओप कुटुम्ब के आकार को सीमित करने की निषेधाज्ञा लगाने का सपना नही देखा, ठीक उसी प्रकार जैसे उन्होने उनको सन्तति-वृद्धि के लिए विवश करने की कल्पना नही की । निश्चय ही, सन्तान पैदा करने या न करने की स्वतन्त्रता इतनी लापरवाही के साथ स्वीकृत मान ली गयी थी कि १९४१ ई तक मे राष्ट्रपति रूजवेल्ट को यह नही सूझा कि अपने अटलांटिक चार्टर—घोषणापत्र—मे पावनीकृत स्वत.सिद्ध मानवीय स्वतन्त्रताओ की सख्या चार से पांच तक बढ़ाकर इसे बिलकुल स्पष्ट कर देते कि अपने कुटुम्बो के आकार का निश्चय करना माता-पिताओ का पवित्र अधिकार है । परन्तु अब तो ऐसा लगता हे कि भविष्य यह सिद्ध कर देगा कि इस विषय पर रूजवेल्ट के निश्छल मौन मे कोई अनिच्छित तर्क निहित था, मालूम यह पडता है कि अन्त मे मानव जाति को नूतन अभाव-मुक्ति की गारण्टी तबतक नही दी जा सकेगी जबतक कि सन्तानोत्पादन की परिचित स्वतन्त्रता उससे छीन न ली जायगी । इसे कैसे किया जाय, यह समस्या कुछ बड़े नाजुक प्रश्न खड़े कर देती है ।

यदि ऐसा ही समय आता है जब सन्तानोत्पादन किसी बाह्य सत्ता-द्वारा

नियन्त्रित कर दिया गया हो तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता में कमी किये जाने के इस कृत्य को एक ओर मानव जाति के कृषक बहुमत तथा दूसरी ओर एक ऐसे अल्पमत द्वारा किस रूप मे ग्रहण किया जायगा जिसे औद्योगिक प्रौद्योगिकी (इण्डस्ट्रियल टैक्नालिजी) कृषकों की पराधीनता से पहिले ही मुक्ति दिला चुकी है ? मानव-जाति की इन दो शाखाओ के बीच का विवाद सम्भवतः कटु होगा क्योकि दोनो को एक-दूसरे के विरुद्ध शिकायत होगी। औद्योगिक मजदूर इस मान्यता पर नाराजी प्रकट करेंगे कि कृषक-मुखों की सख्या मे अप्रतिबन्धित वृद्धि होते जाने पर भी उनको जीवन-निर्वाह की सामग्री देने की नैतिक जिम्मेदारी उन पर है। दूसरी ओर कृषक वर्ग अपनी जाति को जन्म देने के अपने परम्परागत स्वातन्त्र्य पर सिर्फ इसलिए प्रतिबन्ध लगाये जाने का विरोध करेगा कि भुखमरी का एक मात्र विकल्प यही है, क्योकि इस त्याग की मांग उनसे उस समय की जा रही है जब उनके दरिद्र जीवन-मान के बीच की खाई आज सदा से अधिक चौडी हो गयी है।

यदि हमारी यह भविष्यवाणी ठीक है कि जिस समय विश्व का खाद्य-उत्पादन अपने शिखर पर पहुँच रहा होगा उस समय भी कृषक-समाज सामग्री की अतिरिक्त पूर्ति या आमद (सप्लाई) का अधिकाश अपनी सख्या को वृद्धि मे खर्च कर देगा और औद्योगिक मजूर अपनी आय का अधिकाश अपने जीवन-मान को ऊचा करने मे खर्च करते जायेंगे तो इसके कारण दोनों वर्गों के बीच की खाई बराबर चौडी होती जायगी। इस स्थिति मे कृषक-जनता यह समझने मे असमर्थ रहेगी कि उसके मानवाधिकारो मे सबसे पवित्र अधिकार का त्याग करने को कहे जाने के पूर्व समृद्ध अल्पमत को अपनी उत्तेजक फालतू सामग्रियो का अधिकाश भाग छोडने को क्यों न कहा जाय। दूषित पाश्चात्य विशिष्ट वर्ग को यह मांग अनैसर्गिक रूप से विवेक-रहित मालूम पडेगी। पर पाश्चात्य या पाश्चात्य रग में रँगा विशिष्ट वर्ग, जिसकी समृद्धि उसकी बुद्धि और दूरदर्शिता का परिणाम थी, कृषक जनता के अदूरदर्शितापूर्ण यौन-असंयम की कीमत चुकाने को दण्डित क्यो किया जाय ? जब इस बात का ख्याल किया जाता है कि पाश्चात्य मानक (स्टैण्डर्ड) के बलिदान से विश्व-व्यापी दुर्भिक्ष की प्रेतछाया नष्ट न की जा सकेगी बल्कि बहुत थोड़ी ऐसी अवधि के लिए कुछ दूर रखी जा सकेगी जिसमे यह बलिदान सबसे आगे बढ़े लोगो को भी फिसड्डी बनाकर छोड देगा, तो यह मांग और भी अयुक्तिपूर्ण मालूम पड़ती है।

ऐसी कठोर प्रतिक्रिया से समस्या के समाधान मे कोई सहायता नही मिलेगी, और निश्चय ही इसका पूर्वानुमान किया जा सकता है कि जैसी भविष्यवाणी ऊपर हमने की है यदि अन्त मे वैसा ही खाद्य-संकट पैदा होता है तो पाश्चात्य मानव की मुख्य प्रतिक्रिया ऐसे सहानुभूति-शून्य ढंग की नही होगी। प्रबुद्ध आत्म-हित का, निरुद्वेग परिकलन, कष्ट-निवारण की मानवीय कामना और मतवादी हठ के साथ परित्यक्त ईसाइयत के अवशिष्ट आध्यात्मिक दाय-रूप नैतिक दायित्व की भावना—मतलब प्रेरक हेतुओ का ऐसा समवाय, जो एशिया एव यूरोप के देशो मे जीवन-मान ऊँचा करने के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रयत्नो को जन्म दे चुका है—पाश्चात्य मानव को

पुरोहित वा पादरी की भूमिका के स्थान पर सकट में दौड़ पड़नेवाले प्राणी की भूमिका पूरी करने के लिए प्रेरित करेगी।

यदि कभी यह विवाद छिडेगा तो उसके अर्थशास्त्र एव राजनीति के स्तर से उठाकर धर्म के स्तर पर ले जाये जाने की सम्भावना है और इसके कई कारण हैं। पहिली बात तो यह है कि कृषक समुदाय मे अपनी खाद्य-आपूर्ति की सीमा तक सन्तानोत्पादन का जो आग्रह है वह एक ऐसे धार्मिक विश्वास का सामाजिक प्रभाव है जिसे उसकी धार्मिक वृत्ति एव दृष्टिकोण मे परिवर्तन हुए बिना सुधारा नही जा सकता। जिस धार्मिक दृष्टिकोण ने उसकी सन्तानोत्पत्ति की आदत को तर्क के विरुद्ध इतना प्रतिरोधपूर्ण बना दिया है वह शायद मूल रूप मे इतना तर्कहीन, इतना अयुक्त नही रहा होगा, क्योकि यह समाज की उस आदिमकालीन अवस्था का अवशेष है जिसमे कुटुम्ब कृषि-उत्पादन का प्रशस्ततम सामाजिक तथा आर्थिक घटक था। अभियन्त्रित औद्योगिकी ने अब उस सामाजिक एवं आर्थिक पर्यावरण को दूर कर दिया है जिसमे कौटुम्बिक उर्वरता की पूजा कोई आर्थिक एव सामाजिक अर्थ रखती थी; किन्तु जब उसमे कोई अर्थ शेष नही रह गया है तब भी उस पूजा के आग्रह का कारण यह है कि बुद्धि एव इच्छा शक्ति का जिस तेजी के साथ विकास हुआ है उसकी तुलना मे अवचेतन स्तर पर मानसिक विकास की गति बडी धीमी रही है।

जबतक कृषक की आत्मा मे धार्मिक क्रान्ति नही होती, तबतक ससार की जन-संख्या की समस्या का हल होना कठिन ही जान पडता है, किन्तु भावी सकट को मानव जाति के लिए सुखद अन्त मे बदलना है तो इस स्थिति मे केवल कृषक-समाज ऐसा पक्ष नही है जिसका हृदय-परिवर्तन होना है। क्योकि यदि यह सत्य है कि मनुष्य केवल रोटी के बल पर जीवित नही रह सकता तो एक आत्मतुष्टिपूर्ण समृद्ध पाश्चात्य अल्पमत को कृषक-समुदाय के लोकाचार मे निहित अपार्थिव प्रवृत्तियों मे भी कुछ सीखना होगा।

अपने भौतिक सुखो की वृद्धि के प्रयत्न मे सनसनी पैदा करने की सीमा तक सफल प्रयास पर केन्द्रित हो जाने के कारण पाश्चात्य मानव के लिए अपनी आत्मा को खो देने का खतरा उत्पन्न हो गया है। यदि उसे मुक्ति प्राप्त करनी है तो वह इसे अपनी भौतिक सफलताओ के फल या लाभ मे मानव जाति के अपने भौतिक दृष्टि से कम सफल बहुमत को हिस्सा देकर ही पा सकता है। सन्तानोत्पत्ति-नियन्त्रक अनीश्वरवादी इजीनियर को भी असयमी एव अन्धविश्वासी कृषक से उतना ही सीखना है जितना कृषक को इजीनियर से सीखना है। इन दोनो पक्षों के प्रबोध एव उन्हें परस्पर निकट लाने मे ससार के ऐतिहासिक महत् धर्म किस भूमिका का अभिनय करते है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका अभी कोई उत्तर नही दिया जा सकता।

(५) इसके बाद क्या सदा सुखी रहेंगे?

यदि हम एक ऐसे विश्व-समाज की कल्पना कर सकें जिसमें मानव-जाति ने पहिले अपने को युद्ध एव वर्ग-सघर्ष से मुक्त कर लिया हो और फिर आबादी की

समस्या हल करने मे प्रगति की हो तो हम यह कल्पना भी कर सकते हैं कि मानव-जाति की दूसरी समस्या यह होगी कि अभियन्त्रित समाज के जीवन मे अवकाश की क्या भूमिका हो ?

अवकाश इतिहास मे पहिले ही प्रधान महत्त्व की भूमिका का अभिनय कर चुका है, क्योंकि यदि आवश्यकता सभ्यता की माता रही है तो फुर्सत (अवकाश) उसकी धात्री—नर्स का कार्य करती रही है। सभ्यता का एक विशिष्ट गुण वह तीव्र वेग है जिसके साथ जीवन की इस नूतन प्रणाली ने अपनी क्षमताओ का विकास किया है। और सभ्यताओ को यह प्रेरणा एक अल्पमत के अल्पमत ने एक ऐसे विशेषाधिकारप्राप्त वर्ग के चन्द प्रयोजनशील लोगो ने, प्रदान की है जिनका विशेषाधिकार अवकाश का उपभोग करना ही रहा है। कला एव विज्ञान के क्षेत्र मे मनुष्य ने जितनी भी महती सफलताए प्राप्त की है वे सब इसी सर्जनशील अल्पमत-द्वारा अवकाश के लाभजनक उपयोग का परिणाम हैं। किन्तु औद्योगिक क्रान्ति ने—कई विभिन्न रूपो मे—अवकाश एव जीवन के पूर्व सम्बन्ध को विच्छिन्न कर दिया है।

इन परिवर्तनो मे सबसे महत्त्वपूर्ण तो मनोवैज्ञानिक परिवर्त्तन है। यन्त्रीकरण ने औद्योगिक मजूर के मन मे अपने काम के प्रति उसकी भावना और अवकाश के प्रति उसकी भावना के बीच एक ऐसा तनाव पैदा कर दिया है जिसका प्राक्-औद्योगिकी युग मे न तो कृषक बहुमत को, न विशेषाधिकारप्राप्त अल्पमत को कोई अनुभव था। खेतिहर समाज मे जो ऋतु-चक्र, कृषक-मानव का पचाग (कैलेंडर) था उसी ने अवकाश वाले अल्पमत के लिए दरबार लगाने और युद्ध को जाने या पार्लमेण्ट मे बैठने और शिकार खेलने या मछली मारने के बीच के समय या बटन—वितरण भी कर दिया था। दिवस-रजनी तथा ग्रीष्म-शिशिर के निरन्तर प्रवर्त्तमान चक्रो-द्वारा मुखरित यीन-एव-यांग लय मे कृषक-समाज एव उसके शासक वर्ग दोनो ने ही कार्य तथा अवकाश की प्रत्यावर्त्तिनी अवस्थाओ को निश्चित मान लिया था। प्रत्येक अवस्था दूसरी से राहत देती थी। किन्तु कार्य एव अवकाश की यह प्राक्-औद्योगिक अन्तर्निर्भरता एव समानता उस समय विश्रृखल हो गयी जब श्रमिक ऐसी मशीनो के परिचर (टेंडर) के रूप में बदल गया जो रात-दिन पूरे माल चलती रह सकती हैं। अब मशीन एव अपने मालिकों-द्वारा काम कराते-कराते मार डालने के भय से अपनी रक्षा करने के लिए वह श्रमिक जीर्ण औद्योगिक युद्ध-कला को अपनाने पर मजबूर हो गया। उसने मशक्कत की उस जिन्दगी के प्रति अपने मन को शत्रुता या विरोध की भावना से भर लिया जिसे सहनशील कृषको ने स्वाभाविक मानकर ग्रहण कर लिया था; और कार्य के प्रति इस नये रुख ने अवकाश के प्रति भी एक नया रुख पैदा कर दिया, क्योंकि यदि कार्य आन्तरिक रूप से बुरा है तो निश्चय ही अवकाश का अपना अबाधित मूल्य होगा।

बीसवी शती के मध्य तक कारखाने और आफिस की नित्य चर्या (रूटीन) के प्रति मानवस्वभाव की प्रतिक्रिया इतनी दूर तक चली गयी थी कि कार्य के अत्यधिक बोझ से मुक्ति पाने का मूल्य उस आय के मूल्य से कही ज्यादा माना

जाने लगा जो पूरी तरह खटने के बाद कार्य करने वाले को प्राप्त होती थी। किन्तु इसी समय औद्योगिकी की अभी तक बेरोक प्रगति अपने मानवीय शिकार के साथ व्यंग्यपूर्ण अमली मजाक भी करती जा रही थी। जब वह उन्हें काम कराते हुए मौत तक पहुँचाने से विरत होती थी तो उन्हे बेकारी या बेरोजगारी की स्थिति मे पहुचा कर छोड़ देती थी। अत. मजूरसंघों की जो प्रतिबन्धक क्रियाए मशीन के मारक आघात पर ब्रेक लगाने के लिए सगठित अकुशलता के एक प्रकार के रूप मे सोची गयी थी, उनसे श्रमिको के इस अतिरिक्त प्रयोजन का भी काम लिया जाने लगा कि जो कुछ रोजगार बच गया है और जो मानव के हाथो से बिलकुल ही छिनता जा रहा है[१] उसे प्रसरित करने का मौका मिले। एक ऐसे पार्थिव स्वर्ग की पुनरुपलब्धि' (Earthly Paradise Regained) का पूर्वदर्शन सम्भव हो गया जिसमे पूर्ण रोजगार (फुल इम्प्लायमेंट) का शासन काल ऐसा होगा कि उसके अन्दर जो कुछ परिमित काम प्रत्येक व्यक्ति को दिया जायगा उसे करने मे उसके दिन का जरा-सा हिस्सा ही खर्च होगा और उसे प्राय: उतना ही अवकाश रहेगा जितना बहुत पहिले निर्मूल आलसी धनिक विशेषाधिकार-प्राप्त वर्ग को था—उस वर्ग को जिसका तिरस्कार करने की शिक्षा इन श्रमिको के पूर्वजों को दी गयी थी। ऐसी परिस्थितियो मे अवकाश का उपयोग निश्चय ही उससे कही ज्यादा महत्त्वपूर्ण होगा ही, जितना कि वह पहिले कभी भी था।

मानव-जाति इस सम्भवित सार्वदेशिक अवकाश का किस रूप मे उपयोग करेगी? ३१ अगस्त १९३२ ई. को ब्रिटिश एसोसिएशन के सामने बोलते हुए सर अल्फ्रेड ईविंग ने इस परेशानी पैदा करने वाले प्रश्न को उठाया था —

> "कुछ लोग एक ऐसे दूरागत कल्पना-स्वर्ग (utopia) की बात सोचते हैं जिसमें श्रम एवं श्रमजन्य परिणाम के बीच, पूर्ण समंजन (एडजेस्टमेंट) होगा—रोजगार, मजूरी तथा मशीन-द्वारा उत्पन्न सभी वस्तुओं का न्याययुक्त विस्तार होगा। किन्तु तब भी यह प्रश्न तो रह ही जायगा कि मनुष्य ने अपना प्राय: सम्पूर्ण भार एक अथक यान्त्रिक दास पर डालकर जो अवकाश प्राप्त किया है उसे वह कैसे खर्च करेगा? क्या वह ऐसी आध्यात्मिक श्रेष्ठता की आशा करता है जो उसे इस अवकाश का सदुपयोग करने योग्य बना देगी? ईश्वर उसे इसके लिए यत्न करने और उसे प्राप्त करने की शक्ति दे। खोजने से ही वह उसे पा सकता है। मैं यह सोच भी नहीं सकता कि मानव-जाति के भाग्य में अपक्षय (atrophy) लिखा है और वह अपनी ईश्वरदत्त शक्तियों में से एक प्रमुख शक्ति—इन्जीनियर की सर्जनात्मक प्रतिभा के विकास के कारण मिट जायगी।"

[१] सेमुएल बटलर-लिखित 'ईरे होन' में, जो १८७० ई. में प्रकाशित हुआ था, इस विचार की विशद अभिव्यक्ति मिलती है कि मशीन विकसित होते-होते अपने मानवीय सहायकों को कार्यमुक्त कर देगी।

मानवीय अस्तित्व के लिए रोमन शान्तिकाल (पैक्स रोमना) ने जो सुविधाएं प्रदान की थीं वे उस भविष्य की, जिसकी हम इस समय कल्पना कर रहे हैं, सुविधाओं की तुलना मे बहुत कम और पिछडी जान पडती है। फिर भी 'शैली मे उदात्त भावना' (Sublimity in Style) नामक अपने प्रबन्ध मे लेखक ने रोम-साम्राज्य के रौप्ययुग मे किसी अनिर्णीत तिथि पर लिखते हुए यह अनुभव किया था कि हेलेनी सार्वभौम राज्य की स्थापना से तनाव मे जो कमी आयी थी उसके कारण मानवीय गुण का ह्रास हुआ—

"जो प्राणी वर्तमान पीढ़ी में उत्पन्न हुए हैं उनके आध्यात्मिक जीवन का एक कसर—विषाक्त कर्कट—वह निम्न आध्यात्मिक तनाव भी है जिसमें हममें से कुछ चुने हुए लोगों को छोड सब अपने दिन बिता रहे हैं। अपने कार्य एवं मनोरंजन दोनों में ही हमारा एक मात्र ध्येय केवल लोकप्रियता और सुखोपभोग ही रहता है। हमें उस सच्ची आध्यात्मिक सम्पदा पर अधिकार करने की कोई चिन्ता नहीं होती जो अपने द्वारा किये जाने वाले कार्य में अपना हृदय उंडेल देने और ऐसी मान्यता की विजय से प्राप्त होती है जो सचमुच विजय करने योग्य है।"

हेलेनी आलोचक की इन बातो का समर्थन पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक युग के आरम्भ मे, आधुनिक भावना के एक पथदर्शक ने भी किया। निम्नलिखित अश 'एड्वान्समेंट आफ लर्निंग' नामक पुस्तक मे मिलते है जिसे फ्रान्सिस बेकन ने १६०५ ई मे प्रकाशित कराया था—

"जैसा कि अच्छी तरह देखा जा चुका है कि जब गुण का विकास हो रहा हो तब समृद्ध होने वाली कलाए सैनिक कलाए होती हैं, और जबतक गुण अपनी गरिमा में होते हैं, तबतक वे उदार होते हैं; और जब गुण अधोमुख होते हैं तब विषयी हो जाते हैं इसलिए मैं सन्देह कर रहा हूं कि ससार का यह युग चक्र (पहिये) के अधोगमन के समान है। विषयिनी कलाओं के साथ मै हास्यात्मक आचारो को जोड़ता हूं, क्योंकि इन्द्रियों को छलने मे भी इन्द्रियो का एक सुख है।"

बेतार के तार एवं दूरदर्शन—टेलीविजन—के इस युग मे हास्यात्मक आचार के अन्दर अवकाश के उपयोग का अधिकाश आ जाता है। श्रमिक वर्ग को मध्यवर्ग के भौतिक मान तक उठाने मे मध्यवर्ग के एक बहुत बडे भाग के जीवन का आध्यात्मिक स्तर पर श्रमजीवीकरण भी हो जाता है।

मायाविनी (circe) के प्रीतिभोज मे आये अतिथियों ने शीघ्र अपने को मायाविनी के शूकरबाड़े मे पाया। खुला सवाल तो यह था कि क्या वे वहा अनिश्चित काल तक बने रहेंगे ? क्या यही वह भाग्य, वह नियति है जिसके आगे मानवीय जाति ने कन्धा डाल दिया है ? मानव जाति क्या सचमुच उस वीर नव जगत् मे अब से सदा सुखी रहकर सन्तुष्ट हो जायगी जिसमे नीरस अवकाश की उकताहट को केवल अभियन्त्रित कार्य की उकताहट में परिवर्तित किया जा सकता है ? ऐसे भविष्य-कथन मे

निश्चय ही उस सर्जनात्मक अल्पमत का ध्यान नहीं रखा गया है जो इतिहास के सभी युगो मे धरित्री का शृंगार रहा है । 'शैली की भव्यता' (सबलाइमिटी आफ स्टाइल) पर उत्तरकालिक हेलेनी प्रबन्ध के लेखक के उदासी भरे निदान ने अपनी आंखों के सामने फैली परिस्थिति में सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व की ओर ध्यान ही नहो दिया, लगता है कि उसे ख्रीष्टीय शहीदो का पता ही न था ।

प्रौद्योगिकीय बेरोजगारी की सम्भावना से लेकर एक दूसरे पेंटेकास्ट दिवस '(यहूदियों का एक त्यौहार) की आगमाशा तक बहुत लम्बा व्यवधान मालूम पड सकता है, और निश्चय ही ऐसा है भी; और पाठक संशयवादियो की भांति पूछना चाहेगा . ये बातें कैसे हो सकती हैं ?' ख्रीष्टीय सवत् की बीसवी शती के मध्य बिन्दु पर पहुंचकर यह कहना सम्भव नही जान पडता कि ये कैसे होंगी, फिर भी कुछ ऐसी बाते तो अब तक कह ही दी जानी चाहिएं थीं जिनसे मालूम हो जाता कि ऐसी आशा मन का लड्डू (कल्पना मात्र) नहीं है ।

जिस एक युक्ति से जीवन अपने को जीवित रखने का चातुर्यपूर्ण कार्य करता है वह है एक विभाग की कमी या आधिक्य की पूर्ति दूसरे विभाग के आधिक्य या कमी से करना । इसलिए हम यह आशा कर सकते हैं कि जिस सामाजिक वातावरण मे स्वतन्त्रता की कमी और आर्थिक एव राजनीतिक स्तर पर एकमार्गीकरण का आधिक्य होता है उसमे प्रकृति के ऐसे नियम का फल होगा धर्म के क्षेत्र मे एकमार्गीकरण मे ढिलाई और स्वतन्त्रता की वृद्धि । रोमी साम्राज्य के दिनो मे घटनाओ का ऐसा ही क्रम रहा था ।

इस हेलेनी कथा से एक शिक्षा यह मिलती है कि जीवन मे एक 'अलघुकरणीय न्यूनतम' (इरिड्यूमेबिल मिनिमम) मानसिक ऊर्जा तो सदा रहती ही है और वह ऊर्जा एक या दूसरे मार्ग से बाहर निकलने का प्रयास करती रहती है, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि जीवन के खाते मे जो मानसिक ऊर्जा होती है उसकी मात्रा की भी एक अधिकतम सीमा है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि किसी एक काम मे अधिक तेजी लाने के लिए ऊर्जा की शक्ति मे वृद्धि करने की आवश्यकता है तो आवश्यक अतिरिक्त पूर्ति दूसरे स्थानो पर ऊर्जा की बचत करके ही की जा सकती है । जीवन जिस युक्ति से ऊर्जा की बचत या उसके खर्च में कमी करता है वह है यन्त्रीकरण । उदाहरणार्थ, हृदय के स्पन्दन एव फेफडो की श्वास-निश्वास की एकान्तरण-क्रिया को स्वचालित बनाकर जीवन ने शारीरिक शक्ति के निरन्तर परिचालन की क्षण-क्षण चिन्ता करने से मानवीय विचार एवं इच्छा को मुक्त करके अन्य क्षेत्रों मे उसके उपयोग का अवसर प्रदान किया है । यदि प्रत्येक क्रमागत श्वास और प्रत्येक क्रमागत हृदय-स्पन्द के लिए विचार या इच्छा को निरन्तर सोचने-समझने की जरूरत होती तो किसी तरह अपने को जीवित रखने के सिवा किसी भी मानव प्राणी के पास बौद्धिक या सांकल्पिक ऊर्जा और कामों के लिए बचती ही नहीं । इसी बात को और सही ढग पर यो कह सकते है कि तब कोई अवमानव (sub-suman) कभी मानव बनने में सफल नही होता । मनुष्य के भौतिक निकाय के जीवन मे ऊर्जा की बचत का जो सर्जनात्मक प्रभाव पड़ता

है उसके इस उदाहरण के प्रकाश में हम यह कल्पना भी कर सकते है कि उसके सामाजिक निकाय के जीवन मे धर्म तबतक भूखा रहेगा जबतक कि विचारणा एव इच्छा अर्थक्षेत्र मे व्यस्त रहेंगी (जैसी कि औद्योगिक क्रान्ति के बाद से वे पश्चिम मे रही हैं) या राजनीति मे विलीन रहेगी (जैसी कि देवभावित हेलेनी राज्य के पाश्चात्य रिनैसां के बाद से वे पश्चिम मे रही हैं)। इसे उलटकर हम यह निष्कर्ष भी निकाल सकते हैं कि इस समय पाश्चात्य समाज के आर्थिक एव राजनीतिक जीवन पर जो एकमार्गीकरण थोपा जा रहा है प्रतीत होता है कि वही, ईश्वर के यशोगान-द्वारा और एक बार पुन: उसके उपभोग-द्वारा मनुष्य के सत्य लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पाश्चात्य प्राणियो को मुक्त कर देगा।

यह सुखद आध्यात्मिक भविष्य कम से कम एक ऐसी सम्भावना तो है ही जिसमें पाश्चात्य स्त्री-पुरुषों की अवसन्न पीढी उदार प्रकाश की एक किरण फूटती देख सकती है।

१३. निष्कर्ष

यह पुस्तक कैसे लिखी गयी

लोग इतिहास का अध्ययन क्यो करते हैं ? वर्तमान लेखक का निजी उत्तर यह होगा कि अन्य ऐसे किसी प्राणी की भाति जिसको जीवन मे एक लक्ष्य रखने का आनन्द प्राप्त हो, एक इतिहासकार को भी ईश्वर का यह आह्वान मिला कि वह उसकी भावना करे और उसे प्राप्त करे। असख्य दृष्टिकोणो मे से एक दृष्टिकोण इतिहास का भी है। इसकी विशिष्ट देन है—ईश्वर की गतिमती सर्जनात्मक कार्यशीलता के दृश्य को ऐसे फ्रेम या चौखटे मे हमारे सामने उपस्थित करना, जिसमे, हमारे मानवीय अनुभव के अनुसार, छ आयाम हैं। ऐतिहासिक दृष्टिकोण हमे भौतिक जगत् को दिगन्त-काल (स्पेस-टाइम) के चतुरायामी फ्रेम मे अपकेंद्रिक (centrifugal) गति से चलता हुआ दिखाता है; यह हमे दिखाता है कि हमारे पृथिवी-ग्रह पर जो जीवन है वह जीवन-काल-दिगन्त के पंचायामी फ्रेम में किस प्रकार विकासमान होता हुआ चल रहा है; वह हमे ऐसे मानव-प्राणियों के भी दर्शन कराता है जो अन्तरात्मा के प्रसाद से छठे आयाम पर उठकर, अपनी आध्यात्मिक स्वतन्त्रता के नियतिनिर्दिष्ट प्रयोग-द्वारा या तो अपने स्रष्टा की ओर जा रहे हैं या फिर उससे दूर हटते जा रहे है।

यदि हम इतिहास मे ईश्वर की सृष्टि की गतिशीलता का दृश्य देखने में ठीक हैं तो हमे यह जानकर आश्चर्य न होगा कि यद्यपि इतिहास की छाप या प्रभाव के प्रति मानव-मनों की सहज ग्रहणशीलता सदा प्राय एक ही औसत वाली होती है, किन्तु उस प्रभाव या छाप की वास्तविक शक्ति, उपलब्धिकर्ता की ऐतिहासिक परिस्थितियों के अनुसार, भिन्न-भिन्न हो जाती है। ग्रहणशीलता को उत्कण्ठा से शक्तिमान् बनाना पडता है और उत्कण्ठा दृढ तभी होगी जब कि सामाजिक परिवर्तन का उपक्रम स्पष्ट एव प्रबल रूप मे व्यक्त होगा। आदिमकालीन कृषक-समाज कभी ऐतिहासिकमना (हिस्टारिकल माइण्डेड) नहीं रहा, क्योंकि उसके सामाजिक पर्यावरण ने सदा उससे इतिहास की बात न कहकर प्रकृति की बात कही है। उसके त्यौहार कभी चतुर्थ जुलाई, गाई फाक्स दिवस या युद्ध-विरामदिवस नहीं रहे बल्कि अनैतिहासिक प्रवर्तमान कृषि-वर्ष के भले-बुरे दिन रहे हैं।[1]

[1] लेखक ने पश्चिम की दृष्टि से ये उदाहरण दिये हैं। हमारे यहां भी यही बात है। होली, दिवाली, संक्रान्ति इत्यादि प्राकृतिक परिवर्तनों के ही त्यौहार हैं, ऐतिहासिक नहीं।—अनु०

जिस अल्पमत के सामाजिक वातावरण में इतिहास उनसे बोलता था उसमे भी ऐतिहासिक सामाजिक पर्यावरण के विकिरण का यह उद्‌घाटन, इतिहासकार को उत्साहित करने के लिए पर्याप्त नहीं था। उत्कण्ठा या जिज्ञासा के सर्जनात्मक आलोड़न के बिना, इतिहास के सर्वाधिक परिचित एवं श्रेष्ठ स्मारक भी अपना वाणीमय मूक तमाशा बिना किसी प्रभाव के करते रह जायगे, क्योकि जिन नयनों से वे बोल रहे होंगे वे कुछ देख ही न पायेंगे। यह सत्य कि सर्जनशीला चिनगारी बिना उत्तर और चुनौती के नही जलायी जा सकती, आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक यात्री बोलनी (Bolney) को तब प्रत्यक्ष हो गया था जब उसने १७८३-८५ में मुस्लिम जगत् की यात्रा की थी। बोलनी एक ऐसे देश से आया था जो हनीबाली युद्ध के जमाने मे, मतलब अभी हाल ही, सभ्यताओ के इतिहास की धारा मे खिच आया था, जब कि जिस क्षेत्र की वह यात्रा कर रहा था वह गाल की अपेक्षा ३-४ हजार वर्ष से भी अधिक इतिहास का रगमंच रह चुका था और उसी अनुपात से उसमे अतीत के दर्शनीय अवशेषो का भाण्डार भी था। फिर भी ख्रीष्टीय सवत् की अठारहवी शती के अन्तिम चतुर्थांश मे, मध्यपूर्व की जीवित पीढी यद्यपि विनष्ट सभ्यताओ के इन अद्‌भुत खडहरो मे फैली हुई थी किन्तु उसके हृदय में यह प्रश्न नही उठता था कि ये स्मारक क्या हैं, जब कि यही प्रश्न बोलनी को उसकी अपनी जन्मभूमि फ्रास से मिस्र खीच ले गया। पन्द्रह वर्ष बाद बोनापार्ट के सैनिक अभियान का लाभ उठाकर, और भी बहुतेरे फ्रासीसी विद्वानो ने उसका पदानुसरण किया। जब इम्बाबाह के निर्णायक युद्धक्षेत्र मे, धावा बोलने के पूर्व, नेपोलियन ने अपने सैनिको को सम्बोधित करते हुए कहा था कि इन पिरामिडो से इतिहास की चालीस शताब्दियाँ उनकी ओर देख रही हैं, तब वह जानता था कि वह एक ऐसी तान छेड रहा है जो उसकी सेना के अशिक्षित सैनिको को स्पर्श किये बिना न रहेगी और जिसका वे निश्चय ही उत्तर देंगे। हम निश्चित रूप से कह सकते है कि विरोधी मामलूक सेना के अधिपति मुराद बे ने अपने अनुत्सुक साथियों के सामने इस प्रकार का कोई आवाहन करने मे अपने श्वास का अपव्यय करने की आवश्यकता नही अनुभव की।

आधुनिक पाश्चात्य समाज मे विजय करने की जो अतोषणीय उत्कण्ठा है उसके लिए इतिहास का एक नूतन आयाम ढूंढ़कर नेपोलियन के पीछे-पीछे आने वाले फरासीसी आचार्यों ने अपने को अमर कर लिया। और उस समय से कम से कम ग्यारह खोयी एव विस्मृत सभ्यताओं को पुनः जीवन-दान दिया जा चुका है—पुरानी दुनिया की मिस्री, बैबिलोनियाई, सुमेरु, मिनोई, हित्ताई सभ्यताएं तथा सिन्धु-संस्कृति एव शाग संस्कृति, और नयी दुनिया की माया, यूकेताई, मैक्सी एव ऐंदियाई सभ्यताएं।

जिज्ञासा के प्रोत्तेजन के बिना कोई इतिहासकार नही हो सकता, किन्तु इतना ही अपने मे पर्याप्त नही है, क्योंकि यदि वह अनिदेशित है तो निरुद्देश्य सर्वज्ञता के पीछे चली जायगी। जितने भी महान् इतिहासकार हुए हैं उनमें से प्रत्येक की जिज्ञासा सर्वदा अपनी पीढ़ी के लिए व्यावहारिक महत्त्व रखने वाले किसी न किसी प्रश्न के

समाधान की ओर ही प्रवाहित रही है। इस वृत्ति को सामान्य भाषा मे यों कह सकते हैं—"उससे यह बात कैसे निकल आयी।" जब हम महान् इतिहासकारो के बौद्धिक इतिहासों का सर्वेक्षण करते हैं तो हमें ज्ञात होता है कि अधिकांश मामलों में किसी महत्त्वपूर्ण, साथ ही दारुण, सार्वजनिक घटना की चुनौती का उत्तर ही ऐतिहासिक निधान के रूप मे व्यक्त हो गया है। यह घटना ऐसी भी हो सकती है जिसे उन्होने स्वय ही देखा हो, यहाँ तक कि उसमें सक्रिय भाग भी लिया हो, जैसा कि थुसीडाइड्स ने महत् एथीनोपेलोपोनीशियाई युद्ध मे तथा क्लेयरेंडन ने महान् विद्रोह (ग्रेट रिवेलियन) में भाग लिया था, या वह कोई बहुत पुरानी ऐसी घटना भी हो सकती है जिसकी प्रतिध्वनि किसी संवेदनशील ऐतिहासिक मन मे एक उत्तर वा अनुक्रिया उत्पन्न कर सके, जैसा कि रोम-साम्राज्य के ह्रास एव भावोद्वेगजनक चुनौती से, शताब्दियो बाद राजधानी के ध्वसावशेषो में विचरण करते हुए गिबन प्रेरित हुआ था। एक ऐसी महत्त्वपूर्ण घटना भी जो सन्तोषजनक दीखती हो, सर्जनात्मक प्रोत्तेजन का रूप ग्रहण कर सकती है। उदाहरण-स्वरूप उस मानसिक चुनौती को देखिए जो हेरोडोटस को फारस-युद्ध से प्राप्त हुई थी। किन्तु अधिकांश मामलो मे इतिहास की महती विपत्तियों ने ही मानव की स्वाभाविक आशावादिता को चुनौती देकर, इतिहासकार के सर्वोत्तम प्रयासों को प्रेरित किया है।

मेरे-जैसा एक इतिहासकार जो १८८९ ई. में पैदा हुआ, और अभी १९५५ ई तक जीवित है, परिवर्तन के उस लम्बे निनाद को सुन चुका है जो इतिहासकार के तात्त्विक प्रश्न—'उससे यह बात कैसे निकल आयी' से टकराकर उत्पन्न हुआ था। उसके मन में सबसे पहिला और सबसे मुख्य प्रश्न यह उठा कि उससे पहिले जो पीढी गुजर चुकी है उसकी विवेकपूर्ण आशाओं को इस बुरी तरह भग होती देखने के लिए मैं क्यो बच गया ? लोकतान्त्रिक पाश्चात्य देशो मे, १८६० ई. के लगभग जन्मी पीढी के उदारमना मध्यवर्ग मे यह बात उन्नीसवी शती की समाप्ति तक निश्चित-सी लगने लगी थी कि विजयिनी के रूप मे आगे बढ़ती हुई पाश्चात्य सभ्यता ने मानवीय प्रगति को ऐसे बिन्दु पर पहुँचा दिया है कि शीघ्र ही दूसरे मोड पर पहुचते-पहुंचते वह पार्थिव स्वर्ग को प्राप्त कर लेगी। तब उस पीढ़ी को बुरी तरह निराश क्यो होना पडा ? सचमुच क्या गलती हो गयी ? नयी शताब्दी अपने पीछे युद्ध एवं दौर्जन्य की जो गड़बडी ले आयी उसमे राजनीतिक मानचित्र पहिचान के बाहर इस रूप मे कैसे बदल गया और कैसे आठ महती शक्तियों का मंगल भ्रातृत्व दो ऐसी शक्तियों मे बदल गया जो पाश्चात्य यूरोप के बाहर की थी ?

इन प्रश्नो की सूची को चाहे जितना लम्बा किया जा सकता है और वे वैसे ही बहुसंख्यक ऐतिहासिक अनुसन्धानो को जन्म भी देते है। चूकि वर्तमान लेखक ऐसे संकट-काल में पैदा हुआ जो इतिहासकार का स्वर्ग होता है, इसलिए वर्तमान घटनाओं ने उसके सामने जितनी ऐतिहासिक पहेलियां उपस्थित की सभी में उसकी दिलचस्पी हो गयी। किन्तु उसके पेशे का सौभाग्य यही तक समाप्त नही हुआ। वह ठीक ऐसे मौके पर पैदा हुआ था कि हेलेनवाद में विशुद्ध प्रारम्भिक अधुनातन पाश्चात्य रिनैसां-

शिक्षण (अर्ली माडर्न वेस्टर्न रिनैसां एजूकेशन) प्राप्त कर सका। १६११ की गर्मियो तक उसे लैटिन का अध्ययन करते हुए पन्द्रह और ग्रीक का अध्ययन करते हुए बारह वर्ष बीत चुके थे, और इस पारम्परिक शिक्षण ने प्राप्तिकर्ताओ पर ऐसा मगल प्रभाव डाला था कि वे उग्र सास्कृतिक राष्ट्रीयता के रोग से प्रतिरक्षित हो चुके थे। हेलेनी ढग पर शिक्षित पाश्चिमात्य, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् को सर्वोत्तम सम्भव क्षेत्र मान लेने की गलती मे नही पड़ सकता था, न वह अपने ही समकालीन पाश्चात्य सामाजिक वातावरण-द्वारा उसके सामने उपस्थित ऐतिहासिक प्रश्नो पर विचार करते समय उस यूनान की भविष्यवाणियो को भुला सकता था जिसको उसने अपने आध्यात्मिक गृह के रूप मे प्राप्त किया था।

उदाहरण के लिए, अपने उदारमना अग्रजो की आशाओ के भंग होने की बात पर विचार करते समय वह पेरिक्लियाई अत्ती लोकतन्त्र (Periclean Attic Democracy) के प्रति प्लेटो की निराशा का स्मरण किये बिना नही रह सकता था। १६१४ मे जो विश्व-युद्ध आरम्भ हुआ उसके अनुभवों के बीच वह तबतक नही जी सकता था जबतक कि वह इस सत्य को न देख लेता कि ४३१ ईसापूर्व मे जो युद्ध छिड गया था वह भी थूसीडाइड्स के लिए ऐसे ही अनुभवो का उपहार ले आया था। जब अपने अनुभवो से उसे प्रकाश मिला तो पहिली बार उसने देखा कि थूसीडाइड्स के जिन शब्दो एवं वाक्यो को इसके पूर्व उसने निरर्थक समझा था या बहुत कम महत्त्व दिया था उनमे एक गहराई है; तब उसने समझा कि एक दूसरी ही दुनिया मे २३०० वर्षों से भी पहिले लिखी उसकी पुस्तक उसके लिए ऐसे अनुभवो का कोष सिद्ध हो सकती है जो उसके पाठक की दुनिया मे पाठक की पीढी को अभी-अभी ग्रस्त करने लगे है। एक अर्थ मे १६१४ तथा ४३१ ईसा-पूर्व दोनो तात्त्विक दृष्टि से समकालिक ठहरते है।

इससे पता चला कि वर्तमान लेखक के सामाजिक वातावरण मे दो ऐसे तत्त्व थे, और दोनो ही वैयक्तिक नही थे, जो इतिहास के अध्ययन के उसके दृष्टिकोण पर अत्यधिक प्रभाव डालते थे। पहिला था, खुद उसके पाश्चात्य विश्व का वर्तमान इतिहास और दूसरा था उसका हेलेनी शिक्षण। चूंकि दोनों तत्त्वो की निरन्तर एक दूसरे पर प्रतिक्रिया होती रहती थी इसलिए इतिहास के विषय मे लेखक का दृष्टिकोण द्विनेत्री (binocular) हो गया। जब भी इतिहासकार का मौलिक प्रश्न 'यह बात उससे कैसे निकल आयी,' इस लेखक के सामने किसी वर्तमान संकट की घटना ने रखा तभी उसके दिमाग में उस सवाल का रूप यह हो गया—"पाश्चात्य एवं हेलेनी दोनो ही इतिहासो मे यह बात उससे कैसे निकल आयी ?" इस प्रकार उसने इतिहास को दो युगों की तुलना के रूप में ग्रहण कर लिया।

इतिहास के इस द्विनेत्री दृष्टिकोण का उन सुदूरपूर्वीय समकालिकों द्वारा अनुशसन एव पुष्टिकरण सम्भव था जिनके परम्परागत शिक्षण में एक पूर्ववर्ती सभ्यता की पुराण-भाषा एव साहित्य ने, हमारे ही उदाहरण की तरह, बड़ा महत्त्वपूर्ण अभिनय किया था। वर्तमान लेखक की भांति ही एक कनफ्यूशियाई पण्डित भी एक बीती

घटना पर समानान्तर किसी ऐसी प्राचीन घटना का स्मरण किये बिना विचार नही कर सकता, जो उसके लिए अधिक मूल्यवान् और शायद बाद वाली उस घटना से अधिक वास्तविक भी हो जिसने उसे परिचित सिनाई पुराण-साहित्य को चबाने के प्रिय कार्य की ओर प्रेरित किया है। इस उत्तरकालिक चिंग-कनफ्यूशियनमना पडित और उसके उत्तरकालिक विक्टोरियन हेलेनीमना अग्रेज समकालिक के बीच प्रधान अन्तर यह हो सकता है कि मानवीय घटनाओ का चीनी विद्यार्थी अपनी ऐतिहासिक तुलनाओ को दो ही युगो तक सीमित रखकर सन्तुष्ट हो सकता है, जब कि उत्तरकालिक विक्टोरियन अग्रेज एक बार ऐतिहासिक दृष्टि से दो युगो पर विचार का आरम्भ करके फिर अपने सास्कृतिक सरगम (gamut) को और विस्तृत क्षेत्र तक ले जाये बिना नही रह सकता।

बात यह है कि खीष्टीय सवत् की उन्नीसवी शती के अन्तिमाश मे अपनी परम्परागत शिक्षा पाने वाले चीनी छात्र को यह विचार फिर भी अद्भुत प्रतीत होगा कि सिनाई सभ्यता और उसकी सुदूरपूर्वीय उत्तराधिकारिणी के अलावा दूसरी सभ्यता भी गभीर विचार का विषय हो सकती है, किन्तु उसी पीढी के किसी पाश्चिमात्य के लिए ऐसी धुधली दृष्टि असम्भव है।

असम्भव इसलिए है कि जिस पाश्चात्य समाज का वह सदस्य है, उसने इसके पहिले के चार सौ वर्षों मे पुरानी एव नयी दुनिया की अपनी प्रजाति की आठ प्रतिनिधि सभ्यताओ से सम्पर्क स्थापित किया है। इसलिए पाश्चात्य मस्तिष्क के लिए अपनी एव हेलेनी के अलावा अन्य सभ्यताओ के अस्तित्व एव महत्त्व से इन्कार करना द्विगुणित रूप से असम्भव है। इसलिए भी कि जिन अतोषणीय जिज्ञासा वाले पाश्चिमात्यों ने कोलम्बस एव दि गामा के पदचिह्नो पर चलकर पहिले के अक्षत सागर पर विजय प्राप्त कर ली थी उन्होंने ही पूर्व मे दफनाये हुए अतीत को भी खोद निकाला था। जिस पीढी ने ऐसा विशद ऐतिहासिक क्षितिज प्राप्त कर लिया है उसमे का एक पाश्चात्य इतिहासकार, जिसकी हेलेनी शिक्षा ने दो युगो की ऐतिहासिक तुलना की ओर उसे प्रेरित किया है, तबतक सन्तोष नही प्राप्त कर सकता जबतक अपने तुलनात्मक अध्ययन के लिए वह समाज की प्रजाति के उतने नमूने न प्राप्त कर ले जितने प्राप्त किये जा सकते है. हेलेनी एव पाश्चात्य तो उस समाज-प्रजाति के दो ही प्रतिनिधि हुए।

जब उसने इस युग-तुलना को बढाकर दसगुनी कर लिया तब उसके लिए उस प्रधान प्रश्न की उपेक्षा करना सम्भव न रहा जो दो युगो की उसकी मूल तुलना ने पहिले ही उठा दिया था। हेलेनी सभ्यता के इतिहास मे सबसे अमगलसूचक तथ्य है एक ऐसे समाज का विघटन, जिसका भग ४३१ ईसा-पूर्व महान् एथीनो-पेलोपोनेशियाई युद्ध के साथ ही आरम्भ हो चुका था। यदि पाश्चात्य इतिहासो के बीच तुलना करने की लेखक की प्रणाली का कोई औचित्य है तो उससे यह निष्कर्ष भी निकलता है कि पाश्चात्य समाज भी वैसी ही नियति की सम्भावना से सुरक्षित नही है, और जब लेखक, और विस्तृत क्षेत्र में अध्ययन करते हुए पाता है कि उसके सभ्यताओ के समुदाय मे से अधिकाश पहिले ही मर चुकी है तो वह यह निष्कर्ष निकालने को विवश हो

जाता है कि प्रत्येक सभ्यता, जिसमे उसकी सभ्यता भी शामिल है, के सामने मृत्यु की सम्भावना खड़ी है ·

यह 'मृत्यु-द्वार' क्या है, जिसके भीतर एक समय पल्लवित-पुष्पित इतनी सभ्यताए विलीन हो गयी ? इसी सवाल ने लेखक को सभ्यताओं के विभंग एव विघटन का अध्ययन करने को प्रेरित किया, उसके बाद वह उनके स्रोत एव उदय के सपूर्तिकारी अध्ययन मे भी लग गया। इस तरह यह 'इतिहास का अध्ययन' लिखा गया है।

ग्रन्थ-संक्षेप

[१]

प्रस्तावना

१. ऐतिहासिक अध्ययन की इकाई

ऐतिहासिक अध्ययन की बोधगम्य इकाइयाँ राष्ट्र अथवा युग नही है, अपितु 'समाज' है। जब हम आग्ल इतिहास का एक-एक अध्याय लेकर परीक्षण करते है तो पता लगता है कि स्वयं अपने ही अन्दर की वस्तु के रूप मे वह बोधगम्य नही है; वह केवल एक बृहत्तर सम्पूर्ण (लार्जर होल) के एक अश के रूप मे ही बोधगम्य है। इस सम्पूर्ण मे उसके ऐसे अश (यानी इगलैड, फ्रास, नेदरलैड्स) समाये हुए है जिनके सामने एक से प्रोत्तेजन या चुनौतियाँ आती है किन्तु जो विभिन्न रूपो मे उनका उत्तर देते हैं। हेलेनी इतिहास का एक उदाहरण लेकर इसका निदर्शन किया गया है। जिस 'सम्पूर्ण' या 'समाज' के अन्तर्गत इंगलैण्ड है उसकी पहिचान पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् (वेस्टर्न क्रिश्चियेडम) के रूप मे की गयी है। विभिन्न समयो मे उसका जो विस्तार दिगन्त मे हुआ है और काल-आयाम मे उसके जो उद्गम है उनकी माप की गयी है। वह अपने अंगो की जोडबन्दी से पुराना है किन्तु कुछ ही पुराना है। उसके आरम्भ की खोज मे ही एक दूसरे समाज का पता लगता है जो अब मृत है, अर्थात् यूनानी-रोमी (ग्रीको रोमन) अथवा हेलेनी समाज। हमारा समाज इसी से सम्बद्ध है। यह भी स्पष्ट हो जाता है कि और भी कई जीवित समाज है—परम्परानिष्ठ ख्रीष्टीय (आर्थोडाक्स क्रिश्चियन), इस्लामी, हिन्दू तथा सुदूरपूर्वीय समाज। इनके अलावा कुछ ऐसे समाजों के अश्मीकृत (फासिलाइज्ड) अवशेष भी है जिनकी इस समय तक ठीक शिनाख्त नही हो सकी है, जैसे यहूदी एवं पारसी।

२. सभ्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन

इस अध्याय का तात्पर्य उन सब समाजों की, बल्कि सभ्यताओ की—क्योकि आदिमकालिक एवं सभ्येतर समाज भी तो है—पहिचान, परिभाषा एव नामोल्लेख करना है जो अबतक अस्तित्व में आ सकी हैं। अन्वेषण के लिए अपनायी गयी प्रथम

प्रणाली यह रही है कि जिन वर्तमान सभ्यताओं की पहिचान हो चुकी है उनके स्रोतों वा उद्गमो का परीक्षण करना और यह देखना कि क्या हम इस समय लुप्त ऐसी सभ्यताओ का पता लगा सकते है जिनके साथ वर्तमान सभ्यताए सम्बद्ध हैं—जैसे कि पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् हेलेनी सभ्यता से सम्बद्ध पाया गया है। इस सगोत्रता के लक्षण हैं—(क) एक सार्वभौम राज्य (यानी रोम साम्राज्य) जो स्वयं किसी 'सकट-काल' (टाइम आफ ट्रबुल्स) की उपज है, फिर उसका अनुसरण करने वाला (ख) एक राज्यान्तरकाल (इण्टररेगनम) जिसमे (ग) चर्च एवं (घ) वीर युग मे बर्बरो के सामूहिक प्रवास (बोल-कर-वान-दे-रू ग) का आविर्भाव होता है। फिर यह चर्च और सामूहिक प्रवास क्रमश. एक मरणशील सभ्यता के आन्तरिक एव बाह्य 'श्रमजीवीवर्ग' की उपज है। इन सूत्रो के सहारे बढ़ते हुए हमे पता चलता है कि—

परम्परानिष्ठ ईसाई समाज, हमारे अपने पाश्चात्य समाज की भांति ही, हेलेनी समाज के साथ सम्बद्ध है।

जब हम पीछे इस्लामी समाज के उद्गम की खोज करते है तो देखते है कि वह (उद्गम) स्वय ही दो मूलत· भिन्न समाजो—ईरानी एव अरबी का मिश्रण है। इन सबके स्रोत की खोज मे पीछे की ओर चलते हुए हमे हेलेनी प्रवेशन (हलेनिक इंट्रूजन) के हजार वर्ष पूर्व एक लुप्त सभ्यता का पता लगता है। इसे हम सीरियाई समाज नाम देते हैं।

हिन्दू समाज के पीछे जाने पर हमे इण्डिक (सिन्धु ?) समाज का पता चलता है।

सुदूरपूर्वीय समाज के पीछे हमे सिनाई (चीनी) समाज के दर्शन होते है।

अश्मावशेषो के बारे में पता लगता है कि वे अबतक पहिचाने हुए लुप्त समाजो मे से ही किसी न किसी के अवशेष है।

हेलेनी समाज के पहिले, उसके पृष्ठ भाग मे मिनोई (मिनोन) समाज खड़ा दिखायी पड़ता है, किन्तु यह भी देख सकते है कि अबतक पहिचाने अन्य सम्बद्ध समाजों के असदृश हेलेनी समाज ने अपने पूर्ववर्त्ती समाज के आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग-द्वारा आविष्कृत किसी धर्म को अगीकार नही किया। इसलिए उसे अपने पूर्ववर्ती समाज के साथ ठीक-ठीक सम्बद्ध नही कहा जा सकता।

सिनाई समाज के पीछे हमे शाग संस्कृति दिखायी पड़ती है।

इण्डिक सुसायटी (सिन्धु समाज ?) के पीछे हमे सिन्धु संस्कृति के दर्शन होते है जिसका समसामयिक सुमेरु समाज से कुछ न कुछ सम्बन्ध दिखायी पड़ता है।

सुमेरु समाज की सन्तति के रूप मे हमे दो और समाजों का पता चलता है—हित्ताई एव बैबिलोनियाई (हित्ताइत एव बैबिलोनिक) समाज।

मिस्री समाज का न कोई पूर्ववर्त्ती समाज था, न कोई उत्तराधिकारी ही था।

नयी दुनिया में हम चार समाजो की शिनाख्त कर सकते हैं : ऐंदियाई (ऐंदियन), यूकेती (यूकेटिक), मैक्सी (मैक्सिक) तथा मय वा माया समाज।

इस प्रकार हमारे पास, सब मिलाकर, सभ्यताओं के २१ नमूने हो आते है।

और यदि हम परम्परानिष्ठ ईसाई समाज को परम्परानिष्ठ बैजेंतियाई (अनातोलिया एवं बाल्कन में प्रचलित) तथा परम्परानिष्ठ रूसी एवं सुदूरपूर्वीय को चीनी एव जपानी-कोरियाई समाजो मे विभाजित कर देते है तो हमारे पास तेईस सभ्यताएं हो जाती हैं।

३. समाजो की तुलनात्मकता

(१) सभ्यताएं एवं आदिमकालीन समाज

सभ्यताओ मे एक बात सामान्य वा सर्वनिष्ठ होती है—वे आदिमकालीन समाजों से एक भिन्न वर्ग की होती हैं। अन्तिम (आदिमकालिक समाज) बहुसख्यक होते हैं किन्तु व्यक्तिगत रूप मे, अलग-अलग, बहुत छोटे होते हैं।

(२) सभ्यता के ऐक्य की गलत धारणा

इसमे इस गलत धारणा की जाच की गयी है कि केवल एक ही सभ्यता है, हमारी अपनी। जाच के अनन्तर इसका त्याग कर दिया गया है; इस 'विस्फोट' सिद्धान्त का भी परीक्षण एव त्याग किया गया है कि सब सभ्यताओ का उद्गम मिस्र मे है।

(३) सभ्यताओं की तुलनात्मकता का मामला

सापेक्ष दृष्टि से कहे तो सभ्यताए मानव-इतिहास की बहुत हाल की घटनाए हैं। इनमें से प्राचीनतम को पैदा हुए छ हजार वर्ष से अधिक नही हुए। उन पर एक ही प्रजाति (स्पीशी) के दार्शनिक दृष्टि से समकालिक सदस्यों के रूप मे विचार करने का प्रस्ताव है। इतिहास अपने को दोहराता नही (हिस्टरी डज् नाट रिपीट इटसेल्फ) की उक्ति के रूप मे जो अर्द्धसत्य प्रचलित है वह इस प्रस्तावित प्रणाली के मार्ग में कोई उचित आपत्ति नहीं उपस्थित करता।

(४) इतिहास, विज्ञान एव कथा-साहित्य

ये 'हमारे विचारो के जो विषय हैं उन्हे तथा उनके द्वारा जीवन के दृश्य-प्रपच को देखने एव उपस्थित करने की तीन भिन्न प्रणालिया है।' यहा इन तीन विधियो के बीच की भिन्नताओ का परीक्षण किया गया है और इतिहास के विषय को उपस्थित करने मे विज्ञान एवं कथा-साहित्य की उपयोगिता पर विचार किया गया है।

[२]

समस्याओ का उद्गम

४ समस्या और उसका समाधान न करने का उपाय

(१) समस्या का वर्णन

हमारे तेईस सभ्य समाजों में से सोलह तो पूर्ववर्ती सभ्यताओ से सम्बद्ध है किन्तु छ. सीधे आदिमकालिक जीवन से उद्भूत हुए हैं। आज जो आदिमकालिक समाज

जीवित हैं वे 'स्थैतिक' (स्टैटिक) हैं, किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि मूलतः वे गत्यात्मक रूप से प्रगतिशील रहे होंगे। सामाजिक जीवन मानव-जाति से भी पुराना है; वह कीड़ों-मकोड़ो तथा पशुओं में भी पाया जाता है और निश्चय ही आदिमकालिक समाजो की छत्रछाया में ही अवमानव (sub human) मानव के स्तर तक उठा; और यह उससे कही बड़ी प्रगति है जो आजतक किसी भी सभ्यता ने प्राप्त की है। फिर भी जिस रूप में हम इन आदिमकालिक समाजों को जानते है उस रूप मे वे स्थैतिक हैं। समस्या यह है · क्यों और कैसे यह आदिमकालिक परम्परा तोड़ी गयी थी ?

(२) जाति (रेस)

जिस तथ्य को हम ढूढ रहे हैं वह निश्चय ही उन मानव प्राणियो का कोई विशेष गुण होगा जिन्होंने सभ्यताओं का आरम्भ किया या वह उस समय के उनके पर्यावरण का कोई विशिष्ट तत्त्व होगा। वह उनके एव उनके पर्यावरण के बीच की कोई अन्तःक्रिया भी हो सकती है। इनमें से पहिली विचार-धारा के अनुसार कोई-कोई जाति ससार में सहज ही श्रेष्ठ होती है (जैसे नार्डिक जाति) और वही सभ्यताओ को जन्म देती है। यहा इस विचार-धारा की परीक्षा की गयी है और उसको अस्वीकार कर दिया गया है।

(३) पर्यावरण

इस विचार का कि कतिपय पर्यावरण ऐसे होते है जो जीवन की सरल-सुखद स्थिति पैदा कर सभ्यताओ को जन्म देते हैं, परीक्षण किया गया है और उसे भी छोड़ दिया गया है।

५. चुनौती और उत्तर

(१) पौराणिक सकेत-चिह्न

ऊपर जिन दो विचारो की परीक्षा की गयी और उनका परित्याग कर दिया गया है, उनमे भी दोष यह है कि वे एक ऐसी समस्या पर जो वस्तुतः आध्यात्मिक है, उन विज्ञानो की प्रक्रिया का आरोपण करते हैं जो भौतिक पदार्थों के प्रति व्यवहार करने के लिए हैं। जिन महत् पुराणों मे मानव जाति का प्रज्ञान सुरक्षित है, उनका सर्वेक्षण करने से इस सम्भावना का संकेत मिलता है कि मनुष्य किसी श्रेष्ठ शरीर-सम्पत्ति या भौगोलिक परिस्थिति के कारण सभ्यता की उपलब्धि नही करता किन्तु किसी विशेष कठिनाई की स्थिति में जो चुनौती उसके सामने उपस्थित होती है उसका उत्तर देने के रूप मे करता है; इसी चुनौती का उत्तर देने के लिए वह अभूतपूर्व प्रयास करता है।

(२) समस्या पर पुराण का आरोपण

सभ्यता के प्रभात के पूर्व अफ्रेशियाई स्टेप्पी (सहारा एवं अरब मरुस्थल) जल से सुसिंचित शाद्वल भूमि थी। बड़े लम्बे समय तक बराबर यह हरा-भरी भूमि सूखती गयी और इस प्रलम्ब शोषण-क्रिया ने वहा के प्राणियों के सामने जो चुनौती उपस्थित की उसका उन्होंने विभिन्न रूपों में उत्तर दिया। कुछ अपनी भूमि से चिपटे तो रहे

परन्तु उन्होंने अपनी आदतें बदल दी और इस प्रकार जीवन की यायावरीय (खाना-बदोश) प्रणाली का विकास कर लिया। दूसरे जमीन के सूखने से पीछे हटती हुई हरियाली के साथ-साथ उष्ण कटिबन्ध की ओर हटने गये और इस प्रकार अपनी आदिमकालीन जीवन-प्रणाली को सुरक्षित रखा— और आज भी वे अपनी वही जीवन-प्रणाली निभाते जा रहे हैं। दूसरों ने नील घाटी के दलदलों एव जगलो मे प्रवेश किया और अपने सामने उपस्थित चुनौती का उत्तर देने के लिए उन्हें रहने योग्य बनाया। इन्ही ने मिस्री सभ्यता का विकास किया।

इसी ढंग पर और इन्ही कारणो से दजला-फ़ुरात घाटी मे सुमेरु सभ्यता का और सिन्धु घाटी मे सिन्धु-संस्कृति का उद्भव हुआ।

पीत नदी की घाटी में शांग संस्कृति उद्भूत हुई। वह कौन सी चुनौती थी जिससे इसका जन्म हुआ, यह अबतक अज्ञात है। किन्तु इतना तो निश्चित ही है कि परिस्थितिया सरल की जगह कठोर ही अधिक रही होगी।

माया या मय सभ्यता उष्ण कटिबन्धीय जंगल की चुनौती के जवाब मे पैदा हुई; इसी प्रकार ऐंदियाई (ऐंदियन) का उद्भव वीरान पठार की चुनौती के उत्तर रूप मे हुआ था।

मिनोई या मिनोन सभ्यता सागर की चुनौती के उत्तर रूप मे उद्भूत हुई। इसके संस्थापक अफ्रीका के सूखते हुए तटो से भागकर आने वाले वे शरणार्थी थे जिन्होंने जलक्षेत्र को ग्रहण कर क्रीट एव दूसरे एजियन सागरीय द्वीपो मे आश्रय लिया था। वे एशिया एवं यूरोप की अपेक्षाकृत निकटतर मुख्य भूमियो से नही आये थे।

सम्बद्ध सभ्यताओ को लेते हैं तो जिस चुनौती ने उन्हे अस्तित्व प्रदान किया वह मुख्यत भौगोलिक तत्त्वो मे नही बल्कि उनके मानवीय पर्यावरण से ही आयी थी—अर्थात् वह उन प्रभविष्णु अल्पमतो से आयी थी जिनके साथ वे सम्बद्ध हैं। प्रभविष्णु अल्पमत, परिभाषा की दृष्टि से, एक ऐसा शासक वर्ग है जिसने नेतृत्व करना तो छोड दिया है और उत्पीडक हो गया है। असफल सभ्यता के आन्तरिक एव बाह्य श्रमजीवीवर्ग इस चुनौती का उत्तर उससे सम्बन्ध विच्छेद करने और इस प्रकार एक नयी सभ्यता की नीव डालने के रूप में देते हैं।

६. विपत्ति के गुण

पिछले अध्याय मे सभ्यताओ के उद्गम की जो व्याख्या की गयी है, वह इस परिकल्पना पर आश्रित है कि सरल की अपेक्षा कठोर परिस्थितियाँ ही इन सफलताओ का कारण होती हैं। जब हम उन बस्तियो के उदाहरण लेते है जहाँ कभी सभ्यता फूली-फली किन्तु बाद में असफल हो गयी और जहाँ भूमि अपनी मूल स्थिति मे लौट आयी है, तो उस परिकल्पना की सिद्धि के अधिक निकट पहुँच जाते है।

जो प्रदेश कभी मय (माया) सभ्यता का दृश्यपट था वह अब पुन उष्ण कटि-बन्धीय वन रूप मे बदल गया है।

सीलोन की इण्डिक सभ्यता द्वीप के वर्षारहित अर्द्धभाग मे विकसित हुई

थी। अब यह क्षेत्र बिलकुल वीरान हो गया है, यद्यपि इण्डिक सिंचन प्रणाली के ध्वसावशेष अब भी उस सभ्यता के प्रमाण उपस्थित कर रहे हैं जो कभी वहाँ फूली-फली थी।

पेत्रा एवं पाल मीरा के ध्वंसावशेष अरब मरुस्थल के लघु मरूद्यान में फैले हुए हैं।

प्रशान्त महासागर के सुदूरतम स्थानों में से एक है ईस्टर द्वीप। उसमें जो मूर्त्तियाँ फैली मिलती हैं उनसे सिद्ध होता है कि वह कभी पोलीनेशियाई सभ्यता का केन्द्र रहा होगा।

जिस न्यू इगलैड के यूरोपीय उपनिवेशियों ने उत्तरी अमेरिका के इतिहास में बडा ही प्रभावपूर्ण भाग लिया था, वह उस महाद्वीप के सबसे ऊजड एव वीरान प्रदेशो मे से एक है।

रोमी अभियान (Roman Champagna) के लैटिन कसबे अभी कुछ दिन पूर्व तक मलेरिया-प्रधान ऊजड प्रदेश थे किन्तु उनका रोमन सत्ता के उदय में बहुत बडा अश रहा है। इसके विपरीत कैपुआ की स्थिति कही ज्यादा अनुकूल थी किन्तु उसका अभिनय नगण्य रहा। इस अध्याय में हेरोडोटस, उइसी तथा यहूदी धर्मग्रन्थ (बुक आफ एक्जोडस) मे भी उदाहरण लिये गये है।

जिस न्यासालैंड मे जीवन-यापन की स्थिति सरल है वहाँ के मूल निवासी आदिमकालीन जगलियो के रूप मे ही तबतक पड़े रह गये जबतक कि निष्ठुर जलवायु वाले सुदूर यूरोप से वहाँ आक्रमणकारियो का आगमन नही हुआ।

७. पर्यावरण की चुनौती

(१) कठोर प्रदेशों का उद्दीपन

समीपवर्त्ती पर्यावरणो की युगल मालिकाएं उपस्थित की जाती हैं। प्रत्येक उदाहरण मे पूर्ववर्त्ती अधिक कठोर देश है और सभ्यता के किसी न किसी रूप के उद्भावक वा सस्थापक के रूप मे उसकी भूमिका बड़ी शानदार रही है। पीन नदी घाटी, यॉगत्सी घाटी; अत्तिका एवं बोयेशिया; बैजेंतियम एवं कालछेदन; इसराइल, फोनीशिया, फिलिस्तिया; ब्रैडनबर्ग एवं राइनलेंड; स्काटलैंड एव इगलैंड, तथा उत्तरी अमेरिका के यूरोपीय उपनिवेशियो के विविध वर्गों के उदाहरण दिये गये है।

(२) नवीन भूमि का उद्दीपन

हम देखते हैं कि अक्षत भूमि (वर्जिन स्वायल) उस भूमि की अपेक्षा कहीं अधिक शक्तिशाली उत्तरों—अनुक्रियाओं की उद्भावना करती है जो पहिले से ही तोड़ी-जोती जाकर पूर्ववर्त्ती सभ्य अधिवासियों-द्वारा सरलतर (सुखद) बना दी गयी है। इस प्रकार जब हम सम्बद्ध सभ्यताओं मे से एक-एक को लेते हैं तो देखते हैं कि उन्होंने उन स्थानो में अपनी सबसे अधिक आकर्षक प्रारम्भिक अभिव्यक्तियाँ छोडी हैं जो अभिभावक (पेरेंट) सभ्यता द्वारा अधिकृत क्षेत्र के बाहर थे। नवीन भूमि ने जो अनुक्रिया उत्पन्न की उसकी वरेण्यता तब सबसे अधिक स्पष्ट हो जाती है जब हम

सागर-पथ से नवीन भूमि पर पहुचते है। इस तथ्य के लिए कारण दिये गये हैं। यह भी समझाया गया है कि क्यों नाटक गृहदेशो (होमलैंड्स) मे और महाकाव्य सागरान्त बस्तियो में विकसित होते हैं।

(३) आघातों का उद्दीपन

हेलेनी एवं पाश्चात्य इतिहास से विविध उदाहरण यह दिखाने के लिए दिये गये हैं कि कोई आकस्मिक दलनकारी पराजय पराजित दल को इसके लिए उद्दीप्त कर सकती है कि वह अपना घर व्यवस्थित करे और विजयपूर्ण उत्तर देने की तैयारी करे।

(४) दबावों का उद्दीपन

विविध उदाहरणो से प्रकट होता है कि जो जनता सीमान्त प्रदेशो मे रहती है और जिस पर सदा आक्रमण की सम्भावना बनी रहती है उसका अधिक सुरक्षित स्थिति मे रहने वाले अपने पडोसियो से कहीं शानदार विकास होता है। पूर्वी रोम साम्राज्य की सीमाओ से टकराने वाले उस्मानलियो ने अपने पूर्व के करामनलियो से ज्यादा सफलता पायी। जिस आस्ट्रिया पर ओथमन तुर्कों के लम्बे आक्रमण होते रहे उसका इतिहास बवेरिया की अपेक्षा ज्यादा शानदार रहा। इस दृष्टिकोण से रोम के पतन एव नार्मन विजय के बीच के काल मे ब्रिटेन मे रहने वाले विविध समुदायो की स्थिति एव भाग्य की परीक्षा की गयी है।

(५) शास्तियों का उद्दीपन

कतिपय वर्ग एव जातिया ऐसी हैं जो दूसरे ऐसे वर्गों या जातियो-द्वारा बलात् थोपी गयी शास्तियो (Penalizations) के कारण शताब्दियो तक कष्ट उठाती रही है जिन्होने उन पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली थी। दण्डित वर्ग एव जातिया कतिपय सुविधाओ एव अवसरो से वचित कर दिये जाने की इस चुनौती का उत्तर प्रायः इस रूप मे देती रही हैं कि उनके लिए कार्य की जो दिशाए छोड दी गयी थी उनमे उन्होंने अपनी असामान्य ऊर्जा का सन्निवेश किया और अपनी विशेष क्षमता का परिचय दिया। यह ठीक वैसा ही हुआ जैसे अन्ध व्यक्ति अपनी श्रवण शक्ति को असाधारण रूप से विकसित कर लेता है। दासता शायद सबसे भारी शास्ति है किन्तु हम देखते हैं कि ईसापूर्व की दो अन्तिम शतियों मे पूर्वी भूमध्य (ईस्टर्न मेडेटेरेनियन) मे इटली मे दासो के जो दल आयात किये गये थे उन्ही मे से मुक्त दासो (फ्रीडमेन) के एक ऐसे वर्ग की उत्पत्ति हुई जो भयावह रूप मे शक्तिमान् सिद्ध हुआ। इसी दास-जगत् से आन्तर श्रमिकवर्ग के नवीन धर्मों का भी उद्भव हुआ। इन धर्मों मे से एक खीष्टीय धर्म भी था।

इस दृष्टिकोण से उस्मानलियो के शासन-काल मे पराजित ईसाई जन-समूह के विविध वर्गों—विशेषत. फनारियोत यूनानियो के भाग्य का परीक्षण किया गया है। इस उदाहरण तथा यहूदियो के उदाहरण का उपयोग यह सिद्ध करने के लिए किया गया है कि तथाकथित प्रजातीय विशिष्टताए (racial characteristics) वस्तुतः प्रजातीय बिलकुल नही हैं वरं उन समुदायो के ऐतिहासिक अनुभवों के कारण हैं।

८. मध्य मार्ग

(१) पर्याप्त एवं अत्यधिक

क्या हम सीधे-सीधे यह कह सकते हैं कि जितनी ही कठोर चुनौती होती है उतना ही श्रेष्ठ उत्तर होता है ? या कोई अत्यन्त कठोर ऐसी भी चुनौती होती है जो उत्तर को जन्म देती है ? इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि एक या एकाधिक पक्षों को पराजित करने वाली कुछ चुनौतियां ऐसी हैं जिनके कारण अन्त मे एक विजयपूर्ण उत्तर का उद्भव हुआ है। उदाहरणार्थ, प्रसरणशील हेलेनवाद की चुनौती केल्टों (Celts) के लिए बहुत बड़ी सिद्ध हुई किन्तु उन्ही के उत्तराधिकारी टीटनों ने उसका विजयपूर्ण उत्तर प्रदान किया। सीरियाई जगत् मे जो 'बलात् हेलेनी प्रवेश' हुआ, सीरियाइयो की ओर मे उसके अनेक असफल उत्तर मिले, जिनमे जरथुस्त्रीय, यहूदी (मकाबियाई), नेस्तोरियाई एव मोनोफाइसाइट आदि उत्तर शामिल है। किन्तु इस्लाम की ओर से मिला पाचवां उत्तर सफल सिद्ध हुआ।

(२) चुनौतियों की तुलना

किन्तु इतना तो साबित किया ही जा सकता है कि चुनौती बहुत ही कठोर हो सकती है। आशय यह कि सर्वाधिक चुनौती सदा सर्वाधिक उत्तर का उद्भव नही करती। नार्वे से जो वाइकिंग आप्रवासी आये थे उन्होने आइसलैंड की कठोर चुनौती का बहुत अच्छा उत्तर दिया। किन्तु वे ही ग्रीनलैंड की कठोरतर चुनौती के सामने असफल रहे। यूरोपीय उपनिवेशकों के सामने मैसाचुसेट्स ने उससे ज्यादा कठोर चुनौती रखी जो डिक्सो ने रखी थी, फिर भी उससे ज्यादा अच्छे उत्तर का जन्म हुआ। किन्तु जब लेबराडोर ने उसके सामने उससे भी कठोरतर चुनौती उपस्थित की तो वह उसके लिए बहुत ज्यादा सिद्ध हुई और वे उसका उत्तर न दे सके। और भी उदाहरण आते हैं जिनसे सावित होता है कि आघातों का उद्दीपन अत्यधिक कठोर हो सकता है, विशेषत. उस स्थिति में जब वह लंबे काल तक चलता है। इटली पर हनीवाल युद्ध के प्रभाव को इसके उदाहरण में पेश किया जा सकता है। मलाया मे जा बसने में जो सामाजिक चुनौती निहित है उससे चीनी उद्दीप्त हुए किन्तु एक श्वेत जाति के देश अर्थात् कैलीफोर्निया की उससे अधिक कठोर चुनौती के सामने वे पराजित हो गये। अन्त में निकटवर्ती बर्बरों के प्रति सभ्यताओं की चुनौती की विविध मात्राओं का परीक्षण किया गया है।

(३) दो अकालप्रसूत सभ्यताएं

पूर्व प्रकरण में जो अन्तिम उदाहरण आया है उसी का सिलसिला इस प्रकरण में भी चलता है। पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत के इतिहास के प्रथम अध्याय में, उसकी सीमाओं पर वर्बरों के जो दो वर्ग थे उनको इतना उद्दीपन प्राप्त हुआ कि उन्होने अपनी प्रतियोगिनी सभ्यताओं का निर्माण करना आरम्भ कर दिया। ये सभ्यताए थीं—(आयरलैंड एवं आयोना के) केल्ट ईसाइयों की सुदूरपश्चिमी तथा स्केण्डीनेवियाई वाइकिंग लोगो की। मुकुलित अवस्था में ही इन्हें नष्ट कर दिया गया। इस प्रकरण में इन दोनों मामलो के साथ ही उन परिणामों पर भी विचार किया गया है जो

रोम एवं राइन प्रदेश से अपनी किरणे फेकने वाली ख्रीष्टीय सभ्यता द्वारा उनको उदरस्थ एवं निमग्न न कर दिये जाने पर उत्पन्न हो सकते थे ।

(४) ईसाई धर्मजगत् पर इस्लाम का संघात

पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् पर इस संघात का प्रभाव बहुत ही अच्छा पडा और मध्य युगो की पाश्चात्य संस्कृति ने मुस्लिम आइबेरिया मे बहुत कुछ प्राप्त किया। वैजेंतियाई ईसाई धर्मजगत् पर यह संघात बहुत कठोर था और उसने सीरियाई लियो के अधिनायकत्व तले रोमन साम्राज्य के दलनकारी पुनरुत्थान के रूप मे उसका उत्तर दिया। यहा मुस्लिम जगत् द्वारा चारो ओर से घिरे हुए दुर्ग मे अवस्थित, एक ईसाई जीवाश्म अबीसीनिया के मामले पर भी विचार किया गया है।

[३]

सभ्यताओं का विकास

६. अवरुद्ध सभ्यताए

(१) पोलीनेशियाई, ऐस्किमो एवं यायावर

देखने मे लगता है कि जब एक सभ्यता का प्रादुर्भाव हो जाता है तब उसकी उन्नति की धारा चलती रहती है, किन्तु बात ऐसी नही है। जब हम देखते है कि कई सभ्यताए ऐसी है कि अस्तित्व मे आकर भी विकसित होने से रह गयी तो हमारी यह बात ठीक सिद्ध होती है। इन अवरुद्ध सभ्यताओ की नियति इतनी ही थी कि उन्होंने उस सीमान्त रेखा पर पहुचकर चुनौती का उत्तर दिया जो सफल उत्तर को जन्म देने वाली कठोरता की मात्रा और पराजित कराने वाली उसकी अत्यधिक मात्रा के बीच होती है। तीन ऐसे उदाहरण सामने आते है जिनमे इस प्रकार की चुनौती भौतिक पर्यावरण से आयी है। और हर मामले मे उत्तरदाता ने अपनी सारी योग्यता एव क्षमता अपने इसी कार्य मे खर्च कर दी— यहाँ तक कि आगे विकास के लिए उसमें कोई शक्ति ही शेष नही रह गयी।

पोलीनेशियाइयो ने प्रशान्त महासागर के द्वीपो के बीच अन्तर्द्वीपीय जलयात्राओं मे बडी योग्यता प्राप्त की किन्तु अन्त मे उसी विशेषता ने उन्हे पराजित करके छोडा और वे इन कतिपय विलग पडे द्वीपो मे आदिमकालिक जीवन के स्तर पर गिरकर रह गये।

ऐस्किमो लोगों ने असाधारण कौशलपूर्ण तथा विशिष्टताप्राप्त वार्षिक चक्र की उपलब्धि की किन्तु वे आर्कटिक के तटो के अनुकूल जीवन-विधि ग्रहण कर रह गये।

अर्द्धमरु-सी स्टेप्पी पर पशुचारको के रूप मे नोमदो - यायावरो ने भी इसी प्रकार के वर्षचक्र की उपलब्धि की थी। द्वीपयुक्त सागर एव शाद्वल खण्डयुक्त मरुस्थल में बहुत सी बातें समान है। यहाँ धरती के जलशोषण एव ऊसर होते जाने के युगों मे यायावरीय जीवन के विकास का विश्लेषण किया गया है। यह तथ्य नोट

किया गया है कि पहिले शिकारी कृषक बनते हैं और उसके बाद ही यायावरीय जीवन ग्रहण करने के लिए कदम उठाते हैं। केन एव एबेल क्रमश कृषक एव यायावर के ही प्रतिरूप हैं। सभ्यताओं के क्षेत्र में यायावरों का प्रयास सदा ही दो कारणो से होता है—या तो इसलिए कि भूमि के जलशून्य एव शुष्क हो जाने से यायावर स्टेप्पी के बाहर जाने को विवश होता है; या फिर किसी सभ्यता के विघटन से ऐसी रिक्तता पैदा हो जाती है कि वह (रिक्तता) सामूहिक प्रवास में शामिल होने के लिए यायावर को खींच ले आती है।

(२) **उस्मानली लोग**

जिस चुनौती का उत्तर ओथमन प्रणाली थी उसमे एक यायावरीय समुदाय को ऐसे पर्यावरण में हस्तान्तरित कर दिया गया था जिसमे उसे स्थिर जातियो पर शासन करना था। उन लोगो ने अपनी नयी प्रजाओ के साथ मानव-पशुओ के रूप मे व्यवहार कर अपनी समस्या हल कर ली; उन्होंने अपने यायावरीय जीवन के 'लघु श्वानो' (शीप डाग्स) के मानवीय प्रतिरूप की भाति उन्हे विकसित किया और प्रशासकों एवं सैनिकों का 'गृहदास' (हाउसहोल्ड स्लेव) बना डाला। इस प्रकरण मे दूसरे यायावरीय साम्राज्यो—जैसे मामलूकों के साम्राज्य— का भी उल्लेख किया गया है। कुशलता एव अवधि मे उस्मानली प्रणाली और सबसे आगे निकल गयी किन्तु जिस सांघातिक अनम्यता (रिजिडिटी) के कारण स्वय यायावरीय जीवन का पतन हुआ, उसी के कारण उस्मानली प्रणाली का भी विघटन हो गया।

(३) **स्पार्टावासी**

हेलेनी जगत् में आबादी की अत्यधिक वृद्धि की चुनौती का उत्तर स्पार्टावासियों ने भी एक ऐसी कार्य-प्रणाली विकसित करके दिया जो बहुत-सी बातो में उस्मानली प्रणाली से मिलती-जुलती थी; एक ही भिन्नता यह थी कि स्पार्टा मे तो स्वयं स्पार्टन अभिजात वर्ग ने ही सैनिक दल की भूमिका ग्रहण कर ली थी। फिर भी वे एक प्रकार के दास ही थे जिन्होंने साथी यूनानियो की आबादी को निरन्तर रोक रखने के आत्मनिर्वाचित कर्त्तव्य के प्रति अपने को दास बना लिया था।

(४) **सामान्य चारित्रिक विशिष्टताएं**

ऐस्किमो एवं यायावर (नोमड), उस्मानली एवं स्पार्टा इन सब मे दो बातें सर्वनिष्ठ थी : विशेषज्ञता एवं जाति या फिर्का (प्रथम जोडी मे श्वान, ध्रुवीय मृग—रेन डियर—अश्व तथा चौपाये उस्मानलियो के मानवीय दासों का काम करते थे)। इन सब समाजो में मानवों को मल्लाहों, अश्व-रक्षको तथा लडवैयो के काम मे विशेषज्ञता प्राप्त कराकर अवमानवीय (सब ह्यु मन) स्तर पर गिरा दिया गया और पेरीक्लीज के मरणान्त भाषण के उस आदर्श को भुला दिया गया जिसमे सर्वकुशल मानवों की बात थी। वैसे सर्वकुशल मानव ही सभ्यता में उन्नति करने की क्षमता रखते हैं। ये अवरुद्ध समाज मधुमक्खियों एवं चीटियों के उस समाज के अनुरूप है जो धरित्री पर मानवजीवन के प्रादुर्भाव के पहिले से आज तक स्थिर एवं गतिशून्य बना हुआ है। 'यूटोपियाज़' में जिन समाजों का वर्णन है वे उससे भी समानता रखते हैं। यहां

यूटोपिया के विषय मे विचार किया गया है और यह दिखाया गया है कि सामान्य सारे यूटोपिया ह्रासमान सभ्यताओं की उपज होते हैं; जहां तक उनके व्यावहारिक कार्यक्रम का सम्बन्ध है, वे समाज के तत्कालीन स्तर को खूंटे से बाधकर इस ह्रास को रोकना चाहते हैं।

१०. सभ्यताओं के विकास की प्रकृति

(१) दो मिथ्या लीकें

विकास तभी होता है जब कि एक विशिष्ट चुनौती का उत्तर न केवल अपने मे सफल होता है बल्कि एक और ऐसी चुनौती की सृष्टि करता है जो पुनः एक सफल उत्तर पा जाती है। ऐसे विकास की माप हम कैसे करेगे ? क्या समाज के बाह्य पर्यावरण पर अधिकाधिक नियन्त्रण की स्थापना-द्वारा हम उसे नापेंगे ? बढ़ता हुआ यह नियन्त्रण दो प्रकार का हो सकता है : एक तो है मानवीय पर्यावरण पर वृद्धिशील नियन्त्रण, जो सामान्यत निकटवर्त्ती जन-समूहो पर विजय प्राप्त करने का रूप ग्रहण कर लेता है, और दूसरा है भौतिक पर्यावरण पर वृद्धिगत नियन्त्रण, जो भौतिक कार्यविधियो की प्रगति एव सुधार के रूप मे व्यक्त होता है। इसके बाद ऐसे उदाहरण दिये गये हैं जिनमे प्रकट होता है कि इन दोनों मे से कोई भी बात सच्चे विकास की सन्तोषजनक कसौटी नही है अर्थात् न तो राजनीतिक एव सैनिक प्रसार, न तो प्रविधि या प्रक्रिया की प्रगति ही उसकी कसौटी मानी जा सकती है। सैनिक प्रसार प्रायः सैनिकवाद का परिणाम होता है और सैनिकवाद स्वय ही ह्रास का एक लक्षण है। कृषि-सम्बन्धी एव औद्योगिक प्रक्रिया में सुधारो का सच्ची उन्नति से बहुत कम सम्बन्ध दिखायी पडता है या फिर कुछ भी सम्बन्ध नहीं दिखायी पड़ता। बल्कि यह हो सकता है कि प्रविधि या प्रक्रिया मे उस समय सुधार हो रहा हो जब सच्ची सभ्यता ह्रास के पथ पर हो। इसी प्रकार इसके विपरीत यह भी हो सकता है कि जब सच्ची सभ्यता की उन्नति हो रही हो तब प्रविधि या प्रक्रिया मे ह्रास हो रहा हो।

(२) आत्म-निर्णय की ओर प्रगति

सच्ची प्रगति ऐसे प्रक्रम (प्रासेस) मे निहित पायी जाती है जिसे 'वायवीकरण' या 'अलौकिकीकरण' (etherialization) का नाम दिया जाता है अर्थात् भौतिक कठिनाइयो पर ऐसी विजय जो समाज की ऊर्जा को इस प्रकार मुक्त कर देती है कि वह उन चुनौतियो का उत्तर दे सके जो बाह्य की अपेक्षा आन्तरिक और भौतिक की अपेक्षा आध्यात्मिक अधिक होती हैं। हेलेनी एवं आधुनिक पाश्चात्य इतिहास से उदाहरण देकर इस वायवीकरण की प्रकृति पर प्रकाश डाला गया है।

११. विकास का विश्लेषण

(१) समाज एव व्यक्ति

समाज एवं व्यक्ति के सम्बन्ध के बारे मे दो परम्परागत दृष्टिकोण प्रचलित है : एक समाज को केवल आणविक व्यक्तियो का सम्पूर्ण योग मानता है, दूसरा समाज

को जीवांगी (आर्गेनिज्म), और व्यक्तियो को उसका अग समझता है--उसके लिए व्यक्ति उस समाज के सदस्य या 'कोषाणु' के सिवा, जिसके अन्दर वे हैं, और किसी रूप मे अकल्पनीय है। इस प्रकरण मे यह दिखाया गया है कि ये दोनो ही दृष्टिकोण असन्तोषप्रद है। सच्चा दृष्टिकोण यह है कि समाज व्यक्तियो के बीच के सम्बन्धो की प्रणाली है। अपने साथियों के प्रति किसी अन्त क्रिया का उद्भव किये बिना मानव प्राणी वह हो नही सकते जो कि वे है, और समाज अनेक मानव-प्राणियों के लिए सर्वनिष्ठ कर्म का क्षेत्र है। किन्तु कर्म का उद्गम तो व्यक्तियो में ही है। सम्पूर्ण वृद्धि सर्जनशील व्यक्तियो अथवा व्यक्तियो के लघु अल्पमतो में जन्म लेती है; और इन व्यक्तियो का प्रयास द्विविध होता है —एक तो उनकी प्रेरणा अथवा आविष्कार, फिर वह चाहे जो हो, की सफलता, दूसरा जिस समाज मे वे रहते है उसे इस नये जीवन-मार्ग की दीक्षा देना। सिद्धान्तत यह धर्म-परिवर्तन दो मे से एक न एक राह से किया जाता है : या तो समष्टि को भी उस वास्तविक अनुभव से ले जाकर, जिसने उन सर्जनशील व्यक्तियों का रूपान्तरण किया है; या फिर अपने से बाहर के लोगों के अनुकरण अर्थात् दूसरे शब्दो मे अनुहारी वृत्ति (मिमेसिस) द्वारा। व्यवहार में मानव जाति के एक लघु अल्पमत को छोड़कर और सबके लिए यह दूसरा मार्ग ही एक मात्र विकल्प है। अनुहारी वृत्ति नजदीक का मार्ग है, लघुपथ है किन्तु यही राह है जिस पर सामान्य जन, ठट्ट के ठट्ट या सामूहिक रूप से नेताओ का अनुकरण कर सकते है।

(२) प्रत्याहरण एवं प्रत्यावर्तन : व्यक्ति

सर्जनशील व्यक्तियो के कार्य का वर्णन प्रत्याहरण-एव-प्रत्यावर्तन (विदड्राल-ऐड-रिटर्न) की दोहरी गति के रूप में किया जा सकता है · प्रत्याहरण अपने निजी ज्ञान के लिए और प्रत्यावर्तन अपने सगी मानवो को ज्ञान देने के लिए। इसका चित्र प्लेटो की केव वाली दृष्टान्त-कथा, सन्त पाल के बीज वाले रूपक, बाइबिल की कथा तथा अन्य स्थानो मे मिलता है। फिर उसे सन्त पाल, सन्त बेनेडिक्ट, सन्त ग्रीगोरी महान, बुद्ध, मुहम्मद, मेकियावेली, दान्ते इत्यादि महत् पथ-दर्शको के जीवन मे व्यावहारिक कर्म के रूप में दिखाया गया है।

(३) प्रत्याहरण एवं प्रत्यावर्तन : सर्जनशील अल्पमत

प्रत्याहरण तथा उसके बाद प्रत्यावर्तन उन उप-समाजो (सब-सोसायटीज) की भी विशिष्टता है जो समुचित अर्थ मे समाजो के घटक होते हैं। जिस युग मे ऐसे उप-समाज समाज की वृद्धि के प्रति अपना अशदान करते है उसके पूर्व एक ऐसा काल आता है जिसमे वे अपने समाज के सामान्य जीवन से स्पष्टत. प्रत्याहरण कर लेते है : हेलेनी समाज के अभ्युदय के द्वितीय अध्याय मे एथेंस, पाश्चात्य समाज के उदय के द्वितीय अध्याय में इटली, तथा उसी के तृतीय अध्याय मे इंगलैंड के उदाहरण दिये गये हैं। इस पर भी विचार किया गया है कि क्या चतुर्थ अध्याय में रूस भी ऐसी ही भूमिका अभिनीत कर सकता है।

१२. अभ्युदय के द्वारा विभेदीकरण

पिछले अध्याय मे जिस प्रकार अभ्युदय की चर्चा की गयी है उसमें एक उदीयमान समाज के अंगो के बीच विभेदीकरण (डिफरेंसियेशन) की बात आ ही जाती है। विकास की प्रत्येक अवस्था में कुछ अंग मौलिक एव सफल उत्तर देगे; दूसरे कुछ अनुकरण-द्वारा उनके नेतृत्व का अनुसरण करने मे सफल होगे, कुछ ऐसे भी होंगे जो न तो कोई मौलिक उत्तर ही दे सकेंगे, न अनुकरण ही कर सकेंगे और इस प्रकार समाप्त हो जायंगे। विभिन्न समाजों के इतिहासो के बीच विभेदीकरण बढ़ता जायगा। यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न समाजो मे विभिन्न प्रकार की विशेषताएं पायी जायगी---कुछ कला में, कुछ धर्म मे, और दूसरे कुछ औद्योगिक आविष्कारशीलता मे बढ़े-चढ़े होगे। किन्तु सभी सभ्यताओं के हेतुओ मे जो मौलिक समानता है उसे भूलना नही चाहिए। प्रत्येक बीज की अपनी नियति है, किन्तु सभी बीज एक ही प्रकार के होते है, सभी एक ही वपनकर्ता द्वारा, एक ही प्रकार की फसल की आशा से बोये जाते है।

[४]

सभ्यताओं का विघटन

१३. समस्या की प्रकृति

हमने जिन अट्ठाईस (इस सूची मे रुद्ध सभ्यताए भी शामिल हैं) सभ्यताओं की पहिचान की है उनमें से अठारह तो मर चुकी है। शेष दस मे से नौ (अर्थात् हमारी अपनी को छोड और सब) विघटित हो चुकी हैं। विघटन की प्रकृति को तीन बातो मे सक्षिप्त किया जा सकता है सर्जनशील अल्पमत की सर्जनात्मक शक्ति का लोप; अब वह सर्जनशील अल्पमत केवल 'प्रभविष्णु' अल्पमत रह जाता है; बहुमत अनुकरण-द्वारा निष्ठा के प्रत्याहरण के रूप मे उत्तर देता है, जिसके फलस्वरूप सब मिलाकर समाज मे सामाजिक ऐक्य का लोप हो जाता है। अब हमारा अगला प्रयास इस प्रकार के विघटन के कारणो का पता लगाना है।

१४. नियतिवादी समाधान

कतिपय विचार-धाराएं कहती हैं कि सभ्यताओं के विघटन ऐसे कारणों से होते हैं जो मानवीय नियन्त्रण के परे है।

(१) हेलेनी सभ्यता के ह्रासकाल मे, काफिर (पैगन) एव ईसाई दोनों प्रकार के लेखकों का मत था कि उनके समाज का ह्रास '*ब्रह्माण्डीय जरिमा या बुढ़ापा*' (cosmic senescence) के कारण हुआ है; किन्तु आधुनिक भौतिक कवियो ने '*ब्रह्माण्डीय जरिमा*' के सिद्धान्त को एक अविश्वसनीय दूरी वाले भविष्य की ओर फेंक

दिया है, जिसका अर्थ यह है कि अतीत अथवा वर्तमान सभ्यताओं पर उसका कोई प्रभाव पडने की सम्भावना नही की जा सकती ।

(२) स्पेंगलर एव दूसरों का कथन है कि समाज अगी है, जैव हैं और उनमें भी यौवन आता है, प्रौढावस्था आती है और फिर जीवधारियों की भाति उनमे भी ह्रास आता है । किन्तु समाज अगी या जैव नही है ।

(३) दूसरो का कहना है कि मानव-स्वभाव पर सभ्यता का जो प्रभाव पडता है उसमे अनिवार्यत कुछ पैतृकत्वनाशक (dysgenic) तत्त्व निहित होते है और सभ्यता के एक युग के बाद उसमें बर्बरीय 'नवीन रक्त' का निषेचन (infusion) करके जाति को स्वस्थ एवं शक्तिमान् किया जा सकता है । यहा इस विचार की परीक्षा की गयी है और फिर उसका परित्याग कर दिया गया है ।

(४) अब इतिहास का चाक्रिक सिद्धान्त रह जाता है, जो प्लेटो के 'टाइमेइयस', वर्जिल के चतुर्थ ग्रामीण काव्य-संवाद (Fourth Ecologue) तथा दूसरे स्थानों मे मिलता है । हमारी ही सौर प्रणाली के विषय मे चैल्डिया ने जो खोजे की थी, शायद उन्ही से इसका जन्म हुआ है । किन्तु आधुनिक खगोलविद्या की अत्यधिक विशद दृष्टि ने इस सिद्धान्त के ज्यौतिषिक आधार को नष्ट कर दिया है । इस सिद्धान्त के पक्ष मे कोई प्रमाण नही है यद्यपि उसके विरुद्ध बहुतेरे प्रमाण एव साक्ष्य प्राप्त है ।

१५ पर्यावरण के नियन्त्रण की क्षति

इस अध्याय का संक्षेप अध्याय १० (१) के विपरीत है जिसमे कहा गया है कि कौशल या प्रविधि के सुधार की दृष्टि से भौतिक पर्यावरण के नियन्त्रण मे जो वृद्धि होती है वह, या मानवीय पर्यावरण की जिस वृद्धि की माप भौगोलिक प्रसार एव सैनिक विजयों द्वारा होती है वह अभ्युदय की कसौटी वा कारण नही है । यहा यह दिखाया गया है कि कौशल के ह्रास एव बाहर से होने वाले सैनिक आक्रमण के फल-स्वरूप जो भौगोलिक सकुचन होता है वह विधान की कसौटी वा कारण नही है ।

(१) भौतिक पर्यावरण

यह दिखाने के लिए कतिपय उदाहरण दिये गये है कि प्राविधिक सफलता का ह्रास विभंग का परिणाम है, कारण नही । रोमन मार्गों एव मेसोपोटामियाई नहर-प्रणाली का परित्याग उन सभ्यताओ के विघटन का कारण नही बल्कि परिणाम था जो पहिले उनका सचालन-रक्षण करती थी । यहां यह सिद्ध किया गया है कि जिस मलेरियागम को सभ्यताओ के विघटन का कारण बताया जाता है वह वस्तुतः उनके विघटन का परिणाम था ।

(२) मानवीय पर्यावरण

गिबन ने प्रतिपादित किया है कि रोम-साम्राज्य के ह्रास एवं पतन का कारण बर्बरता एव धर्म (मतलब ख्रीष्टीय धर्म) था । यहा इस सिद्धान्त की परीक्षा की गयी है और उसे अस्वीकार किया गया है । हेलेनी समाज के बाह्य एव आन्तरिक श्रमिक वर्ग की ये अभिव्यक्तिया हेलेनी समाज के उस विघटन का परिणाम थीं जो उसके पूर्व

ही घटित हो चुका था। गिबन काफी पहिले से अपनी कथा आरम्भ नहीं करता, वह 'एतोनाइन काल' को 'स्वर्णयुग' समझने की गलती करता है जब कि वह 'भारतीय ग्रीष्म' तुल्य था। यहा सभ्यताओ के विरुद्ध सफल आक्रमण के विविध उदाहरणो का सिंहावलोकन किया गया है और यह प्रदर्शित किया गया है कि प्रत्येक मामले मे सफल आक्रमण विघटन के बाद ही घटित हुआ है।

(३) निषेधात्मक निर्णय

जब कोई समाज विकास के उपक्रम मे होता है तब यदि उसके विरुद्ध कोई आक्रमण होता है तो वह उसे और अधिक प्रयास के लिए उत्साहित करता है। यहा तक कि जब समाज ह्रासोन्मुख होता है तब भी उसके विरुद्ध किया गया आक्रमण उसे कर्मठता से सुदृढ कर कुछ दिन और जीवित रहने का कारण हो सकता है। (इस अध्ययन में प्रयुक्त विघटन को एक प्राविधिक या तकनीकी शब्द मानकर सम्पादक उस पर एक टिप्पणी देता है।)

१६. आत्म-निर्णय की असफलता

(१) अनुकरण की यान्त्रिकता

असर्जनशील बहुमत एक ही रूप से सर्जनशील नेताओ के नेतृत्व का अनुसरण कर सकता है—अनुकरण द्वारा। यह अनुकरण 'कवायद' की जाति की चीज है—महत् एव प्रेरणाप्राप्त मूल की यान्त्रिक एव ऊपरी नकल मात्र। प्रगति के अपरिहार्य नजदीकी रास्ते मे खतरे भी है। नेता को भी अपने अनुयायियो की यान्त्रिकता की छूत लग सकती है, जिसका परिणाम यह होगा कि सभ्यता रुद्ध हो जायगी, या फिर वह बाध्यता के कोडे को अधीरतापूर्वक विचित्र वेणुवादक के वेणु से बदल सकता है। ऐसी अवस्था मे सर्जनशील अल्पमत 'प्रभविष्णु अल्पमत' मे बदल जाता है और 'शिष्यगण' अनिच्छुक एवं परिवर्तित श्रमजीवीवर्ग का रूप ग्रहण कर लेते है। जब ऐसा होता है तब समाज विघटन के पथ पर प्रवेश करता है। वह आत्म-निर्णय की क्षमता खो देता है। यह सब कैसे होता है, इसे अगले प्रकरणो मे बताया गया है।

(२) पुरानी बोतलों मे नूतन मदिरा

सर्जनशील अल्पमत जो सामाजिक शक्तिया प्रवाहित करते है उनमे से प्रत्येक शक्ति को आदर्श की दृष्टि से ऐसी नयी सस्थाओं का निर्माण करना चाहिए जिनके द्वारा वह अपने को क्रियान्वित कर सके। किन्तु होता प्रायः यह है कि वह उन पुरानी सस्थाओ के द्वारा अपने को क्रियान्वित करती है जो दूसरे अभिप्रायों एवं हेतुओं की पूर्ति के लिए बनायी गयी थी। किन्तु पुरातन सस्थाए प्राय. अनुपयुक्त एवं अव्यवहार्य सिद्ध होती हैं। इसका दो मे से एक न एक परिणाम होता है:—या तो संस्थाए विघटित हो जाती हैं (क्रान्ति), या फिर वे जीवित रहती हैं और फलत उनके द्वारा कार्यान्वित होने वाली नवीन शक्तियों मे विकार उत्पन्न हो जाता है (महापराध)-अनुकरण की विलम्बित एवं फलतः विस्फोटक क्रिया ही क्रान्ति है। यदि शक्तियो के प्रति संस्थाओं का सम्बन्ध सामञ्जस्यपूर्ण होता है तो विकास की गति जारी रहती है

किन्तु यदि वह क्रान्ति के रूप मे बदल जाता है तो वृद्धि दुर्वह हो जाती है; यदि वह अपराध का रूप ग्रहण करता है तो विघटन का निदान किया जा सकता है। इसके बाद इस अध्याय में ऐसे अनेक उदाहरण दिये गये हैं जिनमे पुरातन संस्थाओं या प्रथाओ पर नवीन शक्तियों के सघात का प्रदर्शन है। उदाहरणों के प्रथम वर्ग के अन्तर्गत आधुनिक पाश्चात्य समाज में उदित दो महती नवशक्तियो का उल्लेख किया गया है .—

दास प्रथा पर उद्योगवाद का सघात (संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणी राज्यो में),

युद्ध पर लोकतन्त्र एव उद्योगवाद का सघात (जैसा कि फरासीसी राजक्रान्ति के बाद युद्ध के प्रचण्ड होते जाने से दिखायी पडना है),

ग्राम्यराज्य पर लोकतन्त्र एव उद्योगवाद का सघात जैसा कि वह राष्ट्रीयता की अतिवृद्धि एवं आधुनिक पाश्चात्य जगत् मे निर्बाध व्यापार की असफलता मे व्यक्त होता है,

व्यक्तिगत सम्पत्ति पर उद्योगवाद का संघात, जैसा कि वह पूँजीवाद एव साम्यवाद के उदय मे परिलक्षित है;

शिक्षा पर लोकतन्त्र का संघात, जैसा कि वह येलो प्रेस एव फासिस्त तानाशाही मे प्रकट है,

आल्पुसोत्तर सरकारो पर इतालवी कुशलता का सघात, जैसा कि वह (इंगलैण्ड के अतिरिक्त अन्यत्र) निरकुश राजतन्त्रों के उदय मे परिलक्षित है,

हेलेनी नगर-राज्यो पर सोलोनियन क्रान्ति का सघात, जैसा कि वह निरकुशता (tyrannis), अवरोध (stasis) एव नायकत्व (hegemony) की घटनाओ के प्रकाश में दिखायी पड़ता है,

पाश्चात्य खीष्टीय चर्च पर ग्राम्यवादिता (पैरोकियलिज्म) का सघात, जैसा कि वह प्रोटेस्टेट क्रान्ति, 'सम्राटों के दैवी अधिकार' तथा राष्ट्रपति-द्वारा खीष्टीय धर्म के आच्छन्न हो जाने के रूप में प्राप्त है;

धर्म पर ऐक्य-भावना (सेस आफ यूनिटी) का संघात, जैसा कि वह धर्मान्धता एवं उत्पीड़न मे परिदर्शित है,

जाति पर धर्म का संघात, जैसा कि वह हिन्दू सभ्यता मे दिखायी पड़ता है,

श्रम-विभागीकरण पर सभ्यता का सघात, जैसा कि वह स्वय नेताओ में गुह्यता (esotericism) तथा अनुयायियो के एक ओर भुकाव के रूप में प्रकट होता है। अभिशप्त अल्पमतो, जैसे यहूदियो, से उदाहरण देकर तथा आधुनिक मल्लवाद की विपथगामिता के उदाहरण-द्वारा इसे समझाया गया है।

अनुकरण-कला पर सभ्यता का संघात। जब अनुकरण, आदिमकालिक समुदायों की भांति, कबीलाई परम्पराओ की ओर उन्मुख नहीं है बल्कि अग्रगामियों की ओर उन्मुख है। प्राय. ऐसा होता है कि जिन अग्रगामियों को अनुकरण के लिए चुना जाता है वे सर्जनशील नेता नही होते वर व्यावसायिक शोषणकर्त्ता वा राजनीतिक अवसरवादी होते हैं।

(३) सर्जनात्मकता का प्रतिशोध : पार्थिव ओव का मूर्त्तिकरण

इतिहास से प्रकट होता है कि जो वर्ग एक चुनौती का सफल उत्तर देता है वह कदाचित् ही दूसरी चुनौती का सफल उत्तरदाता होता है। यहां अनेक उदाहरण दिये गये हैं और यह प्रदर्शित किया गया है कि यह बात हिब्रू (यहूदी) और यूनानी विचारधारा के कुछ आधारभूत तत्त्वों से मिलती-जुलती है। जो एक बार सफल हो चुके हैं वे ही प्रायः दूसरे अवसर पर, बिना हाथ-पैर मारे, अपनी नाव पर विश्राम करते देखे जाते हैं। यहूदियों ने पुरानी बाइबिल की चुनौतियों का उत्तर दिया किन्तु वे ही नयी बाइबिल (न्यू टेस्टामेंट) की चुनौती के आगे खत्म हो गये। पेरीक्लीज का एथेंस सत पाल के एथेंस में पतित हो जाता है। इतालवी पुनरुत्थान (Risorgimento) में हम देखते हैं कि जिन केन्द्रों ने रिनैसा में चुनौतियों का समुचित उत्तर दिया था वही प्रभावहीन हो गये और नेतृत्व पीडमौट ने ले लिया जिसका पूर्व इतालवी सफलताओं में कोई हाथ नहीं था। उन्नीसवीं शती के प्रथम एवं द्वितीय चतुर्थांश में साउथ कैरोलिना एवं वर्जीनिया सयुक्त राज्य अमरीका के प्रमुख राज्य थे किन्तु गृहयुद्ध के प्रभावों से उठने में वे उतनी दूर तक सफल नहीं हुए जितनी दूर तक पहिले का मामूली उत्तरी कैरोलिना सफल हुआ।

(४) सर्जनात्मकता का प्रतिशोध पार्थिव संस्था या प्रथा का मूर्त्तिकरण

हेलेनी इतिहास के उत्तर युग में नगर राज्य का मूर्त्तिकरण एक ऐसा जाल सिद्ध हुआ जिसमें यूनानी तो जा फँसे किन्तु रोमन बच गये। रोमन साम्राज्य का प्रेत परम्परानिष्ठ ख्रीष्टीय समाज के विघटन का कारण हुआ। सम्राटों, पार्लमेंटों एवं अधिशासी वर्गों, फिर चाहे वे नौकरशाहियों में से हो या पौरोहित्य से के मूर्तिकरण—दैवीकरण के दूषित प्रभावों के उदाहरण दिये गये है।

(५) सर्जनात्मकता का प्रतिशोध : पार्थिव तकनीक या प्रविधि का मूर्त्तिकरण

जैविकीय विकास के उदाहरणों से प्रकट होता है कि किसी पर्यावरण के प्रति पूर्ण प्रविधि या तकनीक या पूर्ण अनुकूलन प्राय एक विकासमान 'बन्द गली' (cul-de-sac) के रूप में प्रकट होता है, और जिन जीवों में कम विशेषज्ञता होती है और जो ज्यादा अस्थायी होते है उनमें अधिक जीवनशक्ति होती है। जलस्थलीय जीवों की मीन वर्ग से एवं मनुष्य के मूषक-सम पूर्वजों की उनके समकालिक विशाल सरीसृपों (reptiles) से तुलना करके इस विरोध को भलीभांति समझा जा सकता है। औद्योगिक क्षेत्र में नयी तकनीक अर्थात् पदचालित स्टीमर (पैडिल स्टीमर) के आविष्कार की प्रथमावस्था में एक विशेष समुदाय को जो सफलता प्राप्त हुई उसने उस समुदाय को पेच द्वारा घूर्णित अधिक अच्छे जलयान को ग्रहण करने में दूसरे समुदायों की अपेक्षा सुस्त कर दिया। डेविड एवं गोलियथ से आज तक की युद्धकला के इतिहास के संक्षिप्त सिंहावलोकन से मालूम पड़ता है कि प्रत्येक अवस्था में यही होता रहा है कि एक नवीनता के आविष्कारकर्ता एवं लाभानुभोगी चुप बैठ रहे और अगला आविष्कार करने का भार अपने शत्रुओं पर छोड़ दिया।

(६) सैनिकवाद की आत्मघाती वृत्ति

पिछले तीन प्रकरणो में हाथ-पैर समेटकर दम मारने के उदाहरण दिये गये है और यह सर्जनशीलता के प्रतिशोध के प्रति कन्धा डाल देने का निष्क्रिय मार्ग है। अब हम विपथगामिता के क्रियात्मक रूप पर आते हैं जिसे 'अजीर्ण, बर्बर दुराचरण एव विनाश (Surfeit, Outrageous Behaviour and Destruction) के यूनानी सूत्र मे सक्षिप्त किया गया है। सैनिकवाद एक स्पष्ट उदाहरण है। जिस कारण से असीरियाइयो ने अपना विनाश कर लिया वह यह नही था कि पूर्व अध्याय के अन्त मे उल्लिखित विजेताओ की भाँति उन्होने अपने कवच मे जग लग जाने दिया था। सैनिक दृष्टिकोण से वे निरन्तर अधिकाधिक कुशल होते गये थे। उनका नाश तो इसलिए हुआ कि उनकी आक्रामकता ने ही उन्हे रिक्त कर दिया—थका दिया और इसके साथ ही उन्हे अपने पडोसियों के लिए असह्य बना डाला। असीरियाई एक ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जिसमे एक सैनिक सीमाप्रान्त अपने ही समाज के अन्तरंग प्रान्तों के विरुद्ध अपने शस्त्रो का प्रयोग कर रहा हो। यहा आस्ट्रेशियन फ्रैंको तथा तैमूर लंग के समान मामलो का भी परीक्षण किया गया है तथा और भी दूसरे उदाहरण दिये गये है।

(७) विजय एक नशा

पूर्ववर्त्ती अनुच्छेद-जैसा ही एक विषय असैनिक क्षेत्र से हिल्डेब्रेंडाइन पोपतन्त्र का उदाहरण देते हुए उपस्थित किया गया है। यह पोपतन्त्र पहिले तो अपने को एव ईसाई धर्म-जगत् को पृथिवी-गर्भ की गहराइयों से उठाकर आकाश की ऊँचाइयों पर ले गया परन्तु बाद मे असफल हो गया। वह असफल इसलिए हो गया कि वह अपनी ही सफलता के नशे मे अचेत होकर अपने अमिताचारी लक्ष्यो के लिए राजनीतिक अस्त्रों का अवैध प्रयोग करने के लोभ मे पड गया था। इस दृष्टिकोण से मानाभिषेक (Investiture) विषयक विवाद की परीक्षा की गयी है।

[५]

सभ्यताओ का विघटन

१७. विघटन की प्रकृति

(१) एक सामान्य सर्वेक्षण

क्या विघटन विभग का आवश्यक एव अटल परिणाम है ? मिस्री एव सुदूरपूर्वीय इतिहास से प्रकट होता है कि इसका एक विकल्प भी है। इस विकल्प को अश्मीकरण (Petrifaction) नाम से पुकारा जा सकता है। हेलेनी सभ्यता के भाग्य में प्राय: यही चीज लिखी थी और शायद हमारी सभ्यता की नियति भी यही है। समाज-निकाय का तीन खण्डो मे विच्छेद विघटन की प्रधान कसौटी नही है। ये तीन खण्ड हैं—प्रभविष्णु अल्पमत, आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग एवं बाह्य श्रमजीवी वर्ग। इन खण्डो के विषय मे पहिले जो कुछ कहा जा चुका है उसे यहाँ संक्षेप मे

दोहरा दिया गया है, और आगामी अध्यायों की योजना के प्रति संकेत किया गया है।

(२) **विच्छेद एवं पुनरुत्थान** (Palingenesia)

कार्ल मार्क्स के इलहामी दर्शन की घोषणा है कि पूँजीहीन या श्रमजीवी वर्ग के अधिनायकत्व के पश्चात् वर्ग-युद्ध का अन्त एक नयी समाज-व्यवस्था मे जाकर होगा। मार्क्स ने इस विचार का जो एक विशेष आरोपण किया है उसे छोड़ भी दे तो समाज जब पूर्वोल्लिखित त्रिविध विच्छेद मे पतित हो जाता है तब वस्तुत. यही होता है। प्रत्येक खण्ड सर्जन के एक विशिष्ट कार्य मे सफलता प्राप्त करता है : प्रभविष्णु अल्पमत एक सार्वभौम राज्य, आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग एक सार्वभौम चर्च और बाह्य श्रमजीवी वर्ग बर्बर युद्ध-दलो की सृष्टि करता है।

१८. समाज-निकाय मे विच्छेद

(१) **प्रभविष्णु अल्पमत**

यद्यपि प्रभविष्णु अल्पमतो के स्वाभाविक प्रकारो मे सैनिकवादी एव उत्पीडक प्रमुख स्थान रखते हैं, परन्तु उनमें उदात्त प्रकार के लोग भी होते हैं. विधिवेत्ता तथा प्रशासकगण जो सार्वभौम राज्यों को बनाये रखते हैं तथा दार्शनिक जिज्ञासु, जो ह्रासमान समाजो को अपने विशिष्ट तत्त्वज्ञानो का उपहार देते है। सुकरात से प्लाटिनस तक हेलेनी दार्शनिकों की जो लम्बी शृंखला है वह इसी कोटि की है। विविध दूसरी सभ्यताओं मे भी उदाहरण दिये गये है।

(२) **आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग**

हेलेनी समाज के इतिहास से प्रकट होता है कि उसके आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग मे तीन स्रोतों से आदमी भरती किये गये थे हेलेनी राज्यो के राजनीतिक एव आर्थिक उथल-पुथल से नष्ट एव रिक्थहीन नागरिक, पराजित लोग, दास-व्यवसाय के शिकार। ये सभी श्रमजीवी इस अर्थ मे है कि वे अपने को समाज के 'अन्दर' तो समझते हैं किन्तु समाज 'का' नही समझते। उनकी पहिली प्रतिक्रिया बडी उग्र होती है किन्तु बाद में उसका स्थान मृदुल प्रतिक्रियाए ले लेती है जिनका अन्त खीष्टमत-जैसे महत्तर धर्मों के आविष्कार मे होता है। मिथ्रवाद और हेलेनी जगत् के उसके अन्य प्रतियोगी धर्मों की भांति, खीष्टमत भी हेलेनी शस्त्रो-द्वारा पराजित अन्य सभ्य समाजो में से एक के अन्दर अंकुरित हुआ। यहा अन्य समाजो के आन्तरिक श्रमजीवी वर्गों का परीक्षण किया गया है और उनकी समान दृश्य-घटनाओ का पर्यवेक्षण करके हम इस नतीजे पर पहुचते है कि बैबिलोनियाई समाज के आन्तरिक श्रमजीवी वर्ग मे जूडाई धर्म एव जरथुस्त्री मत का अकुरण ठीक उसी प्रकार से हुआ था जैसे हेलेनी समाज मे खीष्टमत एवं मिथ्रवाद का हुआ था, यद्यपि कुछ उल्लिखित कारणो से उनके उत्तर-कालिक विकास मे भिन्नता आ गयी थी। आदिमकालिक बौद्ध दर्शन का जब महायान में रूपान्तरण हो गया तो सिनाई आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग को एक 'महत्तर धर्म' की उपलब्धि हो गयी।

(३) पाश्चात्य जगत् का आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग

यहां एक आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग के अस्तित्व के अत्यधिक प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं जिनमे और बातों के अलावा, एक ऐसा बुद्धिजीवीवर्ग भी है जो प्रभविष्णु अल्पमत के एजेंट के रूप मे श्रमजीवियो मे से ही भरती किया गया है। यहां बुद्धिजीवी वर्ग की विशिष्टताओं पर विचार किया गया है। आधुनिक पाश्चात्य समाज के आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग ने नवीन 'महत्तर धर्मों' की सृष्टि में अपने को बहुत ही अनुपजाऊ सिद्ध किया है, और लेखक ने सुझाया है कि इसका कारण ख्रीष्टीय चर्च की बराबर चलती जा रही वह जीवनशक्ति है जिससे पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् की उत्पत्ति हुई थी।

(४) बाह्य श्रमजीवीवर्ग

जबतक कोई सभ्यता विकसित होती रहती है तबतक उसके सास्कृतिक प्रभाव का विकिरण अनिश्चित दूरी तक आदिमकालीन पड़ोसियों के अन्दर प्रवेश करके उन्हे आच्छादित कर लेता है। वे उस असर्जनात्मक बहुमत के अग बन जाते हैं जो सर्जनशील अल्पमत के नेतृत्व का अनुसरण करता है। किन्तु जब सभ्यता विघटित हो जाती है तब उसका जादू बेकार हो जाता है, बर्बर शत्रु हो जाते है और एक सैनिक सीमान्त स्वय अपने को स्थापित कर लेता है। शुरू मे यह सीमान्त दूर धकेला जाता रहता है किन्तु अन्ततोगत्वा वह कही स्थिर हो जाता है। जब यह स्थिति आती है तब काल बर्बरो के पक्ष मे सक्रिय होता है। ये तथ्य हेलेनी इतिहास से, उदाहरणार्थ, दिये गये है और बाह्य श्रमजीवीवर्ग-द्वारा मिले तीक्ष्ण एव मृदुल उत्तरो की ओर सकेत किया गया है। विरोधी सभ्यता का दबाव बाह्य श्रमजीवीवर्ग के आदिमकालीन उत्पादक धर्मों को ऐसे धर्मों मे रूपान्तरित कर देता है जो ओलिम्पियाई दैवी युद्धदल (ओलिम्पियन डिवाइन वार बैंड) जैसे होते हैं। इस विजयी बाह्य श्रमजीवीवर्ग का विशिष्ट उत्पादन महाकाव्य (एपिक पोएट्री) है।

(५) पाश्चात्य जगत् के बाह्य श्रमजीवीवर्ग

उनके इतिहास का सिंहावलोकन किया गया है और बाह्य श्रमजीवीवर्ग के उग्र एवं मृदुल उत्तरो के उदाहरण दिये गये है। आधुनिक पाश्चात्य समाज की अत्यधिक भौतिक कुशलता के कारण, ऐतिहासिक प्रकार वाला बर्बरवाद लुप्त हो गया है। किन्तु इसके दो गढ़ अफगानिस्तान एवं सऊदी अरबिस्तान अब भी बच गये है। यहा के देशज शासक भी अपनी रक्षा के लिए पाश्चात्य संस्कृति की बनावटी चीजो को ग्रहण कर रहे है। किन्तु यह सब होते हुए भी खुद पुरातन ईसाई धर्मजगत् के पुरातन केन्द्रो मे एक नवीन और अधिक नृशंस बर्बरता फैल गयी है।

(६) विजातीय एवं देशज प्रेरणाएं

प्रभविष्णु अल्पमत एवं बाह्य श्रमजीवीवर्ग जब विजातीय प्रेरणा ग्रहण करते हैं तब अवरुद्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, विजातीय प्रभविष्णु अल्पमतों-द्वारा स्थापित सार्वभौम राज्य (जैसे ब्रिटिश भारत) अपने को स्वीकार्य बनाने में रोमन साम्राज्य जैसे देशज सार्वभौम राज्यो की अपेक्षा कम सफल होते हैं। परन्तु जैसा कि हम मिस्र

के ह्राइकसो लोगो तथा चीन के मंगोलों मे देखते है, जब बर्बर युद्ध-दलो की बर्बरता किसी विजातीय सभ्यता के प्रभाव से रजित हो जाती है तो उनके द्वारा कही अधिक दुर्दम एव आवेशाकुल विरोध सामने आता है । इसके विपरीत आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग जिन महत्तर धर्मों को जन्म देते हैं, उनके आकर्षण का कारण विजातीय प्रेरणा होती है । प्रायः सभी महत्तर धर्म इस तथ्य को प्रकट करते है ।

यह एक तथ्य है कि किसी 'महत्तर धर्म' का इतिहास तबतक समझ मे नही आ सकता जबतक कि दो सभ्यताओ पर एक साथ विचार न किया जाय—वह सभ्यता जिससे उसने अपनी प्रेरणा प्राप्त की है तथा वह सभ्यता जिसमे उसने अपनी जड जमा दी है । इस तथ्य से यह भी प्रकट होता है कि जिस मान्यता या परिकल्पना पर अभी तक यह अध्ययन आश्रित रहा है—यह मान्यता कि सभ्यताए एकाकी रूप मे अध्ययन का सुबोध क्षेत्र प्रस्तुत करती है—वह इस बिन्दु पर पहुचकर भग होने लगती है ।

१९ आत्मिक विच्छेद

(१) आचरण, भावना एवं जीवन की वैकल्पिक विधियां

जब कोई समाज विघटित होने लगता है तब विकास काल मे जो आचरण, भावना एव जीवन व्यक्तियों का वैशिष्ट्य प्रकट करते थे उनका स्थान दूसरे दो वैकल्पिक प्रतिस्थानीय (अल्टरनेटिव सब्सिट्यूट्स) ले लेते है—एक (प्रत्येक जोड़े का प्रथम) निष्क्रिय, और दूसरा (बाद वाला) सक्रिय ।

मस्तमौलापन (abandon) एव आत्म-नियन्त्रण सर्जनात्मकता के वैकल्पिक प्रतिस्थानीय है, अनुकरणशीलता की शिष्यता के लिए कर्म-पलायन एव शहादत की आवश्यकता होती है ।

विचलन की वृत्ति एव पाप वृत्ति उस जीवनस्फूर्ति (elan) के वैकल्पिक प्रतिस्थानीय है जो विकास के साथ चलती है, सकीर्णता की भावना एव ऐक्य की भावना उस रीति-भावना (सेंस आफ स्टाइल) के वैकल्पिक प्रतिस्थानीय हैं जो विकास-क्रिया के साथ चलने वाले असदृशीकरण या विभेदीकरण (डिफरेंशियेशन) के वस्तुनिष्ठ प्रक्रम का आत्मनिष्ठ प्रतिरूप सब्जेक्टिव काउण्टरपार्ट आफ दि आब्जेक्टिव प्रोसेस) है ।

जिस प्रक्रम (प्रोसेस) का पहिले अलौकिकीकरण वा वायवीकरण (ईथेरियलाइजेशन) के नाम से वर्णन किया जा चुका है उसके अन्दर अखिल ब्रह्माण्ड वा विराट (Macrocosm) मे से मानव वा सूक्ष्म (Microcosm) की ओर कर्मक्षेत्र के हस्तान्तरण की जो गति है उसमे जीवन के स्तर पर वैकल्पिक विभेद की दो जोडियाँ होती है । विकल्पो की पहिली जोडी -पुरावाद एव भविष्यवाद या आर्केइज्म और फ्यूचरिज्म—इस हस्तान्तरण को चरितार्थ करने मे असमर्थ रहती है और हिंसा को जन्म देती है । दूसरी जोडी—अनासक्ति एव रूपान्तरण अथवा डिटैचमेण्ट एवं ट्रांसफीगरेशन—हस्तान्तरण करने में असफल होती है और उसकी

प्रकृति मे मार्दव होता है। पुरावाद घड़ी की सुई पीछे की ओर घुमाने का प्रयत्न है; भविष्यवाद धरित्री पर एक असम्भव स्वर्ण-युग को जल्दी ले आने की चेष्टा है। अना-सक्ति, जो इस पुरावाद का अध्यात्मीकरण है, आत्मा के किले में प्रत्यावर्त्तन है, 'ससार' का परित्याग है। रूपान्तरण, जो भविष्यवाद का अध्यात्मीकरण है, आत्मा की ऐसी क्रिया है जो महत्तर धर्मों को जन्म देती है। इन चारो जीवन-प्रणालियो तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों के उदाहरण दिये गये हैं। अन्त में यह दिखाया गया है कि इनमें से भावना एवं जीवन के कुछ प्रकार प्रभविष्णु अल्पमतो के और दूसरे श्रमजीवीवर्गों की आत्माओं के वैशिष्ट्य को प्रकट करते हैं।

(२) **'मस्तमौलापन' एवं आत्म-नियन्त्रण** की परिभाषाए, उदाहरण-सहित दी गयी हैं।

(३) **कर्मपलायन एव शहादत** की परिभाषाएँ, उदाहरण-सहित दी गयी हैं।

(४) विचलन-वृत्ति एवं पाप-वृत्ति

विचलन की वृत्ति इस भावना से उत्पन्न होती है कि समस्त ससार संयोग (चास) या आवश्यकता (नेसेसिटी) से शासित है। यहां यह दिखाया गया है कि सयोग एव आवश्यकता एक ही चीज है। निष्ठा के बहुसख्यक भेद प्रदर्शित हैं। काल्विन मत-जैसे कतिपय नियतिवादी धर्मों ने उल्लेखनीय ऊर्जा एवं विश्वास का उत्पादन किया। पहिली नजर मे विचित्र से दीखने वाले इस तथ्य पर विचार किया गया है।

जहाँ विचलन-वृत्ति सामान्यतः मूर्च्छनाकारी का काम करती है, पाप-वृत्ति प्रेरणा या प्रोत्तेजना देती है। कर्म एव 'मूल पाप' (ओरिजिनल सिन) के सिद्धान्त (जिनमे पाप की धारणा एवं नियतिवाद दोनों का समावेश है) पर विचार किया गया है। पाप को राष्ट्रीय दुर्भाग्य के सच्चे, यद्यपि अस्पष्ट, कारण के रूप मे मान्यता देकर हिब्रू नबियों ने इसका एक महत् उदाहरण उपस्थित किया है। इन नबियो की शिक्षा को खीष्टीय चर्च ने भी ग्रहण कर लिया। इस प्रकार हेलेनी जगत् में उसका प्रवेश हुआ, जो कई शतियों से बिना जाने ही उसे प्राप्त करने के लिए अपने को तैयार कर रहा था। यद्यपि पाश्चात्य समाज ने भी खीष्टीय परम्परा विरासत में पायी है किन्तु ऐसा जान पडता है कि उसने पाप की भावना का, जो परम्परा का आवश्यक अग है, परित्याग कर दिया है।

(५) संकीर्णता की भावना

विकास की प्रक्रिया में जो सभ्यताएँ होती हैं उनमें अपनी श्रेष्ठता की भावना का वैशिष्ट्य होता है। यह सकीर्णता की भावना उसी का निष्क्रिय प्रतिस्थानीय (सब्सिट्यूट) है और अपने को विविध रूपों मे प्रकट करती है—(क) **आचरण की अभद्रता एवं बर्बरता** : प्रभविष्णु अल्पमत श्रमजीवीकरण की ओर उन्मुख होता है, वह आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग की अभद्रता एव बाह्य श्रमजीवीवर्ग की बर्बरता को ग्रहण करता है—यहाँ तक कि विघटन की अन्तिम अवस्था में जीवन-शैली दोनों प्रकार के श्रमजीवीवर्गों की जीवन-शैलियों से अभिन्न हो जाती है। (ख) **कला में अभद्रता एवं बर्बरता** वह मूल्य है जो किसी विघटित होती हुई सभ्यता की कला के

असामान्य रूप से विशद प्रसार के लिए देना पड़ता है। (ग) **राष्ट्रभाषा**. अनेक जातियों के समागम से भ्रान्ति एवं भाषाओं की प्रतियोगिता का जन्म होता है। तब कुछ भाषाएँ 'राष्ट्रभाषा' के रूप फैलती है और उनके विस्तार से, सदा, उतना ही अपकर्ष भी होता है। इसे प्रदर्शित करने के लिए अनेक उदाहरणों की परीक्षा की गयी है। (घ) **धर्म में संहतिवाद** (Syncretism)—इसमे तीन प्रकार की गतियाँ पहिचानी जाती है : भिन्न दार्शनिक विचारधाराओ का विलयन, विभिन्न धर्मों का मिश्रण अर्थात् पड़ोसी सम्प्रदायो को मिलाकर इसराइल के धर्म को मन्द कर देना—जिसका हिब्रू नबियो ने विरोध किया और यह विरोध अन्त मे सफल भी हुआ, दार्शनिक विचार-धाराओं एवं धर्मों का एक दूसरे मे मिश्रण या संहतिवाद। चूंकि दर्शन प्रभविष्णु अल्पमत की तथा 'महत्तर धर्म' आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग की उपज होते है इसलिए उनकी भी एक दूसरे पर जो प्रतिक्रिया होनी है वह प्राय वैसी ही होनी है जैसी कि ऊपर (क) मे बतायी गयी है। यहाँ भी और वहाँ भी श्रमजीवीवर्ग कुछ दूर तक प्रभविष्णु अल्पमत की दिशा मे अग्रसर होते हैं किन्तु प्रभविष्णु अल्पमत उसकी अपेक्षा कही अधिक दूरी आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग की स्थिति की दिशा मे तय कर लेता है। उदाहरणार्थ, ईसाई मत अपनी धर्म-व्याख्या के लिए हेलेनी दर्शन के उपकरण का उपयोग करता है, किन्तु प्लेटो एवं जूलियन के युगो के बीच यूनानी दर्शन का जो रूपान्तरण हुआ उसकी तुलना मे यह सुविधा बडी छोटी मालूम पडती है। (च) **क्या शासक धर्म का निश्चय करता है?** (Cuius Regio Eius Religio ?) यह प्रकरण एक विषयान्तर है जो पिछले प्रकरण के अन्त मे दार्शनिक-सम्राट जूलियन के मामले को लेकर उठा है। क्या प्रभविष्णु अल्पमत अपनी रुचि का धर्म या दर्शन लागू करने की राजनीतिक शक्ति का उपयोग करके अपनी आध्यात्मिक दुर्बलता की पूर्ति कर सकता है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कतिपय अपवादो को छोड वे अपने प्रयत्न मे असफल ही रहेंगे और जो धर्म हिंसाबल की सहायता लेगा वह इस विधि से अपने को ही बुरी तरह क्षतिग्रस्त कर लेगा। एक बाह्य आश्चर्यजनक अपवाद इस्लाम का विस्तार है। यहा इसकी परीक्षा की गयी है और यह सिद्ध किया गया है कि पहिली नजर मे वह जैसा अपवाद मालूम पडता है वैसा वस्तुत है नही। इसके विपरीत 'प्रजा का धर्म ही राजा का धर्म है' (Religio regionis religio regis) वाला सूत्र सत्य के अधिक निकट है : जो शासक अपनी उदासीन वृत्ति या विश्वास के कारण अपनी प्रजा का धर्म अंगीकार करता है वह इस कार्य के कारण समृद्ध होता है।

(६) ऐक्य की भावना

यह संकीर्णता की निष्क्रिय भावना की सक्रिय प्रतिस्थापना (ऐंटीथीसिस) है। भौतिक रूप मे यह अपने को सार्वभौम राज्यो के सर्जन मे व्यक्त करती है, और वही भावना एक सर्वशक्तिमान् विधि (कानून) या जगत् मे व्याप्त और उसका नियमन करने वाले सर्वव्यापी ईश्वर की धारणाओ को प्रोत्तेजित करती है। दोनो धारणाओ का परीक्षण किया गया है और उनके दृष्टान्त दिये गये हैं। पिछले के सम्बन्ध मे हिब्रुओ के 'ईर्ष्यालु देवता' यहोवा की जीवन-यात्रा का वर्णन किया गया है और

सिनाइंटिक ज्वालामुखी के 'जिन्न' के रूप मे उसके आरम्भ से लेकर 'एक सत्य ईश्वर' की पवित्र एवं भव्य कल्पना के लिए ऐतिहासिक वाहन के रूप मे उसके अन्तिम उदात्तीकरण तक का उल्लेख हुआ है—ऐसे सत्य ईश्वर की कल्पना के लिए जिसकी ख्रीष्टीय चर्च द्वारा पूजा-उपासना होती है। यहा अपने सम्पूर्ण प्रतियोगियो पर ईश्वर की विजय का स्पष्टीकरण किया गया है।

(७) पुरावाद

यह एक विघटित होते हुए समाज के जीवन मे पूर्ववर्ती स्थिति के निर्माण द्वारा असहनीय वर्त्तमान से पलायन का प्रयत्न है। पुरातन एवं आधुनिक उदाहरण दिये गये हैं। राष्ट्रवादी कारणो मे न्यूनाधिक विलुप्त अनेक भाषाओ के आधुनिक पुनरुत्थान (जिसमे गाथिक पुनरुत्थान सम्मिलित है) तथा कृत्रिम पुनरुत्थान के उदाहरण। प्राचीनतावादी आन्दोलन सामान्यत. या तो अनुर्वर निकल जाते है या फिर अपने को विपरीत प्रकार में रूपान्तरित कर लेते हैं। जैसे :—

(८) भविष्यवाद

यह किसी अज्ञात भविष्य के अन्धकार में कूदकर वर्त्तमान से पलायन करने का प्रयत्न है। अतीत के साथ जो परम्परागत कड़िया होती हैं उनको इसमे तोड दिया जाता है। यह वस्तुतः एक प्रकार का क्रान्तिवाद है। कला में यह अपने को मूर्तिभंजन के रूप में व्यक्त करता है।

(९) भविष्यवाद का आत्म-उत्कृष्टीकरण (सेल्फ-ट्रांसेंडेंस)

जैसे पुरावाद भविष्यवाद के गह्वर मे पतित हो सकता है वैसे ही भविष्यवाद रूपान्तरण के नवशरीरग्रहण (ट्रांसफीगरेशन) की ऊचाइयो तक उठ भी सकता है। दूसरे शब्दो मे उसे यो कह सकते हैं कि वह पार्थिव स्तर पर अपना काल्पनिक स्वर्ग पाने के दयनीय प्रयत्न का त्याग कर सकता है और काल तथा दूरी से अबाधित हुए बिना उसे आत्मा के जीवन मे खोज सकता है। इस सम्बन्ध मे बन्धनोत्तर (Post-Captivity) यहूदियों के इतिहास की परीक्षा की गयी है। जेरूबैबल से बार कोकाबा तक धरती पर यहूदी साम्राज्य स्थापित करने के जो अनेक आत्मघाती प्रयत्न हुए उनमे भविष्यवाद ने अपने को व्यक्त किया। इसी प्रकार नवशरीरग्रहण या रूपान्तरण ख्रीष्टीय धर्म की स्थापना मे प्रकट हुआ।

(१०) अनासक्ति एवं रूपान्तरण

अनासक्ति एक वृत्ति है जो बुद्ध की शिक्षाओं के प्रतिपादन का दावा करने वाले तत्वज्ञान मे अपनी अदम्य एवं भव्य अभिव्यक्ति प्राप्त करती है। इसका तार्किक निष्कर्ष है। आत्मघात, किन्तु सच्ची अनासक्ति केवल किसी देवता के प्रति ही सम्भव हो सकती है। इसके विपरीत ख्रीष्टीय धर्म एक ऐसे ईश्वर की घोषणा करता है जिसने स्वेच्छा से उस अनासक्ति का त्याग कर दिया है जिसका उपभोग करना स्पष्टतः उसकी क्षमता के अन्तर्गत था। 'ईश्वर जगत् को ऐसा प्यार करता था······।'

(११) नवजीवन

जीवन की जिन चार प्रणालियो की परीक्षा यहां की गयी है उनमें से केवल

रूपान्तर या नवशरीरग्रहण ही हमारे सामने एक राजपथ उपस्थित करता है और वह विराट से जीव या मानव के प्रति अपने कर्मक्षेत्र के स्थानान्तरण द्वारा ऐसा करता है। अनासक्ति के लिए भी यही बात सत्य है किन्तु जहा अनासक्ति केवल एक प्रत्यावर्त्तन है, वहां स्थानान्तरण प्रत्यावर्त्तन एवं प्रत्यागमन (बिदड्राल ऐंड रिटर्न) दोनों है। किसी पुरानी प्रजाति के दूसरे उदाहरण के पुनर्जन्म के अर्थ मे नवजीवन नही वर समाज की एक नयी प्रजाति (स्पीशी) के जन्म के अर्थ मे।

२०. विघटनशील समाजों एव व्यक्तियों के बीच सम्बन्ध

(१) सर्जनात्मक प्रतिभा, उद्धारक के रूप में

उदयावस्था मे सर्जनशील व्यक्ति एक के बाद एक आने वाली चुनौतियो मे सफल उत्तरो का नेतृत्व करते है। विघटनावस्था मे वे विघटनशील समाज के या से उद्धारक रूप मे प्रकट होते हैं।

(२) असिधारी उद्धारक

ये सार्वभौम राज्यो के संस्थापक एवं रक्षक होते हैं किन्तु तलवार का सब कार्य क्षणभंगुर ही सिद्ध होता है।

(३) कालयन्त्र युक्त उद्धारक

इनमे पुरावादी एवं भविष्यवादी आते है। ये भी तलवार ग्रहण करते है और तलवारिये की नियति भोगते हैं।

(४) सम्राट के रूप में प्रच्छन्न दार्शनिक

यह प्लेटो का प्रसिद्ध समाधान है। तत्त्वज्ञानी मे अनासक्ति होनी है, जब कि राजनीतिक अधिनायको मे बलात् दबाकर काम कराने का तरीका चलता है। इन दोनों में जो विपरीतता है उसी के कारण यह समाधान निष्फल हो जाता है।

(५) मानव में ईश्वर का अवतरण

ईश्वरावतरण की अपूर्ण आसन्नताए (एप्रोक्सिमेशंस) मार्ग मे चलते हुए गिर पडती हैं; केवल नजरथ का जीसस ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है।

२१. विघटन की लय

विघटन सदा एक ही ढंग पर नही होता वर पराभव-एव-समाहरण (रूट ऐंड रैली) के एकान्तरण द्वारा होता है। उदाहरणार्थ, सार्वभौम राज्य का स्थापन संकट-काल के पराभव के बाद का समाहरण है, जबकि सार्वभौम राज्य का विघटन अन्तिम पराभव है। सामान्यतः संकट-काल के मध्य एक ही समाहरण होता है और उसका अनुसरण एक पराभव द्वारा होता है, इसलिए सामान्य लय पराभव-समाहरण-पराभव-समाहरण-पराभव-समाहरण-पराभव की होती है, अर्थात् साढ़े तीन स्वराघात की। कतिपय लुप्त समाजों के इतिहासो मे इस साचे के उदाहरण दिये गये है और फिर उनको हमारे अपने पाश्चात्य ईसाई धर्म जगत् के इतिहास पर भी लागू किया गया है—यह पता लगाने के लिए कि हमारा समाज अपने विकास की किस अवस्था मे है।

२२. विघटन के द्वारा मानकीकरण

जैसे विशिष्टीकरण, विभेदीकरण विकास का लक्षण है, वैसे ही मानकीकरण विघटन का चिह्न है। यह अध्याय बच रही उन समस्याओ के उल्लेख के साथ समाप्त होता है जिनका परीक्षण पुस्तक के आगामी भागो के लिए स्थगित कर दिया गया है।

[६]

सार्वभौम राज्य

२३. साध्य या साधन ?

अभी तक इस अध्ययन में जो काम हुआ है उसका सार-सक्षेप दिया गया है, तथा इस बात के कारण भी बतलाये गये है कि सार्वभौम राज्य, सार्वभौम चर्च एव बर्बर युद्धदल के लिए अलग-अलग पुस्तक-खण्डो मे परीक्षण की आवश्यकता क्यों है। क्या सार्वभौम राज्यो को केवल सभ्यताओं की अन्तिम स्थितियों के रूप मे ग्रहण किया जायगा या उन्हें आगे के विकास का प्राक्कथन समझा जायगा ?

२४. अमरता की मृग-मरीचिका

अधिकांश मामलो में सार्वभौम राज्यो के नागरिक न केवल उनकी स्थापना का स्वागत करते है, बल्कि उनको अमर भी मानते हैं, और जब सार्वभौम राज्य स्पष्टतः विघटन के कगार पर खड़ा होता है तब तो अपने इस विश्वास को जारी रखते ही है बल्कि तब भी उसे बनाये रखते है जब वह लुप्त हो चुका होता है। इसका परिणाम यह होता है कि वह संस्था अपने पूर्व-अस्तित्व के 'प्रेत' के रूप मे पुनः सामने आ जाती है—जैसे यूनानी-रोमी जगत् का रोमन साम्राज्य, पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् के सम्बद्ध समाज मे पवित्र रोमन साम्राज्य के रूप में दिखायी पड़ा था। इसका स्पष्टीकरण इस तथ्य मे मिलता है कि सार्वभौम राज्य संकट-काल के बाद समाहरण का दृश्य उपस्थित करता है।

२५. परोपकाराय सतां विभूतयः

अन्त मे, सार्वभौम राज्य की सस्थाएं अपने अस्तित्व की रक्षा करने मे असफल हो जाती हैं किन्तु उसी के साथ वे दूसरी संस्थाओं, विशेषतः आन्तरिक श्रमजीवीवर्ग के महत्तर धर्मों, के प्रयोजन की पूर्ति करती हैं।

(१) सार्वभौम राज्य की संवाहकता

सार्वभौम राज्य व्यवस्था एवं एकरूपता थोपकर हमारे सामने उच्च कोटि की संवाहकता का साधन उपस्थित करता है। यह संवाहकता न केवल पूर्ववर्ती भिन्न ग्राम्यराज्यो के बीच भौगोलिक रूप से बल्कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सामाजिक दृष्टि से भी कार्यशील दिखायी पड़ती है।

(२) शान्ति का मनोविज्ञान

सार्वभौम राज्यों के शासक जिस सहिष्णुता को अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए आवश्यक समझते है वही महत्तर धर्मों के प्रसार को अनुकूलता प्रदान करती है। इस बात का चित्रण इस सामान्य धारणा में (उदाहरणार्थ मिल्टन के 'नेटिवटी ओड' में व्यक्त) दिखायी पड़ता है कि रोमन साम्राज्य खीष्टीय चर्च के कल्याण के लिए ईश्वर-द्वारा ही प्रेरित या निर्मित किया गया था, किन्तु ऐसी सहिष्णुता सर्वव्यापी या चरम नही होती। साथ ही सैनिकवाद-विरोध के रूप मे, यह सहिष्णुता आक्रामक विजातीयों—बर्बरों या निकटवर्ती सभ्यताओं के लिए लाभप्रद सिद्ध होती है।

(३) साम्राजिक संस्थाओं की उपयोगिता

संचार-साधन—सड़कों, समुद्री मार्गों एव सुव्यवस्थित रूप मे उनकी रक्षा से न केवल शासन को लाभ पहुचता है वर दूसरों को भी लाभ होता है। संत पाल-द्वारा रोमन मार्गों का उपयोग देखिए। क्या आज के महत्तर धर्म भी आधुनिक प्रौद्योगिकी द्वारा प्रस्तुत विश्वव्यापी संचार-व्यवस्था का ऐसा ही लाभ उठायेंगे? यदि ऐसा ही होगा तो उन्हे उन समस्याओ का भी सामना करना पड़ेगा जो पूर्वकाल के अखीष्टीय जगत् मे खीष्टीय धर्मप्रचार के इतिहासो मे परिदर्शित है।

गैरीजन एव उपनिवेश—सभ्यता एव शासन दोनो के प्रयोजन की पूर्ति करते है किन्तु ये उस पैमिक्सिया (Pammixia) तथा श्रमजीवीकरण की वृद्धि मे भी सहायक होते है जो विघटनशील समाजो मे दिखायी पड़ती है। सबसे ज्यादा लाभ तो बर्बर युयुत्सु दल उठाते है किन्तु इससे महत्तर धर्मों को भी लाभ पहुचता है। इस्लाम के विकास से उदाहरण दिया गया है। मिथ्र धर्म रोमन साम्राज्य की सीमाओ पर एक गैरीजन से दूसरे गैरीजन तक और खीष्टीय मत एक उपनिवेश से दूसरे उपनिवेश तक फैलता दिखायी पड़ता है। खीष्टीय चर्च के प्रारम्भिक इतिहास मे रोमन सरकार द्वारा स्थापित कोरिन्थ एव लियोंस—दोनो उपनिवेशो का महत्व देखिए।

प्रान्त—सिनाई सार्वभौम राज्य के इतिहास मे परस्पर-विपरीत नीतियो के उदाहरण दिये गये है। इसी प्रकार खीष्टीय चर्च के विकास मे उदाहरण देकर दिखाया गया है कि महत्तर धर्म प्रान्तीय संगठनों का किस प्रकार उपयोग करते है।

राजधानियां—बहुत सी बातो का विचार कर इसकी स्थिति का निर्वाचन होता है। सार्वभौम राज्य की स्थापना करने वाले विजेताओ की मूल राजधानी स्थायी रूप से उपयुक्त प्रमाणित नहीं होती। यहा राजधानियो एव उनके परिवर्तन का सर्वेक्षण किया गया है। कुछ ऐसी भी राजधानिया है जिनका राजनीतिक महत्त्व तो नष्ट हो गया है किन्तु धर्म के प्रधान केन्द्रो के रूप मे वे अब भी स्मरणीय बनी हुई है।

सरकारी भाषाएं एवं लिपियां—सरकारी भाषाओ के चनाव मे सार्वभौम राज्यो के शासकों के सामने उपस्थित होने वाली समस्याए और उनके विविध समाधान।

कुछ ऐसी भाषाएं मिलती हैं, जैसे अरमाई एव लैटिन, जिनका प्रसार काल एवं दूरी की सीमा लांघकर उन साम्राज्यों के बाहर चला गया था जिनमें मूलतः वे प्रचलित थीं।

विधि (कानून)—अपनी प्रजाओं पर अपनी प्रणाली थोपने की सीमा के बारे में सार्वभौम राज्यो के शासको में एक दूसरे से बड़ी भिन्नता दिखायी पड़ती है। सार्वभौम राज्य की विधि-प्रणाली का उपयोग ऐसे समुदायो ने भी किया है जिनके लिए वे बनायी नही गयी थी—उदाहरणार्थ मुसलमानों एव खीष्टीय चर्च-द्वारा रोमी विधि (रोमन ला) का प्रयोग अथवा मूसाई कानून के निर्माताओ-द्वारा हम्मूरबी की सहिता का उपयोग।

पंचांग, वजन एवं माप, मुद्रा—पचांग-निर्माण की समस्याएं तथा धर्म के साथ पंचांगों का गहरा सम्बन्ध। काल-मापन की हमारी प्रणाली अभी तक अशत रोमी और अंशत. सुमेरी है। फरासीसी राजक्रान्ति तक उसमे क्रान्ति लाने मे असफल रही। वजन एवं माप दाशमिक एव द्वादशिक प्रणालियो का संघर्ष। मुद्रा : इसका महत्त्व, एवं यूनानी नगरों मे जन्म : इन नगरों से होते हुए लीडियाई एवं एकेमीनियाई साम्राज्यों में प्रसार। सिनाई जगत् मे कागदी मुद्रा।

स्थायी सेनाएं—खीष्टीय चर्च के लिए रोमी सेना प्रेरणा के स्रोत के रूप मे।

नागरिक सेवाएं—आगस्टस, पीटर महान तथा भारत के ब्रिटिश राज्य की नीतियों की तुलना करते हुए सिविल सर्विस की समस्याओं का निदर्शन। सिनाई एव ब्रिटिश भारतीय सेवाओं में सिविल सर्विस की आचार-नीति। पाश्चात्य ईसाई धर्मक्षेत्र के सस्थापक तीन महान पादरियों का रोमी सिविल सर्विस में प्रशिक्षण।

नागरिकता—नागरिकता की सीमा-वृद्धि . सार्वभौम राज्यों के शासको द्वारा प्रदत्त एक सुविधा। इसके कारण ऐसी समस्थिति के उत्पादन में सहायता मिलती है जिसमें महत्तर धर्म फूलते-फलते हैं।

[७]

सार्वभौम चर्च

२६. सार्वभौम चर्चों एवं सभ्यताओं के बीच के सम्बन्धों की वैकल्पिक धारणाएं

(१) कैंसर के रूप में चर्च

चूंकि चर्च सार्वभौम राज्यों के ह्रसमान समाज-निकायों में से उदित होते हैं, स्वभावतः उन्हें कैंसर समझा जाता है। उनके अस्थायी विरोधी तथा आधुनिक विचारधारा-विशेष के इतिहासकार, दोनों ही, उन्हे ऐसा समझते हैं। कारण देकर दिखाया गया है कि उनके विचार गलत हैं। धर्म अपने अनुयायियों में सामाजिक कर्तव्य-भावना को नष्ट नहीं करते, उलटे गतिमान् करते हैं।

(२) चर्च कोशकीट के रूप में

आज तीसरी पीढ़ी की जितनी भी सभ्यताएं जीवित है उनमे से प्रत्येक की पार्श्वभूमि में एक चर्च है। और इसी चर्च के द्वारा वह सभ्यता दूसरी पीढ़ी की किसी न किसी सभ्यता से सम्बद्ध है। आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता पर खीष्टीय चर्च का जो ऋण है उसका यहा विश्लेषण किया गया है। इस सिद्धान्त के विपरीत, दूसरी पीढ़ी की सभ्यताएं अपनी पूर्ववर्तिनी सभ्यताओं से दूसरे ही सूत्रों-द्वारा सम्बद्ध हुई थी और इस तथ्य के कारण हमें इतिहास की धारा के विषय मे अभी तक स्वीकृत योजना के सुधार की प्रेरणा मिलती है।

(३) चर्च, समाज की महत्तर प्रजाति के रूप में

(क) एक नूतन वर्गीकरण

यहा सभ्यताओ के उत्थान-पतन की तुलना ऐसे चक्र के आवर्त्तन से की गयी है जिसका उद्देश्य धर्म के रथ को आगे बढाना है। अब्राहम, मूसा, हिब्रू नबियो तथा ईसा के नामो से धार्मिक प्रगति के जिन पगो का परिचय मिलता है उन्हे क्रमश सुमेरी, मिस्री, बैबिलोनियाई तथा हेलेनी समाजों के विघटन की उपज के रूप मे उपस्थित किया गया है। क्या विश्व मे जो ऐक्य आने वाला है वह आगे और प्रगति की सम्भावना को चित्रित करता है? यदि ऐसा है तो इस समय जो महत्तर धर्म वर्त्तमान हैं उन्हें कठोर पाठ पढ़ना बाकी है।

(ख) चर्चों के अतीत का महत्व

यह स्वीकार किया गया है कि अभी तक चर्चों के कार्य का जो अभिलेख है वह भविष्य मे उनको सौंपे गये कार्य के लिए उन्हे अयोग्य प्रमाणित करता है।

(ग) हृदय एवं मस्तिष्क के बीच संघर्ष

धर्म पर आधुनिक विज्ञान का जो संघात पडा है वह अपने ढग का पहिला ही संघर्ष नही है। प्रारम्भिक खीष्टीय चर्च एव हेलेनी दर्शन के बीच जो सघर्ष था उसका अन्त एक ऐसे समझौते मे जाकर हुआ जिसमे यूनानी दार्शनिको ने खीष्टीय रेवेलेशन (इलहाम) के सत्य को इस शर्त पर स्वीकार कर लिया कि वह इलहाम दार्शनिको की भाषा के वस्त्र-विन्यास मे सज्जित हो। ये जीर्ण हेलेनी वस्त्र अब बहुत दिनो से उलझन का कारण बने हुए है और उनके कारण खीष्टीय चर्च को ऐसे अनेक धर्मेतर नष्ट कर्तव्यों मे लिप्त होना पडा है जिनके साथ खीष्टीय धर्म का कोई सम्बन्ध नही था। बौद्धिक ज्ञान के जिन प्रान्तो पर विज्ञान का अधिकार स्थापित होता जाता है उन्हे धर्म को विज्ञान के हाथों सौंप ही देना चाहिए। धर्म एव विज्ञान सत्य के विभिन्न रूपों से सम्बन्धित हैं और अवचेतन मानस वाला आधुनिक मनोविज्ञान दोनो के बीच के अन्तर पर गहरा प्रकाश डालता है।

(घ) चर्चों के भविष्य की सम्भावनाएँ

चर्चों का विशिष्ट लक्षण यह है कि वे सब 'एक सत्य ईश्वर' को अपना अंग मानते हैं। यह चीज उन्हें समाज के अन्य प्रकारो से अलग करती है। यहाँ इस विभेद के परिणामो पर प्रकाश डाला गया है।

२७. चर्चों के जीवन में सभ्यताओं की भूमिका

(१) सभ्यताएं पूर्वरंग-रूप में

हेलेनी सभ्यता से ख्रीष्टीय चर्च ने जो पारिभाषिक शब्द ग्रहण किये और रूपान्तरण करके नवीन रूपों मे उनका उपयोग किया वह वायवीकरण का एक उदाहरण प्रस्तुत करता है और इससे यह सकेत प्राप्त होता है कि हेलेनी सभ्यता ने ख्रीष्टीय धर्म के पूर्वरग-रूप मे भी अपनी भूमिका का अभिनय किया था।

(२) सभ्यताएं परावर्तन के रूप में

बाद मे ये पारिभाषिक शब्द जब उस पाश्चात्य समाज द्वारा लौकिक प्रयोग के लिए ग्रहण कर लिये गये, जिसने ख्रीष्टीय चर्च से नि सृत होकर भी उससे अपना पल्ला छुडा लिया था, तो फिर वे अपनी कोटि से गिर गये।

२८ धरित्री पर युयुत्सा की चुनौती

सम्बद्ध सभ्यताओ का चर्च मे जो विच्छेद हुआ उसका कारण चर्च द्वारा उठाये गये गलत पग हैं और ये पग भी 'धरित्री पर युयुत्सा' के प्रयोजनार्थ एक पौरोहितिक सस्था मे धर्म की प्रेरणा को मूर्त करने के अनिवार्य परिणाम है। तीन प्रकार के गलत पगों का उल्लेख किया गया है (१) लौकिक या धर्म-निरपेक्ष अधिकारियो के समुचित कर्तव्याचरण मे हस्तक्षेप करके राजनीतिक साम्राज्यवाद उनके प्रति अपमानजनक व्यवहार करता है; (२) आर्थिक कर्तव्यो का सम्पादन करते हुए जो आर्थिक सफलता प्राप्त होती है वह 'प्रभु न कि मनुष्य' की ओर प्रभावित होती है, (३) चर्च-द्वारा अपने ही साधिक रूप का प्रतिमाकरण एवं पूजन।

क्या धर्म यात्रा के अन्त मे किसी स्वर्ण-युग के आगमन का आश्वासन दे सकता है? सम्भवत: किसी दूसरी दुनिया मे, किन्तु इस दुनिया मे नही। मूल पाप एक अलघ्य अवरोध उपस्थित करता है। यह जगत् ईश्वर के राज्य का एक प्रान्त है किन्तु यह एक विद्रोही प्रान्त है, और वस्तुओ की प्रकृति को देखते हुए जान पडता है कि वह सदा ऐसा ही रहेगा।

[८]

वीर-युग

२९. दु खान्तिका (ट्रेजेडी) की धारा

(१) एक सामाजिक बांध

वीर युग एक विघटित होती सभ्यता के सार्वभौम राज्य एवं सीमापार के बर्बरों के बीच मोर्चे (लाइन) वा सैनिक सीमान्त के स्थायीकरण का सामाजिक

एव मनोवैज्ञानिक परिणाम है। इसकी उपमा घाटी के पार के ऐसे बाँध से दी जा सकती है जिसमे ऊपर एक सरोवर का निर्माण हुआ है। इस उपमा के फलितार्थों को इस एव अगले प्रकरणों मे समझाया गया है।

(२) दबाव का सघनीकरण

ज्यों-ज्यों सीमा पार के बर्बर सभ्यता की सैनिक कलाओ में निपुण होते जाते है त्यो-त्यो मोर्चे वा बाँध पर दबाव बढता जाता है। यहाँ तक कि सभ्यता के अभिभावको को विवश होकर स्वय बर्बरो की सहायता लेनी पडती है और उन्हे अपनी सेवा मे नियुक्त करना पड़ता है। यही भृतिभोगी अपने मालिको के विरुद्ध उठ खडे होते है और साम्राज्य के हृदय पर आघात करते है।

(३) जल-प्रलय एवं उसके परिणाम

विजयशाली बर्बर अपनी सफलता के कारण ही अनिवार्यत ध्वस्त हो जाते है क्योकि वे अपने ही द्वारा पैदा किये हुए सकट का सामना करने मे बिलकुल अक्षम होते है। इतना सब होते हुए भी वे अपनी यन्त्रणा मे वीरोपाख्यानो को जन्म देते है, वे आचरण के उन आदर्शो की रचना करते है जो होमरी लज्जा एव आक्रोश तथा उन्मादी कृत्रिम आत्मसयम (हिल्म) मे अभिव्यक्त होते हैं। विप्लव वा अव्यवस्था वाला वीर युग आश्चर्यजनक तेजी के साथ समाप्त हो जाता है, उसके बाद अन्धकार युग का आगमन होता है जिसमे विधि एव व्यवस्था की वृत्तियाँ धीरे-धीरे अपना प्रभाव पुन जमा लेती है। राज्यान्तरकाल समाप्त हो जाता है और एक नयी सभ्यता आरम्भ होती है।

(४) कल्पना एवं तथ्य

हेसियोद वाली 'युगो' (स्वर्ण, रजत, कास्य एव लौह युगो) की विचित्र योजना मे हम देखते है कि कास्य एव लौह युगों के बीच वीरो का एक युग सन्निविष्ट कर दिया जाता है। वीरो का युग, वस्तुत, कास्य-युग ही है जिसका ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे नही वर होमरी कल्पना के रूप मे पुन वर्णन किया गया है। विजयशील बर्बरता द्वारा प्रसूत महाकाव्य के जादू ने, बाद मे आने वाले अन्धकार युग के कवि हेसियोद को धोके मे डाल मे दिया। उसने 'तृतीय (थर्ड) रीख' के उन नेताओ को भी धोखे मे डाल दिया जो 'गौर पशुओं' (ब्लोंड बीस्ट्स) की कीर्ति का बखान करते थे। फिर भी बर्बरो ने एक ऐसी कडी का काम किया जिसके द्वारा महत्तर धर्मो का उद्भव करने वाली दूसरी पीढी की सभ्यताएँ पहिली पीढी की सभ्यताओ से सम्बद्ध हो गयी थी।

टिप्पणी : 'स्त्रियों की भयावनी रेजीमेट'

यहाँ इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि किस प्रकार न केवल पौराणिक उपाख्यानो में बल्कि वास्तविक जीवन मे भी राक्षसी स्त्रियाँ वीर युगों की दु:खान्तक घटनाओं में ऐसी महत्त्वपू भूमिकार्ण का अभिनय कर सकी थीं।

[६]

दिगन्तरीय सभ्यताओं के बीच सम्पर्क

३०. अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार

ऐसी सभ्यताएं, जिनका पर्याप्त अध्ययन उनकी उत्पत्ति, विकास एवं विभंग की अवस्थाओं में एक दूसरे से अलग करके करना सम्भव होता है, अपनी विघटन वाली अन्तिम अवस्था मे अध्ययन का बोधगम्य क्षेत्र नही रह जातीं। तब उस अवस्था मे उनके सम्पर्कों का अध्ययन करना आवश्यक हो जाता है। सम्पर्कों के इस इतिहास मे कतिपय भौगोलिक क्षेत्रों—जैसे सीरिया एवं आक्सस-जैक्सार्तीज जलद्रोणी—का बड़ा महत्त्व रहा है, और यह कोई आकस्मिक घटना नही है कि उन्ही तथा उनके सन्निकटवर्ती क्षेत्रों मे महत्तर धर्मों के जन्मस्थान पाये जाते हैं।

३३. समकालिक सभ्यताओं के बीच के सघातों का सर्वेक्षण

(१) परिचालन-योजना

आधुनिक पश्चिम तथा अन्य सब समकालीन सभ्यताओ के बीच होने वाले सघातो के परीक्षण से हम अपना काम शुरू करना चाहते हैं। पाश्चात्य समाज के इतिहास के आधुनिक युग का आरम्भ दो घटनाओं से माना जा सकता है—पहिली घटना हमारे (खीष्टीय) संवत् की पन्द्रहवीं शती की समाप्ति के कुछ पहिले हुई और दूसरी सोलहवी शती का आरम्भ होने के बाद। पहिली थी सामुद्रिक नौका-नयन की प्रविधियो मे निपुणता की प्राप्ति, दूसरी थी उस मध्यकालीन पाश्चात्य खीष्टीय राष्ट्रमण्डल (क्रिश्चियन कामनवेल्थ) का विच्छेद जो पोपतन्त्र-द्वारा एक-दूसरे से सम्बद्ध कर दिया गया था और उसी के द्वारा एक दूसरे से ग्रथित होकर चलाया जा रहा था। रिफार्मेशन (धर्मक्रान्ति) निश्चय ही विकास की उस लम्बी प्रक्रिया मे एक स्थिति-विशेष का द्योतक था जो तेरहवी शती मे ही शुरू हो गयी थी और सत्रहवी शती के पहिले पूरी नही हुई। किन्तु खुद रिफार्मेशन ने कोलम्बस एवं डी गामा की समुद्र-यात्राओ का दर्शन करने वाली पीढी को जा पकडा। इसके बाद हम काल के यात्रा-पथ पर जरा पीछे की ओर लौटते है तथा मध्यकालीन अवस्था वाले पश्चिम के उन ससर्गों का परीक्षण करते हैं जो उसके साथ टकराने वाले दो प्रतिस्पर्धी समाजों के साथ हुए। इसके बाद हेलेनी समाज के साथ उसके सम्पर्कों की परीक्षा करते हुए उसी व्यवस्था के कतिपय पूर्ववर्त्ती सम्पर्कों से अपना कार्य समाप्त करते है।

आधुनिक पश्चिम के सम्पर्कों का विचार करते समय हमे पता चलता है कि यद्यपि हमें इतिहास के इन अध्यायों की ब्यौरेवार अद्यतन जानकारी है किन्तु अधिकांश, बल्कि शायद सभी, अभी तक असमाप्त हैं और हमारे समाने एक प्रश्न-चिह्न छोड़ गये हैं।

(२) योजनानुसार परिचालन

(क) आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता के साथ संघात

(१) आधुनिक पश्चिम एवं रूस—रूसी परम्परानिष्ठ खीष्टीय धर्मजगत् के

मूल पितृदाय पर चौदहवीं शती के बाद पोलैड-लिथुवेनिया के पाश्चात्य ग्राम्य-राज्यो द्वारा बराबर आक्रमण एव विजयाभियान होते रहे और उसे बराबर क्षति पहुँचती रही। इनकी क्षतिपूर्ति पूर्णतया १६४५ ई. के पूर्व नही हो सकी। पाश्चात्य सस्कृति के प्रकाशन का पीटर महान ने (हेरोदियाई) स्वागत किया। किन्तु पश्चिम मे स्वीकृत दिशाओं मे दो शती तक पाश्चात्यकरण करते जाने के बाद भी, प्रथम विश्व-युद्ध के सकट के समय पीटरी प्रणाली की परीक्षा हो गयी और वह असफल सिद्ध हुई। तब उसे हटाकर उसका स्थान एक धर्मद्रोही पाश्चात्यकरणकारी शासनकाल-साम्यवाद ने ग्रहण कर लिया।

(२) **आधुनिक पश्चिम एव परम्परानिष्ठ खीष्टीय धर्मजगत् का मुख्य निकाय**—इस समाज मे, जो एक विजातीय सार्वभौम राज्य ओथमन साम्राज्य के शासन-तले राजनीतिक दृष्टि से बलात् एकत्र कर दिया गया था, सत्रहवी शती के बाद पाश्चात्य सस्कृति, रूस की भाति ऊपर से नीचे की ओर नही बल्कि नीचे से ऊपर की ओर प्रविष्ट हुई। शायद इसी के कारण फैनारियोत यूनानी प्रभाव मे बादशाह के साम्राज्य ने पश्चिमी रग अपना लिया होगा। किन्तु दुर्भाग्यवश राष्ट्रवादी आन्दोलन प्रबल होते गये और उनके कारण साम्राज्य ग्राम्य राज्यो मे विच्छिन्न हो गया। रूस परम्परावादी यूनानी ढग पर या स्लावानुकूल (प्रो-स्लाव) प्रणाली पर भी इन जातियो का नेतृत्व नही प्राप्त कर सका। यद्यपि उनमे से कुछ के ऊपर रूसी साम्यवादोन्मुख शासन थोप दिया गया है।

(३) **आधुनिक पश्चिम एव हिन्दू जगत्**—यहा पश्चिम ने एक विजातीय सार्वभौम राज्य अर्थात् मुस्लिम मुगल राज्य को हटाकर एक दूसरे विजातीय सार्वभौम राज्य के रूप मे अपने को स्थापित कर लिया। वस्तुत मुगल राज्य स्वय ही विघटित हो रहा था। ब्रिटिश राज्य ने भारतीय प्रबुद्ध वर्ग का ठीक उसी प्रकार उपयोग किया जैसे ओथमन बादशाह ने प्राच्य परम्परानिष्ठ खीष्टीय भद्र वर्ग का अपने कार्य मे उपयोग किया था। इस भारतीय प्रबुद्ध वर्ग ने फैनरियोतो की निष्फलता के विरुद्ध, बहुत कुछ ज्यो का त्यो रखते हुए राज्य का भारतीयकरण करने मे सफलता प्राप्त की; हा, उसमे से पाकिस्तान का एक बडा भाग जरूर अलग हो गया। यहा ब्रिटिश भारतीय सिविल सर्विस के गुण-दोष पर विचार किया गया है और भारत के भविष्याकाश पर घिरती हुई आबादी की समस्या की ओर सकेत किया गया है।

(४) **आधुनिक पश्चिम एवं इस्लामी दुनिया**—जब आधुनिक पाश्चात्य युग का आरम्भ हुआ तो अरबी एव ईरानी इस्लामी भ्रातृसमाज, पाश्चात्य एव रूसी समाजो के शासन-क्षेत्रो से सम्बद्ध दुनिया के दूसरे भागो की ओर जाने वाले समस्त भूमार्गों का अवरोध किये हुए था किन्तु शीघ्र ही इस्लाम के लिए हानिकर एक सनसनी पैदा करने वाला भाग्य-विपर्यय सामने आ गया। शक्ति-सन्तुलन के इस परिवर्तन के बाद से अनेक मुस्लिम राज्यों के शासक, न्यूनाधिक सफलता के साथ, पीटरी हीरोदियाई नीतियों का अनुसरण करते रहे है। इस्लामी जगत् पुरानी दुनिया की चार प्राथमिक सभ्यताओं में से तीन के गृहदेशों पर फैला हुआ है और इन क्षेत्रो मे कृषि-सम्बन्धी

जो प्राकृतिक सम्पदा है उसके साथ ही अब तैल-भाण्डार के आविष्कार से उनका महत्त्व और बढ गया है । इसके परिणाम-स्वरूप उन्होने बीसवी शती के विश्व के 'नाबोथी द्राक्षोद्यान' (Naboths Vineyard) का रूप धारण कर लिया है जिसमे पश्चिम एव रूस एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी रूप मे खडे है ।

(५) **आधुनिक पश्चिम और यहूदी**—सजातीय प्रादेशिक राज्यो (होमोजीनस टेरीटोरियल स्टेट्स) की पाश्चात्य प्रणाली मे यहूदी दायसपोरा नही होता । जब हम पाश्चात्य इतिहास के आधुनिक युग के आरम्भ से नही बल्कि स्वय पाश्चात्य खीष्टीय समाज के आरम्भ मे ऐतिहासिक सर्वेक्षण करते है तब उसमे तीन अवस्थाए (फेज) दिखायी पडती हैं । प्रथमावस्था (अर्थात् विजीगोथिया के इतिहास) मे यहूदी यद्यपि जनता मे अप्रिय थे और उनके साथ बुरा व्यवहार किया जाता था, फिर भी वे उपयोगी पाये गये क्योकि उस युग मे पाश्चात्य ईसाई (जैसा कि आक्सफोर्ड के साहबो के लिए सेसिल रोड्स ने कहा था) वित्तीय मामलो मे बच्चे थे । दूसरी अवस्था मे पाश्चात्य ईसाई सीख-पढकर खुद अपने यहूदी बन गये और यहूदियों को (१२९१ ई में इंगलैंड से) निकाल दिया गया । तीसरी अवस्था मे पाश्चात्य समाज इतना कुशल हो गया कि उसने यहूदियो को (१६५५ ई. मे इगलैड मे) पुन: लौट आने की सुविधा दे दी और व्यवसाय मे उनकी विशेषता का स्वागत किया । इसके बाद जो उदार युग शुरू हुआ, दुर्भाग्यवश उसी के साथ कथा का अन्त नही हो सका । यह प्रकरण सेमेटिज्म-विरोधी विचारो एव जायोनिज्म के परीक्षणों के साथ समाप्त होता है ।

(६) **आधुनिक पश्चिम एव सुदूरपूर्वीय तथा देशज अमरीकी सभ्यताएं**—अपने को आधुनिक अवस्था मे उपस्थित करने के पूर्व इन सभ्यताओ का पश्चिम से कोई पूर्व सम्पर्क नहो था । (यद्यपि यह भ्रामक हो सकता है किन्तु) ऊपर से देखने पर अमरीकी सभ्यताए पूर्णत. विलुप्त हो गयी थी । चीन एव जपान पर आधुनिक पश्चिम के सघात की कथाए अद्भुत रूप से समानान्तर चलती है । दोनो ही मामलो मे पाश्चात्य सस्कृति का उसके प्रारम्भिक अधुनातन धार्मिक रूप मे स्वागत होता है, फिर उसका परित्याग कर दिया जाता है । फिर बाद मे उनकी उत्तरकालिक अधुनातन पाश्चात्य प्रौद्योगिकी से टक्कर होती है । दोनो इतिहासो मे जो अन्तर दिखायी पडता है उसका प्रमुख कारण यह तथ्य है कि चीन एक विशाल एव बेतुके ढग से फैला हुआ साम्राज्य है और जपान एक सुसम्बद्ध द्वीपीय समाज है । हमारे ग्रथलेखन के समय दोनो ही समाजो पर ग्रहण लगा हुआ है . चीन को साम्यवाद ग्रसे हुए है और जपान अमरीकी नियन्त्रण मे पडा हुआ है । भारत की भाति, दोनो के ही सामने जनसख्या की समस्या मुह बाये खडी है ।

(७) **आधुनिक पश्चिम एवं उसके समकालीनों के मध्य संघातों का प्रकृति-वैशिष्ट्य**—आधुनिक पाश्चात्य सभ्यता मध्यवर्गीय सभ्यता है । जिन पाश्चात्य समाजो ने एक मध्यवर्ग का निर्माण कर लिया था, उन्होने आधुनिक पाश्चात्य लोकाचरण का स्वागत किया । जिस अपाश्चात्य सभ्यता मे कोई देशज मध्यवर्ग नही था उसके शासक ने यदि पाश्चात्यकरण करना चाहा तो उसे अपने उद्देश्य-साधन के लिए बुद्धि-

जीवी वर्ग के रूप मे एक कृत्रिम मध्यमवर्ग की सृष्टि करनी पडी। ये बुद्धिजीवी वर्ग ही, अन्त में, अपने स्वामियो के विरुद्ध उठ खडे होते है।

(ख) मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् के साथ सघात

(१) क्रूसेड (जिहाद) का ज्वार-भाटा—ग्यारहवी शती मे मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई धर्मजगत् ने प्रसार-विस्तार के युग मे प्रवेश किया, दो शती बाद कतिपय सीमान्तो पर उसके पतन एव प्रत्यावर्तन का युग आया—यद्यपि अन्य सीमान्तो पर यह बात नही हुई। यहा इस विस्तार एव उसके अनुवर्ती प्रत्यागमन के कारणो का विश्लेषण किया गया है।

(२) मध्यकालीन पश्चिम एवं सीरियाई जगत्—क्रूसेडी (जिहादी) लोग एव उनके मुस्लिम शत्रु दोनो मे बहुत सी बातो मे समानता थी। नामन फ्रैंक एव सैलजूक तुर्क, दोनों, एक समान पहिले बर्बर थे और हाल ही मे समाज के महत्तर धर्म मे दीक्षित किये गये थे। उन्होंने उसमे प्रवेश ही नही किया बल्कि अनेक बातो मे उस पर प्रभुता भी स्थापित कर ली। सीरियाई सभ्यता से जो सास्कृतिक प्रकाश विकीर्ण हुआ उसने अपेक्षाकृत कम प्रगतिशील पाश्चात्य खीष्टीय समाज मे प्रवेश किया और काव्य, स्थापत्य, दर्शन एव विज्ञान को प्रभावित किया।

(३) मध्यकालीन पश्चिम एव यूनानी परम्परानिष्ठ ईसाई धर्मजगत्—इन दोनो समाजो के मध्य उससे कही ज्यादा विरोध भावना थी जितनी कि इनमे से प्रत्येक की अपने मुस्लिम पडोसियो के प्रति थी। इस पारस्परिक कटुता का दिग्दर्शन उन उद्धृताशो मे होता है जो एक ओर कुस्तुनतुनिया मे दौत्य के लिए भेजे गये लोम्बार्ड बिशप ल्यूतप्रैंद के विवरणो से लिये गये है और दूसरी ओर वह जिहादियो के उस चित्र में दिखायी पडती है जिसे अन्ना कामनेना ने अपने इतिहास मे दिया है।

(ग) प्रथम दो पीढ़ियों की सभ्यताओं के मध्य टक्करें

(१) सिकन्दरोत्तर हेलेनी सभ्यता के साथ टक्कर—इस अवस्था मे पुरानी दुनिया की प्रत्येक समकालीन सभ्यता के साथ हेलेनी सभ्यता की टक्करें हुई है और इन टक्करो के फल-स्वरूप जो हेलेनी प्रकाश विकीर्ण हुआ उसका हिसाब-किताब तब-तक नही लगाया जा सका और तबतक उसमे पूर्णता नही आयी जब तक कि कई शताब्दियो बाद खुद हेलेनी समाज का विघटन नही हो गया। हेलेनी सेनाओ ने जहा तक के क्षेत्र पर विजय प्राप्त की थी उससे कही आगे दूर तक, अर्थात् सिनाई (चीनी) जगत् में भी, हेलेनी सस्कृति फैल गयी थी।

हेलेनी इतिहास के प्रसार मे सिकन्दर के जीवन-कार्य की तुलना पाश्चात्य ईसाई धर्म-जगत् के इतिहास की सागर-विजय के साथ की जा सकती है; किन्तु जब पश्चिम, अपनी आधुनिक स्थिति मे, अपने कोशकीट वाले धर्म, खीष्टीय मत, मे अपने को मुक्त कर रहा था, तब इस प्रकार का कोई कोशकीट धर्म अपने पास न होने के कारण हेलेनी सभ्यता मे धर्म के लिए भूख निरन्तर बढती जा रही थी।

(२) प्राक्-सिकन्दरी हेलेनी सभ्यता के साथ टक्करें भूमध्य जलद्रोणी (मेडीटेरेनियम बेसिन) पर अधिकार करने के लिए तीन प्रतियोगियों मे सघर्ष चल

रहा था। प्राक्सिकन्दरी हेलेनी समाज के साथ सीरियाई समाज एवं हित्ताई समाज के एक अश्मीकृत अवशेष अर्थात् इत्रस्कनों की प्रतियोगिता चल रही थी। सीरियाई समाज ने फोनीशियाई समुद्री शक्ति तथा आगे चलकर एकेमीनियाई साम्राज्य के रूप में अपने को व्यक्त किया। इस काल में यूनानियो ने जो सबसे बडी सांस्कृतिक विजय प्राप्त की वह थी रोम के हेलेनीकरण—यूनानीकरण—के रूप में। इसके लिए पहिले इत्रस्कनों का यूनानीकरण किया गया और तब उनके द्वारा यह कार्य अप्रत्यक्ष रूप से सम्भव हो सका।

(३) घास और गेहूँ—सभ्यताओ के बीच जो सघात होते हैं उनके उपयोगी परिणाम शान्ति की कृतियाँ मात्र होती है। पहिली पीढी की सभ्यताओं—इंडिक, सिनाई, मिस्री एवं सुमेरी—के बीच होने वाले सम्पर्कों की एक झलक इसके बाद दी जाती है।

३२. समकालिको के बीच होने वाले सघातों का नाटक

(१) संघात-शृंखला

सैनिक स्तर पर एक पक्ष की चुनौती से दूसरे पक्ष की चुनौती जन्म लेती है और वह एक प्रत्याक्रमण मे बदल जाती है। इस प्रत्याक्रमण का भी जवाब दिया जाता है। इस प्रकार संघातों—टक्करों की एक शृंखला बन जाती है। यूनान पर एकेमीनियाई साम्राज्य के आक्रमण से लेकर पाश्चात्य साम्राज्यवाद के विरुद्ध अपाश्चात्य जातियो मे होने वाली बीसवी शती की प्रतिक्रियाओं तक पूर्व एवं पश्चिम के इन संघातों की एक शृंखला का वर्णन इस प्रकरण में किया गया है।

(२) उत्तरों की विविधता

केवल सैनिक उत्तर ही एक मात्र सम्भव उत्तर नहीं है। साम्यवादी रूस अपने शस्त्रबल को सैद्धान्तिक युद्धकला से पुष्ट करता है। जहाँ सैनिक उत्तर असम्भव हो जाता है अथवा जहाँ एक बार उसका प्रयोग किया गया और वह असफल हो गया, वहाँ कुछ पराजित जातियों ने, समाज के रूप मे अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने धर्म का गहरा परिशीलन आरम्भ किया। इस प्रकार के उत्तर का एक महत्वपूर्ण उदाहरण यहूदियों का है। महत् उत्तर एक ऐसे महत्तर धर्म की सृष्टि है जो समय पाकर विजेताओं को ही बन्दी कर लेता है।

३३. समकालिकों के मध्य संघातों के परिणाम

(१) असफल आक्रमणों का परिणाम

किसी आक्रमण को सफलतापूर्वक खदेड़ देने का परिणाम विजेता का सैनकीकरण हो सकता है और इस सैनकीकरण का अन्तिम परिणाम बडा ही भयावह हो सकता है। ऐसा ही हुआ। एकेमीनियाई आक्रमणकारी के ऊपर विजय पाने का ही परिणाम यह हुआ कि पचास वर्षों के अन्दर ही हेलेनी सभ्यता का विघटन हो गया।

(२) सफल आक्रमणों का परिणाम

(क) समाज-निकाय पर प्रभाव—एक सफल आक्रामक सभ्यता को जो साम-र

जिक मूल्य चुकाना पड़ता है वह है अपनी जीवन-धारा मे विजातीय विजित की सस्कृति का क्षरण। जिस पर आक्रमण होता है उसे भी इसी प्रकार का किन्तु अधिक जटिल मूल्य चुकाना पड़ता है। पाश्चात्येतर समाजो में पाश्चात्य आदर्शों एव सस्थाओ के आरम्भ करने के प्राय. चिन्ताजनक परिणाम होते है क्योकि एक मनुष्य का भोजन दूसरे का विष है। किसी विजातीय सस्कृति से एक तत्त्व लेने और दूसरे का बहिष्कार करने का प्रयत्न असफल होता ही है।

(ख) आत्मा की अनुक्रियाएं; [१] अमानवीकरण—सफल आक्रमणकारी भयकर अहंकार मे फूल जाता है और पराजित को नीच तथा घृणास्पद (अण्डरडाग) समझता है। इस प्रकार मानव-भ्रातृत्व का त्याग कर दिया जाता है। जब पराजित को 'विधर्मी' (हीदेन) या काफिर माना जाता है तब तो वह धर्म-परिवर्तन करके मानवीय मर्यादा प्राप्त कर सकता है; जब उसे 'बर्बर' समझा जाता है तो वह कोई परीक्षा पास करके मानव की मर्यादा प्राप्त कर सकता है; किन्तु जब उसे देशज (नेटिव) मान लिया जाता है तब उसके लिए कोई आशा नही—सिवाय इसके कि वह मालिक को उखाड फेंके या उसके धर्म को बदल दे।

[२] **धर्मोन्माद (जीलाटिज्म) एव सुखेच्छावाद (हीरोडियनिज्म)**—इस शब्द के फलितार्थ मे विजेता के लोकाचरण के स्पष्ट परित्याग या स्वीकार का स्पष्ट भेद निहित है किन्तु अधिक गहरे परीक्षण मे जान पडता है कि यह भेद वैसा स्पष्ट नही है जैसा पहिली दृष्टि मे दिखायी पडता है। आधुनिक जपान तथा गाधी एव लेनिन के कार्यों से उदाहरण देकर इसे समझाया गया है।

[३] **इ जीलवाद**—सन्त पाल की सफलता के विरुद्ध मूल जीलाटो एव हीरो-दियाइयो की आत्म-पराजय का वर्णन किया गया है।

टिप्पणी—'एशिया' एवं 'यूरोप' : तथ्य तथा कल्पनाएँ—

हेलेनी समुद्री नाविको ने जब एजियन सागर से कृष्णसागर की यात्रा की तो उन्होंने एक-दूसरे के आमने-सामने पडने वाले भूमि-तटो को एशिया और यूरोप के नाम दे दिये। इन शब्दो को राजनीतिक एव सांस्कृतिक महत्त्व दे देने का परिणाम भ्रमोत्पादन के सिवाय और कुछ नही हुआ है। यूरोप यूरेशिया महाद्वीप का दुष्परिभाषित सीमान्तयुक्त एक उपमहाद्वीप मात्र है।

[१०]

कालान्तर्गत सभ्यताओं के बीच सम्पर्क

३४. रिनेसांओं का सर्वेक्षण

(१) प्रस्तावना—'रिनेसां'

यहाँ 'रिनेसां' शब्द के उद्गम का वर्णन है और इस अध्ययन मे जिस आशय के साथ उसका प्रयोग हुआ है, उसकी व्याख्या कर दी गयी है।

(२) राजनीतिक धारणाओं एवं संस्थाओं का रिनेसां

उत्तर मध्यकालीन इतालवी रिनेसा का आरम्भ पहिले से ही हो गया था और उसने साहित्यिक या कलागत स्तरो की अपेक्षा राजनीतिक स्तर पर अधिक स्थायी प्रभाव डाला—नगरराज्य, धर्म-निरपेक्ष राजतन्त्र, पवित्र रोमन साम्राज्य। धर्मसघीय राज्याभिषेक (एक्लेजियास्टिकल कारोनेशन) भी पुरातन बाइबिली प्रथा का एक रिनेसा ही था।

(३) विधि-प्रणालियों के रिनेसां

प्राच्य परम्परानिष्ठ ईसाई जगत् एव पाश्चात्य ईसाई जगत् में रोमी कानून का पुनरावर्तन तथा चर्च एव राज्य के लिए उसके परिणाम।

(४) दार्शनिक विचारधाराओ के रिनेसां

चीन के सुदूरपूर्वीय समाज मे सिनाई कनफ्यूशियाई दर्शन और मध्यकालीन पाश्चात्य ईसाई जगत् मे अरस्तू के हेलेनी दर्शन के रिनेसा, कई दृष्टियो से, समानान्तर घटनाएँ है। प्रथम दर्शन तबतक जीवित रहा जबतक कि बीसवी शती के आरम्भ मे वह आक्रामक पाश्चात्य लोकाचरण द्वारा ध्वस्त नही कर दिया गया। रहा दूसरा, वह पन्द्रहवीं शती के हेलेनी साहित्यिक रिनेसा के आघात से दुर्बल हो गया और अन्त में सत्रहवी शती के बेकनी (बेकोनियन) वैज्ञानिक आन्दोलन-द्वारा नष्ट कर दिया गया।

(५) भाषाओं और साहित्यों-सम्बन्धी रिनेसां

इस क्षेत्र में वशगत शासको ने रिनेसाओ का आरम्भ करने मे बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया। कतिपय चीनी सम्राटो ने विशाल पुस्तकालयो का निर्माण किया। हेलेनी भाषाओ एवं साहित्यो के इतालवी रिनेसा के पूर्व एक निष्फल कैरोलिजियाई रिनेसा हो चुका था। किन्तु इस कैरोलिजियाई रिनेसा की जडे भी नार्थम्ब्रिया के रिनेसां तक पहुँचती है। जबतक मृत सभ्यता के 'प्रेत' का आवाहन करने वाला समाज प्रेतसिद्धि करने योग्य विकासावस्था मे नही पहुँच जाता तबतक रिनेसां सफल नही हो सकते।

(६) चाक्षुष कलाओं के रिनेसां

उस पाश्चात्य उदाहरण के साथ ही, जिसे रिनेसा के लोकप्रिय नाम से पुकारा जाता है, अन्य उदाहरण दिये गये हैं। स्थापत्य, तक्षण कला एव चित्रकला से पाश्चात्य रिनेसा की धारा का दर्शन कराया गया है। इन तीनो ही विभागो में अन्तिम परिणाम यह हुआ कि मौलिकता निष्प्राण हो गयी।

(७) धार्मिक आदर्शों एवं रीतियों के रिनेसां

अपनी सफल सन्तति ईसाई धर्म के प्रति यहूदी मत का अपमानजनक आचरण तथा एकेश्वरवाद एव मानवरूपेतर मूर्तिपूजा (एनीकोनिज्म) के यहूदी आदर्शों के प्रति ख्रीष्टीय चर्च के उद्वेगजनक एव अस्पष्ट व्यवहार पर चर्चा की गयी है। सोलहवी शती के बाद प्रोटेस्टेंट आन्दोलन मे जो रविवासरीय पूजा (सैब्बेटेरियनिज्म) तथा बाइबिल-पूजा चल गयी वही पाश्चात्य ख्रीष्टीय सम्प्रदाय के अन्तर्गत यहूदी मत के एक प्रबल एवं लोकप्रिय रिनेसा का उदाहरण उपस्थित करती है।

[११]

इतिहास में विधि और स्वतन्त्रता

३५. समस्या

(१) विधि (कानून) का अर्थ

'प्रकृति के कानून' का 'ईश्वर के कानून' से भेद दिखाया गया है।

(२) आधुनिक पाश्चात्य इतिहासकारों की स्वेच्छाचारिता (एँटीनोमियनिज्म)

बोसुए के समय तक यह विचार चलता रहा कि इतिहास दैवी शक्ति की क्रिया को व्यक्त करता है। किन्तु अब यह विचार त्याग दिया गया है। परन्तु जिन विज्ञान-विदो के 'प्रकृति का कानून' ने खोज के अधिकाश क्षेत्रो मे 'ईश्वर के कानून' का स्थान ले लिया है उन्होने खुद इतिहास को ऐसी अराजकता की स्थिति में छोड़ दिये जाने पर चिन्ता और घबराहट प्रकट की है जहा किसी भी और वस्तु से किसी भी वस्तु के उद्भव की आशा की जा सकती है। एच. ए. एल. फिशर ने ऐसा ही विचार प्रकट किया है।

३६. 'प्रकृति के कानूनों' के प्रति मानवीय कार्य-व्यापार की वश्यता

(१) साक्ष्य का सर्वेक्षण

(क) **व्यक्तियों के निजी मामले**—बीमा कम्पनिया मानवीय मामलो की एक माप्य नियमितता पर विश्वास करती हैं।

(ख) **आधुनिक पाश्चात्य समाज के औद्योगिक मामले**—अर्थशास्त्री व्यापार-चक्र की तरग-लम्बाइयो की माप लगाने मे अपने को समर्थ पाते हैं।

(ग) **ग्राम्य राज्यों की प्रतिद्वन्द्विताएं : शक्ति-सन्तुलन**—कतिपय सभ्यताओ के इतिहासों मे युद्ध एव शान्ति-चक्रो के नियमित आवर्तन।

(घ) **सभ्यताओ का विघटन**—पराभव एव समाहरण के विकल्पो की नियमितता; कुछ स्पष्टीकरण।

(च) **सभ्यताओं की अभिवृद्धि**—विभग एव विघटन की अवस्थाओ मे जो नियमितता मिलती है वह यहा अनुपस्थित है।

(छ) **'नियति के विरुद्ध कोई कवच नहीं'**—जिस अभिनिवेश या स्थिरता के साथ एक प्रवृत्ति, एक-से बिन्दुओं पर पराजित होकर भी अन्त मे विजयिनी हो जाती है, उसके कुछ और उदाहरण।

(२) इतिहास में प्रकृति के कानूनों के प्रचलन के सम्भव स्पष्टीकरण

जिन एकरूपताओं का पता हमने लगाया है वे या तो मनुष्य के अमानवीय पर्यावरण मे प्रचलित नियमो या फिर स्वयं मानव की मानसिक सरचना मे अन्तर्हित नियमो के कारण घटित होती है। यहा इन विकल्पो की परीक्षा की गयी है। इस परीक्षा से पता लगता है कि ज्यो-ज्यो मानव प्रौद्योगिकी मे प्रगति करता जाता है अमानवी प्रकृति के नियमो पर मनुष्य की निर्भरता कम होती जाती है। इससे मानव-

पीढ़ियों के उत्तराधिकार के महत्व का भी पता लगता है। मनुष्य के मानसिक स्वभाव मे कतिपय परिवर्तनो के लिए तीन पीढ़ियों की कालावधि की आवश्यकता पड़ती है। इसके बाद इतिहास की धारा पर पड़ने वाले प्रभाव के रूप में अवचेतन मन के उन नियमो पर विचार किया गया है जिनका ग्रन्थ-लेखन के समय मनोवैज्ञानिकों को पता लगना शुरू ही हुआ है।

(३) इतिहास में प्रचलित प्रकृति-नियम अगम्य हैं या नियन्त्रणीय ?

जहा तक अमानवीय प्रकृति के नियमों का सवाल है, मनुष्य उन्हें बदल नही सकता, किन्तु अपने प्रयोजनो के लिए उनका उपयोग कर सकता है। पर जहां स्वयं मानव-प्रकृति को प्रभावित करने वाले नियमों, कानूनों का सवाल है, उसका उत्तर अपेक्षाकृत अधिक सावधानी के साथ देना पड़ेगा। मनुष्य के अपने साथ तथा अपने संगी मानवों के साथ जो सम्बन्ध हैं केवल उन्हीं पर इसका परिणाम निर्भर नहीं, वर इन सबसे अधिक मुक्तिदाता ईश्वर के साथ उसका जो सम्बन्ध है, उस पर निर्भर करता है।

३७. प्रकृति के नियमो के प्रति मानव-प्रकृति की उदासीनता

यह उदासीनता चुनौती एवं उत्तर के बहुसंख्यक उदाहरणो मे प्रदर्शित की गयी है। चुनौती सामने आ जाने पर, एक सीमा के अन्दर, मनुष्य परिवर्तन के वेग को बदलने में स्वतन्त्र है।

३८. ईश्वरीय विधि

मनुष्य केवल प्रकृति के कानून के नीचे नहीं रहता वह ईश्वर के कानून के नीचे भी रहता है। यही ईश्वरीय विधि या कानून पूर्ण स्वातन्त्र्य है। ईश्वर की प्रकृति एवं उसके कानून के विषय मे परस्पर-विपरीत विचारों का परीक्षण किया गया है।

[१२]

पाश्चात्य सभ्यता की सम्भावनाएँ

३९. इस अनुसन्धान की आवश्यकता

आगे की जाँच मे उस दृष्टिबिन्दु का त्याग किया गया है जिसका इस अध्ययन मे ग्रहण और अबतक निर्वाह किया गया है—अर्थात् इतिहास की ज्ञात सम्पूर्ण सभ्यताओं पर संक्षिप्त विचार। यह परिवर्तन इन तथ्यों द्वारा उचित प्रमाणित होता है कि पाश्चात्य समाज ही एक ऐसा जीवित समाज है जो प्रकटत: तो विघटनशील नही है, बल्कि कई बातो में विश्वव्यापी हो गया है, और इसकी सम्भावनाएँ वस्तुत: 'पाश्चात्य रंग में रँगी जाती दुनिया' की सम्भावनाएँ हैं।

४०. पूर्वानुमानित उत्तरों की सन्दिग्धता

कृत्रिम-वैज्ञानिक आधार पर यह कल्पना करने का कोई कारण नहीं है कि चूँकि अन्य सब सभ्यताएँ विलुप्त हो गयी या विलुप्त हो रही हैं इसलिए पश्चिम को भी उसी राह पर जाना है। विक्टोरियाई आशावाद एवं स्पेंगलरीय निराशावाद-जैसी संवेगात्यक प्रतिक्रियाएँ भी साक्ष्य या प्रमाण के रूप मे विश्वसनीयता से रहित थी।

४१. सभ्यताओ के इतिहासो का साक्ष्य

(१) **पाश्चात्येतर दृष्टान्त-सहित पाश्चात्य अनुभव**

विभगों एवं विघटनो के हमारे पिछले अध्ययन हमारी वर्तमान समस्या पर क्या प्रकाश डालते है? हमने देखा है कि युद्ध एव सैनिकवाद किसी समाज के विभग वा विच्छेद के सबसे प्रबल कारण है। अभी तक पश्चिम इस रोग से असफलतापूर्वक लडता रहा है, जब कि उसने अन्य दिशाओ—जैसे दासप्रथा के उन्मूलन, लोकतन्त्र के विकास एव शिक्षण—मे अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की है। अब पश्चिम भी प्रभविष्णु अल्पमत तथा आन्तरिक एव बाह्य श्रमजीवीवर्ग मे अशुभ विभाजनो का प्रदर्शन करने लगा है। दूसरी ओर पाश्चात्य रंग में रंजित दुनिया के अन्तर्गत आन्तरिक श्रमजीवी वर्गों की विविधता की समस्याओ का सामना करने मे कुछ उल्लेखनीय सफलताएँ प्राप्त हुई है।

(२) **अदृष्टपूर्व पाश्चात्य अनुभव**

अमानवीय प्रकृति पर मानव के प्रभुत्व तथा सामाजिक परिवर्तन की वृद्धिमती गतिशीलता, दोनो के उदाहरण पूर्ववर्ती सभ्यताओं के इतिहासो मे प्राप्त नही है। आगामी अध्यायों की योजना की ओर सकेत किया गया है।

४२. प्रौद्योगिकी, युद्ध तथा सरकार

(१) **तृतीय विश्व-युद्ध की सम्भावनाएँ**

संयुक्त राज्य अमेरिका एव सोवियत यूनियन का स्वभाव-वैशिष्ट्य तथा मानव जाति के शेष भाग की इनमे से प्रत्येक के प्रति वृत्ति।

(२) **भावी विश्व-व्यवस्था की ओर**

मानव-जाति की सम्भावनाओ की जलभृंग की ओर बढती हुई हेयर दहल की कौन-तिकी नौका के साथ तुलना। भावी विश्व-व्यवस्था वर्तमान सयुक्त राष्ट्र सघटन के बहुत भिन्न होगी। विश्व के नेतृत्व के लिए अमरीकी राष्ट्र की योग्यता पर विचार किया गया है।

४३. प्रौद्योगिकी, वर्ग-सघर्ष तथा रोजगार

(१) **समस्या की प्रकृति**

आधुनिक प्रौद्योगिकी की विजयो के कारण 'अभाव से मुक्ति' की अभूतपूर्व माँग होने लगी है, किन्तु इस माँग की पूर्ति के लिए जो मूल्य चुकाना है उसे चुकाने के लिए मानव जाति तैयार होगी?

(२) **यन्त्रीकरण और निजी उद्योग**

आधुनिक प्रौद्योगिकी ने न केवल शरीर-श्रमिकों का बल्कि मालिकों (राष्ट्रीय-करण इत्यादि), सिविल सर्विस (लाल फीता) तथा राजनीतिज्ञों (दलगत अनुशासन) का भी यन्त्रीकरण वा एकमार्गीकरण कर दिया है। प्रतिरोध के श्रमिकवर्गीय साधनों (श्रमिक संघों) के कारण और एकमार्गीकरण (रेजीमेंटेशन) हुआ। इसके विपरीत औद्योगिक क्रान्ति के रचयिता एक ऐसे समाज से जन्मे थे जिसका एकमार्गीकरण नहीं हुआ था।

(३) **सामाजिक सामंजस्य के वैकल्पिक मार्ग**

यहाँ अमरीकी, रूसी, पाश्चात्य यूरोपियन, विशेषत. आग्ल, मार्गों का विश्लेषण तथा तुलना की गयी है।

(४) **सामाजिक न्याय की सम्भव लागत**

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एवं सामाजिक न्याय दोनों की कुछ न कुछ व्यवस्था किये बिना सामाजिक जीवन असम्भव है। प्रौद्योगिकी पलड़े को सामाजिक न्याय की ओर झुका देती है। जिस युग में निवारक (प्रिवेंटिव) ओषधियों के कारण मृत्यु का औसत कम होता जा रहा है, उसमें मानवीय प्रजाति का प्रसार करने की अनियन्त्रित व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का परिणाम क्या होगा? आगे आने वाले एक महादुष्काल पर तथा उसके कारण होने वाले संघर्ष पर विचार किया गया है।

(५) **क्या हम इसके बाद सदा सुखी रहेंगे?**

मान लीजिए कि विश्व-समाज को इन सब समस्याओं का सफल समाधान प्राप्त हो जाता है, तब क्या उसके बाद मानव-समाज सदा सुखी रहेगा? नहीं, क्योंकि संसार में आने वाले प्रत्येक शिशु के साथ मूल पाप पुनः जन्म लेता है।

[१३]

निष्कर्ष

४४. यह ग्रन्थ लिखा कैसे गया?

लेखक विक्टोरियाई आशावाद के युग में जन्मा था, जब वह किशोर था तभी उसने प्रथम विश्वयुद्ध देखा। वह यह देखकर हैरत में आ गया कि उसके जीवन-काल में उसके अपने समाज के जो अनुभव हैं वे हेलेनी समाज के अनुभवों के प्रायः समानान्तर है। चूंकि हेलेनी इतिहास एवं समाज उसकी शिक्षा के मुख्य अंग थे, उसके मन में यह प्रश्न उठ खड़ा हुआ: सभ्यताएं मरती क्यों हैं? क्या आधुनिक पश्चिम की भी वही नियति है जो हेलेनी सभ्यता की थी? बाद में उसकी जांच के क्षेत्र में अन्य ज्ञात सभ्यताओं के विभंग एवं विघटन के विषय भी आ गये क्योंकि इससे उसके प्रश्नों पर कुछ और प्रकाश पड़ता था। अन्त में उसने सभ्यताओं के उद्गम एवं विकास का अन्वेषण आरम्भ कर दिया। इस प्रकार यह इतिहास का अध्ययन लिखा गया।